जुगलकिशोर मुख्तार - सरसावा जिला सहारनपुर

ॐ

श्री वीतरागाय नमः।

पञ्चाध्यायी-

सुबोधिनी टीका समेत।

टीकाकार-

चावली (आगरा) निवासी पंडित मक्खनलालजी शास्त्री (वादीभकेसरी न्यायालंकार) प्रधानाध्यापक ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिनापुर। (मेरठ)

प्रकाशक-

चावली (आगरा) निवासी लालाराम जैन।

मालिक, ग्रंथप्रकाश कार्यालय, इंदोर।

प्रथमावृत्ति] वी० नि० सं० २४४४. [न्योछावर १।।) रु०

प्रकाशक-

पंडित लालाराम जैन ।

मालिक, ग्रन्थप्रकाश कार्यालय,

मल्हारगंज, **इन्दौर ।**

मुद्रक-

मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया,

"**जैनविजय**" प्रिन्टिंग प्रेस,

खपाटिया चकला, **सूरत ।**

श्री अर्हद्भ्यो नमः ।

भूमिका ।

यह पञ्चाध्यायी ग्रन्थ जैन सिद्धान्तके उच्चतम कोटिके ग्रन्थोंमेंसे एक अद्वितीय ग्रन्थ है । वर्त्तमान समयके विद्वान् तो इस ग्रन्थको असाधारण और गम्भीर समझते ही हैं, किन्तु ग्रन्थकर्त्ताने स्वयं इसे ग्रन्थराज कहते हुए इसके बनानेकी प्रतिज्ञा की है । जैसा कि "पञ्चाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात्" इस आदि श्लोकार्धसे प्रकट होता है ।

इस ग्रन्थमें जिन महत्व पूर्ण विषयोंका विस्तृत विवेचन किया गया है, उन सबका परिज्ञान पाठकोंको इसके स्वाध्याय और मनन करनेसे ही होगा, तथापि संक्षेपमें इतना कहना अनुचित न होगा कि यह ग्रन्थ जितना उपलब्ध है, दो भागोंमें बँटा हुआ है । (१) द्रव्य विभाग (२) सम्यक्त्व विभाग । द्रव्य क्या पदार्थ है ? वह गुणोंसे भिन्न है या अभिन्न ? उसमें उत्पत्ति स्थिति विनाश ये तीन परिणाम प्रतिक्षण किस प्रकार होते हैं ? गुण पर्यायोंका क्या लक्षण है ? इत्यादि बातोंका अनेक शंका समाधानों द्वारा स्पष्ट विवेचन पहले विभागमें (पहले अध्यायमें) किया गया है । इसी विभागमें प्रमाण, नय, निक्षेपोंका विवेचन भी बहुत विस्तारसे किया गया है । दूसरे विभाग (द्वितीय अध्याय) में जीवस्वरूप, सम्यक्त्व, अष्ट अंग, और अष्ट कर्मोंका विवेचन किया गया है । यह विभाग अध्यात्म विषय होनेके कारण प्रथम विभागकी अपेक्षा सर्व साधारणके लिये विशेष उपयोगी है ।

इस ग्रन्थके अवलोकनसे जैनेतर विद्वान् भी जैन सिद्धान्तके तत्त्वविचार और अध्यात्मचर्चाके अपूर्व रहस्यको समझ सकेंगे ।

ग्रन्थकारने पांच अध्यायोंमें पूर्ण करनेके उद्देश्यसे ही इस ग्रन्थका पञ्चाध्यायी नाम रक्खा है और इसी लिये अनेक स्थलोंपर कतिपय उपयोगी विषयोंको आगे निरूपण करनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा की है । जैसे—'उक्तं दिङ्मात्रतोप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतं, वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशात् सविस्तरम्, तथा 'उक्तं दिङमात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणं, शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात्' इत्यादि प्रतिज्ञावाक्योंसे विदित होता है कि ग्रन्थकारका आशय इस ग्रंथको बहुत विस्तृत बनाने और उसमें समग्र जैन सिद्धान्तरहस्यके समावेश करनेका था, परन्तु कहते हुए हृदय कंपित होता है कि श्रेयांसि वहु विघ्नानि,

इस लोकोक्तिके अनुसार ग्रन्थकारका मनोरथ पूर्ण न हो सका और कुछ कम दो अध्याय रचकर ही उन्हें किसी भारी विघ्नका सामना करना पड़ा जिसके विषयमें हम सर्वथा अज्ञात हैं। वर्त्तमानमें यह ग्रन्थ इतना ही (१९१३ श्लोक प्रमाण) सर्वत्र उपलब्ध होता है।

यह टीका कोल्हापुर यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित मूल प्रतिके आधारपर की गई है, जिसे हमने पूज्यवर गुरुजीसे अध्ययन करते समय शुद्ध किया था, और जब हमारा शास्त्रार्थके समय अजमेर जाना हुआ तब वहांकी लिखित प्रतिसे छूटे हुए पाठोंको भी ठीक किया, तथा गतवर्ष यात्रा करते हुए जैनबद्री (श्रवणबेलगुल) में श्रीमद्राजमान्य दौर्बलि शास्त्रीके प्राचीन ग्रन्थभण्डारसे प्राप्त लिखित प्रतिसे भी अपनी प्रतिको मिलाया। इस भांति इसग्रन्थके संशोधनमें यथासाध्य यत्न किया गया है, किन्तु फिर भी २—३ स्थलोंपर छन्दोभंग तथा चरण भंग अब भी रह गये हैं, जो कि विना आश्रयके संशोधित न कर ज्योंके त्यों रख दिये गये हैं।

इस ग्रन्थके रचियता कौन हैं ? इसका कोई लिखित प्रमाण हमारे देखनेमें नहीं आया है, संभव है कि ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारका कुछ परिचय मिलता, खेद है कि ग्रन्थके अधूरे रह जानेके कारण इसके कर्त्ताके विषयमें इस ग्रन्थसे कुछ निश्चय नहीं होता है। ऐसी विकट समस्यामें ग्रन्थकारका अनुमान उसके रचे हुए अन्य ग्रन्थोंकी कथन शैली, मङ्गलाचरण, विषय समता, पद समता आदिसे किया जाता है। इसी आधार पर हमारा अनुमान है कि इस ग्रन्थराज—पञ्चाध्यायीके कर्त्ता वे ही स्वामी अमृतचन्द्राचार्य हैं, जो कि समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय ग्रन्थोंके टीकाकार, तथा नाटक समयसार कलशा, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसारके रचयिता हैं। इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि उपर्युक्त ग्रन्थ आचार्य वर्य-अमृतचन्द्र सूरि कृत हैं, कारण उनमेंसे कतिपय ग्रन्थोंके अन्तमें उक्त सूरिने अपना नामोल्लेख किया है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसार इन दो ग्रन्थोंमें ग्रन्थकर्त्ताका नामोल्लेख नहीं है, तो भी समस्त जैन विद्वान् इन ग्रन्थोंको स्वामी अमृतचन्द्र सूरि कृत ही मानते हैं, यह बात निर्विवाद है। हमारा अनुमान है कि उक्त दोनों ग्रन्थोंके रचयिताका अनुमान जैन विद्वानोंने उनकी रचना शैलीसे किया होगा, अतः हम भी इसी रचना शैलीकी समता पर अनुमान करते हैं कि इस पञ्चाध्यायीके कर्त्ता भी उक्त आचार्य हैं।

अब हम पाठकोंको पञ्चाध्यायी और श्रीमत् अमृतचन्द्र सूरि कृत अन्य ग्रन्थोंकी समताका यहां पर कुछ दिग्दर्शन कराते हैं, साथ ही आशा करते हैं कि जिन विद्वानोंने उक्त आचार्यके बनाये हुए ग्रन्थोंके साथ ही पञ्चाध्यायीका अवलोकन किया है अथवा करेंगे तो वे भी हमसे अवश्य सहमत होंगे।

क—स्वामी अमृतचन्द्रसूरि विरचित हरएक ग्रन्थके मङ्गलाचरणोंमें अनेकान्त—जैन शासन और केवलज्ञान ज्योतिको ही नमस्कार करनेकी प्रधानता पाई जाती है, जैसा कि निम्न लिखित मङ्गलाचरणोंके वाक्योंसे स्पष्ट है—

(१) **जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनम्** (पञ्चाध्यायी) (२) **जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धतिः** (पञ्चास्तिकाय टीका) (३) **अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः अनेकान्तमयी मूर्तिः** (नाटक समयसार कलशा) (४) **अनेकान्त-मयं महः** (प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति) (५) **अर्थालोकनिदानं यस्य वचः** (पञ्चाध्यायी) (६) **जयत्यशेषतत्त्वार्थप्रकाशि** (तत्त्वार्थसार) (७) **तज्जयति परं ज्योतिः** (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय) (८) **ज्ञानानन्दात्मने नमः** (प्रवचनसार टीका)

ख—निम्न लिखित श्लोकोंसे शब्द रचना तथा भावोंकी समता भी मिलती है—

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः ।
अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु ॥ (पञ्चाध्यायी)
ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ (नाटकसमयसारकलशा)
निश्चयव्यवहाराभ्यामविरुद्धयथात्मशुद्ध्यर्थम् ।
अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु ॥ (पञ्चाध्यायी)
निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ (तत्त्वार्थसार)
लोकोयं मेहि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोर्थतः ।
नापरो लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोस्ति मे ॥ (पञ्चाध्यायी)
चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
लोको यन्न तवापरस्तदपरस्तस्यापि तद्भीः कुतः *
(नाटकसमयसारकलशा)

ग—पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें सिद्ध किया गया है कि रत्नत्रय कर्मबन्धका कारण नहीं है, किन्तु रागद्वेष और कर्मबन्धकी व्याप्ति है । इसी प्रकार पञ्चाध्यायीमें भी शब्दान्तरोंसे उसी बातका निरूपण किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित श्लोकोंसे सिद्ध होता है—

* यद्यपि इस प्रकारकी समता भिन्न २ ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है, परन्तु यहां पर दिये हुए अन्य अनुमानोंके साथ उपर्युक्त अनुमान भी प्रकृत विषयका साधक प्रतीत होता है ।

रत्नत्रयमिदं हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोयमपराधः ॥
येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

यत्पुनः श्रेयसोबन्धो बन्धश्चाऽश्रेयसोपि वा ।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यान्नोपयोगसात् ॥
पाकाचारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥
व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाऽव्याप्तिर्विकल्पैरिव ।
विकल्पैरस्यचाव्याप्ति र्न व्याप्तिः किल तैरिव ॥ (पञ्चाध्यायी)

घ— उक्त सूरिने हरएक विषयको युक्ति पूर्ण लिखनेके साथ ही उसे बहुत प्रकारसे समझानेका प्रयत्न किया है। जैसा कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि ग्रन्थोंके हिंसानिषेध, रात्रि भुक्ति निषेधादि प्रकरणोंसे प्रसिद्ध है। पञ्चाध्यायीमें भी हरएक विषयका विवेचन बहुत विस्तृत मिलता है। ऐसी ऐसी बातें भी कथन शैलीमें समताबोधक हैं।

च—श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्यने प्रत्येक ग्रन्थमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण, पर्याय, प्रमाण, निश्चयनय, व्यवहारनय, और अनेकान्त कथनकी ही सर्वत्र प्रधानता रक्खी है, यह बात समयसार प्रवचनसारादि ग्रन्थोंकी टीकाओंसे और पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि स्वतन्त्र ग्रन्थोंसे भली भांति निर्णीत है। यद्यपि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसारको उन्होंने दूसरे २ विषयों पर रचा है, तथापि उक्त ग्रन्थोंके आदि अन्तमें अनेकान्तका ही प्रतिपादन किया है। इस प्रकार जो उनका प्रधान लक्ष्य (उत्पाद व्यय ध्रौव्य, निश्चय व्यवहार नय, प्रमाण, अनेकान्त आदि) था, उसीका उन्होंने पञ्चाध्यायीमें स्वतन्त्र निरूपण किया है। इस तत्त्वकथन शैलीसे तो हमें पूरा विश्वास होता है कि पञ्चाध्यायीके कर्त्ता अनेकान्त प्रधानी आचार्यवर्य—अमृतचन्द्र सूरि ही हैं *। उक्त सूरि विक्रम सम्वत् ९६२ में हुए हैं।

जिन दिनों (सन् १९१९ में) जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी सम्पादक "जैनमित्र" श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रमके अधिष्ठाता नियत होकर यहां ठहरे थे उन्होंने कुछ काल तक इस ग्रन्थको हमारे साथ विचारा और साथ ही इसकी हिन्दी टीका लिखनेके लिये हमें

* हमारे गुरुवर्य पूज्यवर पं० गोपालदासजीका भी ऐसा ही अनुमान था।

प्रेरित किया, उन्हींकी प्रेरणाके प्रतिफलमें आज हम इस महान् ग्रन्थकी हिन्दी–सुबोधिनी टीका बनाकर पाठकोंके समक्ष रखनेमें समर्थ हुए हैं। इसके लिये हम माननीय ब्रह्मचारीजीके अति कृतज्ञ हैं, और इस कृतज्ञताके उपलक्ष्यमें आपको कोटिशः धन्यवाद देते हैं। साथ ही मित्रवर पं० उमरावसिंहजी न्यायतीर्थ प्रधानाध्यापक दि० जैन महाविद्यालय मथुराको भी हम धन्यवाद दिये बिना न रहेंगे, आपसे जब कभी हमने पत्रद्वारा कुछ शङ्काओंका समाधान चाहा तभी आपने स्वबुद्धि कौशलसे तत्काल ही उत्तर देकर हमें अनुगृहीत किया।

इस टीकाका संशोधन विद्वद्वर श्रीमान पं० लालारामजी शास्त्रीने किया है, आप हमारे पूज्यवर सहोदर हैं तथा विद्यागुरु भी हैं। इसलिये हम आपको सविनय प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हैं।

इस अनुवादके लिखनेमें हमको किसी ग्रन्थ विशेषकी सहायता नहीं मिली, कारण कि मूल ग्रन्थके सिवा इस ग्रन्थकी कोई संस्कृत अथवा हिन्दी टीका अभी तक हमारे देखने सुननेमें नहीं आई है, अतः हम नहीं कह सकते कि हमारा प्रयत्न कहां तक सफल हुआ होगा, विद्वद्वर्ग इसका स्वयं अनुभव कर सकेंगे।

तत्त्वविवेचन तथा अध्यात्म सम्बन्धी ग्रन्थोंके अनुवादमें पदार्थकी अपेक्षा भावार्थकी मुख्यता रखना विशेष उपयोगी होता है, ऐसा समझ कर हमने इस टीकामें पद २ का अर्थ न लिखकर अर्थमें पूरे श्लोकका मिश्रित अर्थ लिखा है और भावार्थमें उसी विषयको विस्तारसे लिखा है। यद्यपि भावार्थ सर्वत्र ग्रन्थानुसार ही लिखा गया है, परन्तु कहीं २ पर उसी विषयको विशेष स्फुट करनेके लिये ग्रन्थसे बाहरकी युक्तियां भी लिखी गई हैं तथा अष्टसहस्री, गोम्मट्टसारादि ग्रन्थोंके आशयोंका भी जहां कहीं टिप्पणीमें उल्लेख किया गया है जो श्लोक सरल समझे गये हैं, उनका अर्थ मात्र लिखा गया है।

हमने सर्व साधरणके समझने योग्य भाषामें इस टीकाके लिखनेका भरसक प्रयत्न किया है। संभव है विषयकी कठिनताके कारण हम कहीं २ अपने इस उद्देश्यसे च्युत हुए हों, तथा भावज्ञानसे भी स्खलित हुए हों, इसके लिये हमारा प्रथम प्रयास समझ कर सज्जन-विद्वज्जन हमें क्षमा प्रदान करनेमें थोड़ा भी संकोच नहीं करेंगे ऐसी पूर्ण आशा है।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

२४–९–१९१८
श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम
हस्तिनापुर (**मेरठ**)

निवेदक—
चावली (आगरा) निवासी,
मक्खनलाल शास्त्री।

विषय-सूची।

पूर्वार्ध।

विषय-सूची।

उत्तरार्ध।

शुद्धिपत्र ।

प्रथम अध्याय ।

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
७४	११	पर्यायनिपेक्ष	पर्यायनिरपेक्ष
७७	११	अमाव	अभाव
७८	२९	चूकी हैं	चुका है
९०	१०	तस्मद्विधि	तस्माद्विधि
९५	१	पक्षात्मो	पक्षात्मा
९६	१	०	अर्थ
१०९	१९	ह	है
१२०	२	वीर्त	वर्तित
१२१	१	दृष्टांतभाम	दृष्टांताभास
१२१	११	अद्वैत	अद्वैत
१२३	२७	सन्नप	मन्नय
१२९	८	निरोध	विरोध
१२९	२९	किश्चित्	किंचित्
१३८	११	खंडन	खंड न
१३८	१४	गुंफिकतैक	गुंफितैक
१५४	१८	(स्त्र)	(शस्त्र)
१५६	४	दूसरे	दूसरा
१५९	९	इससिये	इसलिये
१६०	२	विमाव	विभाव
१६२	२२	उपयुक्त	उपर्युक्त
१६३	९	वस्तुका	वस्तुका गुण
१६४	१	सिद्धात्वात्	सिद्धत्वात्
१६९	२४	मावमय	भावमय
१६९	२८	आवयवी	अवयवी
१७१	२९	नाशंकयं	नाशंक्यं
१७३	१७	क्तृता	कर्तृता

पृष्ठ.	पंक्ति.	शुद्ध.	अशुद्ध.
१८९	२९	त य	न पर्यय
१८९	२९	द्रव्यं गुणो न य	द्रव्यं गुणो न पर्यय
१९०	१०	निश्चयन यस्य	निश्चयनयस्य
१९१	१४	विभणिमं	विमणियं
१९२	१०	(मैंसा)	(भैंसा)
१९३	२८	अधीम	आधीन
१९४	१८	निश्चन	निश्चयनय
१९५	२	धत्तः	धतः
१९६	२८	अनुत	अनुगत
१९६	२९	प्रतीत	प्रतीति
१९८	१९	सायान्य	सामान्य
१९८	१९	सायान्य	सामान्य
२११	७	स्यान्मतिज्ञाने	स्यान्मतिज्ञानं
२१३	१८	साफल्प	साकल्य
२१६	१	तल्लक्षण	तल्लक्षणं
२१८	१२	भधुसूदनः	मधुसूदनः
२१८	२७	विनिसूता	विनिसूताः
२२०	११	नाम	नाममें
२२९	१६	व्यवहारन्तर्भूतो	व्यवहारान्तर्भूतो
२२९	१८	अनय	अनन्व
२२९	२८	पयायें	पर्यायें
२२६	२२	भोज्यं	योज्यं

द्वितीय अध्याय ।

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
२	८	सामाम्य	सामान्य
३	२६	मिताण	मित्ताण
६	२२	इंद्रियों	इंद्रियों
७	१०	उसक	उसका

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
१०	११	ने	न
१७	२२	जावकी	जीवकी
२७	२९	कम	कर्म
१८	२८	कर्मो	कर्मों
१९	२७	प्रत्थर	पत्थर
२२	१	उपर	ऊपर
२३	२३	दार्ष्टोत	दार्ष्टांत
३०	४	ग	न
३०	२९	कीय	कार्य
३९	८	अर्पक्षा	अपेक्षा
४१	२८	उत्	उक्त
५४	१४	अलमोनियम	एल्यूमीनियम
६१	१४	श्रीमद्भवान्	श्रीमद्भगवान्
८३	२१	आग्राह्य	अग्राह्य
८६	२४	मेद	भेद
८७	१२	क्षयोमशम	क्षयोपशम
८८	२७	शरिर	शरीर
९९	२२	शारिरिक	शारीरिक
१०४	२४	भूम्भ्रान्ति	भूभ्रांति
१०५	२	पीताग्वादि	पीतत्वादि
११६	५	घूआं	धूआं
१२६	२९	इसकिये	इसलिये
१४९	२२	ज्ञकाकार	शंकाकार
१५२	२६	अदर्शन	सद्दर्शन
१५२	२६	निर्विकित्सा	निर्विचिकित्सा
१७७	१२	शसान	शासन
१८०	५	प्राट	प्रगट
१९१	२५	नदेकस्य	तदेकस्य
२११	२१	विधीयतामू	विधीयताम्

पृष्ठ.	पंक्ति.	शुद्ध.	अशुद्ध.
२१२	१७	ज्ञान चतना	ज्ञान चेतना
२१३	१६	यावच्छुताभ्यास	यावच्छ्रुताभ्यास
२१६	५	ऐकां	एकां
२१६	१६	प्राप्ति	व्याप्ति
२४६	१	योके	योगके
२४८	३	पाबंध	पापबंध
२४९	१८	धरी	धारी
२७१	१२	भी	ही
२७२	४	भी	ही
२७३	१७	ज्ञान	अज्ञान
३००	१५	मी	भी
३०२	१२	मेद्	भेद
३०२	१८	समक्	सम्यक्
३०३	१८	असंमय	असंयम
३०३	२०	संमय	संयम
३०३	२२	इंद्रियों	इंद्रियोंकी
३०३	२८	संयमका	संयमको
३१६	२७	अचिंत्यऽस्वा	अचिंत्यस्वा
३१७	१३	अर्हन्त	अरहंत
३१७	१८	णिवासिगो	णिवासिणो
३१८	२६	करता	करतापना
३१९	१३	सुदिट्ठं	समुदिट्ठं
३२०	५	इस	रस
३२२	२७	सीलोचय धर्म	सीलोयधम्म
३२२	२८	लक्कखण	लक्खण
३२२	३०	घणणे	धणणे
३३६	११	लग	लगा

* कहीं कहीं मात्राओंके टूटनेसे शब्दोंकी शुद्धिमें अन्तर आगया है। ऐसे शब्दोंको पाठक महोदय कृपा करके सुधार कर पढ़ें।

श्रीः।

समर्पण।

स्याद्वाद वाराधि, वादिगजकेशरी, न्यायवाचस्पति-

श्रीमान् पं० गोपालदासजी।

गुरुवर !

जैन समाजमें तो आप सर्वमान्य मुकुट थे ही, पर अन्य विद्वत्समाजमें भी आपका प्रतिभामय प्रखर पाण्डित्य प्रख्यात था। आपके उद्देश्य बहुत उदार थे, परन्तु सामायिक प्रगतिके समान धार्मिक सीमाके कभी बाहर न हुए। जैसे अकिंचिनताने आपका साथ नहीं छोड़ा वैसे ही स्वावलम्बन और निरीहताका साथ आपने भी कभी नहीं छोड़ा।

ऐसे समयमें जब कि उच्चतम कोटिके सिद्धान्त ग्रंथोंके पठन पाठनका मार्ग रुका हुआ था, आपने अपने असीम पौरुषसे उन ग्रंथोंके मर्मी १५-२० गण्य मान्य विद्वान् तैयार कर दिये, इतना ही नहीं; किन्तु न्याय सिद्धान्त विज्ञताका प्रवाह बराबर चलता रहे इसके लिये मोरेनामें एक विशाल जैन सिद्धान्त विद्यालय भी स्थापित कर दिया, जिससे कि प्रतिवर्ष सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् निकलते रहते हैं। जैनधर्मकी वास्तविक उन्नतिका मूल कारण यह आपकी कृति जैन समाज हृदय मन्दिरपर सदा अंकित रहेगी।

पञ्चाध्यायी एक अपूर्व सिद्धान्त ग्रन्थ होनेपर भी बहुत कालसे लुप्त प्राय था, आपने ही अपने शिष्योंको पढ़ाकर इसका प्रसार किया। कभी २ इसके आधार पर अनेक तात्विक-गम्भीर भाषणोंसे श्रोतृ समाजको भी इस ग्रन्थके अमृतमय रससे तृप्त किया।

पूज्यपाद ! आपके प्रसादसे उपलब्ध हुए इस ग्रंथकी आपके आदेशानुसार की हुई यह टीका आज आपके ही कर कमलोंमें टीकाकार द्वारा सादर-सप्रेम-सविनय समर्पित की जाती है।

यदि आपके समक्ष ही इसके समर्पणका सौभाग्य मुझे प्राप्त होता तो आपको भी इस बालकृतिसे सन्तोष होता और मुझे आपकी हार्दिक समालोचनासे विशेष अनुभव तथा परम हर्ष होता, परन्तु लिखते हुए हृदय विदीर्ण होता है कि इस अनुवादकी समाप्तिके पहले ही आप स्वर्गीय रत्न बन गये। आपके इस असमय स्वर्गारोहणसे प्रतीत होता है कि आपको अपनी निष्काम कृतिका फल देखना अभीष्ट नहीं था। अन्यथा कुछ काल और ठहरकर आप अपने शिष्यवर्गका अनुभव बढ़ाते हुए उसकी कार्य परिणतिसे निज कृतिकी सफलता पर सन्तुष्ट होते।

आपका प्रिय शिष्य—

मक्खनलाल शास्त्री।



श्रीमान् स्वर्गीय पंडित गोपालदासजी बरैया ।

जन्म सं० १९२३.   स्वर्गारोहण सं० १९७४.

'जैनविजय' प्रेस, सूरत।

नमः सिद्धेभ्यः ।

अथ—सुबोधिनी—

हिन्दी भाषा—टीका सहित ।

पञ्चाध्यायी ।

वीर प्रार्थना—

सुध्यानमें लवलीन हो, जब घातिया चारों हने
सर्वज्ञबोध, विरागताको, पालिया तब आपने
उपदेश दे हितकर, अनेकों भव्य, निज सम कर लिये
रवि ज्ञान किरण प्रकाश डालो, वीर ! मेरे भी हिये ॥ १ ॥

जिनवाणी नमस्कार—

स्याद्वाद, नय, षट्द्रव्य, गुण, पर्याय, और प्रमाणका
जड़—कर्म चेतन बन्धका, अरु कर्मके अवसानका
कहकर स्वरूप यथार्थ, जगका जो किया उपकार है
उसके लिये, जिनवाणि ! तुमको वन्दना शतवार है ॥ २ ॥

गुरु स्तवन—

धरि कवच संयम, उग्र ध्यान कठोर असि निज हाथ ले
व्रत, समिति, गुप्ति, सुधर्म, भावन, वीर भट भी साथ ले
परचक्र राग द्वेष हनि, स्वातन्त्र्य—निधि पाते हुए
वे स्व—पर तारक, गुरु, तपोनिधि, मुक्ति पथ जाते हुए ॥ ३ ॥

ग्रन्थकारका मङ्गलाचरण और आशय—

पञ्चाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥ १ ॥

अर्थ—पाँच अध्यायोंमें बँटे हुए जिस ग्रन्थराजको मैं स्वयं बनानेवाला हूं, उस ग्रन्थ-राजके बनानेमें जिन महावीर स्वामीके वचन मेरे लिये पदार्थोंके प्रकाश करनेमें मूल कारण हैं, उन महावीर स्वामी (वर्तमान—अन्तिम तीर्थंकर) का मैं स्तवन करता हूं ।

भावार्थ—ग्रन्थकारने इस श्लोकद्वारा महावीर स्वामीका स्तवन रूप मङ्गल[1] किया है । जिस प्रकार इष्ट देवका नमस्कार, स्मरण आदिक मङ्गल है, उसी प्रकार उनके गुणोंका स्तवन करना भी मङ्गल है । स्तवन करनेमें भी ग्रन्थकारने महावीर स्वामीकी सर्व जीव हितकारक—अलौकिक दिव्य भाषाको ही हेतु ठहराया है । वास्तवमें यह संसारी जीव मोहान्धकारवश पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहचानता है । जब तेरहवें गुणस्थानवर्ती तीर्थंकरके उपदेशसे उसे यथार्थ बोध होता है, तब उस बोधरूपी प्रकाशमें पदार्थोंका ठीक २ विकाश होने लगता है । इसी आशयको ग्रन्थकारने स्पष्ट रीतिसे बतलाया है । मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थकारने अपना आशय भी कुछ प्रगट कर दिया है । वे जिस ग्रन्थके बनानेका प्रारम्भ करते हैं, वह एक सामान्य ग्रन्थ नहीं होगा, किन्तु अनेक ग्रन्थोंका राजा—महा ग्रन्थ, होगा । इस बातको हृदयमें रखकर ही उन्होंने इसे ग्रन्थराज, पद दिया है । साथ ही वे जिस ग्रन्थको बनानेवाले हैं, उस ग्रन्थको पाँच मूल बातोंमें—जैसे—द्रव्य विभाग, सम्यक्त्व विभाग आदि[2] रूपसे विभक्त करनेका उद्देश्य स्थिर कर चुके हैं, तभी उन्होंने इस ग्रन्थका यौगिक[3] रीतिसे "पञ्चाध्यायी" ऐसा नाम रक्खा है ।

पांचों परमेष्ठियोंको नमस्कार—

शेषानपि तीर्थकराननन्तसिद्धानहं नमामि समम्
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान् मुनीश्वरान् वन्दे ॥२॥

---

१ आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः । तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥१॥ आप्तपरीक्षा ।

२ पाँचों विभागोंके नाम यहां क्यों नहीं दिये गये हैं, यह विषय इस ग्रन्थकी भूमिकासे स्पष्ट होगा ।

३ शब्दोंके वाच्यार्थ तीन प्रकार हैं—रूढिसे, योगसे, योग रूढिसे । जो शब्द अपने अर्थको अपनी व्युत्पत्तिद्वारा न जना सके, वह रूढिसे कहा जाता है । जैसे—ऐलक शब्दका अर्थ ग्यारह प्रतिमाधारी । जो शब्द अपने अर्थको अपनी ही व्युत्पत्तिद्वारा जना सके वह यौगिक कहाजाता है । जैसे—जिन शब्दका अर्थ सम्यग्दृष्टि अथवा अर्हन् । जो शब्द अपने अर्थको व्युत्पत्तिद्वारा भी जना सके और उस अर्थमें नियत भी हो वह योगरूढि कहलाता है । जैसे—तीर्थंकर शब्दका अर्थ (चौबीस) तीर्थंकर ।

अर्थ–महावीर स्वामीके सिवाय और भी जितने (वृषभादिक २३) तीर्थंकर हैं । तथा अनादि कालसे होनेवाले अनन्त सिद्ध हैं । उन सबको एक साथ में नमस्कार करता हूं । धर्माचार्य, उपाध्याय, और साधु, इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त मुनीश्वरोंको भी मैं वन्दना करता हूं ।

जिनशासनका माहात्म्य—

जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमतारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥

अर्थ–जो जैन शासन (जैनमत) अनादि–अनन्त है । अतएव अच्छी तरह वन्दने योग्य है ! दोषोंसे सर्वथा मुक्त है । साथमें खोटे मत रूपी शत्रुओंको अग्निकी तरह जलानेवाला है, वह सदा जयशील बना रहे ।

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा—

इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गलसत्क्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ–इस प्रकार पञ्च परमेष्ठियोंकी वन्दना करनेवाला और मङ्गलरूप श्रेष्ठ क्रियाको करनेवाला यह *ग्रन्थकार पञ्चाध्यायी नामक ग्रन्थको बनानेकी प्रतिज्ञा करता है ।

ग्रन्थके बनानेमें हेतु—

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः ।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥५॥

अर्थ–ग्रन्थ बनानेमें यद्यपि अन्तरंग कारण कविका अति विशुद्ध भाव है, तथापि उस कारणका भी कारण सब जीवोंका उपकार करनेवाली श्रेष्ठ बुद्धि है ।

भावार्थ–जबतक ज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम न हो, तबतक अनेक कारण कलाप मिलनेपर भी ग्रन्थ निर्माणादि कार्य नहीं हो सके । इस लिये इस महान् कार्यमें अन्तरंग कारण तो कविवर (ग्रन्थकार) का विशेष क्षायोपशमिक भाव है परन्तु उस क्षयोपशम होनेमें भी कारण सब जीवोंके उपकार करनेके परिणाम हैं। विना उपकारी परिणामोंके हुए इस प्रकारकी परिणामोंमें निर्मलता ही नहीं आती ।

---

१ आचार्यका मुनियोंके साथ धार्मिक सम्बन्ध ही होता है । परन्तु गृहस्थाचार्यका गृहस्थोंके साथ धार्मिक और सामाजिक, दोनों प्रकारका सम्बन्ध रहता है । इसीलिये आचार्यका धर्म विशेषण दिया है ।

* आनुमानिक–श्रीमत्परमपूज्य अमृतचन्द्र सूरि । ऐसा अनुमान क्यों किया जाता है ? यह भूमिकासे स्पष्ट होगा ।

कथनक्रम—

सर्वोऽपि जीवलोकः श्रोतुं कामो वृषं हि सुगमोक्त्या।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जनसमूह धर्मको सुनना चाहता है, परन्तु सरल रीतिसे सुनना चाहता है। यह बात सर्व विदित है। इसके लिये हमारी यह (नीचे लिखी हुई) कथन शैली अच्छी होगी—

सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यादनन्यथा न्यायात्।
साध्यं वस्त्वविशिष्टं धर्मविशिष्टं ततः परं चापि ॥ ७ ॥

अर्थ—धर्मीका निरूपण होनेपर ही धर्मोंका विशेष विचार किया जा सक्ता है। इसके सिवाय और कोई नीति नहीं हो सक्ती। इसलिये पहले सामान्य रूपसे ही वस्तुको सिद्ध करना चाहिये। उसके पीछे धर्मोंकी विशेषताके साथ सिद्ध करना चाहिये।

भावार्थ—अनेक धर्मोंके समूहका नाम ही धर्मी है। धर्म, गुण, ये दोनोंही एकार्थ हैं। जब किसी खास गुणका विवेचन किया जाता है तब वह विवेचनीय गुण तो धर्म कहलाता है और बाकी अनन्त गुणोंका समुदाय धर्मी (पिण्ड द्रव्य) कहलाता है। इसी प्रकार हरएक गुण चालनी न्यायसे धर्म कहलाता है, उससे बाकीके सम्पूर्ण गुणोंका समूह, धर्मी कहलाता है। धर्मकी मीमांसा (विचार) तभी हो सक्ती है जब कि पहले धर्म समुदाय रूप धर्मीका बोध हो जाय। जिस प्रकार शरीरका परिज्ञान होनेपर ही शरीरके प्रत्येक अंगका वर्णन किया जा सक्ता है। इसलिये यहां पर पहले धर्मोंका विचार न करके धर्मीका ही विचार किया जाता है। सामान्य विवेचनाके पीछे ही विशेष विवेचना की जा सक्ती है।

तत्त्वका स्वरूप—

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पञ्च ॥ ८ ॥

अर्थ—तत्त्व (वस्तु) सत् लक्षणवाली है। अथवा सत स्वरूप ही है। और वह स्वतः सिद्ध है इसीलिये अनादि निधन है। अपनी सहायतासे ही बनता और बिगड़ता है। और वह निर्विकल्प (वचनातीत) भी है।

भावार्थ—वस्तु सत् लक्षणवाला है, यह प्रमाण लक्षण है। *प्रमाणमें एक गुणके द्वारा सम्पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है। वस्तुमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदि अनन्त गुण हैं। अस्तित्व गुणका नाम ही सत् है। सत् कहनेसे अस्तित्व गुणका ही ग्रहण होना चाहिये परन्तु यहांपर सत् कहनेसे सम्पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है। इसका कारण यही है कि अस्तित्व आदि सभी गुण अभिन्न हैं। अभिन्नताके कारण ही सतके कहनेसे सम्पूर्ण गुण समुदायरूप वस्तुका

* एकगुणमुखेनाऽशेषवस्तुकथनम्प्रमाणाधीनमिति वचनात्।

ग्रहण हो जाता है । इसीलिये वस्तुको सत स्वरूप भी कह दिया है । सत और गुण समुदाय रूप वस्तु, दोनों अभिन्न हैं । इस लिये सत् रूप ही वस्तु है ।

यहांपर लक्ष्य लक्षणकी भेद विवक्षा रखकर ही वस्तुका सत्, लक्षण बतलाया है । अभेद विवक्षामें तो वस्तुको सत् स्वरूप ही बतलाया गया है ।

नैयायिक आदि कतिपय दर्शनवाले वस्तुको परसे सिद्ध मानते हैं । ईश्वरादिको उसका रचयिता बतलाते है, परन्तु यह मानना सर्वथा मिथ्या है । वस्तु अपने आप ही सिद्ध है । इसका कोई बनानेवाला नहीं है । इसी लिये न इसकी आदि है और न इसका अन्त है । प्रत्येक वस्तुका परिणमन अवश्य होता है उस परिणमनमें वस्तु अपने आप ही कारण है और अनन्त गुणोंका पिण्डरूप वस्तु वचन वर्गणाके सर्वथा अगोचर है ।

ऐसा न माननेमें दोष—

इत्थं नोचेदसतः प्रादुर्भूति निरङ्कुशा भवति ।

परतः प्रादुर्भावो युतसिद्धत्वं सतो विनाशो वा ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई रीतिसे वस्तुका स्वरूप न माना जावे तो अनेक दोष आते हैं । असत् पदार्थ भी होने लगेगा । जब वस्तुको सत् स्वरूप और स्वतःसिद्ध माना जाता है तब तो असत्की उत्पत्ति बन नहीं सकती है । परन्तु ऐसा न मानने पर यह दोष विना किसी अंकुशके प्रबलतासे उपस्थित हो जायगा । इसी प्रकार वस्तुकी परसे उत्पत्ति होने लगेगी। वस्तुमें युतसिद्धता (अखण्डताका अभाव) भी होगी । और सत् पदार्थका विनाश भी होने लगेगा । इस तरह ऊपरकी चारों बातोंके न माननेमें ये चार दोष आते हैं ।

असत्पदार्थकी उत्पत्तिमें—

असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनन्तत्वम् ।

को वारयितुं शक्तः कुम्भोत्पत्तिं मृदाद्यभावेपि ॥ १० ॥

अर्थ—यदि उन दोषोंको स्वीकार किया जाय तो और कौन २ दोष आते हैं, वही बतलाया जाता है । यदि असत्की उत्पत्ति मान ली जाय, अर्थात् जो वस्तु पहले किसी रूपमें भी नहीं है, और न उसके परमाणुओंकी सत्ता ही है, ऐसी वस्तुकी उत्पत्ति माननेसे वस्तुओंकी कोई इयत्ता (मर्यादा) नहीं रह सक्ती है । जब विना अपनी सत्ताके ही नवीन रूपसे उत्पत्ति होने लगेगी तो संसारमें अनन्तों द्रव्य होते चले जांयगे। ऐसी अवस्थामें विना मिट्टीके ही घड़ा बनने लगेगा, इसको कौन रोक सकेगा ।

भावार्थ—असत्की उत्पत्ति माननेसे वस्तुओंमें कार्य–कारण भाव नहीं रहेगा । कार्य-कारण भावके उठ जानेसे कोई वस्तु कहींसे क्यों न उत्पन्न होजाय उसमें कोई बाधक नहीं हो सक्ता है । कार्य-कारण माननेपर यह दोष नहीं आता है । अपने कारणसे ही अपना कार्य

होता है, यह नियम वस्तुओंकी अव्यवस्थामें बाधक हो जाता है। इस लिये असत पदार्थोंकी उत्पत्ति न मानकर वस्तुको सत्‌रूप मानना ही ठीक है।

परसे सिद्ध माननेमें दोष—

परतः सिद्धत्वे स्यादनवस्थालक्षणो महान् दोषः ।
सोपि परः परतः स्यादन्यस्मादिति यतश्च सोपि परः ॥११॥

अर्थ—वस्तुको परसे सिद्ध मानने पर अनवस्था नामक दोष आता है। यह दोष बड़ा दोष है। वह इस प्रकार आता है कि—वस्तु जब परसे सिद्ध होगी तो वह पर भी किसी दूसरे पर पदार्थसे सिद्ध होगा। क्योंकि पर—सिद्ध माननेवालोंका यह सिद्धान्त है कि हर एक पदार्थ परसे ही उत्पन्न होता है।

भावार्थ—अप्रमाणरूप अनन्त पदार्थोंकी उत्तरोत्तर कल्पना करते चले जाना, इसीका नाम अनवस्था *दोष है। यह दोष पदार्थ सिद्धिमें सर्वथा बाधक है। पदार्थोंको पर सिद्ध मानने पर यह महा दोष उपस्थित हो जाता है। क्योंकि उससे वह, फिर उससे वह, इस प्रकार कितनी ही लम्बी कल्पना क्यों न की जाय, परन्तु कहीं पर भी जाकर विश्राम नहीं आता। जहां रुकेंगे वहीं पर यह प्रश्न खड़ा होगा कि यह कहांसे हुआ, । इसलिये वस्तुको पर सिद्ध न मानकर स्वतःसिद्ध मानना ही श्रेयस्कर है।

युतसिद्ध माननेमें दोष—

युतसिद्धत्वेप्येवं गुणगुणिनोः स्यात्पृथक् प्रदेशत्वम् ।
उभयोरात्मसमत्वाल्लक्षणभेदःकथं तयो र्भवति ॥१२॥

अर्थ—युतसिद्ध माननेसे गुण और गुणी (जिसमें गुण पाया जाय) दोनों ही के भिन्न २ प्रदेश ठहरेंगे। उस अवस्थामें दोनों ही समान होंगे। फिर अमुक गुण है और अमुक गुणी है ऐसा गुण, गुणीका भिन्न २ लक्षण नहीं बन सकेगा।

भावार्थ—अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड स्वरूप यदि वस्तु मानी जावे तब तो गुण, गुणीके भिन्न प्रदेश नहीं होते हैं, और अभिन्नतामें ही विवक्षा वश गुण, गुणीमें लक्षणभेद हो जाता है। परन्तु जब वस्तुके भिन्न प्रदेश माने जावें और गुणोंके भिन्न माने जावें तब दोनों ही स्वतंत्र होंगे, और स्वतन्त्रतासे अमुक गुण है और अमुक गुणी है ऐसा लक्षणभेद नहीं कर सकते। समान-अधिकरमें दोनोंही वस्तु होंगे अथवा दोनों ही गुण होंगे। इसलिये युतसिद्ध मानना ठीक नहीं है।

सत्‌का नाश माननेमें दोष-

अथवा सतो विनाशः स्यादिति पक्षोपि बाधितो भवति ।
नित्यं यतः कथञ्चिद्द्रव्यं सुज्ञैः प्रतीयतेऽध्यक्षात् ॥ १३ ॥

* अप्रामाणिकाऽनन्तपदार्थकल्पनया—अविश्रान्तिरनवस्था ।

अर्थ—अथवा सतका नाश हो जायगा यह पक्ष भी सर्वथा बाधित है। क्योंकि द्रव्य कथञ्चित् नित्य है यह बात विशेष जानकारोंको प्रत्यक्ष रूपसे प्रतीत है।

भावार्थ—यदि द्रव्य कथञ्चित नित्य न होवे तो प्रत्यभिज्ञान ही नहीं हो सक्ता। जिस पुरुषको पहले कभी देखा हो, फिर दुबारा भी उसे देखा जाय तो ऐसी बुद्धि पैदा होती है कि "यह वही पुरुष है जिसे कि हम पहले देख चुके हैं।" यदि उस पुरुषमें कथञ्चित् नित्यता न होवे तो "यह वही पुरुष है" ऐसी स्थिर बुद्धि भी नहीं हो सक्ती। और ऐसी धारणारूप बुद्धि विद्वानोंको स्वयं प्रतीत होती है। इसलिये सर्वथा वस्तुका नाश मानना भी सर्वथा अनुचित है।

सारांश—

तस्मादनेकदूषणदूषितपक्षाननिच्छता पुंसा।
अनवद्यमुक्तलक्षणमिह तत्त्वं चानुमन्तव्यम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इसलिये अनेक दूषणोंसे दूषित पक्षोंको जो पुरुष नहीं चाहता है उसे योग्य है कि वह ऊपर कहे हुए लक्षणवाली निर्दोष वस्तुको स्वीकार करे। अर्थात सत् स्वरूप, स्वतः सिद्ध, अनादि निधन, स्वसहाय और निर्विकल्प स्वरूप ही वस्तुको समझे।

सत्ता विचार—

किञ्चैवंभूतापि च सत्ता न स्यान्निरंकुशा किन्तु।
सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस सत्ताको वस्तुका लक्षण बतलाया है वह सत्ता भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। किन्तु अपने प्रतिपक्ष (विरोधी) के कारण प्रतिपक्षी भावको लिये हुए है। सत्ताका जो प्रतिपक्ष है उसीके साथ सत्ताकी प्रतिपक्षता है दूसरे किसीके साथ नहीं।

भावार्थ—नैयायिक सिद्धान्त सत्ताको सर्वथा स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। उसके मतके अनुसार सत्ता यद्यपि वस्तुमें रहती है परन्तु वह वस्तुसे सर्वथा जुदी है, और वह नित्य है, व्यापक है, एक है। जैन सिद्धान्त इसके सर्वथा प्रतिकूल है। वह सत्ताको वस्तुसे अभिन्न मानता है, स्वतन्त्र पदार्थरूप सत्ताको नहीं मानता। यदि नैयायिक मतके अनुसार सत्ताको स्वतन्त्र पदार्थ माना जावे तो वस्तु अभावरूप ठहरेगी। यदि उसको नित्य माना जावे तो उसके साथ समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्धका नाम समवाय है) से रहनेवाली वस्तुका कभी भी नाश नहीं होना चाहिये। यदि उस सत्ताको व्यापक तथा एक माना जावे तो वह मध्यवर्ती अन्य पदार्थोंमें भी रह जायगी। दृष्टान्तके लिये गोत्व सत्ताको ले लीजिये जैसे—नैयायिक मतके अनुसार कलकत्तेवाली गौमें जो गोत्वधर्म है वही बम्बईवाली गौमें भी है।

जब दोनों जगह एक ही गोत्त्व धर्म है तब वह अखण्ड होना चाहिये, और अखण्ड होनेसे कलकत्ता और बम्बईके बीचमें जितने भी पदार्थ हैं उन सबमें भी गोत्वधर्म रह जायगा। गोत्व धर्मके रहनेसे वे सभी पदार्थ गौ, कहलांयगे। इन बातोंके सिवाय सत्ताको स्वतन्त्र माननेमें और भी अनेक दोषे आते हैं। इस लिये सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं किन्तु वस्तुसे अभिन्न एक अस्तित्व नामक गुण है। जितने संसारमें पदार्थ हैं उन सबमें भिन्न २ सत्ता हैं, एक नहीं हैं। जब वस्तु परिणमनशील है तब उसके सत्ता गुणमें भी परिवर्तन होता है, इसलिये वह सत्ता कथंचित् अनित्य भी है, सर्वथा नित्य नहीं है। वस्तुके परिणमनकी अपेक्षासे ही उस सत्तामें प्रतिपक्षता आती है। प्रर्यायकी अपेक्षासे वह सत्ता अनेक रूप है। द्रव्यकी अपेक्षासे वह एक रूप भी हैं। इसी प्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष पदार्थान्तर रूप परिणमनकी अपेक्षासे अभाव भी पड़ता है। और भी अनेक रीतिसे प्रतिपक्षता आती है जिसको ग्रन्थकार स्वयं आगे प्रगट करेंगे।

शङ्काकार

अत्राहैवं कश्चित् सत्ता या सा निरङ्कुशा भवतु।
परपक्षे निरपेक्षा स्वात्मनि पक्षेऽवलम्बिनी यस्मात् ॥१६॥

अर्थ—यहां पर कोई कहता है कि जो सत्ता है वह स्वतन्त्र ही है। क्योंकि वह अपने स्वरूपमें ही स्थित है। परपक्षसे सर्वथा निरपेक्ष है। अर्थात सत्ताका कोई प्रतिपक्ष नहीं है।

उत्तर—

नन्न यतो हि विपक्षः कश्चित्सत्त्वस्य वा सपक्षोपि।
द्वावपि नयपक्षौ तौ मिथो विपक्षौ विवक्षितापेक्षात् ॥ १७॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सत्ताका कोई सपक्ष और कोई विपक्ष अवश्य है। दोनों ही नय पक्ष हैं, और वे दोनों ही नय पक्ष विवक्षा वश परस्परमें विपक्षपनेको लिये हुए हैं।

भावार्थ—जिस समय द्रव्यके कहनेकी इच्छा होती है उस समय पर्यायको गौण दृष्टिसे देखा जाता है, और जिस समय पर्यायको कहनेकी इच्छा होती है उस समय द्रव्यको गौण दृष्टिसे देखा जाता है। द्रव्य और पर्यायमें परस्पर विपक्षता होनेसे सत्ताका सपक्ष और विपक्ष भी सिद्ध हो जाता है।

---

१ जिनका कुछ कथन दूसरे अध्यायमें किया गया है।

१ नैयायिक दर्शन

फिर शङ्काकार–

अत्राप्याह कुदृष्टि र्यदि नय पक्षौ विवक्षितौ भवतः ।
का नः क्षति र्भवेतामन्यतरेणेह सत्त्वसंसिद्धिः ॥ १८ ॥

अर्थ–यहां पर फिर मिथ्या दृष्टि कहता है कि यदि नय पक्ष विवक्षित होते हैं, तो होओ, हमारी कोई हानि नहीं है । सत्ताकी स्वतन्त्र सिद्धि एक नयसे ही हो जायगी ।

भावार्थ–शङ्काकार कहता है कि यदि द्रव्यार्थिक नय अथवा पर्यायार्थिक नय इन दोनोंमेंसे किसी भी नयसे जैन सिद्धान्त सत्ताको स्वीकार करता है तो उसी नयसे हम सत्ताको स्वतंत्र मानेंगे जिस नयसे भी सत्ता मानी जायगी उसी नयसे सत्ताकी स्वतन्त्रता बनी रहेगी । दूसरी नयको सत्ताका विपक्ष माननेकी क्या आवश्यकता है ?

शङ्काकारका आशय यही है कि किसी नय दृष्टिसे भी सत्ता क्यों न स्वीकार की जाय, उस दृष्टिसे वह स्वतन्त्र है, विपक्ष नय दृष्टिसे सत्ताका प्रतिपक्ष क्यों माना जाता है ?

उत्तर–

तन्न यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयात्मकं वस्तु ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषस्यापीह लोप इति दोषः ॥ १९ ॥

अर्थ–शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं हैं । क्योंकि वस्तु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय स्वरूप है । इन दोनों नयोंमेंसे किसी एक नयका लोप करने पर बाकीकी दूसरी नयका भी लोप हो जायगा । यह दोष उपस्थित होता है ।

भावार्थ–"सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः" ऐसा परीक्षामुखका सूत्र है । वस्तु उभय धर्मात्मक ही प्रमाणका विषय है । यदि सामान्य विशेषकी अपेक्षा न करै तो सामान्य भी नहीं रह सक्ता, क्योंकि विना विशेषके सामान्य अपने स्वरूपका लाभ ही नहीं कर सक्ता । इसी प्रकार विशेष भी यदि सामान्यकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र रहना चाहे तो वह भी नहीं रह सक्ता । यहां पर विशेष कथन पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे है, और सामान्य कथन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे है । यदि शङ्काकारके कथनानुसार जिस नयसे सत्ता मानते हैं उसी नयसे सत्ताको स्वतन्त्र मानने लगें और प्रतिपक्षी नयकी अपेक्षासे असत्ताको स्वीकार न करें तो वस्तु एक नय रूप होगी । निरपेक्ष एक नयकी स्वीकारतामें वह नय भी नहीं रह सकेगी । क्योंकि वस्तु उभय नय रूप है । इसलिये एक नय दूसरे नयकी अवश्य अपेक्षा रखती है । इसी पारस्परिक अपेक्षामें सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता पड़ती है ।

परस्परकी प्रतिपक्षता—

प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत् ।
नाना रूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु ॥ २० ॥

अर्थ—जिस प्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है उसी प्रकार और भी है। नाना रूपता एक रूपताका प्रतिपक्ष है।

भावार्थ—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सत्ताके दो भेद हैं। एक सामान्य सत्ता, और दूसरी सत्ता विशेष। सत्ता सामान्यका ही दूसरा नाम महासत्ता है, और सत्ता विशेषका दूसरा नाम अवान्तर सत्ता है। महासत्ता अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है। परन्तु अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे सत्ता नहीं है। इसी प्रकार अवान्तर सत्ता भी अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है, किन्तु महासत्ताकी अपेक्षासे वह असत्ता है। हरएक पदार्थमें स्व-स्वरूप और परस्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता और असत्ता रहती है। इसी लिये हरएक पदार्थ कथंचित सतरूप है, और कथंचित असत (अभाव) रूप है। सत्ता भी स्व-स्वरूप और परस्वरूपकी अपेक्षासे सत्, असत रूप उभय धर्म रखती है।

महासत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंकी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें रहती है इसलिये उसे नानारूपा (अनेक रूपा) कहा है। प्रतिनियत पदार्थोंके स्वरूप सत्ताकी अपेक्षासे अवान्तर सत्ताको एकरूपा कहा है।

और भी—

एक पदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितेर्विपक्षत्वम्।
ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः॥ २१॥

अर्थ—एक पदार्थकी सत्ता, समस्त पदार्थोंकी सत्ताका विपक्ष है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रिलक्षणात्मक सत्ताका प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव (अत्रिलक्षणा) है।

भावार्थ—यद्यपि समस्त वस्तुओंमें भिन्न२ सत्ता है, तथापि वह सब वस्तुओंमें एक सरीखी है। इसलिये सामान्य दृष्टिसे सब पदार्थोंमें एक सत्ता कह दी जाती है। उसीको 'महासत्ता'* कहते हैं।

उस महा सत्ताका प्रतिपक्ष एक पदार्थमें रहनेवाली सत्ता है। उसीको अवान्तर सत्ता कहते हैं। इस अवान्तर सत्तासे ही प्रति नियत पदार्थोंकी भिन्न २ व्यवस्था होती है।

वस्तुमें उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही अवस्थायें प्रतिक्षण हुआ करती हैं। इन तीनों अवस्थाओंको धारण करनेवाली वस्तु ही सत् कहलाती है। इसलिये महासत्ता उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रयात्मक है। यद्यपि ये तीनों अवस्थायें एक समयमें होनेवाली त्रिलक्षणात्मक पर्याय हैं। तथापि ये तीनों एक रूप नहीं हैं। जिस स्वरूपसे वस्तुमें उत्पाद है, उससे ध्रौव्य, विनाश नहीं है। और जिस स्वरूपसे विनाश है, उससे उत्पाद ध्रौव्य नहीं है। जिस स्वरूपसे

* यह महासत्ता केवल आपेक्षिक दृष्टिसे कही गई है। कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। जैसा कि नैयायिक और वैशेषिक दर्शनवाले सब पदार्थोंमें रहनेवाली महासत्ताको एक स्वतन्त्र पदार्थ ही मानते है।

ध्रौव्य है, उससे उत्पाद विनाश नहीं है । इसलिये प्रत्येक अवस्थामें रहनेवाली अवान्तर सत्ता त्रिलक्षणात्मक नहीं है किन्तु एक एक लक्षण रूप है । इसी अपेक्षासे त्रिलक्षणात्मक महासत्ताका प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव अर्थात् एक एक लक्षण रूप अवान्तर सत्ता है । क्योंकि त्रिलक्षणका प्रत्येक एक लक्षण विरोधी है ।

और भी—

एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याददो ह्यनेकत्वम् ।
स्यादप्यनन्तपर्ययप्रतिपक्षस्त्वेकपर्ययत्वं स्यात् ॥ २२ ॥

अर्थ—एक सत्ताका प्रतिपक्ष अनेक है । और अनन्त पर्यायका प्रतिपक्ष एक पर्याय है।

भावार्थ—महासत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक रूप बुद्धि पैदा करती है इसलिये वह एक कहलाती है । परन्तु अवान्तर सत्तामें यह बात नहीं है, जो एक वस्तुकी स्वरूप सत्ता है, वह दूसरेकी नहीं है । इसलिये वह अनेक कहलाती है ।*

प्रश्न—

एकस्मिन्निह वस्तुन्यनादिनिधने च निर्विकल्पे च ।
भेदनिदानं किं तद्येनैतज्जृम्भते वचस्त्विति चेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—वस्तु एक अखण्ड द्रव्य है । वह अनादि है, अनन्त है, और निर्विकल्प भी है । ऐसी वस्तुमें भेदका क्या कारण है ? जिससे कि तुम्हारा उपर्युक्त कथन सुसङ्गत हो ।

भावार्थ—यहांपर यह प्रश्न है कि जब वस्तु अखण्ड द्रव्य है, तब सामान्यका प्रतिपक्ष विशेष, एकका प्रतिपक्ष अनेक, उत्पाद व्यय ध्रौव्यका प्रतिपक्ष प्रत्येक एक लक्षण, अनन्त पर्यायका प्रतिपक्ष एक पर्याय आदि जो बहुतसी बातें कही गई हैं, वे ऐसी हैं जो कि द्रव्यमें खण्डपनेको सिद्ध करती हैं। इस लिये वह कौनसा कारण है जिससे द्रव्यमें सामान्य, विशेष, एक, अनेक, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि भेद सिद्ध हों ?

उत्तर—

अंशविभागः स्यादित्यखण्डदेशे महत्यपि द्रव्ये ।
विष्कम्भस्य क्रमतो व्योम्नीवाङ्गुलिवितस्तिहस्तादिः ॥२४॥

प्रथमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्ततोप्यनन्ताश्च ।
अंशा निरंशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्ययाख्यास्ते ॥२५॥

---

* सत्ताके विषयमें स्वामी कुंदकुंद भी ऐसा ही कहते हैं—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंत पज्जाया ।
उप्पादवयधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एगा ॥ १ ॥

पञ्चास्तिकाय ।

पर्यायाणामेतद्धर्मं यत्त्वंशकल्पनं द्रव्ये ।
तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सुस्थं प्रमाणतश्चापि ॥२६॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्य अखण्ड प्रदेश (देशांश) वाला है और बड़ा भी है। तथापि उसमें विस्तार क्रमसे अंशोंका विभाग कल्पित किया जाता है। जिस प्रकार आकाशमें विस्तार क्रमसे एक अंगुल, दो अंगुल, एक विलस्त, एक हाथ आदि अंश-विभाग किया जाता है। जिसमें फिर दुबारा अंश न किया जासके उसे ही निरंश अंश कहते हैं। ऐसे निरंशरूप अंश एक द्रव्यमें—पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवां, संख्यात, अविभागी—असंख्यात, अनन्त, तथा च, शब्दसे अनन्तानन्त तक होसक्ते हैं। जितने एक द्रव्यमें अंश हैं, उतनी ही उस द्रव्यकी पर्यायें समझनी चाहिये। प्रत्येक अंशको ही द्रव्यपर्याय कहते हैं। क्योंकि द्रव्यमें जो अंशोंकी कल्पना की जाती है, वही पर्यायोंका स्वरूप है। द्रव्यकी एक समय-की पर्याय उस द्रव्यका एक अंश है। इस लिये उन सम्पूर्ण अंशोंका समूह ही द्रव्य है। दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिये कि द्रव्यकी जितनी भी अनादि-अनन्त पर्यायें हैं, उन्हीं पर्यायोंका समूह द्रव्य है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्यकी एक समयमें एक पर्याय होती है, और कुल समय अनादि अनन्त है, इस लिये वस्तु भी अनादि अनन्त है। अतः उपर्युक्त कहा हुआ वस्तु-स्वरूप सर्वथा निर्दोष है, और सभी सुव्यवस्थित है। यही वस्तुका स्वरूप प्रमाणसे भली भांति सिद्ध है।

भावार्थ—यद्यपि वस्तु अनन्त गुणोंकी अखण्ड पिण्डरूप अखण्ड प्रदेशी है तथापि उसमें अंशोंकी कल्पना की जाती है। वह अंश कल्पना दो प्रकार होती है—एक तिर्यक् अंश कल्पना, दूसरी ऊर्ध्वांश कल्पना। एक समय वर्ती आकारको अविभागी अनेक अंशोंमें विभाजित करनेको तिर्यग् अंश कल्पना कहते हैं। इन प्रत्येक अविभागी अंशोंको द्रव्य पर्याय कहते हैं। द्रव्यका एक समयमें एक आकार है। दूसरे समयमें दूसरा आकार है। तीसरे सम-यमें तीसरा आकार है। इसी प्रकार अनन्त समयोंमें अनन्त आकार हैं इस प्रकार कालके क्रमसे द्रव्यके आकारके अनन्त भेद हैं। इसीका नाम ऊर्ध्वांश कल्पना है। और इन अनन्त समयवर्ती अनन्त आकारोंमेंसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक आकारको व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। द्रव्यमें उपर्युक्त रीतिसे अंश कल्पना प्रदेशवत्व गुणके निमित्तसे होती है। अर्थात् प्रदेशवत्व गुणके निमित्तसे द्रव्यमें आकार होता है। उसी आकारमें दो प्रकारकी कल्पना की जाती है। जिस प्रकार द्रव्यमें अंश कल्पना की जाती है उसी प्रकार गुणोंमें भी की जाती है। गुणकी एक समयमें एक अवस्था है। दूसरे समयमें दूसरी अवस्था है। तीसरे समयमें तीसरी अवस्था है। इसी प्रकार कालक्रमसे एक गुणकी अनन्त समयोंमें अनन्त अवस्थायें हैं इसीका नाम गुणमें ऊर्ध्वांश कल्पना है। इन अनन्त समयवर्ती अनन्त अवस्थाओं-मेंसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक अवस्थाको अर्थपर्याय कहते हैं। एक गुणकी एक समयमें जो

अवस्था है, उस अवस्थामें अविभाग प्रतिच्छेदरूप अंश कल्पनाको गुणमें तिर्यगंश कल्पना कहते हैं। और उन प्रत्येक अविभाग प्रतिच्छेदोंको गुणपर्याय कहते हैं। गुणोंमें जो अंश कल्पना की जाती है वह विष्कंभ क्रमसे नहीं होती क्योंकि देशका देशांश केवल एक प्रदेश व्यापी है किन्तु गुणका एक गुणांश एक समयमें उस द्रव्यके समस्त देशको व्यापकर रहता है इस लिये गुणमें अंश कल्पना काल क्रमसे तरतम रूपसे की जाती है। प्रत्येक समयमें जो अवस्था किसी गुणकी है उसही अवस्थाको गुणांश कहते हैं। एक गुणमें अनन्त गुणांश कल्पित किये जाते हैं। इन्हीं कल्पित गुणांशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। गुणांशरूप अविभाग प्रतिच्छेदोंका खुलासा इस प्रकार है। जैसे—बकरीके दूधमें चिक्कणता कम है। उससे अधिक क्रमसे गाय, भैंस, उटनी, भेड़के दूधमें उत्तरोत्तर बढ़ी हुई चिक्कणता है। स्निग्ध गुणके किसीमें कम अंश हैं, किसीमें अधिक अंश हैं। ऐसे २ अंश प्रत्येक गुणमें अनन्त हो सक्ते हैं। दूसरा दृष्टान्त ज्ञान गुणका है—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवमें अक्षरके अनन्तवें भाग व्यक्त ज्ञान है। उस ज्ञानमें भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। जघन्य ज्ञानसे बढ़ा हुआ क्रमसे निगोदियाओंमें ही अधिक २ है। उनसे अधिक २ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवोंमें है। पञ्चेन्द्रिय—असंज्ञीसे संज्ञीमें अधिक है। मनुष्योंमें किसीमें ज्यादा किसीमें कम स्पष्ट ही जाना जाता है। अथवा एक ही आत्मामें निगोदियाकी अवस्थासे लेकर ऊपर क्रम २ से केवलज्ञानतक एक ही ज्ञान गुणकी अनन्त अवस्थायें हो जाती हैं। ये सब अवस्थायें (भेद) ज्ञान गुणके अंश हैं। इन्हीं अंशोंको लेकर कल्पना की जा सक्ती है कि अमुक पुरुषमें इतना अधिक ज्ञान है, अमुकमें इतना कम है। किसी गुणके सबसे जघन्य भेदको अंश कहते हैं। ऐसे २ समान अंश प्रत्येक गुणमें अनन्त होते हैं। तभी यह स्थूलतासे व्यवहार होता है कि इतने अंश ज्ञानके अमुकसे अमुकमें अधिक हैं। इसी प्रकार रूपमें व्यवहार होता है कि अमुक कपड़ेपर गहरा रंग है। अमुक पर फीका रंग है। गहरापन और फीकापन रूप गुणके ही अंशोंकी न्यूनता और अधिकताके निमित्तसे कहलाता है। इसी विषयको हम रुपयेके दृष्टान्तसे और भी स्पष्ट कर देते हैं—एक रुपयेके चौसठ पैसे होते हैं। अर्थात ६४ पैसे और एक रुपया दोनों बराबर हैं। इसीको दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिये कि एक रुपयेके ६४ भेद या अंश होते हैं। साथमें यह भी कल्पना कर लेना उचित है कि सबसे छोटा भेद (अंश) एक पैसा है। कल्पना करनेके बाद कहा जा सक्ता है कि अमुक व्यक्तिके पास इतने पैसे अधिक हैं। अमुकके पास उससे इतने पैसे कम हैं। यदि किसीके पास १० आना हों, और किसीके पास ६ आना हों तो जाना जा सक्ता है कि ६ आनावालेसे १० आनावालेके पास १६ अंश अधिक धन है इस दृष्टान्तसे इतना ही अभिप्राय है कि जघन्य अंशरूप अविभाग प्रतिच्छेदका बोध हो जाय। वास्तवमें अलग २ टुकड़े किसी गुणके नहीं

हो जाते; और न अंशोंका नाश और उत्पत्ति ही होती है। किन्तु व्यक्तता और अव्यक्तताकी अपेक्षासे जो तरतम भेद होता है उसीके जाननेके लिये केवल अंशोंकी कल्पना की जाती है। यह अंश कल्पना सर्वज्ञज्ञानगम्य है। द्रव्यकी तरह गुणोंमें भी यही बात समझ लेनी चाहिये कि प्रत्येक गुणके जितने अंश है उतनी ही उस गुणकी पर्यायें हो सकती हैं। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि उन त्रिकालवर्ती पर्यायोंका समूह ही गुण कहलाता है।

द्रव्य चार विभागोंमें बँटा हुआ है, यह बात भी उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट हो जाती है। वे चार विभाग इस प्रकार हैं—देश, देशांश, गुण, गुणांश। अनन्त गुणोंके अखण्ड पिण्ड (द्रव्य)को देश कहते हैं। उस अखण्ड पिण्ड रूप देशके प्रदेशोंकी अपेक्षासे जो अंश कल्पना की जाती है, उसको देशांश कहते हैं। द्रव्यमें रहनेवाले गुणोंको गुण कहते हैं। और उन गुणोंके अंशोंको गुणांश कहते हैं। बस प्रत्येक द्रव्यका स्वरूप इन्ही चार बातोंमें पर्याप्त है। इन चार बातोंको छोड़कर द्रव्य और कोई चीज नहीं है। ये चारों बातें प्रत्येक वस्तुमें अलग२ हैं। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि इन्हीं चारों बातोंसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे भिन्न निश्चित किया जाता है। इन्हीं चारोंको स्वचतुष्टय कहते हैं। स्वनाम अपनेका है, चतुष्टय नाम चारका है, अर्थात् हर एक वस्तुकी अपनी २ चार चार बातें भिन्न भिन्न हैं। स्वचतुष्टयसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ग्रहण होता है। हर एक वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न २ हैं। अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड रूप जो देश है उसीको द्रव्य कहते हैं। उस देशके जो प्रदेशोंकी अपेक्षासे भेद हैं उसीको स्वक्षेत्र कहते हैं अर्थात् वस्तुका वही क्षेत्र है जितने प्रदेशोंमें वह विभक्त है। वस्तुमें रहनेवाले गुणोंको ही स्वभाव कहते हैं और उन गुणोंकी काल क्रमसे होनेवाली पर्यायको ही अर्थात् गुणोंके अंशको ही स्वकाल कहते है। इसलिये देश, देशांश, गुण, गुणांशका दूसरा नाम ही वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है। खुलासा इस प्रकार है—वस्तुका स्व द्रव्य, उसके अनन्त गुणसमुदायरूप पिण्डको छोड़कर और कोई नहीं है। वस्तुका क्षेत्र भी उसके प्रदेश ही हैं, न कि वह जहां रक्खी है। जहां वह वस्तु रक्खी है वह स्वक्षेत्र नहीं है किन्तु परक्षेत्र है। इसी प्रकार स्वकाल भी उस वस्तुकी काल क्रमसे होनेवाली पर्याय (गुणांश) है, न कि जिस कालमें वह परिणमन करती है वह काल, वह काल तो पर द्रव्य है। और स्वभाव उस वस्तुके गुण ही हैं।

दृष्टान्तके लिये सोंठ, मिरच, पीपल आदि एक लक्ष औषधियोंका चूर्ण पर्याप्त है एक २ तोला एक लाख औषधियोंको लेकर उन्हें कूट पीसकर नीबूके रसके साथ घोंटकर सबका एक बड़ा गोला बना डालें। उस गोलेमेंसे एक २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ बना डालें। बस इन्हींसे स्वचतुष्टय घटित कर लेना चाहिये। एक लाख समान २ औषधियोंका जो गोला है उसे तो स्वद्रव्य अर्थात् देशके स्थानमें समझना चाहिये। उस गोलेकी जो एक २ रत्ती प्रमाण

गोलियाँ हैं उन्हें स्वक्षेत्र अर्थात् देशांशके स्थानमें समझना चाहिये । क्योंकि वह गोला रूप समस्त चूर्ण उन्हीं गोलियोंमें पर्याप्त है । उन *गोलियोंमें जो एक लक्ष औषधियां हैं उन्हें स्वभाव अर्थात् गुणके स्थानमें समझना चाहिये । और उन गोलियोंमें जो कालक्रमसे भिन्न २ स्वाद भेद है उसे स्वकाल अर्थात् गुणांशके स्थानमें समझना चाहिये । प्रत्येक द्रव्यका स्वचतुष्टय भिन्न २ है । इस स्वचतुष्टयमें ही प्रत्येक द्रव्य पर्याप्त है ।

शंकाकार–

एतेन विना चैकं द्रव्यं सम्यक् प्रपश्यतश्चापि ।
को दोषो यद्भीतेरियं व्यवस्थैव साधुरस्त्विति चेत् ॥ २७ ॥

अर्थ–ऊपर कही हुई व्यवस्थाका तो प्रत्यक्ष नहीं है; केवल एक द्रव्य ही भली भांति दीख रहा है, इस अवस्थामें कौनसा दोष आता है कि जिसके डरसे उपर्युक्त व्यवस्था ही ठीक मानी जावे ।

भावार्थ–शंकाकारका अभिप्राय इतना ही है कि एक द्रव्यको ही मान लिया जावे जो कि स्थूलतासे दीख रहा है, उस द्रव्यमें देश, देशांश, गुण, गुणांश (स्वचतुष्टय) माननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर–

देशाभावे नियमात्सत्त्वं द्रव्यस्य न प्रतीयेत ।
देशांशाभावेपि च सर्वं स्यादेकदेशमात्रं वा ॥ २८ ॥

अर्थ–यदि देशहीन माना जावे तो द्रव्यकी सत्ताका ही निश्चय नहीं हो सकेगा । और देशांशोंके न माननेपर सर्व द्रव्य एक देशमात्र हो जायगा ।

भावार्थ–अनन्त गुणोंका अखण्डपिण्ड स्वरूप देशके माननेसे ही द्रव्यकी सत्ता प्रतीत होती है । यदि पिण्डरूप देश न माना जावे तो द्रव्यकी सत्ता ही नहीं ठहरती । इसी प्रकार देशांशके माननेसे द्रव्यकी इयत्ता (परिमाण)का ज्ञान होता है । जितने जिस द्रव्यके अंश होते हैं वह द्रव्य उतना ही बड़ा समझा जाता है । यदि देशके अंशों (विस्तार क्रमसे) की कल्पना न की जाय तो सभी द्रव्य समान समझे जावेंगे । अंशविभाग न होनेसे सबहीका एक ही अंश समझा जायगा ।

* जो क्षेत्र एक औषधिका है, वही क्षेत्र लक्ष औषधियोंका है । जितनी भी गोलियां बनाई गई हैं सभीमें लक्ष औषिधियां हैं । उसी प्रकार एक गुण जितने देशमें है दूसरा भी उसी देशमें हैं । इसलिये सभी गुणोंका एक ही देश है । अर्थात् विष्कंभ क्रमसे होनेवाले वस्तुके प्रत्येक प्रदेशमें अनन्त गुण रहते हैं ।

वस्तुकी असत्ता और एकांशतामें दोष--

तत्रासत्त्वे वस्तुनि न श्रेयसास्य साधकाभावात् ।
एवं चैकांशत्वे महतो व्योम्नोऽप्रतीयमानत्वात् ॥ २९ ॥

अर्थ—वस्तुको असत् (अभाव) रूप स्वीकार करना ठीक नहीं है। क्योंकि वस्तु असत् स्वरूप सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। दूसरा यह भी अर्थ हो सकता है कि वस्तुको अभाव रूप माननेसे वह किसी कार्यको सिद्ध न कर सकेगी। इस प्रकार वस्तुमें अंश भेद न माननेसे आकाशकी महानताका ज्ञान नहीं हो सकेगा।

भावार्थ—पहले तो पदार्थको अभावात्मक सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। दूसरे-जो अभाव रूप है वह कोई पदार्थ ही नहीं हो सक्ता। जो अपनी सत्ता ही नहीं रखता वह किसी कार्यमें किस प्रकार साधक हो सक्ता है। इसी प्रकार वस्तुमें जब अंशोंकी कल्पना की जाती है तब तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिस वस्तुके जितने अधिक अंश हैं वह उतनी ही बड़ी है। जिसके जितने कम अंश हैं वह उतनी ही छोटी है। आकाशके सब वस्तुओंसे अधिक अंश हैं, इस लिये वह सबोंसे महान् ठहरता है। यदि देशांशोंकी कल्पनाको उठा दिया जाय तो छोटे बड़ेका भेद भी उठ जायगा।

अंशकल्पनासे लाभ--

किञ्चैतदंशकल्पनमपि फलवत्स्याद्यतोनुमीयेन ।
कायत्वमकायत्वं द्रव्याणामिह महत्वममहत्वम् ॥ ३० ॥

अर्थ—अंश कल्पनासे एक तो छोटे बड़ेका भेद ज्ञान ऊपर बतलाया गया है। दूसरा अंश कल्पनासे यह भी फल होता है कि उससे द्रव्योंमें कायत्व और अकायत्वका अनुमान कर लिया जाता है इसी प्रकार छोटे और बड़ेका भी अनुमान कर लिया जाता है।

भावार्थ—जिन द्रव्योंमें बहुत प्रदेश होते हैं वे अस्तिकाय समझे जाते हैं, और जिसमें केवल एकही प्रदेश होता है वह अस्तिकाय नहीं समझा जाता। बहुप्रदेश और एक प्रदेशका ज्ञान तभी हो सक्ता है जब कि उस द्रव्यके प्रदेशों (अंशों)की जुदी जुदी कल्पना कि जाय। विना जुदी जुदी कल्पना किये प्रदेशोंकी न्यूनाधिकताका बोध भी नहीं हो सक्ता है। और विना न्यूनाधिकताका बोध हुए, द्रव्योंमें कौन द्रव्य छोटा है, और कौन बड़ा है यह परिज्ञान भी नहीं हो सक्ता। इसलिये अंशोंकी कल्पना करना सफल है।

शङ्काकार—

भवतु विवक्षितमेतन्ननु यावन्तो निरंशदेशांशाः ।
तल्लक्षणयोगादप्यणुवद्द्रव्याणि सन्तु तावन्ति ॥ ३१ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि यह तुम्हारी विवक्षा रहो, अर्थात् तुम जो द्रव्यमें

निरंश (फिर जिसका खण्ड न हो सके) अंशोंकी कल्पना करते हो, वह करो । परन्तु जितने भी निरंश-देशांश हैं, उन्हींको एक एक द्रव्य समझो । जिस प्रकार परमाणु एक द्रव्य है उसी प्रकार एक द्रव्यमें जितने निरंश—देशांशोंकी कल्पना की जाती है, उनको उतने ही द्रव्य समझना चाहिये न कि एक द्रव्य मानकर उसके अंश समझो । द्रव्यका लक्षण उन प्रत्येक अंशोंमें जाता ही है ।

भावार्थ—गुण समुदाय ही द्रव्य कहलाता है। यह द्रव्यका लक्षण द्रव्यके प्रत्येक देशांशमें मौजूद है, इसलिये जितने भी देशांश है उतने ही उन्हें द्रव्य समझना चाहिये ।

उत्तर—

नैवं यतो विशेषः परमः स्यात्पारिणामिकोऽध्यक्षः ।
खण्डैकदेशवस्तुन्यखण्डितानेकदेशे च ॥ ३२ ॥

अर्थ—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि खण्डस्वरूप एक देश वस्तु माननेसे और अखंड स्वरूप अनेक देश वस्तु माननेसे परिणमनमें बड़ा भारी भेद पड़ता है यह बात प्रत्यक्ष है ।

भावार्थ—यदि शंकाकारके कहनेके अनुसार देशांशोंको ही द्रव्य माना जावे तो द्रव्य एक देशवाला खण्ड खण्ड रूप होगा, अखण्ड रूप अनेक प्रदेशी नहीं ठहरेगा, खण्डरूप एक प्रदेशी माननेमें क्या दोष आता है सो आगे लिखा जाता है—

प्रथमोद्देशितपक्षे यः परिणामो गुणात्मकस्तस्य ।
एकत्र तत्र देशे भवितुं शीलो न सर्वदेशेषु ॥ ३३ ॥

अर्थ—पहला पक्ष स्वीकार करनेसे अर्थात् खण्डरूप एक प्रदेशी द्रव्य माननेसे जो गुणोंका परिणमन होगा वह सम्पूर्ण वस्तुमें न होकर उसके एक ही देशांशमें होगा । क्योंकि शंकाकार एक देशांशरूप ही वस्तुको समझता है इसलिये उसके कथनानुसार गुणोंका परिणमन एक देशमें ही होगा ।

एकदेश परिणमन माननेमें प्रत्यक्ष बाधा—

तदसत्प्रमाणबाधितपक्षत्वादक्षसंविदुपलब्धेः ।
देहैकदेशविषयस्पर्शादिह सर्वदेशेषु ॥ ३४ ॥

अर्थ—गुणोंका परिणमन एक देशमें होता है, यह बात प्रत्यक्ष बाधित है । जिसमें प्रमाण-बाधा आवे वह पक्ष किसी प्रकार ठीक नहीं हो सक्ता । इन्द्रियजन्य ज्ञानसे यह बात सिद्ध है कि शरीरके एक देशमें स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो जाते हैं ।

भावार्थ—शरीर प्रमाण आत्म द्रव्य है इसीलिये शरीरके एक देशमें स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च होते हैं अथवा शरीरके एक देशमें चोट लगनेसे सम्पूर्ण शरीरमें वेदना होती है । यदि शंकाकारके कथनानुसार आत्माका एक २ अंश (प्रदेश) ही एक एक आत्म

द्रव्य समझा जाय तो एक देशमें चोट लगनेसे सब शरीरमें पीड़ा नहीं होनी चाहिये, जिस देशमें कष्ट पहुंचा है उसी देशमें पीडा होनी चाहिये परन्तु होता इसके सर्वथा प्रतिकूल है अर्थात् सम्पूर्ण शरीरमें एक आत्मा होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें ही वेदना होती है इसलिये खण्डरूप एक देश स्वरूप वस्तुनहीं है किन्तु अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी है।

अखण्ड-अनेकप्रदेशी द्रव्यमें दृष्टान्त-

प्रथमेतर पक्षे खलु यः परिणामः स सर्वदेशेषु ।
एको हि सर्वपर्वसु प्रकम्पते ताडितो वेणुः ॥ ३५ ॥

अर्थ—दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् अनेक प्रदेशी-अखण्ड रूप द्रव्य मानने पर जो परिणमन होगा वह सर्व देशमें (सम्पूर्ण वस्तुमें) होगा। जिस प्रकार एक वेंतको एक तरफसे हिलानेसे सारा वेंत हिल जाता है।

भावार्थ—वेंतका दृष्टान्त मोटा है। इसलिये ग्राह्य अंश (एक देश) लेना चाहिये। वेंत यद्यपि बहुतसे परमाणुओंका समूह है तथापि स्थूल दृष्टिसे वह एक ही द्रव्य समझा जाता है। इसी अंशमें उसका दृष्टान्त दिया गया है। वेंत अखण्ड रूप वस्तु है इसलिये एक प्रदेशको हिलानेसे उसके सम्पूर्ण प्रदेश हिल जाते हैं। यदि अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी उसे न मानकर उसके एक २ प्रदेशको जुदा जुदा द्रव्य समझा जाय तो जिस देशमें वेंतको हिलाया जाव उसी देशमें उसका हिलना चाहिये, सब देशमें नहीं परन्तु यह प्रत्यक्ष बाधित है। इसलिये वस्तु अनेक देशांशोंका अखण्ड पिण्ड है।

एक प्रदेशवाला भी द्रव्य है—

एक प्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात्खण्डवर्जितः स यथा ।
परमाणुरेव शुद्धः कालाणुर्वा यथा स्वतः सिद्धः ॥ ३६ ॥

अर्थ—कोई द्रव्य एक प्रदेशवाला भी है और वह खण्ड रहित है अर्थात् अखण्ड एक प्रदेशी भी कोई द्रव्य है, जैसे पुद्गलका शुद्ध परमाणु और कालाणु। ये भी स्वतः सिद्ध द्रव्य हैं।

परन्तु—

न स्याद्द्रव्यं क्वचिदपि बहु प्रदेशेषु खण्डितो देशः।
तदपि द्रव्यमिति स्यादखण्डितानेकदेशमदः ॥ ३७ ॥

अर्थ—परन्तु ऐसा द्रव्य कोई नहीं है कि बहु प्रदेशी होकर खण्ड-एक देश रूप हो इसलिये बहु प्रदेशवाला द्रव्य अखण्डरूप है।

द्रव्य और गुण—

अथ चैव ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिताः ।
अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः ॥ ३८ ॥

अर्थ—ऊपर जिन देशांशों (प्रदेशों) का वर्णन किया गया है । वे देशांश गुण सहित हैं । गुण सहित उन्हीं देशांशोंकी द्रव्य संज्ञा है । उन देशांशोंमें रहनेवाले जो विशेष हैं उन्हींकी गुण संज्ञा है ।

भावार्थ—द्रव्य अनन्त गुणोंका समूह है इसलिये जितने भी द्रव्यके प्रदेश हैं सबमें अनंत गुणोंका अंश है उन गुणों सहित जो प्रदेश हैं उन्हींकी मिलकर द्रव्य संज्ञा हैं, गुणोंकी विशेष संज्ञा है ।

गुण, गुणीसे जुदा नहीं है—

तेषामात्मा देशो नहि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः ।
नहि देशे हि विशेषाः किन्तु विशेषैश्च तादृशो देशः ॥ ३९ ॥

अर्थ—उन गुणोंका समूह ही देश (अखण्ड-द्रव्य) है । वे गुण देशसे भिन्न अपनी सत्ता नहीं रखते हैं और ऐसा भी नहीं कह सकते कि देशमें गुण (विशेष) रहते हैं किन्तु उन विशेषों (गुणों) के मेलसे ही वह देश कहलाता है ।

भावार्थ—नैयायिक दर्शनवाले गुणोंकी सत्ता भिन्न मानते हैं और द्रव्यकी सत्ता भिन्न मानते हैं, द्रव्यको गुणोंका आधार बतलाते हैं परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा नहीं मानता किन्तु उन गुणोंके समूहको ही देश मानता है और उन गुणोंकी द्रव्यसे भिन्न सत्ता भी नहीं स्वीकार करता है । ऐसा भी नहीं है कि द्रव्य आधार है और गुण आधेय रूपसे द्रव्यमें रहते हैं, किन्तु उन गुणोंके समुदायसे ही वह पिण्ड द्रव्य संज्ञा पाता है ।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः शुक्लादीनामियं तनुस्तन्तुः ।
नहि तन्तौ शुक्लाद्याः किन्तु सिताद्यैश्च तादृशस्तन्तुः ॥४०॥

अर्थ—गुण और गुणीमें अभेद है, इसी विषय में तन्तु (डोर) का दृष्टान्त है । शुक्ल गुण आदिका शरीर ही तन्तु है । शुक्लादि गुणोंको छोड़कर और कोई वस्तु तंतु नहीं है और न ऐसा ही कहा जा सक्ता है कि तन्तुमें शुक्लादिक गुण रहते हैं, किन्तु शुक्लादि गुणोंके एकत्रित होनेसे ही तन्तु बना है ।

भावार्थ—शुक्ल आदि गुणोंका समूह ही डोरा कहलाता है । जिस प्रकार डोरा और सफेदी अभिन्न है उसी प्रकार द्रव्य और गुण भी अभिन्न हैं । जिस प्रकार डोरा, सफेदी आदिसे पृथक् वस्तु नहीं है उसी प्रकार द्रव्य भी गुणोंसे पृथक् चीज नहीं है ।

आशङ्का—

अथ चेद्भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च ।
तेषामिह संयोगाद्द्रव्यं दण्डीव दण्डयोगाद्वा ॥ ४१ ॥

अर्थ—यदि देशको भिन्न समझा जाय और देशके आश्रित रहनेवाले विशेषोंको भिन्न समझा जाय, तथा उन सबके संयोगसे द्रव्य कहलाने लगे। जिस प्रकार पुरुष भिन्न है, दण्ड (डंडा) भिन्न है, दोनोंके संयोगसे दण्डी कहलाने लगता है तो

उत्तर—

नैवं हि सर्वसङ्कर दोषस्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
तत्किं चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त आशंका ठीक नहीं है। देशको भिन्न और गुणोंको देशाश्रित भिन्न स्वीकार करनेसे सर्व संकर दोष आवेगा। यह बात सुघटित दृष्टान्त द्वारा प्रसिद्ध है। गुणोंको भिन्न माननेसे क्या चेतना गुणके सम्बन्धसे अचेतन पदार्थ चेतन (जीव) नहीं हो जायगा ?

भावार्थ—जब गुणोंको द्रव्यसे पृथक् स्वीकार किया जायगा, तो ऐसी अवस्थामें गुण स्वतन्त्र होकर कभी किसीसे और कभी किसीसे संबंधित हो सक्ते हैं। चेतना गुणको यदि जीवका गुण न मानकर एक स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय तो वह जिस प्रकार जीवमें रहता है उसी प्रकार कभी अजीव-जड़ पदार्थमें भी रह जायगा। उस अवस्थामें अजीव भी जीव कहलाने लगेगा। फिर पदार्थोंका नियम ही नहीं रह सकेगा, कोई पदार्थ किसी रूप हो जायगा, इसलिये द्रव्यसे गुणको भिन्न सत्तावाला मानना सर्वथा मिथ्या है।

अथवा—

अथवा विना विशेषैः प्रदेशसत्त्वं कथं प्रमीयेत ।
अपि चान्तरेण देशैर्विशेषलक्ष्मावलक्ष्यते च कथम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—दूसरी बात यह भी है कि विना गुणोंके द्रव्यके प्रदेशोंकी सत्ता ही नहीं जानी जा सक्ती अथवा विना प्रदेशोंके गुण भी नहीं जाने जा सक्ते।

भावार्थ—गुण समूह ही प्रदेश हैं। विना समुदायके समुदायी नहीं रह सकता, और विना समुदायीके समुदाय नहीं रह सकता—दोनोंके विना एक भी नहीं रह सकता, अथवा शब्दान्तरमें ऐसा कहना चाहिये कि दोनों एक ही बात है।

गुण, गुणीको भिन्न माननेमें दोष—

अथ चैतयोः पृथक्त्वे हठादहेतोश्च मन्यमानेपि ।
कथमिव गुणगुणिभावः प्रमीयते सत्समानत्वात् ॥ ४४ ॥

अर्थ—यदि हठ पूर्वक विना किसी हेतुके गुण और गुणी भिन्न भिन्न सत्तावाले ही

माने जावें, तो ऐसी अवस्थामें दोनोंकी सत्ता समान होगी। सत्ताकी समानतामें 'यह गुण है और यह गुणी है,' यह कैसे जाना जा सक्ता है ?

भावार्थ—जब गुण समुदायको द्रव्य कहा जाता है तब तो समुदायको गुणी और समुदायीको गुण कहते हैं परन्तु गुण और गुणीको भिन्न माननेपर दोनों ही समान होंगे, उस समानतामें किसको गुण कहा जाय और किसको गुणी कहा जाय ? गुण गुणीका अन्तर ही नहीं प्रतीत होगा।

सारांश—

तस्मादिदमनवद्यं देशविशेषास्तु निर्विशेषास्ते ।
गुणसंज्ञकाः कथञ्चित्परणातिरूपाः पुनः क्षणं यावत् ॥ ४५ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि देश-विशेष ही गुण कहलाते हैं। गुणोंमें गुण नहीं रहते हैं। वे गुण प्रतिक्षण परिणमनशील हैं परन्तु सर्वथा विनाशी नहीं हैं।

प्रश्न—

एकत्वं गुणगुणिनोः साध्यं हेतोस्तयोरनन्यत्वात् ।
तदपि द्वैतमिव स्यात् किं तत्र निबन्धनं त्वितिचेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—गुण, गुणी दोनों ही एक हैं क्योंकि वे दोनों ही भिन्न सत्तावाले नहीं हैं। यहांपर अभिन्न सत्ता रूप हेतुसे गुण, गुणीमें एकपना सिद्ध किया जाता है, फिर भी क्या कारण कि अखण्ड पिण्ड होनेपर भी द्रव्यमें द्वैतभावसा प्रतीत होता है ?

उत्तर—

यत्किञ्चिदस्ति वस्तु स्वतः स्वभावे स्थितं स्वभावश्च ।
अविनाभावी नियमाद्विवक्षितो भेदकर्ता स्यात् ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो कोई भी वस्तु है वह अपने स्वभाव (गुण-स्वरूप) में स्थित है और वह स्वभाव भी निश्चयसे उस स्वभावी (वस्तु) से अविनाभावी-अभिन्न है परन्तु विवक्षा वश भिन्न समझा जाता है।

भावार्थ—यद्यपि स्वभाव, स्वभावी, दोनों ही अभिन्न हैं तथापि अपेक्षा कथनसे स्वभाव और स्वभावीमें भेद समझा जाता हैं, वास्तवमें भेद नहीं है।

गुणके पर्यायवाची शब्द—

शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च ।
प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—शक्ति, लक्ष्म, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति ये सभी शब्द एक अर्थके कहनेवाले हैं। सभी नाम गुणके हैं।

द्रव्यमें अनन्तगुण-

देशस्यैका शक्तिर्या काचित् सा न शक्तिरन्या स्यात् ।
क्रमतो वितर्क्यमाणा भवन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ताः ॥४९॥

अर्थ—देशकी कोई भी एक शक्ति, दूसरी शक्तिरूप नहीं होती, इसी प्रकार क्रमसे प्रत्येक शक्तिके विषयमें विचार करनेपर भिन्न २ अनन्त शक्तियां स्पष्ट प्रतीत होती हैं ।

भावार्थ—द्रव्यमें अनंत शक्तियां हैं, वे सभी एक दूसरेसे भिन्न हैं । एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप कभी नहीं होती ।

शक्तियोंकी भिन्नतामें हेतु—

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णो युगपद्यथा रसालफले ।
प्रतिनियतेन्द्रियगोचरचारित्वात्ते भवन्त्यनेकेपि ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस प्रकार आमके फलमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, चारों ही एक साथ पाये जाते हैं, वे चारों ही गुण भिन्न २ नियत इन्द्रियों द्वारा जाने जाते हैं इसलिये वे भिन्न हैं ।

भावार्थ—आमके फलमें जो स्पर्श है उसका ज्ञान स्पर्शन इन्द्रियसे होता है, रसका ज्ञान रसनेन्द्रियसे होता है, गन्धका ज्ञान नासिकासे होता है, रूपका ज्ञान चक्षुसे होता है। भिन्न २ इन्द्रियोंके विषय होनेसे वे चारों ही गुण भिन्न हैं । इसी प्रकार सभी गुणोंके कार्य भी भिन्न २ हैं, इसलिये सभी गुण भिन्न २ हैं ।

गुणोंकी भिन्नतामें दृष्टान्त—

तदुदाहरणं चैतज्जीवे यद्दर्शनं गुणश्चैकः ।
तन्न ज्ञानं न सुखं चारित्रं वा न कश्चिदितरश्च ॥ ५१ ॥

अर्थ—सभी गुण पृथक् २ हैं, इस विषयमें यह उदाहरण है-जैसे जीव द्रव्यमें जो एक दर्शन नामा गुण है, वह ज्ञान नहीं होसक्ता, न सुख होसक्ता, न चारित्र होसक्ता अथवा और भी किसी गुण स्वरूप नहीं हो सक्ता, दर्शनगुण सदा दर्शनरूप ही रहेगा ।

एवं यः कोपि गुणः सोपि च न स्यात्तदन्यरूपो वा ।
स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ताः ॥५२॥

अर्थ—इसी प्रकार जो कोई भी गुण है वह दूसरे गुण रूप नहीं हो सक्ता इसलिये द्रव्यकी अनन्त शक्तियां परस्पर भिन्नताको लिये हुए भिन्न २ कार्यों द्वारा स्वयं उदित होती रहती हैं ।

गुणोंमें अंशविभाग—

तासामन्यतरस्या भवन्त्यनन्ता निरंशका अंशाः ।
तरतमभागविशेषैरंशच्छेदैः प्रतीयमानत्वात् ॥ ५३ ॥

अर्थ—उन शक्तियोंमेंसे प्रत्येक शक्तिके अनन्त अनन्त निरंश (जिसका फिर अंश न हो सके) अंश होते हैं। हीनाधिक विशेष भेदसे उन अंशोंका परिज्ञान होता है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः सुगमोऽयं शुक्लं वासस्ततोपि शुक्लतरम्।
शुक्लतमं च ततः स्यादंशाश्चैते गुणस्य शुक्लस्य ॥ ५४ ॥

अर्थ—एक सफेद कपड़ेका सुगम दृष्टान्त है। कोई कपड़ा कम सफेद होता है, कोई उससे अधिक सफेद होता है और कोई उससे भी अधिक सफेद होता है। ये सब सफेदी के ही भेद हैं। इस प्रकारकी तरतमता (हीनाधिकता) अनेक प्रकार हो सक्ती है, इसलिये शुक्ल गुणके अनेक (अनन्त) अंश कल्पित किये जाते हैं।

दूसरा दृष्टान्त—

अथवा ज्ञानं यावज्जीवस्यैको गुणोप्यखण्डोपि।
सर्वजघन्यनिरंशच्छेदैरिव खण्डितोऽप्यनेकः स्यात् ॥ ५५ ॥

अर्थ—दूसरा दृष्टान्त जीवके ज्ञान गुणका स्पष्ट है। जीवका ज्ञान गुण यद्यपि एक है और वह अखण्ड भी है तथापि सबसे जघन्य अंशोंके भेदसे खण्डित सरीखा अनेक रूप प्रतीत होता है।

भावार्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवका अक्षरके अनन्तवें भाग जघन्य ज्ञान है, उस ज्ञानमें भी अनन्त अंश (अविभाग प्रतिच्छेद) हैं, उसी निगोदियाकी ऊपरकी उत्तरोत्तर अवस्थाओंमें थोड़ी २ ज्ञानकी वृद्धि होती जाती है। द्वीन्द्रिय आदिक त्रस पर्यायमें और भी वृद्धि होती है, बढ़ते २ उस जीवका ज्ञान गुण इतना विशाल हो जाता है कि चराचर जगतकी प्रतिक्षणमें होनेवालीं सभी पर्यायोंको एक साथ ही स्पष्टतासे जानने लगता है। इस प्रकारकी वृद्धिमें सबसे जघन्य वृद्धिको ही एक अंश कहते हैं। उसीका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है। विचारशील अनुभव कर सक्ते हैं कि एक ही ज्ञान गुण में जघन्य अवस्थासे लेकर कहां तक वृद्धि होती है। बस यही क्रमसे होनेवाला वृद्धिभेद सिद्ध करता है कि ज्ञान गुणके बहुतसे अंश हैं जो कि हीनाधिक रूपसे प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक गुणके अंश अनन्त २ हैं। इन्हींका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है।

गुणोंके अंशोंमें क्रम—

देशच्छेदो हि यथा न तथा छेदो भवेद्गुणांशस्य।
विष्कंभस्य विभागात्स्थूलो देशस्तथा न गुणभागः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार देशके छेद (देशांश) होते हैं, उस प्रकार गुणोंके छेद नहीं होते। देशके छेद विष्कंभ (विस्तार–चौड़ाई) क्रमसे होते हैं और देश एक मोटा पदार्थ

है। गुण इस प्रकारका नहीं है और न उसके छेद ही ऐसे होते हैं किन्तु तरतम रूपसे होते हैं।

भावार्थ—देशके छेद तो भिन्न २ प्रदेश स्वरूप होते हैं परन्तु गुणके छेद सर्व प्रदेशोंमें व्यापक रहते हैं। वे हीनाधिक रूपसे होते हैं।

गुणोंका छेदक्रम—

क्रमोपदेशश्चायं प्रवाहरूपो गुणः स्वभावेन ।
अर्धच्छेदेन पुनश्छेत्तव्योपि च तदर्धछेदेन ॥ ५७ ॥
एवं भूयो भूयस्तदर्धछेदैस्तदर्धछेदैश्च ।
यावच्छेतुमशक्यो यः कोपि निरंशको गुणांशः स्यात् ॥५८॥
तेन गुणांशेन पुनर्गणिताः सर्वे भवन्त्यनन्तास्ते ।
तेषामात्मा गुण इति नहि ते गुणतः पृथक्त्वसत्ताकाः ॥ ५९ ॥

अर्थ—गुणोंके अंशोंके छेद करनेमें क्रम कथनका उपदेश बतलाते हैं कि गुण स्वभावसे ही प्रवाह रूप है अर्थात् द्रव्य अनन्तगुणात्मक पिण्डके साथ बराबर चला जाता है। द्रव्य अनादि-अनंत है, गुण भी अनादि-अनन्त हैं। द्रव्यके साथ गुणका प्रवाह बराबर चला जाता है। वह गुण उसके अर्धच्छेदोंसे छिन्न भिन्न करने योग्य है अर्थात् उस गुणके आधे आधे छेद करना चाहिये, इसी प्रकार वार वार उसके अर्धच्छेद करना चाहिये, तथा वहांतक करना चाहिये जहांतककि कोई भी गुणका अंश फिर न छेदा जा सके, और वह निरंश समझा जाय। उन छेदरूप किये हुए गुणोंके अंशोंका जोड़ अनन्त होता है। उन्हीं अंशोंका समूह गुण कहलाता है। गुणोंके अंश, गुणसे भिन्न सत्ता नहीं रखते हैं किन्तु उन अंशोंका समूह ही एक सत्तात्मक गुण कहलाता है।

पर्यायके पर्यायवाचक शब्द—

अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च ।
भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ॥ ६० ॥

अर्थ—अंश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, भंग, ये सब शब्द एक अर्थके वाचक हैं। सबोंका अर्थ पर्याय है।

गुणांश ही गुणपर्याय है—

सन्ति गुणांशा इति ये गुणपर्यायास्त एव नाम्नापि ।
अविरुद्धमेतदेव हि पर्यायाणामिहांशधर्मत्वात् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जितने भी गुणांश हैं वे ही गुणपर्याय कहलाते हैं। यह बात अविरुद्ध सिद्ध है कि अंश स्वरूप ही पर्यायें होती हैं।

गुण–पर्यायका नामान्तर–

गुणपर्ययाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ।
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च ॥ ६२ ॥

अर्थ—कितने ही बुद्धिधारी गुणपर्यायोंका दूसरा नाम भी कहते हैं । गुण और अर्थ, ये दोनों ही एक अर्थवाले हैं इसलिये गुण पर्यायको अर्थपर्याय भी कह देते हैं ।

द्रव्य–पर्यायका नामान्तर—

अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्ययाणां हि ।
व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ॥ ६३ ॥

अर्थ—देशांशोंके द्वारा जिन द्रव्यपर्यायोंका ऊपर निरूपण किया जा चुका है, उन द्रव्यपर्यायोंको कितने ही बुद्धिशाली व्यञ्जनपर्याय, इस नामसे पुकारते हैं ।

भावार्थ—प्रदेशवत्त्व गुणका परिणमन सम्पूर्ण द्रव्यमें होता है, इसलिये उक्त गुणके * परिणमनको द्रव्यपर्याय अथवा व्यञ्जनपर्याय कहते हैं ।

शङ्काकार—

ननु मोघमेतदुक्तं सर्वं पिष्टस्य पेषणन्यायात् ।
एकेनैव कृतं यत् स इति यथा वा तदंश इति वा चेत् ॥६४॥

अर्थ—ऊपर जितना भी कहा गया है, सभी पिष्ट पेषण है अर्थात् पीसे हुएको पीसा गया है । एकके कहनेसे ही काम चल जाता है, यातो द्रव्य ही कहना चाहिये अथवा पर्याय ही कहना चाहिये । द्रव्य और पर्यायको जुदा २ कहना निष्फल है ?

उत्तर—

तन्नैवं फलवत्त्वाद् द्रव्यादेशादवस्थितं वस्तु ।
पर्यायादेशादिदमनवस्थितमिति प्रतीतत्त्वात् ॥ ६५ ॥

अर्थ—ऊपर जो शङ्का की गई है वह ठीक नहीं है । द्रव्य और पर्याय दोनोंका ही निरूपण आवश्यक है । द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तु नित्य है । पर्यायकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है । इस बातकी प्रतीति दोनोंके कथनसे ही होती है ।

भावार्थ—यदि द्रव्य और पर्याय दोनोंका निरूपण न किया जाय तो वस्तुमें कथंचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यताकी सिद्धि न हो सकेगी इसलिये दोनोंका ही निरूपण निष्फल नहीं, किन्तु सफल है ।

* प्रदेशवत्त्व गुणके परिणमनको यदि गुणकी दृष्टिसे कहाजाय तो उसे गुणपर्याय भी कह सके हैं ।

नित्यता और अनित्यताका दृष्टान्त—

स यथा परिणामात्मा शुक्लादित्वादवस्थितश्च पटः ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य शुक्लस्य ॥ ६६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार शुक्लादि अनन्त गुणोंका समूह वस्त्र अपनी अवस्थाओंको प्रतिक्षण बदलता रहता है । अवस्थाओंके बदलने पर भी शुक्लादिगुणोंका नाश कभी नहीं होता है इसलिये तो वह वस्त्र नित्य है । साथ ही शुक्लादिगुणोंके तरतम रूप अंशोंकी अपेक्षासे अनित्य भी है । क्योंकि एक अंश (पर्याय) दूसरे अंशसे भिन्न है ।

भावार्थ—वस्त्र, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, और द्रव्य दृष्टिसे नित्य है ।

दूसरा जीवका दृष्टान्त—

अपि चात्मा परिणामी ज्ञानगुणत्वादवस्थितोपि यथा ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य बोधस्य ॥ ६७ ॥

अर्थ—आत्मामें ज्ञान गुण सदा रहता है । यदि ज्ञान गुणका आत्मामें अभाव हो जाय तो उस समय आत्मत्व ही नष्ट हो जाय । इसलिये उस गुणकी अपेक्षासे तो आत्मा नित्य है, परन्तु उस गुणके निमित्तसे आत्माका परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है, कभी ज्ञानगुणके अधिक अंश व्यक्त हो जाते हैं और कभी कम अंश प्रकट हो जाते हैं, उस ज्ञानमें सदा हीनाधिकता (संसारावस्थामें) होती रहती है, इस हीनाधिकताके कारण आत्मा कथंचित् अनित्य भी है ।*

आशंका—

यदि पुनरेवं न भवति भवति निरंशं गुणांशवद्द्रव्यम् ।
यदि वा कीलकवदिदं भवति न परिणामि वा भवेत् क्षणिकम् ।
अथचेदिदमाकूतं भवन्त्वनन्ता निरंशका अंशाः ।
तेषामपि परिणामो भवतु समांशो न तरतमांशः स्यात् ॥६९॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई द्रव्य, गुण, पर्यायकी व्यवस्था न मानी जाय, और गुणांशकी तरह निरंश द्रव्य माना जाय, अथवा उस निरंश द्रव्यको परिणामी न मानकर कूटस्थ (लोहेका पीटनेका एक मोटा कीला होता है जो कि लुहारोंके यहां गड़ा रहता है) की तरह नित्य माना जाय, अथवा उस द्रव्यको सर्वथा क्षणिक ही माना जाय, अथवा उस द्रव्यके अनन्त निरंश अंश मानकर उन अंशोंका समान रूपसे परिणमन माना जाय, तरतम रूपसे न माना जाय तब क्या दोष होगा ?

* पदार्थोंकी अवस्थाभेदके निमित्तसे मुक्त जीवोंके ज्ञानमें भी परिणमन होता है इसलिये मुक्तात्माओंमें भी कथंचित् अनित्यता सिद्ध होती है ।

उत्तर—

एतत्पक्षचतुष्टयमपि दुष्टं दृष्टबाधितत्वाच्च ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोप्यदृष्टान्तात् ॥ ७० ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए चारों ही विकल्प दोष सहित हैं, चारों ही विकल्पोंमें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधा आती है। तथा न उनका साधक कोई प्रमाण ही है और न उनकी सिद्धिमें कोई दृष्टान्त ही है।

भावार्थ—यदि द्रव्यको गुणांशकी तरह माना जाय तो गुणोंका परिणमन एक देशमें ही होगा। अथवा किसी भी गुणका कार्य सम्पूर्ण वस्तुमें नहीं हो सकेगा। यदि उस द्रव्यको नित्य माना जाय तो उसमें कोई क्रिया नहीं हो सक्ती है। क्रियाके अभावमें पुण्यफल, पाप-फल, बन्ध मोक्षादि व्यवस्था कुछ भी नहीं ठहर सक्ती है। इसी प्रकार सर्वथा क्षणिक माननेमें प्रत्यभिज्ञान (यह वही है जिसको पहिले देखा था आदि ज्ञान) नहीं हो सक्ता, कार्यकारण भाव भी नहीं हो सक्ता, हेतु-फल भाव भी नहीं हो सक्ता, और परस्पर व्यवहार भी नहीं हो सका। *

यदि निरंश अंश मानकर उनका समान परिणमन माना जाय, तरतमरूपसे न माना जाय तो द्रव्य सदा एकसा रहेगा, उसमें अवस्था भेद नहीं हो सकेगा। इसलिये उपर्युक्त चारों ही विकल्प मिथ्या हैं, उनमें अनेक बाधायें आती हैं। अब प्रसंग पाकर यहां द्रव्यका स्वरूप कहा जाता है।

द्रव्य—लक्षण—उपक्रम—

द्रव्यत्वं किन्नाम पृष्टश्चेतीह केनचित् सूरिः ।
प्राह प्रमाणसुनयैरधिगतमिव लक्षणं तस्य ॥ ७१ ॥

अर्थ—किसीने आचार्यसे पूछा कि महाराज! द्रव्य क्या पदार्थ है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उस द्रव्यका प्रमाण और सुनयोंद्वारा अच्छी तरह मनन किया हुआ लक्षण कहने लगे।

---

* यदि नित्यैकान्त और अनित्यैकान्तका विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो तो निम्न लिखित कारिकाओंके प्रकरणमें अष्ट सहस्रीको देखना चाहिये।

नित्यत्वैकान्तपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते ।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥ १ ॥
क्षणिकैकान्तपक्षेपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारंभः कुतः फलम् ॥ २ ॥

÷इवके स्थानमें इह होना और 'पृष्टश्चेतीह'के स्थानमें पृष्टश्चेतीव होना विशेष अच्छा है।

द्रव्यका लक्षण—

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धं ।
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिसमें गुण पर्याय पाये जांय, वह द्रव्य है। यह द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह सिद्ध है। इस लक्षणमें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता है। "गुण पर्याय जिसमें पाये जायं वह द्रव्य है" इस वाक्यका स्पष्ट अर्थ यह है कि गुण और पर्यायोंका समुदाय ही द्रव्य है।

भावार्थ—" गुणपर्ययवद्द्रव्यम् " इस वाक्यमें वतुप् प्रत्यय है। उसका ऐसा अर्थ निकलता है कि गुण, पर्यायवाला द्रव्य है। इस कथनसे कोई यह न समझ लेवे कि गुण पर्याय कोई दूसरे पदार्थ हैं जो कि द्रव्यमें रहते हैं और उन दोनोंका आधार भूत द्रव्य कोई दूसरा पदार्थ है। इस अनर्थ अर्थके समझनेकी आशंकासे आचार्य नीचेके चरणसे स्वयं उस वाक्यका स्पष्ट अर्थ करते हैं कि गुण, पर्यायवाला द्रव्य है अथवा गुणपर्याय जिसमें पाये जायं वह द्रव्य है। इन दोनोंका यही अर्थ है कि गुण पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड ही द्रव्य है, और वे गुण प्रतिक्षण अपनी अवस्थाको बदलते रहते हैं इसलिये त्रिकालवर्ती पर्यायोंको लिये हुए जो गुणोंका अखण्ड पिण्ड है वही द्रव्य है। गुण, पर्यायसे पृथक् कोई द्रव्य पदार्थ नहीं है। इसी बातको स्फुट करते हुए किन्हीं आचार्योंका कथन प्रकट करते है।

द्रव्यका लक्षण—

गुण समुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताप्युशन्ति बुधाः ।
समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धैः ॥ ७३ ॥

अर्थ—कोई २ बुद्धिधारी " गुण समुदाय ही द्रव्य है " ऐसा भी द्रव्यका लक्षण कहते हैं। कोई विशेष अनुभवी वृद्ध पुरुष समान रीति (साथ २) से होनेवाली गुणोंकी पर्यायोंको ही द्रव्यका लक्षण बतलाते हैं।

भावार्थ—पहले श्लोकमें गुण और पर्याय दोनोंको ही द्रव्यका लक्षण बतलाया गया था, परन्तु यहांपर पर्यायोंको गुणोंसे पृथक् पदार्थ न समझकर गुण समुदायको ही द्रव्य कहा गया है। वास्तवमें गुणोंकी अवस्थाविशेष ही पर्यायें हैं। गुणोंसे सर्वथा भिन्न पर्याय कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये गुण, पर्यायमें अभेद बुद्धि रखकर गुण समुदाय ही द्रव्य कहा गया हैं। जब गुणोंसे पर्याय भिन्न वस्तु नहीं है किन्तु उन गुणोंकी ही अवस्था विशेष है तब यह बात भी सिद्ध हुई समझना चाहिये कि उन अवस्थाओंका समूह ही गुण है। त्रिकालवर्ती अवस्थाओंके समूहको छोड़कर गुण और कोई पदार्थ नहीं है। यह बात पहले भी स्पष्ट रीतिसे कही जा चुकी है कि गुणोंके अंशोंका नाम ही पर्याय है और उन अंशोंका समूह ही गुण है। जबकि पर्याय समूह ही गुण है तब गुणसमुदायको द्रव्य कहना अथवा पर्यायसमुदायको

द्रव्य कहना, दोनोंका एक ही अर्थ है । गुणोंसे पर्यायोंको अभिन्न समझकर ही अखण्ड अनन्त गुणोंकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंको ही द्रव्य कहा गया है ।

तथा फिर भी इसीका स्पष्ट अर्थ—

अयमत्राभिप्रायो ये देशास्तद्गुणास्तदंशाश्च ।
एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना त एव निःशेषम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यह अभिप्राय है कि जो देश हैं, उन देशोंमें रहनेवाले जो गुण हैं तथा उन गुणोंके जो अंश हैं उन तीनोंकी ही एक आलाप (एक शब्द द्वारा) से द्रव्य संज्ञा है ।

नहि किञ्चित्सद्द्रव्यं केचित्सन्तो गुणाः प्रदेशाश्च ।
केचित्सन्ति तदंशा द्रव्यं तत्सन्निपाताद्वा ॥ ७५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि द्रव्य कोई जुदा पदार्थ हो, गुण कोई जुदा पदार्थ हो, प्रदेश जुदा पदार्थ हो, उनके अंश कोई जुदा पदार्थ हो, और उन सबके मिलापसे द्रव्य कहलाता हो ।

तथा ऐसा भी नहीं है—

अथवापि यथा भित्तौ चित्रं द्रव्ये तथा प्रदेशाश्च ।
सन्ति गुणाश्च तदंशाः समवायित्वात्तदाश्रयाद्द्रव्यम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—अथवा ऐसा भी नहीं है कि जिस प्रकार भित्तिमें चित्र खिंचा रहता है अर्थात् जैसे भीतिमें चित्र होता है वह भित्तिमें रहता है परन्तु भित्तिसे जुदा पदार्थ है उसी प्रकार द्रव्यमें प्रदेश, गुण, अंश रहते हैं और समवाय* सम्बन्धसे उनका आश्रय द्रव्य है ।

भावार्थ—ऐसा नहीं है कि देश, देशांश, गुण, गुणांश चारों ही जुदे २ पदार्थ हों, और उनका समूह द्रव्य कहलाता हो, किन्तु चारों ही अखण्ड रूपसे द्रव्य कहलाते हैं । भेद विवक्षासे ही चार जुदी २ संज्ञायें कहलाती हैं, अभेद विवक्षासे चारों ही अभिन्न हैं औ उसी चारोंकी अभिन्नताको द्रव्य कहते हैं ।

उदाहरण—

इदमस्ति यथा मूलं स्कन्धः शाखा दलानि पुष्पाणि ।
गुच्छाः फलानि सर्वाण्येकालापात्तदात्मको वृक्षः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जड़, स्कन्ध (पीड़) शाखा, पत्ते, पुष्प, गुच्छा, फल, सभीको मिलकर एक आलाप (एक शब्द) से वृक्ष कहते हैं । वृक्ष जड़, स्कन्ध, शाखा आदिसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है किन्तु इनका समुदाय ही वृक्ष कहलाता है, अथवा वृक्षको छोड़कर

* भिन्न २ पदार्थोंके घनिष्ट नित्य सम्बन्धको समवाय सम्बन्ध कहते हैं । गुण, गुणीको भिन्न मानकर उनका नित्य सम्बन्ध नैयायिक दर्शन मानता है ।

शाखादिक भिन्न कोई पदार्थ नहीं है । इसी प्रकार देश, देशांश, गुण, गुणांशका समूह ही द्रव्य है । द्रव्यसे भिन्न न तो देशादिक ही हैं, और देशादिसे भिन्न न द्रव्य ही है ।

कारक और आधाराधेयकी अभिन्नता—

यद्यपि भिन्नोऽभिन्नो दृष्टान्तः कारकश्च भवतीह ।
ग्राह्यस्तथाप्यभिन्नो साध्ये चास्मिन् गुणात्मके द्रव्ये ॥ ७८ ॥

अर्थ—यद्यपि दृष्टान्त और कारक भिन्न भी होते हैं और अभिन्न भी होते हैं । यहां गुण समुदायरूप द्रव्यकी सिद्धिमें अभिन्न दृष्टान्त और अभिन्न ही कारक ग्रहण करना चाहिये । खुलासा आगे किया जाता है ।

दोनोंकी भिन्नतामें दृष्टान्त—

भिन्नोप्यथ दृष्टान्तो भित्तौ चित्रं यथा दधीह घटे ।
भिन्नः कारक इति वा कश्चिद्धनवान् धनस्य योगेन ॥ ७९ ॥

अर्थ—आधाराधेयकी भिन्नताका दृष्टान्त इस प्रकार है कि जैसे भित्तिमें चित्र होता है अथवा घड़ेमें दही रक्खा है । भित्ति भिन्न पदार्थ है और उसपर खिंचा हुआ चित्र दूसरा पदार्थ है । इसी प्रकार घट दूसरा पदार्थ है और उसमें रक्खा हुआ दही दूसरा पदार्थ है, इसलिये ये दोनों ही दृष्टान्त आधाराधेयकी भिन्नतामें हैं । भिन्न कारकका दृष्टान्त इस प्रकार है—जैसे कोई आदमी धनके निमित्तसे धनवाला कहलाता है । यहांपर धन दूसरा पदार्थ है और पुरुष दूसरा पदार्थ है । धन और पुरुषका स्व–स्वामि सम्बन्ध कहलाता है । यह स्व–स्वामि सम्बन्ध भिन्नताका है ।

भावार्थ—जिस प्रकार धनवान् पुरुष, यह भिन्नतामें स्व स्वामि सम्बन्ध है उस प्रकार गुण-पर्यायवान् द्रव्य, यह सम्बन्ध नहीं है अथवा जैसा आधाराधेय भाव भित्ति और चित्रमें है वैसा गुण द्रव्यमें नहीं है किन्तु कारक और आधाराधेय दोनों ही अभिन्न हैं ।

दोनोंकी अभिन्नतामें दृष्टान्त—

दृष्टान्तश्चाभिन्नो वृक्षे शाखा यथा गृहे स्तम्भः ।
अपि चाभिन्नः कारक इति वृक्षोऽयं यथा हि शाखावान् ॥८०॥

अर्थ—आधार-आधेयकी अभिन्नतामें दृष्टान्त इस प्रकार है, जैसे वृक्षमें शाखा, अथवा घरमें खम्भा । कारककी अभिन्नतामें दृष्टान्त इस प्रकार है जैसे—यह वृक्ष शाखावाला है ।

भावार्थ—यहांपर वृक्ष और शाखा तथा घर और खंभा दोनों ही अभिन्नताके दृष्टान्त हैं । वृक्षसे शाखा जुदा पदार्थ नहीं है । और घरसे खंभा जुदा पदार्थ नहीं है । इसी प्रकार 'वृक्ष शाखावान् है" यह स्वस्वामि सम्बन्ध भी अभिन्नताका है । इन्हीं अभिन्न आधार–आधेय और अभिन्नकारकके समान गुण, पर्याय, और द्रव्यको समझना चाहिये ।

शङ्काकार ।

समवायः समवायी यदि वा स्यात्सर्वथा तदेकार्थः ।
समुदायो वक्तव्यो न चापि समवायवानिति चेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—समवाय और समवायी अर्थात् गुण और द्रव्य दोनों ही सर्वथा एकार्थक हैं। ऐसी अवस्थामें गुण समुदाय ही कहना चाहिये । द्रव्यके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ?

उत्तर—

तन्न यतः समुदायो नियतं समुदायिनः प्रतीतत्त्वात् ।
व्यक्तप्रमाणसाधितसिद्धत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ८२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि समुदाय नियमसे समुदायीका होता है। यह बात प्रसिद्ध प्रमाणसे सिद्ध की हुई है और प्रसिद्धदृष्टान्तसे भी यह बात सिद्ध होती है।

भावार्थ—यद्यपि * सीकोंका समूह ही सोहनी (झाडू) है । तथापि सीकोंके समुदायसे ही घरका कूड़ा दूर किया जाता है, सीकोंसे नहीं इसलिये समुदाय और समुदायी कथञ्चित् भिन्न भी हैं और कथञ्चित् अभिन्न भी हैं ।

खुलासा—

स्पर्शरसगन्धवर्णा लक्षणभिन्ना यथा रसालफले ।
कथमपि हि पृथक्कर्तुं न तथा शक्यास्त्वखण्डदेशत्वात् ॥८३॥

अर्थ—यद्यपि आमके फलमें स्पर्श, रस, गंध और रूप भिन्न २ हैं क्योंकि इनके लक्षण भिन्न २ हैं तथापि सभी अखण्डरूपसे एकरूप हैं किसी प्रकार जुदे २ नहीं किये जा सकते ।

भावार्थ—स्पर्शका ज्ञान स्पर्शनेन्द्रियसे होता है, रसका ज्ञान रसना-इन्द्रियसे होता है, गन्धका नासिकासे होता है और रूपका चक्षुसे होता है इसलिये ये चारों ही भिन्न २ लक्षणवाले हैं, परन्तु चारोंका ही तादात्म्य सम्बन्ध है, कभी भी जुदे २ नहीं हो सकते हैं। इसलिये लक्षण भेदसे भिन्न हैं, समुदाय रूपसे अभिन्न हैं, अतएव गुण और गुणीमें कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद स्पष्टतासे सिद्ध होता है ।

सारांश—

अत एव यथा वाच्या देशगुणांशा विशेषरूपत्वात् ।
वक्तव्यं च तथा स्यादेकं द्रव्यं त एव सामान्यात् ॥८४॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो चुकी कि विशेष कथनकी अपेक्षासे देश, गुण, पर्याय सभी जुदे २ हैं । और सामान्य कथनकी अपेक्षासे वे ही सब द्रव्य कहलाते हैं ।

---

* सीकोंका दृष्टान्त स्थूल दृष्टांत है। केवल समुदायांशमें ही इसे घटित करना चाहिये ।

विशेष लक्षण कहनेकी प्रतिज्ञा—

अथ चैतदेव लक्षणमेकं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
निष्प्रतिघप्रतिपत्त्यै विशेषतो लक्षयन्ति बुधाः ॥ ८५ ॥

अर्थ—" गुण पर्ययवद्द्रव्यम् " इसी एक लक्षणको निर्बाध प्रतीतिके लिये वाक्यान्तर (दूसरी रीतिसे) द्वारा विशेष रीतिसे भी बुद्धिमान् कहते हैं ।

भावार्थ—अब द्रव्यका दूसरा लक्षण कहते हैं परन्तु वह दूसरा लक्षण उपर्युक्त (गुणपर्ययवद्द्रव्य) लक्षणसे भिन्न नहीं है किन्तु उसीका विशद है ।

द्रव्यका लक्षण—

उत्पादस्थितिभंगैर्युक्तं सद्द्रव्यलक्षणं हि यथा ।
एतैरेव समस्तैः पृक्तं सिद्धेत्समं न तु व्यस्तैः ॥ ८६ ॥

अर्थ—पहले जो द्रव्यका लक्षण 'सत्' कहा गया है वह सत् उत्पाद, स्थिति, भंग, इन तीनोंसे सहित ही द्रव्यका लक्षण हैं । इतना विशेष है कि इन तीनोंका साहित्य भिन्न २ कालमें नहीं होता है, किन्तु एक ही कालमें होता है ।

भावार्थ—एक कालमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीनों अवस्थाओंको लिये हुए सत् ही द्रव्यका लक्षण है ।

उसीका स्पष्टार्थ—

***अयमर्थः प्रकृतार्थो ध्रौव्योत्पादव्ययास्त्रयश्चांशाः ।**
नाम्ना सदिति गुणः स्यादेकोऽनेके त एकशः प्रोक्ताः ॥८७॥

अर्थ—इस प्रकरणका यह अर्थ है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, ये तीनों ही अंश, एक सत् गुणके हैं इसलिये इन तीनोंको ही समुदाय रूपसे सन्मात्र कह देते हैं और क्रमसे वे तीनों ही जुदे २ अनेक हैं ।

भावार्थ—द्रव्यमें एक अस्तित्व नामक गुण है, उसीको सत्ता भी कहते हैं । वह सत् गुण ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है इसलिये प्रत्येककी अपेक्षासे तीनों जुदे २ हैं, परन्तु समुदायकी अपेक्षासे केवल सत्गुण स्वरूप हैं ।

सत् गुण भी है और द्रव्य भी है ।

लक्ष्यस्य लक्षणस्य च भेदविवक्षाश्रयात्सदेव गुणः ।
द्रव्यार्थादेशादिह तदेव सदिति स्वयं द्रव्यम् ॥ ८८ ॥

---

* इस श्लोकद्वारा तत्त्वार्थसूत्रके " सदद्रव्यलक्षणं " और " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " इन्हीं दो सूत्रोंका आशय प्रगट किया गया है ।

अर्थ—लक्ष्य और लक्षणकी भेद विवक्षासे तो सत् गुण ही है परन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वही सत् स्वयं द्रव्य स्वरूप है ।

भावार्थ—वस्तुमें अनन्त गुण हैं। उन गुणोंमेंसे प्रत्येकको *चालनी न्यायसे यदि द्रव्यका लक्ष्य माना जावे तो उस अवस्थामें द्रव्य लक्ष्य ठहरेगा, और गुण उसका लक्षण ठहरेगा। लक्ष्य लक्षणकी अपेक्षासे ही गुण गुणीमें कथंचित् भेद है । इसी दृष्टिसे सत्ता और द्रव्यमें कथंचित् भेद है, परन्तु भेद विकल्प बुद्धिको हटाकर केवल द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सत्ता और द्रव्य दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है, जो द्रव्य है सो ही सत्ता है । इसका खुलासा इस प्रकार है कि सम्पूर्ण गुणोंमें अभिन्नता होनेसे किसी एक गुणके द्वारा समग्र वस्तुका ग्रहण हो जाता है इस ÷कथनसे सत्ता कहनेसे भी द्रव्यका ही बोध होता है और द्रव्यत्त्व कहनेसे भी द्रव्यका ही बोध होता है । वस्तुत्त्व कहनेसे भी द्रव्य (वस्तु) का ही बोध होता है । नय दृष्टिसे सत्ता, द्रव्यत्त्व और वस्तुत्त्वके कहनेसे केवल उन्ही गुणोंका ग्रहण होता है । अभेद बुद्धि रखनेसे उत्पाद व्यय, ध्रौव्य ये तीनों अवस्थायें द्रव्यकी कहलाती हैं इसलिये द्रव्य ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है ।

वस्त्वस्ति स्वतःसिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि ।
तस्मादुत्पादस्थितिभंगमयं तत् सदेतदिह नियमात् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वस्तु अनादिनिधन स्वतः सिद्ध अविनाशी है उसी प्रकार परिणामी भी है इसलिये उत्पाद, स्थिति, भंग स्वरूप नियमसे सत् (द्रव्य) है ।

भावार्थ—वस्तु कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है । द्रव्य दृष्टिसे नित्य है । उत्पादादि पर्याय दृष्टिसे अनित्य है ।

वस्तुको परिणामी न माननेमें दोष—

नहि पुनरुत्पादस्थितिभंगमयं तद्विनापि परिणामात् ।
असतो जन्मत्त्वादिह सतो विनाशस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ९० ॥

अर्थ—यदि विना परिणामके ही वस्तुको उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप माना जाय तो असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश अवश्यंभावी होगा ।

भावार्थ—वस्तुको परिणमनशील मानकर यदि उत्पादि त्रय माने जावें तब तो वस्तुमें नित्यता कायम रहती है । यदि उसे परिणमनशील न मानकर उसमें उत्पादादि माना जावे तो

*आटा छनते हुए क्रमसे चलनीके सम्पूर्ण छिद्रोंसे निकलता है इसीको 'चालनी न्याय' कहते हैं ।

÷ यही कथन प्रमाण कथन कहलाता है । प्रमाण लक्षण इस प्रकार है–'एक गुण-मुखेनाऽशेषवस्तुकथनमिति'

वस्तु सर्वथा अनित्य ठहर जायगी, तथा फिर नवीन वस्तुका उत्पाद होगा, और जो है उसका नाश हो जायगा। परंतु यह व्यवस्था *प्रमाण बाधित है इसलिये वस्तुको परिणामी मानना चाहिये। फिर किसी परिणामसे वस्तु उत्पन्न होगी, किसीसे नष्ट भी होगी और किसीसे स्थिर भी रहेगी। इसी बातको आगे स्पष्ट करते हैं—

द्रव्यं ततः कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद्द्वितयं हि वस्तुतया ॥९१॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे द्रव्य परिणामी सिद्ध हो चुका इस लिये वह किसी अवस्थासे कथंचित् उत्पन्न भी होता है, किसी दूसरी अवस्थासे कथंचित् नष्ट भी होता है। वस्तु स्थितिसे उत्पत्ति और नाश, दोनों ही वस्तुमें नहीं होते।

भावार्थ—किसी परिणामसे वस्तुमें ध्रौव्य (कथंचित् नित्यता) भी रहता है।

उत्पादादि त्रयके उदाहरण--

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद्द्वितयं न मृत्तिकात्वेन ॥९२॥

अर्थ—वस्तु घटरूपसे उत्पन्न होती है, पिण्ड रूपसे नष्ट होती है, मृत्तिका रूपसे स्थिर है। ये तीनों ही अवस्थायें एक ही कालमें होती हैं परन्तु एक रूप नहीं है।

शङ्काकार।

ननु ते विकल्पमात्रमिह यदकिञ्चित्करं तदेवेति।
एतावतापि न गुणो हानिर्वा तद्विना यतस्त्विति चेत् ॥९३॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि यह सब तुम्हारी कल्पना मात्र है और वह व्यर्थ है। उत्पादादि त्रयके माननेसे न तो कोई गुण ही है और इसके न माननेसे कोई हानि भी नहीं दीखती?

उत्तर—

तन्न यतो हि गुणः स्यादुत्पादादित्रयात्मके द्रव्ये।
तन्निन्हवे च न गुणः सर्वद्रव्यादिशून्यदोषत्वात् ॥९४॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि उत्पादादि त्रय स्वरूप वस्तुको माननेसे ही लाभ है उसके न माननेमें कोई लाभ नहीं है, प्रत्युत द्रव्य, परलोक कार्य कारण आदि पदार्थोंकी शून्यताका प्रसंग आनेसे हानि है।

* ऐसा माननेसे जो दोष आते हैं, उनका कथन पहले किया जा चुका है।

परिणाम नहीं माननेमें दोष-

परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः ।
तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा ॥९५॥

अर्थ—परिणामके न माननेसे द्रव्य सदा एकसा ही रहेगा । उस अवस्थामें परलोक कार्य, कारण आदि कोई भी नहीं ठहर सक्ता ।

भावार्थ—दृष्टान्तके लिये जीव द्रव्यको ही ले लीजिये । यदि जीव द्रव्यमें परिणमन न माना जाय, उसको सदा एक सरीखा ही माना जाय, तो पुण्य पापका कुछ भी फल नहीं हो सकता है, अथवा मोक्षके लिये सब प्रयत्न व्यर्थ हैं । इसी प्रकार अवस्थाभेदके न माननेमें कार्य, कारणभाव आदि व्यवस्था भी नहीं बन सकती है ।

परिणामीके न माननेमें दोष-

परिणामिनोप्यभावत् क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु ।
तन्न यतोऽभिज्ञानान्नित्यस्याप्यात्मनः प्रतीतित्वात् ॥९६॥

अर्थ—यदि परिणामीको न माना जाय तो वस्तु क्षणिक—केवल परिणाम मात्र ठहर जायगी और यह बात बनती नहीं, क्योंकि ×प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्माकी कथञ्चित् नित्य रूपसे भी प्रतीति होती है ।

भावार्थ—विना कथंचित् नित्यता स्वीकार किये आत्मामें यह वही जीव है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये दोनों श्लोकोका फलितार्थ यह निकला कि वस्तु अपनी वस्तुताको कभी नहीं छोड़ती इसलिये तो वह नित्य है और वह सदा नई २ अवस्थाओंको बदलती रहती है इसलिये अनित्य भी हैं । वह न तो सर्वथा नित्य ही है और न सर्वथा अनित्य ही है जैसा कि सांख्य बौद्ध मानते हैं ।

शङ्काकार-

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेकं यदुक्तमिह पूर्वम् ।
वाक्यान्तरोपदेशादधुना तद्बाध्यते त्विति चेत् ॥९७॥

अर्थ–पहले द्रव्यका लक्षण "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" यह कहा गया है और अब वाक्या-

× "दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्" अर्थात् जिस पदार्थको पहिले कभी देखा जाय, फिर भी कभी उसीको अथवा उसके सम या विषमको देखा जाय तो वहां वर्तमानमें प्रत्यक्ष और पहिलेका स्मरण, दोनों एक साथ होनेसे यह वही है अथवा उसके समान है, आदि ज्ञान होता है । इसीको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । विना कथञ्चित् नित्यता स्वीकार किये ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता ।

न्तरके द्वारा " सद्द्रव्य लक्षणं " यह कहा जाता है। तथा सत्को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त बतलाया जाता है। इसलिये उस लक्षणमें इस लक्षणसे बाधा आती है?

उत्तर—

तन्न यतः सुविचारादेकोर्थो वाक्ययोर्द्वयोरेव।
अन्यतरं स्यादितिचेन्न मिथोभिव्यञ्जकत्वाद्वा ॥९८॥

अर्थ—दोनों लक्षणोंमें विरोध बतलाना ठीक नहीं है क्योंकि अच्छी तरह बिचार करनेसे दोनों वाक्योंका एक ही अर्थ प्रतीत होता है। फिर भी शंकाकार कहता है कि जब दोनों लक्षणोंका एक ही अर्थ है तो फिर दोनोंके कहनेकी क्या आवश्यकता है, दोनोंमेंसे कोई सा एक कह दिया जाय? आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा भी नहीं हैं कि दोनोंमेंसे एक ही कहा जाय, किन्तु दोनोंही मिलकर अभिव्यञ्जक (वस्तुप्रदर्शक) हैं।

खुलासा—

तद्दर्शनं यथा किल नित्यत्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात्।
गुणवद्द्रव्यं च स्यादित्युक्ते ध्रौव्यवत्पुनः सिद्धम् ॥९९॥

अर्थ—दोनों लक्षणोंके विषयमें खुलासा इस प्रकार है कि नित्यता और गुणकी व्याप्ति है अर्थात् गुण कहनेसे नित्यपनेका बोध होता है इसलिये " गुणवान् द्रव्य है " ऐसा कहनेसे ध्रौव्यवान् द्रव्य सिद्ध होता है।

भावार्थ—कथंचित् नित्यको ध्रौव्य कहते हैं। गुणोंसे कथंचित् नित्यता सिद्ध करनेके लिये ही द्रव्यको ध्रौव्यवान् कहा है।

विशेष—

अपि च गुणाः सँलक्ष्यास्तेषामिह लक्षणं भवेत् ध्रौव्यम्।
तस्माल्लक्ष्यं साध्यं लक्षणमिह साधनं प्रसिद्धत्वात् ॥१००॥

अर्थ—दूसरे शब्दोंमें यह कहा जाता है कि गुण लक्ष्य हैं, ध्रौव्य उनका लक्षण है इसलिये यहां पर लक्ष्यको साध्य बनाया जाता है और लक्षणको साधन बनाया जाता है।

भावार्थ—गुणोंका ध्रौव्य लक्षण करनेसे गुणोंमें कथंचित् नित्यता भली भांति सिद्ध हो जाती है।

पर्यायकी अनित्यताके साथ व्याप्ति है—

पर्यायाणामिह किल भङ्गोत्पादद्वयस्य वा व्याप्तिः।
इत्युक्ते पर्ययवद्द्रव्यं सृष्टिव्ययात्मकं वा स्यात् ॥१०१॥

अर्थ—पर्यायोंकी नियमसे उत्पाद और व्ययके साथ व्याप्ति है अर्थात् पर्यायके कहनेसे उत्पत्ति और विनाशका बोध होता है। इस लिये "पर्यायवाला द्रव्य है" ऐसा कहनेसे उत्पाद व्ययवाला द्रव्य सिद्ध होता है।

भावार्थ—वस्तुमें होनेवाले अवस्थाभेदको उत्पाद, व्यय कहते हैं, अवस्था नाम पर्यायका है, पर्यायोंमें कथंचित् अनित्यता सिद्ध करनेके लिये ही द्रव्यको उत्पाद व्ययवान् कहा है ।

द्रव्यस्थानीया इति पर्यायाः स्युः स्वभाववन्तश्च ।
तेषां लक्षणमिव वा स्वभाव इव वा पुनर्व्ययोत्पादम् ॥१०२॥

अर्थ—उक्त कथनसे पर्यायोंमें दो बातें सिद्ध होती हैं । एक तो यह कि वे द्रव्यस्थानीय हैं—द्रव्यमें ही उत्पन्न होती हैं या रहती हैं—पर्यायें द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं । दूसरी बात यह कि वे स्वभाववान् हैं[1]। जब पर्यायें द्रव्यस्थानीय तथा स्वभाववान् हैं तो उनका लक्षण और स्वभाव बताना भी आवश्यक है । अतएव यदि कोई यह जानना चाहे कि उनका लक्षण और स्वभाव क्या है ? तो उसको यही समझना चाहिये कि व्यय और उत्पाद ये दोनों ही ऐसे हैं कि जिनको पर्यायोंके लक्षणकी तरहसे भी कह सकते हैं या स्वभावकी तरहसे भी कह सकते हैं । तात्पर्य यह कि उत्पादव्यय और पर्यायमें लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध अथवा स्वभावस्वभाववत्सम्बन्ध है । तथा पर्यायें द्रव्यस्थानीय हैं । अतएव पर्ययवद्द्रव्यं यह द्रव्यका लक्षण 'उत्पादव्ययवद्द्रव्यं इस द्रव्यके लक्षणका अभिव्यंजक होता है क्योंकि द्रव्यके दोनों लक्षणोंमें अभिव्यज्याभिव्यंजक भाव तथा साध्यसाधन भाव है । जैसा कि पहले गुणकी अपेक्षासे कहा जा चुका है ।

गुण निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा—

अथ च गुणत्वं किमहो सूक्तः केनापि जन्मिना सूरिः ।
प्रोचे सोदाहरणं लक्षितमिव लक्षणं गुणानां हि ॥ १०३ ॥

अर्थ—गुण क्या पदार्थ है ? यह प्रश्न किसी पुरुषने आचार्यसे पूंछा, तब आचार्य उदाहरण सहित गुणोंका सुलक्षित लक्षण कहने लगे ।

गुणका लक्षण—

***द्रव्याश्रया गुणाःस्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च ।**
करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु ॥ १०४

अर्थ—द्रव्यके आश्रय रहनेवाले, विशेष रहित जो विशेष हैं वे ही गुण कहलाते हैं । उन्हीं गुणोंके द्वारा हाथमें रक्खे हुए पदार्थकी तरह वस्तु स्पष्ट प्रतीत होती है ।

भावार्थ—गुण सदा द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं परन्तु इनका आश्रय-आश्रयीभाव ऐसा

---

१ पर्यायें द्रव्यस्थानीय हैं इसीलिये स्वभाववान् हैं ऐसा भी कहा जा सकता है ।

* "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" तत्वार्थसूत्रके इस सूत्रका आशय इस श्लोक द्वारा प्रकट किया गया है ।

नहीं है जैसा कि चौकीपर रक्खी हुई पुस्तकोंका चौकीके साथ होता है किन्तु ऐसा है जैसा कि ÷तन्तु और कपड़ेका अथवा पुस्तक और अक्षरोंका होता है । यद्यपि कपड़ा तन्तुओंसे भिन्न नहीं है तथापि वह तन्तुओंका आधेय समझा जाता है । इसी प्रकार पुस्तक अक्षरोंसे भिन्न नहीं है तथापि वह अक्षरोंका आधार समझी जाती है, इसी प्रकार गुण और द्रव्यका आधार-आधेयभाव है । गुण और विशेष ये दोनों ही एकार्थ वाचक हैं, गुणोंमें गुण नहीं रहते हैं। यदि गुणोंमें भी गुण रह जांय तो वे भी द्रव्य ठहरेंगे और अनवस्था दोष भी आवेगा इसलिये जो ÷द्रव्यके आश्रय रहनेवाले हों और निर्गुण हों वे गुण कहलाते हैं ।

खुलासा—

अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये ।
ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०५ ॥

अर्थ—गुण, द्रव्यके आश्रय रहते हैं, इसका खुलासा यह है कि एक गुणका जो प्रदेश है वही प्रदेश सभी गुणोंका है इसलिये सभी गुणोंके समान प्रदेश हैं उन प्रदेशोंमें रहनेवाले गुणोंका जब बुद्धिपूर्वक विभाग किया जाता है तब श्रेणीवार क्रमसे अनन्त गुण प्रतीत होते हैं अर्थात् बुद्धिसे विभाग करनेपर द्रव्यके सभी प्रदेश गुणरूप ही दीखते हैं । गुणोंके अतिरिक्त स्वतन्त्र आधाररूप प्रदेश कोई भिन्न पदार्थ नहीं प्रतीत होता है ।

उदाहरण—

दृष्टान्तः शुक्लाद्या यथा हि समतन्तवः समं सन्ति ।
बुद्ध्या विभज्यमानाः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०६ ॥

अर्थ—समान तन्तुवाले सभी शुक्लादिक गुण समान है उन शुक्लादिक गुणोंका बुद्धिसे विभाग किया जाय तो क्रमसे श्रेणीवार अनन्त गुण ही प्रतीत होंगे ।

गुणोंका नित्याऽनित्य विचार—

नित्यानित्यविचारस्तेषामिह विद्यते ततः प्रायः ।
विप्रतिपत्तौ सत्यां विवदन्ते वादिनो यतो बहवः ॥ १०७ ॥

÷ तन्तु और कपड़ेका दृष्टान्त भी स्थूल है ग्राह्यांशमें ही घटित करना चाहिये ।

÷ द्रव्यके आश्रय पर्याय भी रहती है और वह निर्गुण भी है इसलिये गुणोंका लक्षण पर्यायमें घटित होनेसे अतिव्याप्ति नामक दोष आता है । लक्षण अपने लक्ष्यमें रहता हुआ यदि दूसरे पदार्थमें भी रह जाय, उसीको अतिव्याप्ति कहते हैं, इस दोषको हटानेके लिये गुणोंके लक्षणमें 'द्रव्याश्रय' का अर्थ यह करना चाहिये कि जो नित्यतासे द्रव्यके आश्रय रहें वे गुण हैं, ऐसा कहनेसे पर्यायमें लक्षण नहीं जा सकता, क्योंकि पर्याय अनित्य है इसीलिये गुणोंको सहभावी और पर्यायोंको क्रमभावी बतलाया गया है ।

अर्थ—गुणोंके विषयमें बहुतसे वादियोंका विवाद होता है—कोई गुणोंको सर्वथा नित्य बतलाते हैं, और कोई सर्वथा अनित्य बतलाते हैं। इसलिये आवश्यक प्रतीत होता है कि गुणोंके विषयमें नित्यता और अनित्यताका विचार किया जाय ।

जैन सिद्धान्त—

जैनानामतमेतन्नित्यानित्यात्मकं यथा द्रव्यम् ।
ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥ १०८॥

अर्थ—जैनियोंका तो ऐसा सिद्धान्त है कि जिस प्रकार द्रव्य कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, उसी प्रकार गुण भी कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य हैं क्योंकि द्रव्यसे सर्वथा भिन्न गुण नहीं हैं ।

गुणोंकी नित्यताका विचार—

तत्रोदाहरणमिदं तद्भावाऽव्ययाद्गुणा नित्याः ।
तदभिज्ञानात्सिद्धं तल्लक्षणमिह यथा तदेवेदम् ॥१०९॥

अर्थ—नित्यका यह लक्षण है कि जिसके *स्व-भावका नाश न हो । यह लक्षण गुणोंमें पाया जाता है इसलिये गुण नित्य हैं, गुणोंके स्व-भावका नाश नहीं होता है। यह गुणोंका लक्षण "यह वही है" ऐसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा सिद्ध होता है अर्थात् गुणोंमें यह वही गुण है, ऐसी प्रतीति होती है और यही प्रतीति उनमें नित्यताको सिद्ध करती है ।

गुणोंकी नित्यतामें उदाहरण—

ज्ञानं परणामि यथा घटस्य चाकारतः पटाकृत्या ।
किं ज्ञानत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्कथं न नित्यं स्यात् ॥११०॥

अर्थ—आत्माका ज्ञान गुण परिणमनशील है । कभी वह घटके ÷आकार होता है तो कभी पटके आकार हो जाता है । घटाकारसे पटाकार होते समय उसमें क्या ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है? नहीं, ज्ञान नष्ट नहीं होता, केवल अवस्थाभेद हो जाता है, वह पहले घटको जानता था अब पटको जानने लगा है इतना ही भेद हुआ है । जानना दोनों अवस्थाओंमें

---

* तत्त्वार्थसूत्रके "तद्भावाव्ययं नित्यम्" इस सूत्रका आशय है ।

÷ घटाकार और पटाकारका घटज्ञान और पटज्ञानसे प्रयोजन है । ज्ञानगुणका यह स्वभाव है कि वह जिस पदार्थको जानता है उसके आकार हो जाता है इसी लिये ज्ञानको दर्पणकी तुलना दी गई है, दर्पणमें भी जिस पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़ता है, दर्पण उस पदार्थके आकार होजाता है ।

बराबर है इस लिये ज्ञानका कभी नाश नहीं § होता है । जब ज्ञानका कभी नाश नहीं होता यह बात सुप्रतीत है, तो वह नित्य क्यों नहीं है ? अवश्य है ।

गुणोंकी नित्यतामें ही दूसरा दृष्टान्त—

दृष्टान्तः किल वर्णो गुणो यथा परिणमन् रसालफले ।
हरितात्पीतस्तत्किं वर्णत्त्वं नष्टमिति नित्यम् ॥ १११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार आमके फलमें रूप गुण बदलता रहता है, आमकी कच्ची अवस्थामें हरा रंग रहता है, पकनेपर उसमें पीला रंग हो जाता है, हरेसे पीला होनेपर क्या उसका रूप (रंग) नष्ट हो जाता है ? यदि नहीं नष्ट होता है तो क्यों नहीं रूप गुणको नित्य माना जावे ? अवश्य मानना चाहिये ।

भावार्थ—हरे रंगसे पीला रंग होनेमें केवल रंगकी अवस्थामें भेद हो जाता है । रंग दोनों ही अवस्थामें है इस लिये रंग सदा रहता है वह चाहे कभी हरा हो जाय, कभी पीला हो जाय, कभी लाल हो जाय, रंग सभी अवस्थाओंमें है इस लिये रंग (रूप) गुण नित्य है, यह दृष्टान्त अजीवका है, पहला जीवका था ।

गुणोंकी अनित्यताका विचार—

वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि ।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणानां तु ॥ ११२ ॥

---

§ यहांपर कोई ऐसी शंका करसक्ता है कि जीवात्माओंमें ज्ञान बराबर घटता हुआ प्रतीत होता है सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकमें घटते २ अक्षरके अनन्तवें भाग प्रमाण रह जाता है तो इससे सिद्ध होता है कि किसी जीवमें ज्ञानका सर्वथा ही अभाव हो जाता हो । यद्यपि स्थूल दृष्टिसे इस शंकाकी संभावना ठीक है, तथापि तत्त्व दृष्टिसे विचार करनेपर उक्त शंका निर्मूल हो जाती है । किसी भी पदार्थमें कमी की संभावना वहीं तक की जा सक्ती है, जहां तक कि उस पदार्थकी सत्ता है, पदार्थकी निश्शेषतामें कमी शब्दका प्रयोग ही नहीं हो सकता, दूसरे हर एक पदार्थकी उत्कृष्टता और जघन्यताकी सीमा अवश्य है । ज्ञान गुणकी जघन्यतामें भी अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद बतलाये हैं । सूक्ष्म निगोदियाके जघन्य ज्ञानमें आवरण नहीं होता है, वह सदा प्रकटित रहता है और सदा निरावरण है । यदि उसमें भी आवरण आ जाय तो जीवमें जड़ताका प्रसंग आवेगा, ऐसी अवस्थामें वस्तुकी वस्तुता ही चली जाती है । ज्ञानकी नित्यतामें युक्तियोंके अतिरिक्त प्रमाणके लिये नीचे लिखी गाथा देखो—

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्मि ।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ॥ १ ॥

गोम्मटसार ।

अर्थ—जिस प्रकार वस्तु प्रतिक्षण परिणमनशील है, उसी प्रकार गुण भी प्रतिक्षण परिणमनशील हैं, इसलिये जैसे वस्तुका उत्पाद और व्यय होता है उसी प्रकार गुणोंका उत्पाद और व्यय होता है।

गुणोंकी अनित्यतामें भी वही दृष्टान्त—

ज्ञानं गुणो यथा स्यान्नित्यं सामान्यवत्तयाऽपि यतः ।
नष्टोत्पन्नं च तथा घटं विहायाऽथ पटं परिच्छिन्दत् ॥ ११३ ॥

अर्थ—यद्यपि सामान्य दृष्टिसे ज्ञान गुण नित्य है तथापि वह कभी घटको और कभी पटको जानता है इसलिये अनित्य भी है।

भावार्थ—अवस्था (पर्याय) की अपेक्षासे ज्ञान अनित्य है। अपनी सत्ताकी अपेक्षासे नित्य है।

गुणोंकी अनित्यतामें वही दूसरा दृष्टान्त—

सन्दृष्टी रूपगुणो नित्यश्चाम्रेपि वर्णमात्रतया ।
नष्टोत्पन्नो हरितात्परिणममानश्च पीतवत्त्वेन ॥११४॥

अर्थ—आममें रूप सदा रहता है इसकी अपेक्षासे यद्यपि रूप गुण नित्य है तो भी हरितसे पीत अवस्थामें बदलनेसे वह नष्ट और उत्पन्न भी होता है।

शङ्काकार—

ननु,नित्या हि गुणा अपि भवन्त्वनित्यास्तु पर्ययाः सर्वे ।
तत्किं द्रव्यवदिह किल नित्यानित्यात्मका गुणाः प्रोक्ताः ॥११५॥

अर्थ—यह बात निश्चित है कि गुण नित्य होते हैं और पर्यायें सभी अनित्य होती हैं। फिर क्या कारण है कि द्रव्यके समान गुणोंको भी नित्याऽनित्यात्मक बतलाया है?

उत्तर—

सत्यं तत्र यतः स्यादिदमेव विवक्षितं यथा द्रव्ये
न गुणेभ्यः पृथगिह तत्सदिति द्रव्यं च पर्ययाश्चेति ॥११६॥

अर्थ—उपर्युक्त शङ्का यद्यपि ठीक है, तथापि उसका उत्तर इस प्रकार है कि गुणोंसे भिन्न सत् पदार्थ कोई वस्तु नहीं है। द्रव्य, पर्याय और गुण ये तीनों ही सत्स्वरूप हैं इसलिये जिस प्रकार द्रव्यमें विवक्षावश कथंचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यता आती है, उसी प्रकार गुणोंमें भी नित्यता और अनित्यता विवक्षाधीन है।

और भी—

अपि नित्याः प्रतिसमयं विनापि यत्नं हि परिणमन्ति गुणाः ।
स च परिणामोऽवस्था तेषामेव न पृथक्त्वसत्ताकः ॥११७॥

अर्थ—यद्यपि गुण नित्य हैं तथापि विना किसी प्रयत्नके प्रति समय परिणमन करते हैं। वह परिणाम भी उन्हीं गुणोंकी अवस्था विशेष है, भिन्न सत्तावाला नहीं है।

शङ्काकार—

ननु तदवस्थो हि गुणः किल तदवस्थान्तरं हि परिणामः।
उभयोरन्तर्वर्तित्वादिह पृथगेतदेवमिदमिति चेत् ॥११८॥

अर्थ—शङ्काकारका कहना है कि गुण तो सदा एकसा रहता है और परिणाम एक समयसे दूसरे समयमें सर्वथा जुदा है। तथा परिणाम और गुण इन दोनोंके बीचमें रहनेवाला द्रव्य भिन्न ही पदार्थ है?

उत्तर—

तन्न यतः सदवस्थाः सर्वा आम्रेडितं यथा वस्तु।
न तथा ताभ्यः पृथगिति किमपि हि सत्ताकमन्तरं वस्तु ॥११९॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि परिणाम गुणोंकी ही अवस्था विशेष है। द्रव्य, गुण, पर्याय ये तीनों ही मिलकर वस्तु कहलाते हैं। इन तीनोंका नाम लेनेसे वस्तुका ही बोध होता है इसलिये ये सब वस्तुके ही द्विरुक्त (पुनः पुनः कथन) हैं। उन अवस्थाओंसे जुदा भिन्न सत्तावाला गुण अथवा द्रव्य कोई पदार्थ नहीं है।

भावार्थ—शंकाकारने गुणोंको उनके परिणामोंसे भिन्न बतलाया था। और उसमें हेतु दिया था कि एक समयमें जो परिणाम है, दूसरे समयमें उससे सर्वथा भिन्न ही है। इसी प्रकार वह भी नष्ट हो जाता है, तीसरे समयमें जुदा परिणाम ही पैदा होता है। इसलिये गुणोंसे परिणाम सर्वथा भिन्न है। इसका उत्तर दिया गया है कि यद्यपि परिणाम प्रति समय भिन्न है, तथापि जिस समयमें जो परिणाम है वह गुणोंसे भिन्न नहीं है उन्हींकी अवस्था विशेष है। इसी प्रकार प्रति समयका परिणाम गुणोंसे अभिन्न है। यदि गुणोंसे सर्वथा भिन्न ही परिणामको माना जाय तो प्रश्न हो सकता है कि वह परिणाम किसका है? विना परिणामीके परिणामका होना असंभव है। इसलिये गुणोंका परिणाम गुणोंसे सर्वथा भिन्न नहीं है। किन्तु परिणाम समूह ही गुण है। और गुण समूह ही द्रव्य है।

नियतं परिणामित्वादुत्पादव्ययमया य एव गुणाः।
टङ्कोत्कीर्णन्यायात्त एव नित्या यथा स्वरूपत्वात् ॥ १२० ॥

अर्थ—जिस प्रकार परिणमन शील होनेसे गुण उत्पाद, व्यय स्वरूप हैं उसी प्रकार *टंकोत्कीर्ण न्यायसे अपने स्वरूपमें सदा स्थिर रहते हैं इसलिये वे नित्य भी हैं।

* कड़े पत्थरमें जो टांकीसे गहरे चिह्न किये जाते हैं वे मिटते नहीं है। इसीका नाम टंकोत्कीर्ण न्याय है। यह भी यहांपर स्थूलतासे ग्राह्य है।

न हि पुनरेकेषामिह भवति गुणानां निरन्वयो नाशः ।
अपरेषामुत्पादो द्रव्यं यस्तद्द्वयाधारम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि किन्हीं गुणोंका तो सर्वथा नाश होता जाता है और दूसरे नवीन गुणोंकी उत्पत्ति होती जाती है तथा उन उत्पन्न और नष्ट होनेवाले गुणोंका आधार द्रव्य है।

दृष्टान्ताऽऽभास—

दृष्टान्ताभासोऽयं स्याद्धि विपक्षस्य मृत्तिकायां हि ।
एके नश्यन्ति गुणा जायन्ते पाकजा गुणास्त्वन्ये ॥ १२२ ॥

अर्थ—विपक्षका यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं है कि मिट्टीमें पहले गुण तो नष्ट होजाते हैं और पाकसे होनेवाले दूसरे गुण पैदा होजाते हैं। यह केवल ÷दृष्टान्ताभास है।

भावार्थ—नैयायिक दर्शनका सिद्धान्त है कि जिस समय कच्चा घड़ा अग्नि (अवा) में दिया जाता है उससमय उस घड़ेके पहले सभी गुण नष्ट होजाते हैं। घड़ेका पाक होनेसे उसमें दूसरे ही नवीन गुण पैदा होजाते हैं। इतना ही नहीं, *वैशेषिकोंका तो यहां तक भी सिद्धान्त है कि अग्निमें जब घड़ेकी पाकावस्था होती है तब काला घड़ा बिलकुल फूट जाता है। उसके सब परमाणु अलग २ बिखर जाते हैं। फिर शीघ्र ही रक्त रूप पैदा होता है और पाकज परमाणु इकट्ठे होते हैं। उनसे कपाल बनते हैं। उन कपालोंसे लाल घड़ा बनता है। इस कार्यमें (घड़ेके फूटने और बननेमें) जो समय लगता है वह अति सूक्ष्म है इसलिये जाना नहीं जाता। इस नैयायिक सिद्धान्तके दृष्टान्तको देकर गुणोंका नाश और उत्पत्ति मानना सर्वथा मिथ्या है। यह दृष्टान्त सर्वथा बाधित है। यह बात किसी विवेकशालीकी बुद्धिमें नहीं आसक्ती है कि अग्निमें घड़ेके गुणोंका नाश होजाता हो अथवा वह घड़ा ही अग्निमें फूटकर फिर झटपट अपने आप तयार हो जाता हो, इसलिये उक्त नैयायिकोंका सिद्धान्त सर्वथा बाधित है। इस दृष्टान्तसे गुणोंका नाश और उत्पत्ति मानना भी मिथ्या है। इसी बातको ग्रन्थकार स्वयं प्रगट करते हैं।

तत्रोत्तरमिति सम्यक् सत्यां तत्र च तथाविधायां हि
किं पृथिवीत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्तथा कथं न स्यात् ॥ १२३ ॥

÷ झूंठे दृष्टान्तको दृष्टान्ताभास कहते हैं।

* वैशेषिके नये पीलुपाक वादिमते तत्रहि पाकार्थमपक्वघटो यदा महामहानसे निधीयते तदा तदन्तः प्रविष्टाभिर्वेगवदग्निज्वालमालाभिरवयवविभागेन पूर्वावयवसंयोगे विनष्टेऽसमवायिकारणनाशात् भावकार्यनाश इति नियमात् श्यामघटे विनष्टे पुनः परमाणुषु रक्तरूपोत्पत्त्या द्व्यणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिरिति। नैयायिकानां पिठरपाकवादिनामत्र गौरवः।

सिद्धान्तमुक्तावली (नैयायिक-वैशेषिकग्रन्थ)

अर्थ—नैयायिक सिद्धान्तका यह उत्तर स्पष्ट रीतिसे होजाता है कि अग्निमें घड़ेको रखनेसे क्या घड़ेकी मिट्टीका नाश हो जाता है ? यदि मिट्टीका नाश नहीं होता है तो घड़ेके गुणोंमें नित्यता क्यों नहीं है ? अवश्य है ।

शङ्काकार—

ननु केवलं प्रदेशाद्द्रव्यं देशाश्रया विशेषास्तु ।
गुणसंज्ञका हि तस्माद्भवति गुणेभ्यश्च द्रव्यमन्यत्र ॥ १२४ ॥
तत एव यथा सुघटं भङ्गोत्पादध्रुवत्रयं द्रव्ये ।
न तथा गुणेषु तत्स्यादपि च व्यस्तेषु वा समस्तेषु ॥ १२५ ॥

अर्थ—जो प्रदेश हैं वे ही द्रव्य कहलाते हैं । देशके आश्रयसे रहनेवाले जो विशेष हैं वे ही गुण कहलाते हैं इसलिये गुणोंसे द्रव्य भिन्न हैं, जब गुणोंसे द्रव्य भिन्न है तब उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ये तीनों द्रव्यमें जिस प्रकार सुघटित होते हैं, उस प्रकार गुणोंमें नहीं होते न तो किसी २ गुणमें होते हैं और न गुण समुदायमें ही होते हैं ?

भावार्थ—शंकाकारका यह अभिप्राय है कि द्रव्य रूप देश नित्य है उसकी अपेक्षासे ही ध्रौव्य है । और गुण रूप विशेष अनित्य हैं उनकी अपेक्षासे ही उत्पाद, व्यय हैं ?

उत्तर—

यतः क्षणिकत्वापत्तेरिह लक्षणाद्गुणानां हि
तदभिज्ञानविरोधात्क्षणिकत्वं बाध्यतेऽध्यक्षात् ॥ १२६ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । क्योंकि इस लक्षणसे गुणोंमें क्षणिकता आती है गुणोंमें क्षणिकता यह वही है, इस प्रत्यभिज्ञानसे प्रत्यक्ष बाधित है ।

भावार्थ—प्रत्यभिज्ञानसे गुणोंमें नित्यताकी ही प्रतीति होती है ।

दूसरा दोष—

अपि चैवमेकसमये स्यादेकः कश्चिदेव तत्र गुणः ।
तन्नाशादन्यतरः स्यादिति युगपन्न सन्त्यनेकगुणाः ॥ १२७ ॥

अर्थ—गुणोंको उत्पाद, व्यय रूप विशेष माननेसे द्रव्यमें एक समयमें कोई एक गुण ठहरेगा । उस गुणके नाश होनेसे दूसरा गुण उसमें आवेगा । एक साथ द्रव्यमें अनेक गुण नहीं रह सकेंगे ।

प्रत्यक्ष बाधा—

तदसत्यतः प्रमाणदृष्टान्तादपि च बाधितः पक्षः ।
स यथा सहकारफले युगपद्वर्णादिविद्यमानत्वात् ॥ १२८ ॥

अर्थ—द्रव्यमें एक समयमें एक ही गुणकी सत्ता मानना ठीक नहीं है । क्योंकि यह

बात प्रमाण और दृष्टान्त दोनोंसे बाधित है । आमके फलमें एक साथ ही रूप रस, गन्ध, स्पर्श आदिक अनेक गुणोंकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है ।

पक्षान्तर—

अथ चेदिति दोषभयान्नित्याः परिणामिनस्त इति पक्षः ।
तत्किं स्यान्न गुणानामुत्पादादित्रयं समं न्यायात् ॥ १२९ ॥

अर्थ—यदि उपर्युक्त दोषोंके भयसे गुणोंको नित्य और परिणामी माना जाय तो फिर गुणोंमें एक साथ उत्पादादि त्रय क्यों नहीं होंगे ? अवश्य होंगे ।

भावार्थ—द्रव्यकी तरह गुणोंमें भी उत्पादित्रय होते हैं यह फलितार्थ निकल चुका यही बात पहले कही जा चुकी है ।

अपि पूर्वं च यदुक्तं द्रव्यं किल केवलं प्रदेशाः स्युः ।
तत्र प्रदेशवत्त्वं शक्तिविशेषश्च कोपि सोपि गुणः ॥ १३० ॥

अर्थ—पहले यह भी शंका की गई थी कि केवल प्रदेश ही द्रव्य कहलाते हैं सो प्रदेश भी, प्रदेशत्त्व नामक शक्ति विशेष है । वह भी एक गुण है ।

भावार्थ—द्रव्यमें जो पर्याय होती है, उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं । वह व्यञ्जन पर्याय प्रदेशवत्त्व गुणका विकार है, अर्थात् प्रदेशवत्व गुणकी विशेष अवस्थाका नाम ही व्यञ्जन पर्याय है ।

सारांश—

तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्यं स्यात्पूर्वसूरिभिः प्रोक्तम् ।
अयमर्थः खलु देशो विभज्यमाना गुणा एव ॥ १३१ ॥

अर्थ—इस लिये जो पूर्वाचार्यों (अथवा पहले इसी ग्रन्थमें) ने गुणोंके समुदायको द्रव्य कहा है वह ठीक है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यदि देश (द्रव्य) को भिन्न २ विभाजित किया जाय तो गुण ही प्रतीत होंगे ।

भावार्थ—गुणोंको छोड़कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । द्रव्यमेंसे यदि एक एक गुणको भिन्न २ कल्पित करें तो द्रव्य कुछ भी शेष नहीं रहता । और जो सम्पूर्ण द्रव्यकी एक समयमें पर्याय (व्यञ्जन पर्याय) होती है वह भी प्रदेशवत्व गुणकी अवस्था विशेष है इसलिये गुण समुदाय ही द्रव्य है । यह आचार्यका पूर्व कथन सर्वथा ठीक है ।

शङ्काकार—

ननु चैवं सति नियमादिह पर्याया भवन्ति यावन्तः ।
सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपर्ययाः केचित् ॥ १३२ ॥

अर्थ—यदि गुण समुदाय ही द्रव्य है तो जितनी भी द्रव्यमें पर्यायें होंगी

उन सबोंको नियमसे गुणोंकी पर्याय ही कहना चाहिये, किसीको भी द्रव्य पर्याय नहीं कहना चाहिये ?

उत्तर—

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्त्वेपि ।
चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती ॥१३३॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है । क्योंकि गुणोंमें भी विशेषता है। यद्यपि गुणत्व धर्मकी अपेक्षासे सभी गुण, गुण कहलाते हैं तथापि उनमें कोई चेतन गुण है कोई अचेतन गुण है । जिस प्रकार गुणोंमें यह विशेषता है । उसी प्रकार उनमें कोई क्रियावती शक्ति (गुण) है और कोई भाववती शक्ति है ।

क्रियावती और भाववती शक्तियोंका स्वरूप—

तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पंदलक्षणो वा स्यात् ।
भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथ वा निरंशांशैः ॥ १३४ ॥

अर्थ—उन दोनों शक्तियोंमें प्रदेश अथवा देशका परिस्पंद (हलन चलन) क्रिया कहलाती है और शक्ति विशेष भाव कहलाता है उसका परिणमन निरंश-अंशों द्वारा होता है

भावार्थ—प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहते हैं, और बाकीके अनन्त गुणोंको भाववती शक्ति कहते हैं । परिणमन भी दो प्रकारका होता है एक तो ज्ञानादि गुणोंका परिणमन दूसरा सम्पूर्ण द्रव्यका परिणमन । ज्ञानादि गुणोंका परिणमन क्रिया रहित है । केवल गुणोंके अंशोंमें तरतम रूपसे न्यूनाधिकता होती रहती है परन्तु द्रव्यका जो परिणमन होता है, उसमें उसके सम्पूण प्रदेशोंमें परिवर्तन होता है । वह परिवर्तन सक्रिय है । द्रव्यका परिवर्तन प्रदेशवत्त्व गुणके निमित्तसे होता है । इसीलिये प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहा गया है और बाकीके सम्पूर्ण गुण निष्क्रिय है, इसलिये उन्हें भाववती शक्ति कहा गया है ।

यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यय नाम्ना ।
यतरे च विशेषांशास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ॥ १३५ ॥

अर्थ—जितने भी प्रदेशांश हैं वे द्रव्य पर्याय कहे जाते हैं और जितने गुणांश हैं वे गुणपर्याय कहे जाते हैं ।

भावार्थ—प्रदेशवत्त्व गुणके निमित्तसे जो द्रव्यके समस्त प्रदेशोंमें आकारान्तर होता रहता है उसे द्रव्यपर्याय अथवा व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और बाकीके गुणोंमें जो तरतम रूपसे परिणमन होता है उसे गुणपर्याय अथवा अर्थ पर्याय कहते हैं ।

तत एव यदुक्तचरं व्युच्छेदादित्रयं गुणानां हि ।
अनवद्यमिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ॥ १३६ ॥

अर्थ—इस लिये पहले जो गुणोंमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य बतलाया गया है, वह सब प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध होनेसे निर्दोष है ।

अथ चैतल्लक्षणमिह वाच्यं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
आत्मा यथा चिदात्मा ज्ञानात्मा वा स एव चैकार्थः ॥ १३७ ॥

अर्थ—अब गुणोंका लक्षण वाक्यान्तर (दूसरी रीतिसे) द्वारा कहते हैं । जिस प्रकार आत्मा, चिदात्मा, अथवा ज्ञानात्मा, ये सब एक अर्थको प्रगट करते हैं उसी प्रकार वह वाक्यान्तर कथन भी एकार्थक है ।

तद्वाक्यान्तरमेतद्यथा गुणाः सहभुवोपि चान्वयिनः ।
अर्थाच्चैकार्थत्वादर्थादेकार्थवाचकाः सर्वे ॥ १३८ ॥

अर्थ—वह वाक्यान्तर इस प्रकार है—गुण, सहभावी, अन्वयी इन सबका एक ही अर्थ है । अर्थात् उपर्युक्त तीनों ही शब्द गुण रूप अर्थके वाचक हैं ।

सहभावी शब्दका अर्थ—

सह सार्धं च समं वा तत्र भवन्तीति सहभुवः प्रोक्ताः ।
अयमर्थो युगपत्ते सन्ति न पर्यायवत्क्रमात्मानः ॥ १३९ ॥

अर्थ—सह, सार्ध और सम इन तीनोंका एक ही साथ रूप अर्थ है । गुण सभी साथ २ रहते हैं इस लिये वे सहभावी कहे गये हैं । इसका यह अर्थ है कि सभी गुण एक साथ रहते हैं, पर्यायके समान क्रम क्रमसे नहीं होते हैं ।

शङ्का और समाधान—

ननु सह समं मिलित्वा द्रव्येण च सहभुवो भवन्त्विति चेत् ।
तन्न यतो हि गुणेभ्यो द्रव्यं पृथगिति यथा निषिद्धत्वात् ॥ १४० ॥

अर्थ—शंकाकार सहभावी शब्दका अर्थ करता है कि गुण द्रव्यके साथ मिलकर रहते हैं इसी लिये वे सहभावी कहलाते हैं । परन्तु शंकाकार की यह शंका निर्मूल है क्योंकि गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ है इस बातका पहले ही निषेध किया जाचुका है ।

भावार्थ—सहभावी शब्दका यह अर्थ नहीं है कि गुण द्रव्यके साथ २ रहते हैं इस लिये सहभावी कहलाते हैं क्योंकि ऐसा अर्थ करनेसे द्रव्य जुदा पदार्थ ठहरता है और उस द्रव्यके साथ २ रहनेवाले गुण जुदे ठहरते हैं । परन्तु इस बातका पहले ही निषेध किया जा चुका है कि गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई जुदा पदार्थ है । इस लिये सहभावी शब्दका यह अर्थ करना चाहिये कि सभी गुण साथ २ रहते हैं । द्रव्य अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड है । उन गुणोंमें प्रतिक्षण परिणमन (पर्याय) होता रहता है । अनादिकालसे लेकर अनन्तकाल तक उन गुणोंके जितने भी परिणमन होते हैं, उन सबोंमें गुण सदा साथ २ रहते हैं । गुणोंका परस्पर वियोग

नहीं होता है। परन्तु पर्यायोंमें यह बात नहीं है। वे क्रमभावी हैं। उनका सदा साथ नहीं रहता है जो पर्यायें पूर्व समयमें हैं वे उत्तर समयमें नहीं रहती। इसीलिये पर्यायें क्रम भावी हैं। जो गुण पहले समयमें हैं वे ही दूसरे समयमें हैं इसलिये गुण सहभावी हैं।

फिर भी शंका-समाधान—

नैवमतिव्याप्तिः पर्यायेष्वपि गुणानुषंगत्वात् ।
पर्यायः पृथगिति चेत्सर्वं सर्वस्य दुर्निवारत्वात् ॥ १४१ ॥

अर्थ—यदि गुणोंको साथ रहनेसे सहभावी कहा गया है तो यह लक्षण पर्यायोंमें भी जाता है वे भी तो साथ ही साथ रहती हैं। इस लिये वे भी गुण कहलावेंगी। यह अति व्याप्ति दोष है, इस अतिव्याप्ति दोषको दूर करनेके लिये आचार्य कहते हैं कि पर्यायोंमें गुणोंका लक्षण नहीं आता है, क्योंकि पर्यायें साथ २ नहीं रहती हैं किन्तु भिन्न २ रहती हैं। फिर भी यदि लक्षणको दूषित ठहराया जायगा तो हरएक दूषण हरएकमें दुर्निवार हो जायगा अथवा पर्यायोंको भी अभिन्न माननेसे अवस्थाओंमें भेद न रहनेसे सभी सब रूप हो जायंगे अर्थात् फिर अवस्थाभेद न हो सकेगा।

अन्वय शब्दका अर्थ—

अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यद्वा ।
अयतीत्ययगत्यर्थाद्धातोरन्वर्थतोन्वयं द्रव्यम् ॥ १४२ ॥

अर्थ—अन्वय शब्दमें दो पद पड़े हुए हैं। एक अनु, दूसरा अय, अनु पदका यह अर्थ है कि बिना किसी रुकावट (अनर्गल) के प्रवाहरूप और अय पद गत्यर्थक अय धातुसे बना है, इसका अर्थ होता है कि गमन करे, चला जाय। अनु और अय-अन्वयका मिलकर अर्थ होता है कि जो अनर्गल रीतिसे बराबर प्रवाह रूपसे चला जाय ऐसा अनुगत अर्थ घटनेसे द्रव्य अन्वय कहलाता है।

द्रव्यके पर्याय वाचक शब्द—

सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु ।
अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥ १४३ ॥

अर्थ—सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ विधि ये सभी शब्द सामान्य रीतिसे एक द्रव्य रूप अर्थके वाचक हैं।

अयमन्वयोस्ति येषामन्वयिनस्ते भवन्ति गुणवाच्याः ।
अयमर्थो वस्तुत्वात् स्वतः सपक्षा न पर्ययापेक्षाः ॥ १४४ ॥

अर्थ—यह अन्वय जिनके है वे अन्वयी कहलाते हैं ऐसे अन्वयी गुण कहलाते हैं। इसका अर्थ यह है कि वास्तवमें गुण अपने ही पक्ष (अन्वयपूर्वक) में रहते हैं, पर्यायोंकी अपेक्षा नहीं रखते हैं।

भावार्थ—द्रव्य अनन्त गुणोंका समुदाय है । उन सम्पूर्ण गुणोंमें प्रति समय नयी नयी पर्यायें होती रहती हैं । उन समस्त पर्यायोंमें गुण बराबर साथ रहते हैं । हरएक गुणका अपनी समस्त अवस्थाओंमें अन्वय (सन्तति अथवा अनुवृत्ति) पाया जाता है । इस प्रकार अनन्त गुण समुदाय रूप द्रव्यमें अनन्त गुण ही अपनी समस्त अवस्थाओंमें पाये जाते हैं, इसलिये गुण अन्वयी कहलाते हैं । और इसीसे वे सदा स्वपक्ष अर्थात् स्वस्वरूपमें बने रहते हैं । पर्यायकी अपेक्षासे भिन्न २ नहीं हो जाते हैं ।

इस श्लोकमें ×'सपक्षा' पाठ है । सपक्ष कहते हैं अन्वायीको अर्थात् गुण व्यतिरेकी नहीं है जिसमें ' यह वही है ' ऐसी बुद्धि हो वह अन्वयी कहलाता है और जिसमें ऐसी बुद्धि न हो वह व्यतिरेकी कहलाता है । गुण अनेक हैं इसलिये नाना गुणोंकी अपेक्षासे यद्यपि गुण भी व्यतिरेकी हैं । परन्तु एक गुण अपनी समस्त अवस्थाओंमें रहता हुआ ' यह वही है ' इस बुद्धिको पैदा करता है इसलिये वह अन्वयी ही है, परन्तु पर्यायोंमें ' यह वह नहीं है ' ऐसी बुद्धि होती है इसलिये वे व्यतिरेकी हैं ।

शङ्काकार—

ननु च व्यतिरेकित्वं भवतु गुणानां सदन्वयत्वेपि ।
तदनेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकतः सतामिति चेत् ॥ १४५ ॥

अर्थ—गुणोंका सत्‌के साथ अन्वय होनेपर भी उनमें व्यतिरेकीपना भी होना चाहिये क्योंकि वे अनेक हैं । भाव व्यतिरेक भी पदार्थोंमें होता है ।

भावार्थ—अनेकोंमें ही व्यतिरेक घटता है, गुण भी अनेक हैं इसलिये उनमें भी व्यतिरेक घटना चाहिये । फिर गुणोंको अन्वयी ही क्यों कहा गया है ?

उत्तर—

तन्न यतोस्ति विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेकेप्येकः स्यादन्वयी गुणो नियमात् ॥१४६॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । क्योंकि अन्वय और व्यतिरेकमें विशेषता है व्यतिरेकी अनेक होते हैं । और एक गुण नियमसे अन्वयी होता है ।

भावार्थ—व्यतिरेक अनेकमें घटता है, और अन्वय प्रवाह रूपसे चले जानेवाले एकमें घटता है । पर्यायें अनेक हैं, उनमें तो व्यतिरेक ही घटता है । गुणोंमें नाना गुणोंकी अपेक्षा यद्यपि व्यतिरेक है तथापि प्रत्येक गुण अन्वयी ही है । यह वह नहीं है, ऐसा जो

× पुस्तकमें यद्यपि 'सपक्षा' ही पाठ है । परन्तु हमने 'स्वपक्षा' पाठको भी हृदयंगत कर, उसका भी अर्थ ऊपर लिख दिया है । 'सपक्षा' का अर्थ तो अनुकूल है ही । परन्तु 'स्वपक्षा' का भी अर्थ उसी भावका प्रगट करता है । विज्ञ पाठक विचारें ।

व्यतिरेक है, वह चार प्रकार है । देश व्यतिरेक, क्षेत्र व्यतिरेक, काल व्यतिरेक और भाव व्यतिरेक ।

देश व्यतिरेक इस प्रकार है—

स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स च चान्यः ।
सोपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः ॥१४७॥

अर्थ—अनन्त गुणोंके एक समयवर्ती अभिन्न पिण्डको देश कहते हैं । जो एक देश है वह दूसरा नहीं है । तथा जो दूसरा है, वह दूसरा ही है । वह पहला नहीं है । इसको देश व्यतिरेक कहते हैं ।

क्षेत्र व्यतिरेक इस प्रकार है—

अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम् ।
तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जितने क्षेत्रको व्यापकर (घेरकर) एक देश रहता है । वह क्षेत्र वही है, दूसरा नहीं है । और जो दूसरा क्षेत्र है, वह दूसरा ही है, पहला नहीं है । इसको क्षेत्र व्यतिरेक कहते हैं ।

काल व्यतिरेक इस प्रकार है—

अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साप्यन्या ।
भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेपि कालव्यतिरेकः ॥१४९॥

अर्थ—एक समयमें जो अवस्था होती है, वह वही है । दूसरी नहीं हो जाती । और जो दूसरे समयमें अवस्था है वह दूसरी ही है, पहली नहीं हो जाती, इसको काल-व्यतिरेक कहते हैं ।

भाव व्यतिरेक इस प्रकार है—

भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः ।
सोपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योपि भावव्यतिरेकः ॥१५०॥

अर्थ—जो एक गुणांश है वह वही है, दूसरा नहीं है । और जो दूसरा गुणांश है, वह दूसराही है, पहला नहीं है । इसको भाव व्यतिरेक कहते हैं ।

इस प्रकारके व्यतिरेकके न माननेमें दोष—

यदि पुनरेवं न स्यात्स्यादपि चैवं पुनः पुनः सैवः ।
एकांशदेशमात्रं सर्वं स्यात्तन्न बाधितत्वाद्वा ॥ १५१ ॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई व्यतिरेककी व्यवस्था न मानी जावे और जो पहले समयमें देशादिक हैं वे ही दूसरे समयमें माने जावें, भिन्न २ न माने जावें तो सम्पूर्ण वस्तु एक अंश

मात्र देशवाली ठहरेगी । और ऐसा मानना ठीक नहीं है एक अंश मात्र देशकी स्वीकारतामें पहले ही बाधा दी जा चुकी है ।

स्पष्टार्थ—

अयमर्थः पर्यायाः प्रत्येकं किल यथैकशः प्रोक्ताः ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेके न तथाऽनेकत्वतोपि सन्ति गुणाः ॥१५२॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा अर्थ इस प्रकार है कि एक २ समयमें क्रमसे भिन्न २ होनेवाली जो पर्यायें हैं वे ही व्यतिरेकी हैं, परन्तु गुण अनेक होनेपर भी उस प्रकार व्यतिरेकी नहीं हैं ।

भावार्थ—जो द्रव्यकी एक समयकी पर्याय है वह दूसरे समयमें नहीं रहती, किन्तु दूसरे समयमें दूसरी ही पर्याय होती है । इसलिये द्रव्यका एक समयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न है, और दूसरे समयका भिन्न है । जो पहले समयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है वही दूसरे समयका नहीं है इसलिये पर्यायें व्यतिरेकी हैं क्योंकि व्यतिरेकका लक्षण ही यही है कि यह वह नहीं है, पर्यायें अनेक हैं और वे भिन्न २ हैं इसलिये यह वह नहीं है ऐसा व्यतिरेक उनमें अच्छी तरह घटता है, परन्तु गुणोंमें यह बात नहीं है। यद्यपि गुण भी अनेक हैं तथापि उनमें (प्रत्येक गुणमें) यह वह नहीं है, ऐसा व्यतिरेक नहीं घटता । किन्तु प्रत्येक गुण अपनी अनादि–अनन्त अवस्थाओंमें पाया जाता है । इसलिये प्रत्येक गुणमें यह वही है, ऐसा अन्वय ही घटता है ।

गुणोंमें अन्वयीपना दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

किन्त्वेकशः स्वबुद्धौ ज्ञानं जीवः स्वसर्वसारेण ।
अथ चैकशः स्वबुद्धौ दृग्वा जीवः स्वसर्वसारेण ॥ १५३ ॥

अर्थ—किसीने अपनी बुद्धिमें सर्वस्वतासे ज्ञानको ही जीव समझा, और दूसरेने अपनी बुद्धिमें सर्वस्वतासे दर्शनको ही जीव समझा ।

भावार्थ—एकने ज्ञान गुणकी मुख्यतासे जीवको ग्रहण किया है और दूसरेने दर्शन गुणकी मुख्यतासे जीवको ग्रहण किया है, परन्तु दोनोंने उसी जीवको उतना ही ग्रहण किया है । यद्यपि ज्ञान गुण भिन्न है और दर्शन गुण भिन्न है, इसी प्रकार और भी जितने गुण हैं सभी भिन्न २ हैं, तथापि वे परस्पर अभिन्न हैं, इसी लिये जो यह कहता है कि " ज्ञान है सो जीव है " वह यद्यपि जीवको ज्ञानकी प्रधानतासे ही ग्रहण करता है, परन्तु जीव तो ज्ञान रूपी ही केवल नहीं है किन्तु दर्शनादि स्वरूप भी है । इस लिये गुणोंमें अनेकता होनेपर भी पर्यायोंकी तरह " यह वह नहीं है " ऐसा व्यतिरेक नहीं घटता इसी बातको आगेके श्लोकोंसे स्पष्ट करते हैं—

तत एव यथाऽनेके पर्यायाः सैष नेति लक्षणतः ।
व्यतिरेकिणश्च न गुणास्तथेति सोऽयं न लक्षणाभावात् ॥१५४॥

अर्थ—इस लिये जिस प्रकार अनेक पर्यायें " यह वह नहीं है " इस लक्षणसे व्यतिरेकी हैं, उस प्रकार अनेक भी गुण " यह वह नहीं है " इस लक्षणके न घटनेसे व्यतिरेकी नहीं हैं ।

किन्तु—

तल्लक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य एव तावांश्च ।
जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् स एव तावांश्च ॥१५५॥

अर्थ—गुणोंमें अन्वय लक्षण ही घटता है । जिस समय जीवको ज्ञान स्वरूप कहा जाता है, उस समय वह उतना ही है और जिस समय जीवको दर्शन स्वरूप कहा जाता है उस समय वह उतना ही है । ज्ञान अथवा दर्शन रूप जीवको कहनेसे उसमें ' यह वही है ' ऐसा ही प्रत्यभिज्ञान होता है ।

एष क्रमः सुखादिषु गुणेषु वाच्यो गुरूपदेशाद्वा ।
यो जानाति स पश्यति सुखमनुभवतीति स एव हेतोश्च ॥१५६॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंके कथनानुसार यही क्रम सुखादिक गुणोंमें भी लगा लेना चाहिये । जो जीव जानता है, वही देखता है और वही सुखका अनुभवन करता है । इन सब कार्योंमें " यह वही है " ऐसी ही प्रतीति होती है ।

अर्थ शब्दका अन्वर्थ—

अथ चोद्दिष्टं प्रागप्यर्था इति संज्ञया गुणा वाच्याः ।
तदपि न रूढिवशादिह किन्त्वर्थाद्यौगिकं तदेवेति ॥ १५७ ॥

अर्थ—यह पहले कहा जा चुका है कि अर्थ नाम गुणका है, वह भी केवल रूढ़िवशसे नहीं है किन्तु वह यौगिक रीतिसे है ।

अर्थका यौगिक अर्थ—

स्यादृगताविति धातुस्तद्रूपोयं निरुच्यते तज्ज्ञैः ।
अत्यर्थोनुगतार्थादनादिसन्तानरूपतोपि गुणः ॥ १५८ ॥

अर्थ—' ऋ ' एक धातु है, गमन करना उसका अर्थ है । उसी धातुका यह ' अर्थ ' शब्द बना है ऐसा व्याकरणके जानकार कहते हैं । जो गमन करे उसे अर्थ कहते हैं । गुण अनादि सन्तति रूपसे साथ २ चले जाते हैं । इसलिये गुणका अर्थ नाम अन्वर्थक (यथार्थ) ही है ।

सारांश—

अयमर्थः सन्ति गुणा अपि किल परिणामिनः स्वतः सिद्धाः।
नित्यानित्यत्वादप्युत्पादादित्रयात्मकाः सम्यक् ॥ १५९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश यह है कि गुण भी नियमसे स्वतः सिद्ध परिणामी हैं इसलिये वे कथंचित् नित्य भी हैं और कथंचित् अनित्य भी हैं, और इसीसे उनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह घटते हैं।

गुणोंमें भेद—

अस्ति विशेषस्तेषां सति च समाने यथा गुणत्वेपि ।
साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति ॥ १६० ॥

अर्थ—यद्यपि गुणत्व सामान्यकी अपेक्षासे सभी गुणोंमें समानता है, तथापि उनमें विशेषता भी है। कितने ही उनमें साधारण गुण हैं, और कितने ही असाधारण गुण हैं।

साधारण और असाधारणका अर्थ—

साधारणास्तु यतरे ततरे नाम्ना गुणा हि सामान्याः ।
ते चाऽसाधारणका यतरे ततरे गुणा विशेषाख्याः ॥ १६१ ॥

अर्थ—जितने साधारण गुण हैं वे सामान्य गुण कहलाते हैं, और जितने असाधारण गुण हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं।

भावार्थ—जो गुण सामान्य रीतिसे हरएक द्रव्यमें पाये जांय, उन्हें तो सामान्य अथवा साधारण गुण कहते हैं। और जो गुण खास २ द्रव्यमें ही पाये जांय उन्हें विशेष अथवा असाधारण गुण कहते हैं। अर्थात् जो सब द्रव्योंमें रहें वे सामान्य और जो किसी विशेष द्रव्यमें रहें वे विशेष कहलाते हैं।

ऐसा क्यों कहा जाता है ?

तेषामिह वक्तव्ये हेतुः साधारणैर्गुणैर्यस्मात् ।
द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरैः ॥ १६२ ॥

अर्थ—ऐसा क्यों कहाजाता है ? इसका कारण यह है कि साधारण गुणोंसे तो द्रव्य सामान्य सिद्ध किया जाता है, और विशेष गुणोंसे द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है।

उदाहरण—

संदृष्टिः सदिति गुणः स यथा द्रव्यत्वसाधको भवति ।
अथ च ज्ञानं गुण इति द्रव्यविशेषस्य साधको भवति ॥१६३॥

अर्थ—उदाहरण इस प्रकार है कि सत् (अस्तित्व) यह गुण सामान्य द्रव्यका साधक है, और ज्ञान गुण द्रव्य विशेष (जीव) का साधक है।

भावार्थ—सत् गुण सभी द्रव्योंमें समान रीतिसे पाया जाता है इसलिये सभी द्रव्य सत् कहलाते हैं, परन्तु ज्ञान गुण सभी द्रव्योंमें नहीं पाया जाता किन्तु जीवमें ही पाया जाता है इसलिये ज्ञान विशेष गुण है और सत् सामान्य गुण है। इसी प्रकार सभी द्रव्योंमें सामान्य गुण समान हैं, और विशेष गुण जुदे जुदे हैं।

पर्यायका लक्षण कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तं हि गुणानामिह लक्ष्यं तल्लक्षणं यथाऽऽगमतः।
सम्प्रति पर्यायाणां लक्ष्यं तल्लक्षणं च वक्ष्यामः॥ १६४॥

अर्थ—इस ग्रन्थमें आगमके अनुसार गुणोंका लक्ष्य और लक्षण तो कहा गया, अब पर्यायोंका लक्ष्य और लक्षण कहते हैं।

पर्यायका लक्षण—

क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथञ्चिच्च॥ १६५॥

अर्थ—पर्यायें क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पादव्ययस्वरूप और कथंचित् ध्रौव्य स्वरूप होती हैं।

तत्र व्यतिरेकित्वं प्रायः प्रागेव लक्षितं सम्यक्।
अवशिष्टविशेषमितः क्रमतः संलक्ष्यते यथाशक्ति॥ १६६॥

अर्थ—पर्यायोंका व्यतिरेकीपना तो गुणोंके कथनमें सिद्ध किया जा चुका है। अब बाकीके लक्षण क्रमसे यथाशक्ति यहांपर कहे जाते हैं।

क्रमवर्तित्वका लक्षण—

अस्त्यत्र य प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः॥ १६७॥
वर्तन्ते ते नयतो भवितुं शीलास्तथा स्वरूपेण।
यदि वा स एव वर्ती येषां क्रमवर्तिनस्त एवार्थात्॥ १६८॥

अर्थ—पादविक्षेपका अर्थ होता है क्रमसे गमन करना अथवा क्रमसे होना, इसी अर्थमें क्रम धातु प्रसिद्ध है। उसीका क्रम शब्द बना है। यह शब्द अपने अर्थका उल्लंघन नहीं करता है। क्रमसे जो वर्तन करे अर्थात् क्रमसे जो होवे उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं अथवा क्रमस्वरूपसे होनेका जिनका स्वभाव है उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। अथवा क्रम ही जिनमें होता रहे उन्हें ही अनुगत-अर्थ होनेसे क्रमवर्ती कहते हैं ऐसी क्रमवर्ती पर्यायें होती हैं।

इसीका खुलासा अर्थ—

अयमर्थः प्रागेकं जातं समुच्छिद्य जायते चैकः ।
अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योऽप्युत्पद्यते यथा देशः ॥ १६९ ॥

अर्थ—पर्यायें क्रमवर्ती हैं, इसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार पहले एक पर्याय हुई, फिर उसका नाश होनेपर दूसरी हुई, उस दूसरीका भी नाश होनेपर तीसरी हुई इसी प्रकार पूर्व पूर्व पर्यायोंके नाश होनेपर जो उत्तरोत्तर पर्यायें क्रमसे होती जाती हैं इसीका नाम क्रमवर्ती है। अनन्त गुणोंके एक समयवर्ती अभिन्न पिण्डको देश कहते हैं। एक समयका देश दूसरे समयसे भिन्न है। यहां पर देशसे पर्यायका ग्रहण होता है।

शंकाकार—

ननु यद्यस्ति स भेदः शब्दकृतो भवतु वा तदेकार्थात् ।
व्यतिरेकक्रमयोरिह को भेदः पारमार्थिकस्त्विति चेत् ॥१७०॥

अर्थ—यदि व्यतिरेकीपन और क्रमवर्तीपनमें शब्द भेद ही माना जाय तब तो ठीक है। क्योंकि दोनोंका एक ही अर्थ है। यदि इन दोनोंमें अर्थ भेद भी माना जाता है तब बतलाना चाहिये कि वास्तवमें इन दोनोंमें क्या भेद है?

उत्तर—

तन्न यतोस्ति विशेषः सदंशधर्मे द्वयोः समानेपि ।
स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्ययाः सूक्ष्माः ॥ १७१ ॥

अर्थ—शंकाकारका यह कहना "कि व्यतिरेकी और क्रमवती दोनोंका एक ही अर्थ है" ठीक नहीं है। क्योंकि द्रव्यके पूर्व समय वर्ती और उत्तर समय वर्ती अंशोंमें समानता होने पर भी विशेषता है। जिस प्रकार स्थूल पर्यायोंमें सूक्ष्म पर्यायें अन्तर्लीन (गर्भित) हो जाती हैं परन्तु लक्षण भेदसे भिन्न हैं, उसी प्रकार व्यतिरेकी और क्रमवर्ती भी भिन्न हैं।

भावार्थ—द्रव्यका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है उसके दो भेद हैं। एक समयवर्ती परिणमनकी अपेक्षा द्वितीय समयवर्ती परिणमनमें कुछ समानता भी रहती है और कुछ असमानता भी रहती है। दृष्टान्तके लिये बालकको ही ले लीजिये। बालककी हरएक समयमें अवस्थायें बदलती रहती हैं। यदि ऐसा न माना जावे तो एक वर्ष बाद बालकमें पुष्टता और लम्बाई नहीं आना चाहिये। और वह एक दिनमें नहीं आजाती है प्रति समय बढ़ती रहती है परन्तु हमारी दृष्टिमें बालककी जो पहले समयकी अवस्था है वही दूसरे समयमें दीखती है, इसका कारण वही सदृश परिणमन है। जो असदृश-अंश है वह सूक्ष्म है इन्द्रियोंद्वारा उसका ग्रहण नहीं होता है सदृश-परिणमन अनेक समयोंमें एकसा है इसीलिये कहा जाता है कि स्थूल पर्याय चिरस्थायी है और इसी अपेक्षासे पर्यायको कथंचित् ध्रौव्य स्वरूप कहा है।

स्थूल पर्यायोंमें यद्यपि सूक्ष्म पर्यायें गर्भित हो जाती हैं तथापि लक्षण भेदसे वे भिन्न २ हैं, उसी प्रकार व्यतिरेक और क्रममें भी लक्षण भेदसे भेद है सोई आगे कहा जाता है—

व्यतिरेकका स्वरूप—

तत्र व्यतिरेकः स्यात् परस्पराभावलक्षणेन यथा।
अंशविभागः पृथगिति सदृशांशानां सतामेव ॥ १७२ ॥
तस्माद्व्यतिरेकित्वं तस्य *स्यात् स्थूलपर्ययः स्थूलः।
सोऽयं भवति न सोयं यस्मादेतावतैव संसिद्धिः ॥ १७३ ॥

अर्थ—समान अंशोंमें परिणमन होनेवाले पदार्थोंका जो परस्परमें अभावको लिये हुए भिन्न २ अंशोंका विभाग किया जाता है, उसीका नाम व्यतिरेक है। जो एक समयवर्ती पर्याय है वह दूसरे समयवर्ती नहीं है। बस इसीसे व्यतिरेककी भले प्रकार सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—एक समयवर्ती पर्यायका द्वितीय समयवर्ती पर्यायमें अभाव लाना, इसीका नाम व्यतिरेक है। यद्यपि स्थूल पर्यायोंका समान रूपसे परिणमन होता है, तथापि एक समयवर्ती परिणमन (आकार) दूसरे समयवर्ती परिणमनसे भिन्न है। दूसरे समयवर्ती परिणमन पहले समयवर्ती परिणमनसे भिन्न है। इसी प्रकार भिन्न २ समयोंमें होनेवाले भिन्न २ आकारोंमें परस्पर अभाव घटित करना इसीका नाम व्यतिरेक है।

क्रमका स्वरूप—

विष्कंभःक्रम इति वा क्रमः प्रवाहस्य कारणं तस्य।
न विवक्षितमिह किञ्चित्तत्र तथात्वं किमन्यथात्वं वा ॥१७४॥
क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च।
स भवति भवति न सोऽयं भवति तथाथ च तथा न भवतीति १७५

अर्थ—जो विस्तार युक्त हो वह क्रम कहलाता है, क्रम प्रवाहका कारण है, क्रममें यह नहीं विवक्षित है कि यह वह है अथवा अन्य है। क्रमवर्तीपना व्यतिरेकके पहले होता है और नियमसे व्यतिरेक सहित होता है। एक पर्यायके पीछे दूसरी, दूसरीके पीछे तीसरी, तीसरीके पीछे चौथी, इस प्रकार बराबरके प्रवाहको क्रम कहते हैं और 'यह वह नहीं है' इस प्रकार परस्परमें आनेवाले अभावको व्यतिरेक कहते हैं।

भावार्थ—एकके पीछे दूसरी, तीसरी, चौथी इस प्रकार बराबर होनेवाले प्रवाहको क्रम कहते हैं। क्रममें यह बात नहीं विवक्षित है कि "यह वह नहीं है" और "वह नहीं है" यह विवक्षा व्यतिरेकमें है। इसीलिये क्रम व्यतिरेकके पहले होता है, क्रम व्यतिरेकका कारण है,

* "यथा स्थूलपर्यये सूक्ष्मः" संशोधित पुस्तकमें ऐसा पाठ है।

व्यतिरेक उसका कार्य है, इसलिये क्रम और व्यतिरेक एक नहीं हैं किन्तु इन दोनोंमें कार्य कारण भाव है ।

शंकाकार—

ननु तत्र किं प्रमाणं क्रमस्य साध्ये तदन्यथात्वे हि ।
सोऽयं यः प्राक् स तथा यथेति यः प्राक्तु निश्चयादिति चेत् ॥१७६॥

अर्थ—क्रम और व्यतिरेकके सिद्ध करनेमें क्या प्रमाण है, क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि जो पहले था सो ही यह है अथवा जैसा पहले था वैसा ही है ?

उत्तर—

×तन्न यतः प्रत्यक्षादनुभवविषयात्तथानुमानाद्वा ।
स तथेति च नित्यस्य न तथेत्यनित्यस्य प्रतीतत्वात् ॥ १७७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रत्यक्ष प्रमाणसे, अपने अनुभवसे अथवा अनुमान प्रमाणसे वह उसी प्रकार है, इस प्रकार नित्यकी और "वह उस प्रकार नहीं है" इस प्रकार अनित्यकी भी प्रतीति होती है ।

इसीका खुलासा अर्थ—

अयमर्थः परिणामि द्रव्यं नियमाद्यथा स्वतः सिद्धम् ।
प्रतिसमयं परिणमते पुनः पुनर्वा यथा प्रदीपशिखा ॥ १७८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यह अर्थ है कि द्रव्य जिस प्रकार स्वतः सिद्ध है, उसी प्रकार नियमसे परिणामी भी है । जिस प्रकार दीपककी शिखा (लौ) बार २ परिणमन करती है, उसी प्रकार प्रतिसमय द्रव्य भी परिणमन करता है ।

इदमस्ति पूर्वपूर्वभावविनाशेन नश्यतांशस्य ।
यदि वा तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन जायमानस्य ॥ १७९ ॥

अर्थ—पहले पहले भावका विनाश होनेसे किसी अंशका (पर्यायका) नाश होनेसे और नवीन २ भावके उत्पन्न होनेसे किसी अंश (पर्याय) के पैदा होनेसे यह परिणमन होता है ।

दृष्टान्त—

तदिदं यथा स जीवो देवो मनुजाद्भवन्नथाप्यन्यः ।
कथमन्यथात्वभावं न लभेत स गोरसोपि नयात् ॥ १८० ॥

अर्थ—वह पूर्व २ भावका विनाश और उत्तरोत्तर भावका उत्पाद इस प्रकार होता है-जैसे जो जीव पहले मनुष्य पर्यायमें था, वही जीव मरकर देव पर्यायमें चला गया ।

× छपी पुस्तकमें यह श्लोक १७९ वाँ है । परन्तु संशोधित पुस्तकमें १७७ वाँ है । इसी क्रमसे अर्थ भी ठीक २ घटित होता है ।

मनुष्य-जीवसे देव-जीव कथंचित् भिन्न है। जिस प्रकार दूधसे दही कथंचित् अन्यथाभावको प्राप्त होता है उसी प्रकार यह भी कथंचित् अन्यथा भावको क्यों नहीं प्राप्त होगा? अवश्य ही होगा।

शंकाकार—

ननु चैवं सत्यसदपि किञ्चिद्वा जायते सदेव यथा।
सदपि विनश्यत्यसदिव सदृशासदृशत्वदर्शनादितिचेत् ॥१८१॥
सदृशोत्पादो हि यथा स्यादुष्णः परिणमन् यथा वन्हिः।
स्यादित्यसदृशजन्मा हरितात्पीतं यथा रसालफलम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—इस प्रकारकी भिन्नता स्वीकार करनेसे मालूम होता है कि सत्की तरह कुछ असत् भी पैदा हो जाता है और असत्की तरह सत् पदार्थ भी विनष्ट हो जाता है, समानता और असमानताके देखनेसे ऐसा प्रतीत भी होता है। किसी किसीका समान उत्पाद होता है और किसी किसीका असमान उत्पाद होता है। अग्निका जो उष्ण रूप परिणमन होता है, वह उसका समान उत्पाद है और जो कच्चा आम पकनेपर हरेसे पीला हो जाता है वह असमान (विजातीय) उत्पाद है?

भावार्थ—वस्तुके प्रतिसमय होनेवाले परिणमनको देखकर वस्तुको ही उत्पन्न और विनष्ट समझनेवालोंकी यह शंका है।

उत्तर—

नैवं यतः स्वभावादसतो जन्म न सतो विनाशो वा।
उत्पादादित्रयमपि भवति च भावेन भावतया ॥ १८३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त जो शङ्का की गई है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि यह एक स्वाभाविक बात है कि न तो असत् पदार्थका जन्म होता है और न सत् पदार्थका विनाश ही होता है। जो उत्पाद, व्यय ध्रौव्य होते हैं वे भी वस्तुके एक भावसे भावान्तर रूप हैं।

भावार्थ—जो पदार्थ है ही नहीं वह तो कहींसे आ नहीं सक्ता, और जो उपस्थित है वह कहीं जा नहीं सक्ता, इसलिये न तो नवीन पदार्थकी उत्पत्ति ही होती हैं और न सत् पदार्थका विनाश ही होता है, किन्तु हरएक वस्तुमें प्रतिसमय भावसे भावान्तर होता रहता है। भावसे भावान्तर क्या है? इसीका खुलासा नीचे किया जाता है—

अयमर्थः पूर्वं यो भावः सोप्युत्तरत्र भावश्च।
भूत्वा भवनं भावो नष्टोत्पन्नो न भाव इह कश्चित् ॥ १८४ ॥

अर्थ—इसका यह अर्थ है कि पहले जो भाव था वही उत्तर भाव रूप हो जाता है। होकर होनेका नाम ही भाव है। नष्ट और उत्पन्न कोई भाव नहीं होता है।

भावार्थ–आकारका नाम ही भाव है । वस्तुका एक आकार बदलकर दूसरे आकार रूप हो जाय, इसीका नाम भावसे भावान्तर कहलाता है । हरएक वस्तुमें प्रतिक्षण इसी प्रकार एक आकारसे आकारान्तर होता रहता है । किसी नवीन पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती है और न किसी सत् पदार्थका विनाश ही होता है ।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः परिणामी जलप्रवाहो य एव पूर्वस्मिन् ।
उत्तरकालेपि तथा जलप्रवाह स एव परिणामी ॥ १८५ ॥

अर्थ–दृष्टान्तके लिये जलका प्रवाह है । जो जलका प्रवाह पहले समयमें परिणमन करता है वही जलका प्रवाह दूसरे समयमें परिणमन करता है ।

यत्तत्र विसदृशत्वं जातेरनतिक्रमात् क्रमादेव ।
अवगाहनगुणयोगाद्देशांशानां सतामेव ॥ १८६ ॥

अर्थ–यह जो द्रव्यकी एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें भिन्नता (असमानता) दीखती है वह अपने स्वरूपको नहीं छोड़कर क्रमसे होनेवाले देशांशोंके अवगाहन गुणके निमित्तसे ही दीखती है ।

भावार्थ—द्रव्यके विकारको व्यञ्जनपर्याय कहते हैं । व्यञ्जन पर्याय भी प्रति समय भिन्न २ होती रहती है । एक समयकी व्यञ्जन पर्यायसे दूसरे समयकी व्यञ्जन पर्यायमें समानता और असमानता दोनों ही होती हैं । असमानतामें भी द्रव्यके स्वरूपकी च्युति (नाश) नहीं है किन्तु जो द्रव्यके देशांश (आकार) पहले किसी दूसरे क्षेत्रको घेरे हुए थे, वे ही देशांश अब दूसरे क्षेत्रको घेरने लगे । बस यही विभिन्नता है । और किसी प्रकारकी विभिन्नता नहीं है ।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तो जीवस्य लोकासंख्यातमात्रदेशाः स्युः ।
हानिर्वृद्धिस्तेषामवगाहनविशेषतो न तु द्रव्यात् ॥ १८७ ॥

अर्थ—दृष्टान्त इस प्रकार है । एक जीवके असंख्यात लोक प्रमाण प्रदेश होते हैं । उनकी हानि अथवा वृद्धि केवल अवगाहनकी विशेषतासे होती है द्रव्यकी अपेक्षासे नहीं होती ।

भावार्थ—जीवके जितने भी (असंख्यात) प्रदेश हैं वे सदा उतने ही रहते हैं, न तो उनमेंसे कभी कुछ प्रदेश घटते हैं और न कभी कुछ प्रदेश बढ़ते हैं । किन्तु जिस शरीरमें जितना छोटा या बड़ा क्षेत्र मिलता है, उसीमें संकुचित अथवा विस्तृत रीतिसे समा जाते हैं । चीटींके शरीरमें भी वही असंख्यात प्रदेशवाला आत्मा है और हाथीके शरीरमें भी वही असंख्यात प्रदेशवाला आत्मा है । आत्मा दोनों स्थानोंमें उतना ही है जितना कि वह है, केवल एक क्षेत्रसे

क्षेत्रान्तर रूप हो गया है। क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर ग्रहण करनेकी अपेक्षासे ही आत्माके प्रदेशोंकी हानि वृद्धि समझी जाती है। वास्तवमें उसमें किसी प्रकारकी हानि अथवा वृद्धि नहीं होती है।

दूसरा दृष्टान्त—

यदि वा प्रदीपरोचिर्यथा प्रमाणादवस्थितं चापि।
अतिरिक्तं न्यूनं वा गृहभाजनविशेषतोऽवगाहाच्च ॥ १८८ ॥

अर्थ—अथवा दूसरा दृष्टान्त दीपकका है। दीपककी किरणें उतनी ही हैं जितनी कि वे हैं, परन्तु उनमें अधिकता और न्यूनता जो आती है, वह केवल घर आदि आवरककी विशेषतासे आती है और अवगाहनकी विशेषतासे भी आती है।

भावार्थ—दीपकको जैसा भी छोटा बड़ा आवरक (जिसमें दीपक रक्खा हो वह पात्र) मिलेगा दीपकका प्रकाश उसी क्षेत्रमें पर्याप्त रहेगा।

गुणोंके अवगाहनमें दृष्टान्त—

अंशानामवगाहे दृष्टान्तः स्वांशसंस्थितं ज्ञानम्।
अतिरिक्तं न्यूनं वा ज्ञेयाकृति तन्मयान्न तु स्वांशैः ॥१८९॥

अर्थ—अंशोंके अवगाहनमें यह दृष्टान्त है कि ज्ञान-गुण जितना भी है वह अपने अंशों (अविभाग प्रतिच्छेदों) में स्थित है। वह जो कभी कमती कभी बढ़ती होता है, वह केवल ज्ञेय पदार्थका आकार धारण करनेसे होता है। जितना बड़ा ज्ञेय है, उतना ही बड़ा ज्ञानका आकार हो जाता है। वास्तवमें ज्ञान गुणके अंशोंमें न्यूनाधिकता नहीं होती।

दृष्टान्त—

तदिदं यथा हि संविद्घटं परिच्छिन्ददिहैव घटमात्रम्।
यदि वा सर्वं लोकं स्वयमवगच्छच्च लोकमात्रं स्यात् ॥१९०॥

अर्थ—दृष्टान्त इस प्रकार है कि जिस समय ज्ञान घटको जान रहा है, उस समय वह घट मात्र है, अथवा जिस समय वह सम्पूर्ण लोकको स्वयं जान रहा है, उस समय वह लोक मात्र है।

भावार्थ—घटको जानते हुए समग्र ज्ञान घटाकारमें ही परिणत होकर उतना ही हो जाता है, और समग्र लोकको जानते हुए वह लोक प्रमाण हो जाता है।

वास्तवमें वह घटता बढ़ता नहीं है—

न घटाकारेऽपि चितः शेषांशानां निरन्वयो नाशः।
लोकाकारेऽपि चितः नियतांशानां न चाऽसदुत्पत्तिः ॥ १९१ ॥

अर्थ—घटाकार होने पर ज्ञानके शेष अंशोंका सर्वथा नाश नहीं होता है और लोकाकार होनेपर नियमित अंशोंके अतिरिक्त उसके नवीन अंशोंकी उत्पत्ति भी नहीं होती है।

किन्त्वस्ति च कोपि गुणोऽनिर्वचनीयः स्वतः सिद्धः ।
नाम्ना चाऽगुरुलघुरिति गुरुलक्ष्यः स्वानुभूतिलक्ष्यो वा ॥ १९२॥

अर्थ–किन्तु उन गुणोंमें एक अगुरुलघु नामक गुण है, वह वचनोंके अगम्य है, स्वतः सिद्ध है, उसका ज्ञान गुरु (सर्वज्ञ अथवा आचार्य) के उपदेशसे होता है अथवा स्वानुभूति-प्रत्यक्षसे होता है ।

भावार्थ–अगुरुलघु गुण हरएक पदार्थमें जुदा२ रहता है, इसके निमित्तसे किसी भी शक्तिका कभी भी नाश नहीं होता है । जो शक्ति जिस स्वरूपको लिये हुए है, वह सदा उसी स्वरूपमें रहती है, इसलिये ज्ञान गुणमें तरतमता होनेपर भी उसके अंशोंका विनाश नहीं होता है ।

शङ्काकार—

ननु चैवं सत्यर्थादुत्पादादित्रयं न संभवति ।
अपि नोपादानं किल करणं न फलं तदनन्यात् ॥ १९३ ॥
अपिच गुणः स्वांशानामपकर्षे दुर्बलः कथं न स्यात् ।
उत्कर्षे बलवानिति दोषोऽयं दुर्जयो महानिति चेत् ॥ १९४ ॥

अर्थ–" किसी शक्तिका कभी नाश भी नहीं होता है और न नवीन कुछ उत्पत्ति ही होती है । यदि ऐसा माना जावे तो गुणोंमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं घट सकते हैं , और न कोई किसीका कारण ही बन सक्ता है, न फल ही कुछ हो सक्ता है, क्योंकि उपर्युक्त कथनसे तुम गुणोंको सदा नित्य ही मान चुके हो ।

दूसरी बात यह है कि हरएक गुणके अंशोंकी कभी न्यूनता भी प्रतीत होती है ऐसी अवस्थामें गुण दुर्बल (सूक्ष्म–पतला) क्यों नहीं हो जाता ? और कभी गुणमें अधिकता भी प्रतीत होती है, ऐसी अवस्थामें वह बलवान (सशक्त–मोटा) क्यों नहीं हो जाता ? यह एक महान् दोष है । इसका निराकरण कुछ कठिन है ?

उत्तर—

तन्न यतः परिणामि द्रव्यं पूर्वं निरूपितं सम्यक् ।
उत्पादादित्रयमपि सुघटं नित्येऽथ नाप्यनित्येऽर्थे ॥ १९५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त जो शंका की गई है वह निर्मूल (ठीक नहीं) है क्योंकि यह पहले अच्छी तरह कहा जा चुका है कि द्रव्य परिणमन शील है, इसलिये नित्य पदार्थमें ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह घटते हैं, अनित्य पदार्थमें नहीं घटते ।

दृष्टान्त—

जाम्बूनदे यथा सति जायन्ते कुण्डलादयो भावाः ।
अथ सत्सु तेषु नियमादुत्पादादित्रयं भवत्येव ॥ १९६ ॥

अर्थ—सोनेकी सत्ता माननेपर ही उसमें कुण्डलादिक भाव होते हैं और उन कुण्डलादिक भावोंके होनेपर उसमें उत्पादादिक घटते ही हैं।

भावार्थ—जिस समय सोनेको ठोंक पीटकर कुण्डलाकार कर दिया जाता है उस समय सोनेमें पहली पाँसे रूप पर्यायका विनाश होकर कुण्डल रूप पर्यायकी उत्पत्ति होती है, सोना दोनों ही अवस्थामें है इसलिये सोनेमें उत्पादादित्रय तो घट जाते हैं परन्तु सोनेके प्रदेशोंमें वास्तवमें किसी प्रकारकी नवीन उत्पत्ति अथवा नाश नहीं होता है, केवल क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर होता है। यदि सोनेको अनित्य ही मान लिया जाय तो पाँसेके नाश होनेपर कुण्डल किसका बने ? इसलिये नित्य पदार्थमें ही उत्पादादिक तीनों घटते हैं, अनित्यमें नहीं।

अनया प्रक्रियया किल बोद्धव्यं कारणं फलं चैव।
यस्मादेवास्य सतस्तद्द्वयमपि भवत्येतत् ॥ १९७ ॥

अर्थ—इसी ऊपर कही हुई प्रक्रिया (रीति) के अनुसार कारण और फल भी उसी कथंचित् नित्य पदार्थके घटते हैं। क्योंकि ये दोनों ही सत् पदार्थके ही हो सकते हैं।

आस्तामसदुत्पादः सतो विनाशस्तदन्वयादेशात्।
स्थूलत्वं च कृशत्वं न गुणस्य च निजप्रमाणत्वात् ॥ १९८ ॥

अर्थ—अविच्छिन्न सन्तति देखनेसे गुणोंमें असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश तो दूर रहो। परन्तु उनमें अपने प्रमाणसे स्थूलता और कृशता (दुर्बलता) भी नहीं होती।

भावार्थ—ऊपर दो प्रकारकी शंकायें की गईं थीं। उन दोनोंका ही उत्तर दिया जा चुका समान अविभाग प्रतिच्छेद होनेपर भी ज्ञान कभी घटाकार होता है, कभी लोकाकार होता है, वहां तो केवल परिणमनमें आकार भेद है, परन्तु जहां पर ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंमें न्यूनता अथवा वृद्धि होती है, वहां भी ज्ञानके अंशोंका नाश अथवा नवीन उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु ज्ञानावरण कर्मके निमित्तसे ज्ञानके अंशोंमें उद्भूति और अनुद्भूति (व्यक्तता और अव्यक्तता) होती रहती है। अधिक अंशोंके दब जानेसे वही ज्ञान दुर्बल कहा जाता है और अधिक अंशोंके प्रगट हो जानेसे वही ज्ञान सबल कहा जाता है। इसके सिवा ज्ञानमें और किसी प्रकारकी सबलता या निर्बलता नहीं आती है।

उत्पादादिके कहनेकी प्रतिज्ञा—

इति पर्यायाणामिह लक्षणमुक्तं यथास्थितं चाथ।
उत्पादादित्रयमपि प्रत्येकं लक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १९९ ॥

अर्थ—इस प्रकार पर्यायोंका लक्षण, जैसा कुछ था कहा गया। अब उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका भिन्न २ स्वरूप यथाशक्ति कहा जाता है।

उत्पादस्थितिभङ्गाः पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः ।
ते पर्याया द्रव्यं तस्माद्द्रव्यं हि *तत्त्रितयम् ॥ २०० ॥

अर्थ—उत्पाद, स्थिति, भङ्ग, ये तीनों ही पर्यायोंके होते हैं, पदार्थके नहीं होते, और उन पर्यायोंका समूह ही द्रव्य कहलाता है। इस लिये वे तीनों मिल कर द्रव्य कहलाते हैं।

भावार्थ—यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पदार्थके माने जावें तो पदार्थका ही नाश और उत्पाद होने लगेगा, परन्तु यह पहले कहा जा चुका है, कि न तो किसी पदार्थका नाश होता है, और न किसी पदार्थकी नवीन उत्पत्ति ही होती है इसलिये यह तीनों पदार्थकी अवस्थाओंके भेद हैं, और वे अवस्थाएं मिलकर ही द्रव्य कहलाती हैं, इस लिये तीनोंका समुदाय ही द्रव्यका पूर्ण स्वरूप है।

उत्पादका स्वरूप—

तत्रोत्पादोऽवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य तस्य सतः ।
सदसद्भावनिबद्धं तदतद्भावत्ववन्नयादेशात् ॥ २०१ ॥

अर्थ—उन तीनोंमें परिणमन शील द्रव्यकी नवीन अवस्थाको उत्पाद कहते हैं। यह उत्पाद भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सत् और असत् भावसे विशिष्ट है।

व्ययका स्वरूप—

अपि च व्ययोपि न सतो व्ययोप्यवस्थाव्ययः सतस्तस्य ।
प्रध्वंसाभावः सच परिणामित्वात्सतोप्यवश्यं स्यात् ॥ २०२ ॥

अर्थ—तथा व्यय भी पदार्थका नहीं होता है, किन्तु उसी परिणमन शील द्रव्यकी अवस्थाका व्यय होता है। इसीको ÷प्रध्वंसाभाव कहते हैं। यह प्रध्वंसाभाव परिणमनशील द्रव्यके अवश्य होता है।

---

* पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।१॥
अष्टसहस्री

जिसके दूध पीनेका व्रत है वह दही नहीं खाता है, जिसके दही खानेका व्रत है वह दूध नहीं पीता है, जिसके अगोरस व्रत है वह दूध दही, दोनोंको नहीं ग्रहण करता है। इसलिये तत्त्व त्रयात्मक है।

÷ नैयायिकोंने जिस प्रकार तुच्छाभावको स्वतन्त्र पदार्थ माना है उस प्रकार जैन सिद्धान्त अभावको स्वतन्त्र-तुच्छरूप नहीं मानता। जैन मतमें वर्तमान समय सम्बन्धी पर्यायका वर्तमान समयसे पहले अभावको प्रागभाव कहते हैं। तथा उसीके वर्तमान समयसे पीछे अभावको प्रध्वंसाभाव कहते हैं। द्रव्यकी एक पर्यायके सजातीय अन्य पर्यायमें अभावको अन्योन्याभाव कहते हैं। और उसीके विजातीय पर्यायमें अभावको अत्यन्ताभाव कहते हैं। यह चारों प्रकारका ही अभाव पर्यायरूप है।

ध्रौव्यका स्वरूप—

ध्रौव्यं सतः कथंचित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः ।
उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात् ॥ २०३ ॥

अर्थ—ध्रौव्य भी कथंचित् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे पदार्थके होता है। पर्यायदृष्टिको छोड़कर केवल पदार्थका ध्रौव्य नहीं होता है, किन्तु उत्पाद और व्ययकी तरह वह भी एक अंश स्वरूप है। सर्वांश रूप नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्पाद और व्यय द्रव्यदृष्टिसे नहीं होते हैं उस प्रकार ध्रौव्य भी द्रव्य दृष्टिसे नहीं होता है किन्तु वह भी पर्याय दृष्टिसे होता है, इसीलिये उसको भी वस्तुका एक अंशरूप कह गया है। यदि तीनोंको द्रव्यदृष्टिसे ही माना जाय तो वस्तु सर्वथा अनित्य और सर्वथा नित्य ठहरेगी।

ध्रौव्यका ही स्वरूपान्तर—

तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः ।
यः पूर्वं परिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणामः ॥२०४॥

अर्थ—ध्रौव्यका लक्षण " तद्भावाव्ययम् " यह भी कहा गया है, उसका भी यही उत्तम अर्थ है कि वस्तुके भावका नाश नहीं होता, अर्थात् जो वस्तुका पहले परिणाम है, वही परिणाम पीछे भी होता है।

दृष्टान्त—

पुष्पस्य यथा गन्धः परिणामः परिणमँश्च गन्धगुणः ।
नापरिणामी गन्धो न च निर्गन्धाद्धि गन्धवत्पुष्पम् ॥ २०५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पुष्पका गन्ध परिणाम है, और गन्ध गुण भी परिणामी है, वह भी प्रतिक्षण परिणमन करता है, वह अपरिणामी नहीं है, परन्तु ऐसा नहीं है कि पहले पुष्प गन्ध रहित हो और पीछे गन्ध सहित हुआ हो।

भावार्थ—गन्ध गुण परिणमन शील होनेपर भी वह पुष्पमें सदा पाया जाता है, उसका कभी पुष्पमें अभाव नहीं है, बस इसीका नाम ध्रौव्य है, जो गन्धपरिणाम पहले था वही पीछे रहता है।

नित्य और अनित्यका विचार—

तत्रानित्यनिदानं ध्वंसोत्पादद्वयं सतस्तस्य ।
नित्यनिदानं ध्रुवमिति तत्त्रयमप्यंशभेदः स्यात् ॥२०६॥

अर्थ—उन तीनोंमें उत्पाद और व्यय ये दो तो उस परिणामी द्रव्यमें अनित्यताके कारण हैं और ध्रुव (ध्रौव्य) नित्यताका कारण है, ये तीनों ही एक २ अंशरूपसे भिन्न हैं।

आशङ्का—

न च सर्वथा हि नित्यं किञ्चित्सत्त्वं गुणो न कश्चिदिति ।
तस्मादतिरिक्तौ द्वौ परिणतिमात्रौ व्ययोत्पादौ ॥ २०७ ॥

अर्थ—कोई ऐसी आशंका न करै कि द्रव्यमें सत्त्व तो सर्वथा नित्य है बाकी का कोई गुण नित्य नहीं है, और उससे सर्वथा भिन्न परिणतिमात्र उत्पाद, व्यय दोनों हैं । क्योंकि—

उत्तर—

सर्वं विप्रतिपन्नं भवति तथा सति गुणो न परिणामः ।
नापि द्रव्यं न सदिति पृथक्त्वदेशानुषङ्गत्वात् ॥ २०८ ॥

अर्थ—ऊपर कही हुई आशंकाके अनुसार माननेपर सभी विवादकोटिमें आजायगा । प्रदेश भेद माननेसे न गुणकी सिद्धि होगी न पर्यायकी सिद्धि होगी । न द्रव्यकी, और न सत् की ही सिद्धि होगी । क्योंकि भिन्न २ स्वीकार करनेसे एक भी (कुछ भी) सिद्ध नहीं होता ।

दूसरा दोष—

अपि चैतद्दूषणमिह यन्नित्यं तद्धि नित्यमेव तथा ।
यदनित्यं तदनित्यं नैकस्यानेकधर्मत्वम् ॥ २०९ ॥

अर्थ—उत्पाद, व्ययको सर्वथा भिन्न पर्यायमात्र माननेसे और द्रव्यको उससे भिन्न सर्वथा नित्य माननेसे यह भी दूषण आता है कि जो नित्य है वह सदा नित्य ही रहेगा, और जो अनित्य है वह सदा अनित्य ही रहेगा क्योंकि एकके अनेक धर्म नहीं हो सक्ते ।

भावार्थ—द्रव्यको अनेक धर्मात्मक माननेपर तो कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्यकी व्यवस्था बन जाती है और सर्वथा भिन्नतामें वस्तुको एक धर्मात्मक स्वीकार करने पर सम्पूर्ण व्यवस्था विघटित हो जाती है ।

तीसरा दोष—

अपि चैकमिदं द्रव्यं गुणोयमेवेति पर्ययोऽयं स्यात् ।
इति काल्पनिको भेदो न स्याद्द्रव्यान्तरत्ववन्नियमात् ॥२१०॥

अर्थ—भिन्नतामें यह द्रव्य है, यह गुण है यह पर्याय है, ऐसा काल्पनिक भेद जो होता है वह भी उठ जायगा, क्योंकि भिन्नतामें द्रव्यान्तरकी तरह सभी भिन्न २ द्रव्य कहलावेंगे ।

शङ्काकार—

ननु भवतु वस्तु नित्यं गुणाश्च नित्या भवन्तु वार्धिरिव ।
भावाः कल्लोलादिवदुत्पन्नध्वंसिनो भवन्त्विति चेत् ॥ २११ ॥

अर्थ—द्रव्य और गुण समुद्रकी तरह नित्य हैं और पर्यायें तरंगोंकी तरह उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं ऐसा माननेमें क्या दोष है ?

उत्तर—

नम यतो दृष्टान्तः प्रकृतार्थस्यैव बाधको भवति ।
अपि तदनुक्तस्यास्य प्रकृतविपक्षस्य साधकत्वाच्च ॥ २१२ ॥

अर्थ—शङ्काकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जो दृष्टान्त समुद्र और तरंगोंका उसने दिया है वह उसके प्रकृत अर्थका बाधक हो जाता है और उसके अभिप्रायसे विरुद्ध—(विपक्ष) अर्थका साधक हो जाता है । किस प्रकार ? सो नीचे कहा जाता है—

अर्थान्तरं हि न सतः परिणामेभ्यो गुणस्य कस्यापि ।
एकत्वाज्जलधेरिव कलितस्य तरङ्गमालाभ्यः ॥ २१३ ॥

जिस प्रकार तरंग मालाओंसे खचित समुद्र एक ही है ऐसा ही नहीं है कि तरंगें समुद्रसे भिन्न हों और समुद्र उनसे भिन्न हो, किन्तु तरंगोंसे डोलायमान होनेवाला समुद्र अभिन्न है, उसी प्रकार सत् (द्रव्य) से भिन्न गुण और पर्यायें पदार्थान्तर नहीं हैं ।

स्पष्ट अर्थ—

किन्तु य एव समुद्रस्तरङ्गमाला भवन्ति ता एव ।
यस्मात्स्वयं स जलधिस्तरङ्गरूपेण परिणमति ॥ २१४ ॥

अर्थ—किन्तु ऐसा है कि जो समुद्र है वे ही तरङ्गमालायें हैं क्योंकि स्वयं वह समुद्र ही तरंगरूप परिणाम धारण करता है ।

दार्ष्टान्त

तस्मात्स्वयमुत्पादः सदिति ध्रौव्यं व्ययोपि वा सदिति ।
न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोपि वा ध्रौव्यम् ॥ २१५ ॥

अर्थ—इसलिये (अथवा इसी प्रकार) स्वयं सत् ही उत्पाद है, स्वयं सत् ही व्यय है, और वही स्वयं ध्रौव्य है । सत्से भिन्न न कोई उत्पाद है, न व्यय है, और न ध्रौव्य है ।

अथवा—

यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥ २१६ ॥

अर्थ—अथवा भेद विकल्प निरपेक्ष-शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे न कोई उत्पाद है, न व्यय है, न ध्रौव्य है, न गुण है और न पर्याय है । केवल सन्मात्र ही वस्तु है ।

सारांश—

अयमर्थो यदि भेदः स्यदुन्मज्जति तदा हि तत्त्रितयम् ।
अपि तत्त्रितयं निमज्जति यदा निमज्जति स मूलतो भेदः ॥ २१७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यही सारांश है कि यदि भेदबुद्धि रक्खी जाती है तब तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही सत् के अंशरूपसे प्रगट हो जाते हैं, और यदि मूलसे भेद बुद्धिको ही दूर कर दिया जाय, तब तीनोंही सन्मात्र वस्तुमें लीन हो जाते हैं ।

भावार्थ—भेद विकल्पसापेक्ष–अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वही सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप परिणमन करता है और भेद विकल्प निरपेक्ष–शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे वही सत् केवल सन्मात्र ही प्रतीत होता है ।

शङ्काकार—

ननु चोत्पादध्वंसौ द्वावप्यंशात्मकौ भवेतां हि ।
ध्रौव्यं त्रिकालविषयं तत्कथमंशात्मकं भवेदिति चेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि उत्पाद और ध्वंस (व्यय) ये दोनों ही अंशात्मक–अंश स्वरूप रहो, परन्तु ध्रौव्य तो सदा रहता है वह किस प्रकार अंश रूप हो सक्ता है ?

उत्तर—

नैवं यतस्त्रयोंशाः स्वयं सदेवेति वस्तुतो न सतः ।
नैवार्थान्तरवदिदं प्रत्येकमनेकमिह सदिति ॥ २१९ ॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है, क्योंकि ये तीनों ही अंश स्वयं सत् स्वरूप हैं । वास्तवमें सत् के नहीं हैं और न पदार्थान्तरकी तरह ही अंश रूप हैं । किन्तु स्वयं सत् ही प्रत्येक अंश रूप है ।

भावार्थ—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही सत्के उसप्रकार अंश नहीं है, जिस प्रकार कि वृक्षके फल, पुष्प पत्ते आदि होते हैं, किन्तु स्वयं सत् ही उत्पादादि स्वरूप है ।

उदाहरण—

तत्रैतदुदाहरणं यदुत्पादेन लक्ष्यमाणं सत् ।
उत्पादेन परिणतं केवलमुत्पादमात्रमिह वस्तु ॥ २२० ॥

अर्थ—इस विषयमें यह उदाहरण है कि यदि सत् उत्पादका लक्ष्य बनाया जाता है अर्थात् वह उत्पाद रूप परिणाम धारण करता है तो वह केवल उत्पाद मात्र है ।

अथवा—

यदि वा व्ययेन नियतं केवलमिह सदिति लक्ष्यमाणं स्यात् ।
व्ययपरिणतं च सदिति व्ययमात्रं किल कथं हि तत्र स्यात् ॥ २२१ ॥

अर्थ—अथवा यदि वह सत् केवल व्ययका लक्ष्य बनाया जाता है, अर्थात् वह व्यय परिणामको धारण करता है तो वह सत् केवल व्यय मात्र ही है ।

अथवा—

ध्रौव्येण परिणतं सद्यदि वा ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात् ।
उत्पादव्ययवदिदं स्यादिति तद् ध्रौव्यमात्रं सत् ॥ २२२ ॥

अर्थ—यदि सत् ध्रौव्य परिणामको धारण करता है अथवा वह ध्रौव्यका लक्ष्य बनाया जाता है, तब उत्पाद व्यय के समान वह सत् ध्रौव्य मात्र है ।

भावार्थ—उपर्युक्त तीनों श्लोकोंमें इस बातका निषेध किया गया है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सत्‌में भिन्न हैं अथवा सत्‌के एक २ भागमें होनेवाले अंश हैं । साथ ही यह बतलाया गया है कि तीनों ही सत् स्वरूप हैं और तीनोंही एक साथ होते हैं । परन्तु जिसकी विवक्षा की जाय अथवा जिसका लक्ष्य बनाया जाय सत् उसी स्वरूप है । सत् ही स्वयं उत्पाद स्वरूप है, सत् ही व्यय स्वरूप है और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है ।

दृष्टान्त—

संदृष्टिर्मृद्द्रव्यं सता घटेनेह लक्ष्यमाणं सत् ।
केवलमिह घटमात्रमसता पिण्डेन पिण्डमात्रं स्यात ॥ २२३ ॥

अर्थ—दृष्टान्त के लिये मिट्टी द्रव्य है । जिस × समय वह मिट्टी सत् स्वरूप घटका लक्ष्य होती है । उस समय वह केवल घट मात्र है और जिस समय वह असत् स्वरूप पिण्ड का लक्ष्य होती है, तब पिण्ड मात्र है ।

यदि वा तु लक्ष्यमाणं केवलमिह मृच्च मृत्तिकात्त्वेन ।
एवं चैकस्य सतो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः ॥ २२४ ॥

अर्थ—यदि वह मिट्टी मिट्टीपनेका ही केवल लक्ष्य बनाई जाती है तब वह केवल मिट्टी मात्र है । इस प्रकार एक ही सत् (द्रव्य) के उत्पाद व्यय ध्रौव्य, ऐसे तीन अंश होते हैं ।

न पुनः सतो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण ।
संहारो वा ध्रौव्यं वृक्षे फलपुष्पपत्रवन्न स्यात् ॥ २२५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि सत् (द्रव्य) का ही किसी एक भागसे उत्पाद हो, और उसीका किसीएक भागमें व्यय हो, और उसीका एक भागसे ध्रौव्य रहता हो । जिस प्रकार कि वृक्षके एक भागमें फल हैं तथा एक भागमें पुष्प हैं और उसके एक भागमें पत्ते हैं । किन्तु ऐसा है कि सत् ही उत्पाद रूप है, सत् ही व्यय रूप है, और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है ।

× यहांपर 'जिस समय' से आशय केवल विवक्षासे है । जैसी विवक्षा होती है मिट्टी उसी स्वरूप समझीजाती है । वास्तवमें तीनोंका समयभेद नहीं है ।

शङ्काकार—

ननु चोत्पादादित्रयमंशानामथ किमंशिनो वा स्यात् ।
अपि किं सदंशमात्रं किमथांशमसदस्ति पृथगिति चेत् ॥२२६॥

अर्थ—क्या उत्पादादिक तीनों ही अंशोंके होते हैं ? अथवा अंशीके होते हैं ? अथवा सत्के अंश मात्र हैं ? अथवा असत्–अंश रूप भिन्न २ हैं ?

उत्तर—

नन्न यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः ।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥ २२७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । क्योंकि यहां पर (जैन दर्शनमें) नियमसे अनेकान्त ही बलवान् है । सर्वथा एकान्त नहीं । यदि ऊपर किये हुए प्रश्न अनेकान्त दृष्टिसे किये गये हैं तो सभी कथन अविरुद्ध है । किसी दृष्टिसे कुछभी कहा जाय, उसमें विरोध नहीं आसक्ता । और अनेकान्तको छोड़कर केवल एकान्त रूपसे ही उपर्युक्त प्रश्न किये गये हैं तो अवश्य ही एक दूसरेके विरोधी हैं । इसलिये अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध है। और वही कथन उसके विना विरुद्ध है ।

भावार्थ—जैन दर्शन प्रमाणनयात्मक है । जिस किसी पदार्थका किसी रूप विवेचन क्यों न किया जाय, नयदृष्टिसे सभी संगत हो जाता है। वही कथन अपेक्षादृष्टिको छोड़कर किया जाय तो असंगत हो जाता है। यहां पर कोई यह शंका न कर बैठे कि कभी किसी बातको कभी किसी रूप कहनेसे और कभी किसी रूप कहनेसे जैन दर्शन किसी बातका निर्णायक नहीं है किन्तु संशयात्मक है । ऐसा कहनेवालोंको थोड़ा सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करना चाहिये । जैन दर्शन संशयात्मक नहीं किन्तु वस्तुके यथार्थ स्वरूपका कहनेवाला है । वस्तु एक धर्मात्मक नहीं है, किन्तु अनेक धर्मात्मक है । इसलिये वह अनेक रूपसे ही कही जाती है । एकरूपसे कहना उसके स्वरूपको बिगाड़ना है । संशय उभयकोटिमें समान ज्ञान होनेसे होता है । यहां पर उभय कोटिमें समान ज्ञान नहीं है । यद्यपि एक ही पदार्थको अनेक धर्मों द्वारा कहा जाता है परन्तु जिस दृष्टिसे जो धर्म कहा जाता है उस दृष्टिसे वह सदा वैसा ही है । उस दृष्टिसे वह सदा एक धर्मात्मक ही है । दृष्टान्तके लिये पुस्तकको ही ले लीजिये । पुस्तक भाव रूप भी है और अभावरूप भी है । अपने स्वरूपकी अपेक्षासे तो वह भाव रूप है और पर-पदार्थकी अपेक्षासे वह अभावरूप है । ऐसा नहीं है कि कभी अपने स्वरूपकी अपेक्षासे भी वह अभावरूप कही जाय । अथवा पर-पदार्थोंकी अपेक्षासे भी कभी भावरूप कही जाय । इसलिये नय समुदाय-प्रमाणसे तो वस्तु भावरूप भी है, अभावरूप भी है । परन्तु नय दृष्टिसे जिस रूपसे भावरूप है उस रूपसे सदा भावरूप ही है और जिस दृष्टिसे अभावरूप है उससे सदा

अभावरूप ही है । इसलिये स्याद्वादको वे ही तर्कशास्त्री संशयात्मक कह सकते हैं जिन्होंने न तो संशयका ही स्वरूप समझा है और न स्याद्वादका ही स्वरूप समझा है । इसी प्रकार जो *लोग " नैकस्मिन्नसंभवात् " अर्थात् एक पदार्थमें दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते हैं ऐसा कहकर स्याद्वाद स्वरूप जैन दर्शनको असत्यात्मक ठहराते हैं वे भी पदार्थके यथार्थ बोधसे कोसों दूर हैं अस्तु। क्या हमें वे यह समझा देंगे कि पुस्तकको पुस्तक ही क्यों कहते हैं ? पुस्तकको दावात क्यों नहीं कहते ? कलम क्यों नहीं कहते ? चौकी क्यों नहीं कहते ? दीपक क्यों नहीं कहते ? यदि वे इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहें कि पुस्तकमें पुस्तकत्व ही धर्म रहता है इसलिये वह पुस्तक ही कही जाती है । उसमें दावातत्व धर्म नहीं है, कलमत्व धर्म नहीं है, चौकीत्व धर्म नहीं है दीपकत्व धर्म नहीं है इसलिये वह पुस्तक दावात, कलम, चौकी, दीपक नहीं कही जाती है, अर्थात् पुस्तकमें पुस्तकत्व धर्मके सिवा इतर जितने भी उससे भिन्न पदार्थ हैं, सबोंका पुस्तकमें अभाव है । इसीप्रकार हरएक पदार्थमें अपने स्वरूपको छोड़कर बाकी सब पदार्थोंके स्वरूपका अभाव रहता है । यदि अन्य पदार्थोंके स्वरूपका भी सद्भाव हो तो एक पदार्थमें सभी पदार्थोंकी सङ्करताका दोष आता है और यदि पदार्थमें स्व–स्वरूपका भी अभाव हो तो पदार्थके अभावका ही प्रसंग आता है । इसलिये स्व–स्वरूपकी अपेक्षासे भाव और पर–स्वरूपकी अपेक्षासे अभाव ऐसे हरएक पदार्थमें दो धर्म रहते हैं । बस इसी उत्तरसे दो विरोधी धर्मोंका एक पदार्थमें अभाव बतलानेवाले तर्कशास्त्री स्वयं समझ गये होंगे कि एक पदार्थमें भाव-धर्म और अभाव धर्म दोनों ही रहते हैं । इनके स्वीकार किये विना तो पदार्थका स्वरूप ही नहीं बनता । इसलिये अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध और उसके विना विरुद्ध है । यहांपर यह शंका करना भी व्यर्थ है कि भाव और अभाव दोनों विरोधी हैं फिर एक पदार्थमें दोनों कैसे रह सक्ते हैं ? इसका उत्तर ऊपर कहा भी जाचुका है । दूसरे–जिसको विरोध× बतलाया जाता है वह वास्तवमें विरोध ही नहीं है । पदार्थका स्वरूप ही ऐसा है । " स्वभावोऽतर्कगोचरः " अर्थात् किसीके स्वभावमें तर्क काम नहीं करता है । अग्निका स्वभाव उष्ण है । वहां अग्नि उष्ण क्यों है ? " यह प्रश्न व्यर्थ है, प्रत्यक्ष बाधित है ।

---

* शङ्कराचार्य मतके अनुयायी ।

× विरोध तीन प्रकार होता है । १ सहानवस्थान २ प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक ३ बध्यघातक । इन तीनोंमेंसे भावाभावमें एक भी नहीं है । विशेष बोधके लिये इस कारिकाको देखो–

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ १ ॥

तत्र सत्वं वस्तुधर्मः तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात् खरविषाणादिवत् । तथा कथञ्चिदसत्वं वस्तुधर्मः । स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि वस्तुनोऽसत्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्वस्तुप्रति नियमविरोधात् । एतेन क्रमार्पितोभयत्वादीनां वस्तुधर्मत्वं प्रतिपादितम् । अष्टसहस्री

ऊपर की हुई शङ्काका खुलासा उत्तर—

केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ।
नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांऽशिनो हि तत्त्रितयम् ॥ २२८ ॥

अर्थ—केवल अंशोंके ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं होते हैं और न केवल अंशीके ही तीनों होते हैं । किन्तु अंशी के अंश रूपसे उत्पादादिक तीनों होते हैं ।

शङ्काकार—

ननु चोत्पादध्वंसौ स्यातामन्वर्थतोऽथ वाङ्मात्रात् ।
दृष्टविरुद्धत्वादिह ध्रुवत्वमपि चैकस्य कथमिति चेत् ॥ २२९ ॥

अर्थ—एक पदार्थ के उत्पाद और ध्वंस भले ही हों; परन्तु उसी पदार्थ के ध्रौव्य भी होता है, यह बात वचन मात्र है, और प्रत्यक्ष बाधित है । एक ही पदार्थ के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों किस प्रकार हो सक्ते हैं ?

उत्तर—

सत्यं भवति विरुद्धं क्षणभेदो यदि भवेत्त्रयाणां हि ।
अथवा स्वयं सदेव हि नश्यत्युत्पद्यते स्वयं सदिति ॥ २३० ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना तभी ठीक हो सक्ता है अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीनोंका एक पदार्थमें तभी विरोध आसक्ता है जब कि इन तीनोंका क्षण भेद हो । अथवा यदि स्वयं सत् ही नष्ट होता हो, और सत् ही उत्पन्न होता हो तब भी इन तीनोंमें विरोध आ सक्ता है ।

क्वापि कुतश्चित् किञ्चित् कस्यापि कथञ्चनापि तन्न स्यात् ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोप्यदृष्टान्तात् ॥ २३१ ॥

अर्थ—परन्तु ऐसा कहीं किसी कारणसे किसीके किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी नहीं होता है । उत्पाद भिन्न समयमें होता हो, व्यय भिन्न समयमें होता हो, और ध्रौव्य भिन्न समयमें होता हो इस प्रकार तीनोंके क्षण भेदको सिद्ध करनेवाला न तो कोई प्रमाण ही है, और न कोई उसका साधक दृष्टान्त ही है ।

शङ्काकार—

ननु च स्वावसरे किल सर्गः सर्गैकलक्षणत्वात् स्यात् ।
संहारः स्वावसरे स्यादिति संहारलक्षणत्वाद्वा ॥ २३२ ॥
ध्रौव्यं चात्मावसरे भवति ध्रौव्यैकलक्षणात्तस्य ।
एवं लक्षणभेदः स्याद्बीजाङ्कुरपादपत्ववदिति चेत् ॥ २३३ ॥

अर्थ—उत्पाद अपने समयमें होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति होना ही एक लक्षण है। व्यय अपने समयमें होता है, क्योंकि संहार होना ही उसका लक्षण है। इसी प्रकार ध्रौव्य भी अपने समयमें होता है, क्योंकि उसका ध्रुव रहना ही स्वरूप है। जिस प्रकार बीज अङ्कुर और वृक्ष, इनका भिन्न २ लक्षण है उसी प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका भी भिन्न २ लक्षण है।

भावार्थ—भिन्न २ लक्षण होनेसे तीनोंका भिन्न २ समय है ?

उत्तर-

तन्न यतः क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत् ।
उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टितोपि सिद्धत्वात् ॥ २३४ ॥

अर्थ—लक्षणभेद होनेसे तीनोंको भिन्न २ समयमें मानना ठीक नहीं है क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनोंका समयभेद नहीं है। तीनों एक ही समयमें होते हैं। यह बात हेतु और दृष्टान्तसे भली भाँति सिद्ध है। इसीका खुलासा नीचे किया जाता है—

अथ तद्यथा हि बीजं बीजावसरे सदेव नासदिति ।
तत्र व्ययो न सत्वाद्व्ययश्च तस्मात्सदङ्कुरावसरे ॥ २३५ ॥

अर्थ—बीज अपनी पर्यायके समयमें है। बीज पर्यायके समय बीजका अभाव नहीं कहा जा सक्ता। बीज पर्यायके समय बीज पर्यायका व्यय भी नहीं कहा जा सक्ता किन्तु अङ्कुरपर्यायके उत्पाद-समयमें बीज पर्यायका व्यय कहा जा सक्ता है।

बीजावस्थायामपि न स्यादङ्कुरभवोस्ति वाऽसदिति ।
तस्मादुत्पादः स्यात्स्वावसरे चाङ्कुरस्य नान्यत्र ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो समय बीज पर्यायका है, वह अङ्कुरकी उत्पत्तिका नहीं कहा जासक्ता। बीज पर्यायके समय अङ्कुरके उत्पादका अभाव ही है। इस लिये अङ्कुरका उत्पाद भी अपने ही समयमें होगा, अन्य समयमें नहीं।

यदि वाबीजाङ्कुरयोरविशेषात पादपत्वमिति वाच्यम् ।
नष्टोत्पन्नं न तदिति नष्टोत्पन्नं च पर्ययाभ्यां हि ॥ २३७ ॥

अर्थ—अथवा बीज और अङ्कुर इन दोनों को सामान्य रीतिसे यदि वृक्ष कहा जाय तो वृक्ष न तो उत्पन्न हुआ, और न वह नष्ट हुआ, किन्तु बीज पर्यायसे नष्ट हुआ है, और अङ्कुर पर्यायसे उत्पन्न हुआ है।

सारांश—

आयातं न्यायबलादेतत्त्रितयमेककालं स्यात् ।
उत्पन्नमङ्कुरेण च नष्टं बीजेन पादपत्वं तत् ॥२३८॥

अर्थ—यह बात न्यायबलसे सिद्ध हो चुकी कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनोंका एक ही* काल है। वृक्षका अङ्कुर रूपसे जिस समय उत्पाद हुआ है, उसी समय उसका बीज रूपसे व्यय हुआ है, और वृक्षपना दोनों अवस्थाओंमें मौजूद है।

भावार्थ—ऊपरके तीनों श्लोकोंका सारांश इस प्रकार है—जो बीज पर्यायका समय है वह उसके व्ययका समय नहीं है। क्योंकि उसीका सद्भाव और उसीका अभाव दोनों एक ही समयमें नहीं हो सक्ते हैं। किन्तु जोअङ्कुरके उत्पादका समय है वही बीज पर्यायके नाशका समय है। ऐसा भी नहीं है कि बीज पर्याय और अङ्कुरोत्पाद, इन दोनोंके बीचमें बीज पर्यायका नाश होता हो। ऐसा माननेसे पर्याय रहित द्रव्य ठहरेगा। क्योंकि बीजका तो नाश होगया, अभी अङ्कुर पैदा नहीं हुआ है। उस समय कौनसी पर्याय मानी जावेगी? कोई नहीं। तो अवश्य ही पर्याय शून्य द्रव्य ठहरेगा। पर्यायके अभावमें पर्यायीका अभाव स्वयं सिद्ध है। इसलिये जिस समय अङ्कुरका उत्पाद होता है उसी समय बीजपर्यायका नाश होता है। दूसरे शब्दोंमें यों भी कहा जा सक्ता है कि जो बीजपर्यायका नाश है वही अङ्कुरका उत्पाद है। इसका यह अर्थ नहीं है कि नाश और उत्पाद दोनोंका एक ही अर्थ है, यदि दोनोंका एक ही अर्थ हो तो जिसका नाश है उसीका उत्पाद कहना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है नाश तो बीजका होता है और उत्पाद अङ्कुरका होता है परन्तु नाश और उत्पाद, दोनोंकी फलित पर्याय एक ही है। ऐसा भी नहीं है कि जो बीजपर्यायका समय है वही अङ्कुरके उत्पादका समय है। ऐसा माननेसे एक ही समयमें दो पर्यायोंकी सत्ता माननी पड़ेगी। और एक समयमें दो पर्यायोंका होना प्रमाणबाधित है। इसलिये बीजपर्यायके समय अङ्कुरका उत्पाद नहीं होता है। किन्तु जो बीजपर्यायके नाशका समय है वही अंकुरके उत्पादका समय है। और बीजनाश तथा अंकुरोत्पाद दोनों ही अवस्थाओंमें वृक्षपनेका सद्भाव है। वृक्षका जिस समय बीजपर्यायसे नाश हुआ है, उसी समय उसका अंकुरपर्यायसे उत्पाद हुआ है। वृक्षका सद्भाव दोनों ही अवस्थाओंमें है। इसलिये यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो गई कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनोंका एक ही समय है। भिन्न समय नहीं है।

---

* घटमौलिसुवर्णार्थीनाशोत्पादस्थितिष्वयम्, शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनोयाति सहेतुकम्।

अष्टसहस्री

अर्थात् एक पुरुषको सोनेके घड़ेकी आवश्यकता थी दूसरेको कपालों (घड़ेके टुकड़े) की आवश्यकता थी तीसरेको सोनेकी ही आवश्यकता थी, तीनों एक सेठके यहां पहुंचे, सेठके यहां एक सोनेका घड़ा रक्खा था, परन्तु जिस समय ये तीनों ही पहुंचे, उसी समय वह घड़ा ऊपरसे गिरकर फूट गया। घड़ेके फूटते ही तीनोंके एक ही क्षणमें तीन प्रकारके परिणाम हो गये। घटार्थीको शोक, कपालार्थीको हर्ष और सामान्य स्वर्णार्थीको मध्यस्थता। इसी प्रकार उत्पादादि तीनों एक ही क्षणमें होते हैं।

फिर भी खुलासा—

अपि चाङ्कुरसृष्टेरिह य एव समयः स वीजनाशस्य ।
उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपत्त्वस्य ॥ २३९ ॥

अर्थ—जो अंकुरकी उत्पत्तिका समय है । वही समय बीजके नाशका है, और अंकुरका उत्पाद तथा बीजका नाश दोनों ही वृक्ष स्वरूप हैं । इस लिये जो समय बीजके नाश और अंकुरके उत्पादका है वही समय वृक्षके ध्रौव्यका है ।

सारांश—

तस्मादनवद्यमिदं प्रकृतं तत्त्वस्य चैकसमये स्यात् ।
उत्पादादित्रयमपि पर्यायार्थान्न सर्वथापि सतः ॥ २४० ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सर्वथा निर्दोष सिद्ध हो गई कि सत् (पदार्थ)के एक समयमें ही उत्पादादिक तीनों होते हैं वे भी पदार्थके पर्यायदृष्टिसे होते हैं, पर्यायनिरपेक्ष पदार्थके नहीं होते ।

विरोध संभावना—

भवति विरुद्धं हि तदा यदा सतः केवलस्य तत्त्रितयम् ।
पर्ययनिरपेक्षत्वात् क्षणभेदोपि च तदैव सम्भवति ॥ २४१ ॥

अर्थ—जिस सम उत्पाद आदि तीनों, पर्यायनिरपेक्ष केवल पदार्थके ही माने जांयगे उस समय अवश्य ही तीनोंका एक साथ विरोध होगा, और उसी समय उनके समय भेदकी संभावना भी है ।

अथवा—

यदि वा भवति विरुद्धं तदा यदाप्येकपर्ययस्य पुन : ।
अस्त्युत्पादो यस्य व्ययोपि तस्यैव तस्य वै ध्रौव्यम् ॥ २४२ ॥

अर्थ—अथवा तब भी विरोध होगा जब कि जिस एक पर्यायका उत्पाद है, उसीका व्यय भी माना जाय, और उसी एक पर्यायका ध्रौव्य भी माना जाय ।

उत्पादादिकका अविरुद्ध स्वरूप—

प्रकृतं सतो विनाशः केनचिदन्येन पर्ययेण पुनः ।
केनचिदन्येन पुनः स्यादुत्पादो ध्रुवं तदन्येन ॥ २४३ ॥

अर्थ—प्रकृतमें ऐसा है कि किसी अन्य पर्यायसे सत्का विनाश होता है, तथा किसी अन्य पर्यायसे उसका उत्पाद होता है, और किसी अन्य पर्यायसे ही उसका ध्रौव्य होता है ।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः पादपवत् स्वयमुत्पन्नः सदङ्कुरेण यथा ।
नष्टो बीजेन पुनर्ध्रुवमित्युभयत्र पादपत्वेन ॥ २४४ ॥

अर्थ—वृक्षका दृष्टान्त स्पष्ट है । जिस प्रकार वृक्ष सत् रूप अंकुर से स्वयं उत्पन्न होता है, बीज रूपसे नष्ट होता है और वह वृक्षपनेसे दोनों जगह ध्रुव है ।

न हि बीजेन विनष्टः स्यादुत्पन्नश्च तेन बीजेन ।
ध्रौव्यं बीजेन पुनः स्यादित्यध्यक्षपक्षवाध्यत्वात् ॥ २४५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि वृक्ष बीजरूपसे ही तो नष्ट होता हो, उसी बीज रूपसे वह उत्पन्न होता हो और उसी बीज रूपसे वह ध्रुवभी रहता हो क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष वाधित है ।

सत् ही उत्पाद व्यय स्वरूप है—

उत्पादव्यययोरपि भवति यदात्मा स्वयं सदेवेति ।
तस्मादेतद्द्वयमपि वस्तु सदेवेति नान्यदस्ति सतः ॥ २४६ ॥

अर्थ—उत्पाद और व्यय दोनोंका आत्मा (जीव भूत) स्वयं सत् ही है—इसलिये ये दोनों ही सद्वस्तुस्वरूप हैं । सत्‌से भिन्न ये दोनों कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है ।

उत्पादादिक पर्यायदृष्टि से ही हैं—

पर्यायादेशत्वादस्त्युत्पादो व्ययोस्ति च ध्रौव्यम् ।
द्रव्यार्थादेशत्वान्नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ॥ २४७ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिक नयसे उत्पाद भी है, व्यय भी है, और ध्रौव्य भी है । द्रव्यार्थिक नय से न उत्पाद है, न व्यय है, और न ध्रौव्य है ।

शङ्काकार—

ननु चोत्पादेन सता कृतमसतैकेन वा व्ययेनाऽथ ।
यदि व ध्रौव्येण पुनर्यदवश्यं तत्त्रयेण कथमिति चेत् ॥ २४८ ॥

अर्थ—यातो सद्रूप उत्पाद स्वरूप ही वस्तु मानो, या असद्रूप व्यय स्वरूप ही वस्तु मानो, अथवा ध्रौव्य स्वरूप ही वस्तु मानो, तीनों स्वरूप उसे कैसे मानते हो ?

उत्तर—

तन्न यदविनाभावः प्रादुर्भावध्रुवव्ययानां हि ।
यस्मादेकेन विना न स्यादितरद्द्वयं तु तन्नियमात् ॥२४९॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, इन तीनोंका नियमसे अविनाभाव है क्योंकि एकको छोड़कर दूसरे दोनों भी नहीं रह सकते ।

अपि च द्वाभ्यां ताभ्यामन्यतमाभ्यां विना न चान्यतरम् ।
एकं वा तदवश्यं तत्त्रयमिह वस्तु संसिध्यै ॥ २५० ॥

अर्थ—अथवा बिना किन्हीं भी दोके कोई एक भी नहीं रह सकता है इसलिये यह आवश्यक है कि वस्तुकी भले प्रकार सिद्धिके लिये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों एक साथ हों।

इसीका खुलासा —

अथ तद्यथा विनाशः प्रादुर्भावं विना न भावीति ।
नियतमभावस्य पुनर्भावेन पुरस्सरत्वाच्च ॥ २५१ ॥

अर्थ—तीनोंका परस्पर अविनाभाव है, इसी बातको स्पष्ट किया जाता है कि विनाश (व्यय) विना उत्पादके नहीं हो सक्ता । क्योंकि किसी पर्यायका अभाव नियमसे भाव पूर्वक ही होता है ।

उत्पादोपि न भावी व्ययं विना वा तथा प्रतीतत्वात् ।
प्रत्यग्रजन्मनः किल भावस्याभावतः कृतार्थत्वात् ॥२५२॥

अर्थ—उत्पाद भी विना व्ययके नहीं हो सक्ता, क्योंकि ऐसी प्रतीति हैं कि नवीन जन्म लेनेवाला भाव अभावसे ही कृतार्थ होता है ।

भावार्थ—किसी पर्यायका नाश होने पर ही तो दूसरी पर्याय हो सकती है । पदार्थ तो किसी न किसी अवस्थामें सदा रहता ही है । इस लिये यह आवश्यक है कि पहली अवस्थाका नाश होने पर ही कोई नवीन अवस्था हो ।

उत्पादध्वंसौ वा द्वावपि न स्तो विनापि तद्ध्रौव्यम् ।
भावस्याऽभावस्य च वस्तुत्वे सति तदाश्रयत्वाद्वा ॥ २५३ ॥

अर्थ—अथवा विना ध्रौव्यके उत्पाद, व्यय भी नहीं होसक्ते, क्योंकि वस्तुकी सत्ता होने पर ही उसके आश्रयसे भाव और अभाव (उत्पाद और व्यय) रह सक्ते हैं ।

अपि च ध्रौव्यं न स्यादुत्पादव्ययद्वयं विना नियमात् ।
यदिह विशेषाभावे सामान्यस्य च सतोप्यभावत्वात् ॥२५४॥

अर्थ—अथवा विना उत्पाद और व्यय दोनोंके ध्रौव्य भी नियमसे नहीं रह सकता है, क्योंकि विशेषके अभावमें सामान्य सत्का भी अभाव ही है ।

भावार्थ—वस्तु *सामान्य विशेषात्मक है । विना +सामान्यके विशेष नहीं हो सक्ता, और विना विशेषके सामान्य भी नहीं हो सक्ता । उत्पाद, व्यय विशेष हैं, ध्रौव्य सामान्य है । इस लिये विना उत्पाद, व्यय विशेषके ध्रौव्य सामान्य नहीं बन सक्ता है और इसी प्रकार विना ध्रौव्य सामान्यके उत्पाद व्यय विशेष भी नहीं बन सक्ते हैं ।

सारांश—

एवं चोत्पादादित्रयस्य साधीयसी व्यवस्थेह ।
नैवान्यथाऽन्यनिन्हववदनः स्वस्यापि घातकत्वाच्च ॥ २५५ ॥

---

* सामान्य विशेषात्मा तदर्थोविषयः ।

+ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् । निस्सामान्यं विशेषश्च भवेच्छशविषाणवत् ॥

अर्थ—इस प्रकार वस्तुमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी व्यवस्था घटित करना चाहिये। अन्य किसी प्रकार उनकी व्यवस्था नहीं घटित की जा सक्ती है। क्योंकि दूसरेका विघात करनेसे अपना ही विघात हो जाता है।

भावार्थ—ऊपर कही हुई व्यवस्था ही ठीक व्यवस्था है और तीनोंको एक साथ माननेसे ही यह व्यवस्था बन सक्ती है तीनोंमेंसे किसी एकका अथवा दोका अभाव माननेसे बाकीके दो अथवा एक भी नहीं ठहर सक्ता है।

केवल उत्पादके माननेमें दोष—

अथ तद्यथा हि सर्गं केवलमेकं हि मृगयमाणस्य।
असदुत्पादो वा स्यादुत्पादो वा न कारणाभावात् ॥ २५६ ॥

अर्थ—जो केवल एक उत्पादको ही मानता है उसके मतमें असत्का उत्पाद होने लगेगा, अथवा कारणका अभाव होनेसे उत्पाद ही न होगा।

केवल व्ययके माननेमें दोष—

अप्यथ लोकयतः किल संहारं सर्गपक्षनिरपेक्षम्।
भवति निरन्वयनाशः सतो न नाशोऽथवाप्यहेतुत्वात् ॥२५७॥

अर्थ—उत्पादपक्षनिरपेक्ष केवल व्ययको ही जो मानता है, उसके यहां सत्का निरन्वय सर्वथा नाश हो जायगा। अथवा विना कारण उसका नाश भी नहीं हो सक्ता।

केवल ध्रौव्यके माननेमें दोष—

अथ च ध्रौव्यं केवलमेकं किल पक्षमध्यवसतश्च।
द्रव्यमपरिणामि स्यात्तदपरिणामाच्च नापि तद्ध्रौव्यम् ॥२५८॥

अर्थ—इसी प्रकार जो उत्पादव्ययनिरपेक्ष केवल ध्रौव्य पक्षको ही स्वीकार करते हैं, उनके मतमें द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा और द्रव्यके अपरिणामी होनेसे उसके ध्रौव्य भी नहीं बन सक्ता है।

ध्रौव्य निरपेक्ष उत्पाद व्ययके माननेमें दोष—

अथ च ध्रौव्योपेक्षितमुत्पादादिद्वयं प्रमाणयतः।
सर्वं क्षणिकमिवैतत् सदभावे वा व्ययो न सर्गश्च ॥ २५९ ॥

अर्थ—ध्रौव्य निरपेक्ष केवल उत्पाद और व्यय इन दोको ही जो प्रमाणभूत मानता है, उसके यहां सभी क्षणिककी तरह हो जायगा। अथवा सत् पदार्थके अभावमें न तो व्यय ही बन सक्ता है और न उत्पाद ही बन सक्ता है।

सारांश—

एतद्दोषभयादिह प्रकृतं चास्तिक्यमिच्छता पुंसा।
उत्पादादीनामयमविनाभावोऽवगन्तव्यः ॥ २६० ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए दोषोंके भयसे आस्तिक्यके चाहनेवाले पुरुषको प्रकृतमें उत्पाद आदिक तीनोंका ही अविनाभाव मानना चाहिये ।

भावार्थ—तीनों एक साथ परस्पर सापेक्ष हैं, यही निर्दोष सिद्ध है ।

नयी प्रतिज्ञा—

उक्तं गुणपर्ययवद्द्रव्यं यत्तद्व्ययादियुक्तं सत् ।
अथ वस्तुस्थितिरिह किल वाच्याऽनेकान्तबोधशुद्धयर्थम् ॥२६१॥

अर्थ—द्रव्य गुणपर्यायका समूह है और वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यवाला है, यह बात तो कही जा चुकी । अब अनेकान्त (स्याद्वाद)का बोध होनेके लिये वस्तुका विचार करते हैं—

अनेकान्त चतुष्टय—

स्यादस्तिं च नास्तीति च नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च ।
तदतच्चेति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥ २६२ ॥

अर्थ—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् तत्, स्यात् अतत्, इस प्रकार इन चार युगलोंकी तरह वस्तु अनेक धर्मोंसे गुंथी हुई है ।

चतुष्टय होनेमें कारण—

अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च ।
द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाथ वाऽपि भावेन ॥ २६३ ॥

अर्थ—उसीका खुलासा करते हैं कि जो कथंचित् (किसी स्वरूपसे) है वही कथंचित् नहीं भी है । इसी प्रकार जो कथंचित् नित्य है वही कथञ्चित् अनित्य भी है । जो कथंचित् एक है वही कथंचित् अनेक भी है । जो कथंचित् वही है, वह कथंचित् वह नहीं भी है । इस प्रकार ये चारों ही कथंचित् वाद (स्याद्वाद) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे होते हैं ।

द्रव्यकी अपेक्षासे कथन ।

एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च ।
न पृथक्प्रदेशवत्त्वं स्वरूपभेदोपि नानयोरेव ॥ २६४ ॥

अर्थ—एक तो महासत्ता है । दूसरी अवान्तर सत्ता है । इन* दोनों सत्ताओंके वस्तुसे भिन्न प्रदेश नहीं हैं अर्थात् सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है तथा दोनोंमें स्वरूप भेद भी नहीं है । दोनोंका एक ही स्वरूप है केवल अपेक्षा—कथन भेद है ।

---

* इन दोनों सत्ताओंका स्वरूप विशद रीतिसे पहले भी कहा जा चुका है । और उत्तरार्धके प्रारंभमें भी कहा गया है ।

महासत्ताका स्वरूप—

किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि ।
सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता ॥ २६५ ॥

अर्थ—किन्तु जो सत् सम्पूर्ण पदार्थोंके समूहको स्पर्श करनेवाला है उसे ही महासत्ताके नामसे कहते हैं। वह सामान्यका ग्रहण करनेवाला है और उसहीकी अपेक्षासे वस्तु सन्मात्र है।

भावार्थ—हरएक पदार्थका अस्तित्व गुण जुदा जुदा है, उसी अस्तित्व गुणको 'सत्' इस नामसे भी कहते हैं, क्योंकि उसीसे वस्तुकी सत्ता कायम रहती है। वह सत्गुण समान रीतिसे सब वस्तुओंमें एक सरीखा है। एक सरीखा होनेसे ही उसे एक भी कह देते हैं और उसीका नाम महासत्ता रखते हैं। वास्तवमें 'महासत्ता' नामक कोई एक पदार्थ नहीं है। केवल समानताकी अपेक्षासे इसको एकत्व संज्ञा मिली है।

अवान्तर सत्ताका स्वरूप—

अपिऽचावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सत्गुणश्च पर्यायः ।
सच्चोत्पादध्वंसः सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः ॥ २६६ ॥

अर्थ—अवान्तर सत्ता हरएककी जुदी जुदी है। वह भिन्न २ रीतिसे ही कही जाती है। जैसे-सतद्रव्य, सतगुण, सतपर्याय, सतउत्पाद, सतध्वंस, सतध्रौव्य इस प्रकार और भी लगा लेना चाहिये।

भावार्थ—सब जगह व्याप कर रहनेवाली सत्ताको महासत्ता कहते हैं और उस महासत्ताकी अपेक्षा जो थोड़ी जगहमें रहती है उसे अवान्तर सत्ता कहते हैं महासत्ता सामान्य रीतिसे सब पदार्थोंमें रहती है इसलिये उसकी अपेक्षासे पदार्थोंमें भेद नहीं है, किन्तु सभी एक कहलाते हैं। परन्तु अवान्तर सत्ता सब पदार्थोंमें भेद करती है। जैसे—महासत्ताकी अपेक्षा द्रव्य, गुण, पर्याय आदि सभी सतरूप कहलाते हैं, वैसे ही अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ कहलाते हैं। अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे द्रव्यका सत् जुदा है, गुणका जुदा है और पर्यायका जुदा है। द्रव्यमें भी घड़ीका सत् जुदा है, टेबिलका जुदा है तथा कुर्सीका जुदा है। गुणोंमें भी ज्ञानका जुदा है दर्शनका जुदा है और सुखका जुदा है। पर्यायोंमें भी वर्तमान पर्यायका जुदा है भूत पर्यायका जुदा है और भविष्यत्‌का जुदा है। इस प्रकार अवान्तर सत्ताके अनेक भेद होते हैं।

अस्ति नास्ति कथन

अयमर्थो वस्तु यदा सदिति महासत्तयावधार्येत ।
स्यात्तदवान्तरसत्तारूपेणाभाव एव नतु मूलात् ॥ २६७ ॥

अर्थ—द्रव्यकी अपेक्षा स्यात् अस्ति और स्यात् नास्तिका अर्थ यह है कि वस्तु जिस समय महासत्ताकी अपेक्षासे कथंचित् है, उस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे वह कथंचित् नहीं भी है। वस्तुमें अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे ही अभाव आता है। वास्तवमें वह अभावात्मक नहीं है।

अपि चाऽवान्तरसत्तारूपेण यदावधार्यते वस्तु।
अपरेण महासत्तारूपेणाभाव एव भवति तदा॥ २६८॥

अर्थ—इसी प्रकार जिस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे वस्तु कही जाती है, उस समय उसकी अपेक्षासे तो वह कथंचित् है। परन्तु प्रतिपक्षी महासत्ता की अपेक्षासे कथंचित नहीं भी है।

भावार्थ—वास्तवमें वस्तु तो जैसी है, वह वैसी ही है। उसमेंसे न तो कुछ कभी जाता है और न उसमें कुछ कभी आता है। केवल कथन शैलीसे उसमें भेद हो जाता है। जिस समय वस्तुको महासत्ताकी दृष्टिसे देखते हैं, उस समय वह सत्‌रूप ही दीखती है। उस समय वह द्रव्य नहीं कही जा सक्ती, गुण भी नहीं कही जा सक्ती, और पर्यायभी नहीं कही जासक्ती। इस लिये उस समय यह कहा जा सक्ता है कि वस्तु सत् रूपसे तो है, परन्तु वह द्रव्य, गुण, पर्याय आदि रूपसे नहीं है। इसी प्रकार जिस समय अवान्तर सत्ताकी दृष्टिसे वस्तु देखी जाती है उस समय वह द्रव्य अथवा पर्याय आदि विशेष सत् रूपसे तो है, परन्तु सामान्य सत् रूपसे नहीं हैं। इस प्रकार वस्तुमें कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व सुघटित होता है। वस्तुमें नास्तित्व केवल अपेक्षा दृष्टिसे ही आता है। वास्तवमें वस्तु अभाव स्वरूप नहीं हैं।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः स्पष्टोऽयं यथा पटो द्रव्यमस्ति नास्तीति।
पटशुक्लत्वादीनामन्यतमस्याविवक्षितत्वाच्च॥ २६९॥

अर्थ—कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्वका दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि जिस प्रकार पट (वस्त्र) द्रव्य पटकी अपेक्षासे तो है परन्तु वही पट द्रव्य पटके शुक्लादि गुणोंकी अविवाक्षाकी अपेक्षासे नहीं है।

भावार्थ—शुक्लादि गुणोंका समूह ही पट कहलाता है। जिस समय पटको मुख्य रीतिसे कहते हैं उस समय उसके गुण नहींके बराबर समझे जाते हैं और जिस समय शुक्लादि गुणोंको मुख्य रीतिसे कहते हैं, उस समय पट भी नहीं के बराबर समझा जाता है। कहनेकी अपेक्षासे ही वस्तुमें मुख्य और गौणकी व्यवस्था होती है, तथा उसी व्यवस्थासे वस्तुमें कथंचित अस्तिवाद और कथंचित नास्तिवाद आता है इसीका नाम स्याद्वाद है।

क्षेत्रकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन—

क्षेत्रं द्विधावधानात् सामान्यमथ च विशेषमात्रं स्यात्।
तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ॥ २७० ॥

अर्थ—वस्तुका क्षेत्र भी दो प्रकारसे कहा जाता है। एक सामान्य, दूसरा विशेष। वस्तुके जितने प्रदेश हैं उन प्रदेशोंके समुदायात्मक देशको तो सामान्य क्षेत्र कहते हैं और उसके अंशोंको विशेष क्षेत्र कहते हैं।

अथ केवलं प्रदेशात् प्रदेशमात्रं यदेष्यते वस्तु।
अस्ति स्वक्षेत्रतया तदंशमात्राऽविवक्षितत्वान्न ॥ २७१ ॥

अर्थ—जिस समय केवल प्रदेशोंके समुदायकी अपेक्षासे देश रूप वस्तु कही जाती है उस समय वह देश रूप स्वक्षेत्रकी अपेक्षासे तो है परन्तु उस देशके अंशोंकी अविवक्षा होनेसे अंशोंकी अपेक्षासे नहीं है।

अथ केवलं तदंशात्तावन्मात्राद्यदेष्यते वस्तु।
अस्त्यंशविवक्षितया नास्ति च देशाविवक्षितत्वाच्च ॥ २७२ ॥

अर्थ—अथवा जिस समय केवल देशके अंशोंकी अपेक्षासे वस्तु कही जाती है उस समय वह अंशोंकी अपेक्षासे तो है, परन्तु देशकी विवक्षा न होनेसे देशकी अपेक्षासे नहीं है।

दृष्टान्त—

संदृष्टिःपटदेशः क्षेत्रस्थानीय एव नास्त्यस्ति।
शुक्लादितन्तुमात्रादन्यतरस्याविवक्षितत्त्वाद्वा ॥ २७३ ॥

अर्थ—क्षेत्रके लिये दृष्टान्त पट रूप देश है। वह शुक्लादिस्वभाव–तन्तु समुदायकी अपेक्षासे तथा भिन्न भिन्न अंशोंकी अपेक्षासे कथंचित् अस्ति नास्ति रूप है। जिस समय जिसकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) की जाती है वह तो उस समय मुख्य होनेसे अस्ति रूप है और इतर अविवक्षित होनेसे उस समय गौण है इसलिये वह नास्ति रूप है। इस प्रकार क्षेत्रकी अपेक्षासे कथंचित् अस्तित्व और नास्तित्व समझना चाहिये।

कालकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन—

कालो वर्तनमिति वा परिणमनं वस्तुनः स्वभावेन।
सोपि पूर्ववदूद्वयमिह सामान्यविशेषरूपत्वात् ॥ २७४ ॥

अर्थ—काल नाम वर्तनका है। अथवा वस्तुका स्वभावसे *परिणमन होनेका है। वह काल भी पहलेकी तरह सामान्य और विशेष रूपसे दो प्रकार है।

***आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः**
वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम् ॥ १ ॥

कालका सामान्य और विशेष रूप—

सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च ।
उभयोरन्यतरस्यावमग्नोन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति ॥ २७५ ॥

अर्थ—सामान्य विधिरूप है, विशेष प्रतिषेधरूप है । उन दोनोंमेंसे किसी एकके विवक्षित और अविवक्षित होनेसे अस्तित्व और नास्तित्व आता है ।

विधि और प्रतिषेधका स्वरूप—

तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदेवेति ।
तदिह विभज्य विभागैः प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य ॥ २७६ ॥

अर्थ—अंश कल्पना रहित-निरंश परिणमनको विधि कहते हैं । जैसे—स्वयं सत्का परिणमन । सत् सामान्यमें अंश कल्पना नहीं है किन्तु उसका सामान्य परिणमन है । और उसी सत्की भिन्न २ विभाजित-अंश-कल्पनाको प्रतिषेध कहते हैं ।

भावार्थ—सामान्य परिणमनकी अपेक्षासे वस्तुमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता है परन्तु विशेष २ परिणमनकी अपेक्षासे वही एक निरंशरूप वस्तु अनेक भेदवाली हो जाती है । और वस्तुमें होनेवाले अंशरूप भेद ही प्रतिषेध रूप हैं ।

उदाहरण—

तदुदाहरणं सम्प्रति परिणमनं सत्तयावधार्येत ।
अस्ति विवक्षितत्वादिह नास्त्यंशस्याऽविवक्षया तदिह ॥२७७॥

अर्थ—प्रकृतमें उदाहरण इस प्रकार है कि जिस समय वस्तुमें भेद विवक्षा रहित सत्ता सामान्यके परिणमनकी विवक्षा की जाती है, उस समय वह सामान्य रूप-स्व-कालकी अपेक्षासे तो है, परन्तु अंशोंकी विवक्षा न होनेसे विशेषरूप-परकालकी अपेक्षासे वह नहीं है ।

एकैकवृत्त्या प्रत्येकमणवस्तस्य निःक्रियाः ।
लोकाकाशप्रदेशेषु रत्नराशिरिवस्थिताः ॥ २ ॥
व्यावहारिककालस्य परिणामस्तथा क्रिया ।
परत्वं चाऽपरत्वञ्च लिङ्गान्याहुर्महर्षयः ॥ ३ ॥

तत्त्वार्थ सार ।

अर्थात्—अपनी निज पर्यायों द्वारा परिणमन करनेवाले सम्पूर्ण द्रव्योंमें काल उदासीन कारण है इसीलिये उसे द्रव्योंके परिवर्तनमें हेतु रूप कर्ता कहा गया है । काल द्रव्यके दो भेद हैं एक निश्चय, दूसरा व्यवहार । निश्चय यथार्थ काल है, वह असंख्यात है और एक एक काल द्रव्य प्रत्येक लोकके प्रदेशमें रत्नोंकी राशिकी तरह निष्क्रय रूपसे ठहरा हुआ है । व्यवहार काल काल्पनिक है और परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि उसके चिन्ह हैं ।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः पटपरिणतिमात्रं कालायतस्वकालतया ।
अस्ति च तावन्मात्रान्नास्ति पटस्तन्तुशुक्लरूपतया ॥ २७८ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये पट है । सामान्य परिणमनको धारण करनेवाला पट, सामान्य-स्वकालकी अपेक्षासे तो है, परन्तु वही पट तन्तु और शुक्लरूप विशेष परिणमन (परकाल) की अपेक्षासे नहीं है ।

भावकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन—

भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः ।
अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात् ॥ २७९ ॥

अर्थ—भाव नाम परिणामका है और वही तत्त्वके स्वरूपकी प्राप्ति है, अथवा शक्तियोंके समूहका नाम भी भाव है, अथवा वस्तुके सारका नाम ही भाव है ।

स विभक्तो द्विविधः स्यात्सामान्यात्मा विशेषरूपश्च ।
तत्र विवक्ष्यो मुख्यः स्यात्स्वभावोऽथ गुणोहि परभावः ॥२८०॥

अर्थ—वह भाव भी सामान्यात्मक और विशेषात्मक ऐसे दो भेदवाला है । उन दोनोंमें जो भाव विवक्षित होता है वह मुख्य होजाता है और जो अविवक्षित भाव है वह गौण होजाता है

भावका सामान्य और विशेष रूप—

सामान्यं विधिरेव हि शुद्धः प्रतिषेधकश्च निरपेक्षः ।
प्रतिषेधो हि विशेषः प्रतिषेध्यः सांशकश्च सापेक्षः ॥ २८१ ॥

अर्थ—सामान्य विधिरूप ही है । वह शुद्ध है, प्रतिषेधक है और निरपेक्ष है । विशेष प्रतिषेध रूप है, प्रतिषेध्य है अंश सहित है और सापेक्ष है ।

इसीका स्पष्ट अर्थ—

अयमर्थो वस्तुतया सत्सामान्यं निरंशकं यावत् ।
भक्तं तदिह विकल्पैर्द्रव्याद्यैरुच्यते विशेषश्च ॥ २८२ ॥

अर्थ—ऊपरके श्लोकका खुलासा अर्थ यह है कि सत् (पदार्थ) जब तक अपनी वस्तुतामें सामान्यरीतिसे स्थिर है, और जब तक उसमें भेद कल्पना नहीं की जाती है तब तक तो वह सत् शुद्ध अखण्ड है, और जब वह द्रव्य, गुण, पर्याय आदि भेदोंसे विभाजित किया जाता है, तब वही सत् विशेष-खण्डरूप कहलाता है ।

भावार्थ—वस्तुमें जब तक भेद बुद्धि नहीं होती है तब तक वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे शुद्ध है, और उसी अवस्थामें वह निरपेक्ष है । परन्तु जब उसमें अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे भेद कल्पना की जाती है, तब वह वस्तु परस्पर सापेक्ष हो जाती

है और उसी अवस्थामें वह प्रतिषेध्य भी है । जो सतत अन्वय रूपसे रहने वाली हो उसे विधि कहते हैं और जो व्यतिरेक रूपसे रहे उसे प्रतिषेध्य कहते हैं। वस्तु सामान्य अवस्थामें ही सतत अन्वय रूपसे रह सक्ती है, परन्तु भेद विवक्षामें वह व्यतिरेकरूप धारण करती है । इसी लिये सत् सामान्यको विधि रूप और सत् विशेषको प्रतिषेध रूप कहा गया है । वस्तुकी विशेष अवस्थामें ही प्रतिषेध कल्पना की जाती है ।

सारांश—

तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सामान्यतो यदाप्यस्ति।
शेषविशेषविवक्षाभावादिह तदेव तन्नास्ति ॥ २८३ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो चुकी कि सम्पूर्ण पदार्थ जिस समय सामान्यतासे विवक्षित किये जाते हैं उस समय वे सामान्यतासे तो हैं, परन्तु शेष-विशेष विवक्षाका अभाव होनेसे वे नहीं भी हैं ।

अथवा—

यदि वा सर्वमिदं यद्विवक्षितत्वाद्विशेषतोऽस्ति यदा ।
अविवक्षितसामान्यात्तदैव तन्नास्ति नययोगात् ॥ २८४ ॥

अर्थ—अथवा सम्पूर्ण पदार्थ जिस समय विशेषतासे विवक्षित किये जाते हैं, उस समय वे उसकी अपेक्षासे तो हैं, परन्तु उस समय सामान्य विवक्षाका उनमें अभाव होनेसे सामान्य दृष्टिसे वे नहीं भी हैं ।

स्वभाव और परभावका कथन—

तत्र विवक्ष्यो भावः केवलमस्ति स्वभावमात्रतया ।
अविवक्षितपरभावाभावतया नास्ति सममेव ॥ २८५ ॥

अर्थ—वस्तुके सामान्य और विशेष भावोंमें जो भाव विवक्षित होता है, वही केवल वस्तुका स्व-भाव समझा जाता है, और उसी स्वभावकी अपेक्षासे वस्तुमें अस्तित्व आता है। परन्तु जो भाव अविवक्षित होता है, वही पर-भाव कहलाता है । जिस समय स्वभावकी विवक्षा की जाती है, उस समय परभावकी विवक्षा न होनेसे उसका वस्तुमें अभाव समझा जाता है । इसलिये परभाव की अपेक्षासे वस्तुमें नास्तित्व आता है । अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एक कालमें ही वस्तुमें घटित होते हैं ।

सर्वत्र होनेवाला नियम—

सर्वत्र क्रम एष द्रव्ये क्षेत्रे तथाऽथ काले च ।
अनुलोमप्रतिलोमैरस्तीति विवक्षितो मुख्यः ॥ २८६ ॥

अर्थ—सर्वत्र यही (ऊपर कहा हुआ) क्रम लगा लेना चाहिये अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, चारों ही जगह अनुकूलता और प्रतिकूलताके अनुसार विवक्षित भाव है वही मुख्य समझा जाता है । यहां पर "च" से भावका ग्रहण किया गया है ।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः पटभावः पटसारो वा पटस्य निष्पत्तिः ।
अस्त्यात्मना च तदितरघटादिभावाऽविवक्षया नास्ति ॥२८७॥

अर्थ—पटका भाव, पटका सार, पटके स्वरूपकी प्राप्ति, ये तीनों ही बातें एक अर्थवाली हैं । पटका भाव अपने स्वरूपकी अपेक्षासे है परन्तु उसके इतर घट आदि भावोंकी अविवक्षा होनेसे वह नहीं है । क्योंकि विवक्षित भावको छोड़कर बाकी सभी भाव अविवक्षित हैं ।

बाकीके पांच भंगोंके लानेका सङ्केत—

अपि चैवं प्रक्रियया नेतव्याः पञ्चशेषभङ्गाश्च ।
वर्णवदुक्तद्वयमिह पटवच्छेषास्तु तद्योगात् ॥ २८८ ॥

अर्थ—इसी प्रक्रियाके अनुसार बाकीके पांच भङ्ग भी वस्तुमें घटित कर लेना चाहिये । 'स्यात् अस्ति' और 'स्यात् नास्ति' ये दो भंग वर्णकी तरह कह दिये गये हैं । बाकीके भंग पटकी तरह उन्हीं दो भंगोंके योगसे घटित करना चाहिये ।

भावार्थ—जिस प्रकार पकार और टकार इन दो अक्षरोंके योगसे पट शब्द बन जाता है, इसी प्रकार और भी अक्षरोंके योगसे वाक्य तथा पद्य बन जाते हैं । उसी प्रकार 'स्यात् अस्ति' और स्यान्नाति इन दो भङ्गोंके योगसे बाकीके पांच भंग भी बन जाते हैं । वस्तुमें, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावकी अपेक्षासे अस्तित्व और परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल और परभावकी अपेक्षासे नास्तित्व अथवा विवक्षित भावकी अपेक्षासे अस्तित्व और अविवक्षित भावकी अपेक्षासे नास्तित्व, ऐसे दो भंग तो ऊपर स्पष्टतासे कहे ही गये हैं । वे दोनों तो स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे स्वतन्त्र कहे गये हैं । यदि इन्ही दोनोंको स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे एकवार ही क्रमसे कहा जाय तो तीसरा भंग 'स्यात् अस्ति नास्ति' होजाता है । परन्तु यदि इन्हीं दोनोंको स्वरूप, पररूप की विवक्षा रखते हुए क्रमको छोड़कर एक साथ ही कहा जाय तो 'स्यात् अस्ति नास्ति' का मिला हुआ चौथा 'अवक्तव्य' भंग होजाता है । तीसरे भंगमें तो एकवार कहते हुए भी क्रम रक्खा गया था। इसलिये वचन द्वारा क्रमसे 'स्यात् अस्ति नास्ति' कहा जाता है परन्तु यदि एकवार कहते हुए क्रम न रखकर दोनोंका एक साथ ही कथन किया जाय तो वह कथन वचनमें नहीं आसक्ता है, क्योंकि वचन द्वारा एकवार एक ही बात कही जासक्ती है, दो नहीं, इसलिये दोनोंका मिला हुआ चौथा 'अवक्तव्य' भंग कहलाता है । और यदि स्वरूप, पररूप दोनोंको

एक साथ विवक्षित किये हुए उस अवक्तव्य भङ्गमें फिर स्वभाव की मुख्य विवक्षा की जाय तो पांचवां " स्यात् अस्ति अवक्तव्य " भङ्ग हो जाता है। और उसी अवक्तव्यमें यदि स्वभावको गौण और परभावको मुख्य रीतिसे विवक्षित किया जाय तो छठा ' स्यान्नास्ति अवक्तव्य ' भङ्ग हो जाता है। इसी प्रकार उस अवक्तव्यमें स्वभाव और परभाव दोनोंकी क्रमसे एकवार ही मुख्य विवक्षा रक्खी जाय तो सातवाँ ' स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ' भङ्ग होजाता है ।×

ये सातों ही भङ्ग स्वभाव, परभावकी मुख्यता और गौणतासे होने वाले स्यात् अस्ति, और स्यान्नास्ति इन्हीं दोनोंके विशेष हैं, इस लिये ग्रन्थकारने इन्ही दोनोंका स्वरूप दिखला कर बाकीके भङ्गोंको निकालनेके लिये सङ्केत कर दिया है।

शङ्काकार—

ननु चान्यतरेण कृतं किमथ प्रायः प्रयासभारेण ।
अपि गौरवप्रसंगादनुपादेयाच्च वाग्विलसितत्वात् ॥ २८९ ॥
अस्तीति च वक्तव्यं यदि वा नास्तीति तत्त्वसंसिध्यै ।
नोपादानं पृथगिह युक्तं तदनर्थकादिति चेत् ॥ २९० ॥

अर्थ—अस्ति नास्ति दोनोंमेंसे एक ही कहना चाहिये उसीसे काम चल जायगा, व्यर्थके प्रयास (कष्ट) से क्या प्रयोजन है। इसके सिवाय दोनों कहनेसे उल्टा गौरव होता है, तथा वचनोंका आधिक्य होनेसे उसमें ग्राह्यता भी नहीं रहती है। इसलिये तत्त्वकी भले प्रकार सिद्धिके लिये या तो केवल 'अस्ति' ही कहना ठीक है, अथवा केवल 'नास्ति' कहना

× यदि यहांपर कोई यह शङ्का करे कि जिस प्रकार अस्ति नास्ति को एकवार ही क्रमसे रखनेपर तीसरा और अक्रमसे रखनेपर चौथा भंग होजाता है, उसी प्रकार अवक्तव्यके साथ भी एकवार ही अस्ति नास्तिको क्रमसे विवक्षित रखनेपर सातवाँ और अक्रमसे विवक्षित रखनेपर आठवाँ भंग क्यों नहीं हो जाता ? इसका उत्तर यही है ऐसा करनेसे आठवाँ भंग ' अवक्तव्य-अवक्तव्य ' होगा, और वह अवक्तव्य सामान्यमें गर्भित होनेसे अवक्तव्य मात्र रहता है। इसलिये कुल सात ही भंग होसक्ते हैं। अधिक नहीं होसक्ते। क्योंकि वचनद्वारा कथन शैली सात ही प्रकार होसक्ती है क्योंकि वस्तुधर्मके सात भेद होनेसे संशय भी सात ही होसक्ते हैं और उनको दूर करनेकी जिज्ञासा भी सात ही प्रकार होसक्ती है। इसी प्रकार प्रथम द्वितीय चतुर्थ भंगोंके परस्परमें दो दो तीन तीन के संयोगसे और तृतीय पञ्चम षष्ठ सप्तम भंगोंके परस्पर दो २ तीन २ चार २ के संयोगसे जो भंग होते है वे सब इन्हीं सातोंमें गर्भित हैं। " प्रश्नवशादेकत्रवस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी', यह सप्तभंगीका लक्षण है। अष्टसहस्री

ही ठीक है । दोनोंका अलग २ ग्रहण करना युक्ति संगत नहीं है, दोनोंका ग्रहण व्यर्थ ही पड़ता है ?

उत्तर—

तन्न यतः सर्वं स्वं तदुभयभावाध्यवसितमेवेति ।
अन्यतरस्य विलोपे तदितरभावस्य निह्नवापत्तेः ॥ २९१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ ' अस्ति नास्ति ' स्वरूप उभय (दोनों) भावोंको लिये हुए हैं । यदि इन दोनों भावोंमेंसे किसी एकका भी लोप कर दिया जाय, तो बाकीका दूसरा भाव भी लुप्त हो जायगा ।

स यथा केवलमन्वयमात्रं वस्तु प्रतीयमानोपि ।
व्यतिरेकाभावे किल कथमन्वयसाधकश्च स्यात् ॥ २९२ ॥

अर्थ—यदि केवल ' अस्ति ' रूप वस्तुको माना जावे तो वह सदा अन्वयमात्र ही प्रतीत होगी, व्यतिरेक रूप नहीं होगी और विना व्यतिरेकभावके स्वीकार किये वह अन्वयकी साधक भी नहीं रहेगी ।

भावार्थ—वस्तुमें एक अनुगत प्रतीति होती है, और दूसरी व्यावृत्त प्रतीति होती है । जो वस्तुमें सदा एकसा ही भाव जताती रहे उसे अनुगत प्रतीति अथवा अन्वयभाव कहते हैं और जो वस्तुमें अवस्था भेदको प्रगट करे उसे व्यावृत्त प्रतीति अथवा व्यतिरेक कहते हैं । वस्तुका पूर्ण स्वरूप दोनों *भावोंको मिलकर ही होता है । इसी लिये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं । यदि इन दोनोंमेंसे एकको भी न माना जाय तो दूसरा भी नहीं ठहर सक्ता है । फिर

---

* सामान्यविशेषाकारोल्लेख्यनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरश्चाखिलो बाह्याध्यात्मिकप्रमेयोऽर्थः, न केवलमतो हेतो अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् स तदात्मा: अपि तु पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति स्थितिलक्षण-परिणामेनाऽर्थक्रियोपपत्तेश्च । सामान्यविशेषयोर्बुद्धिभेदस्य प्रतीतिसिद्धत्वात् रूपरसोदस्तुल्यकालस्या-ऽभिन्नाश्रयवर्तिनोप्यतएव भेदप्रसिद्धेः । एकेन्द्रियाध्यवसेयत्वाज्जातिव्यक्तयोरभेदे वातातपादावप्यभे-दप्रसङ्गः । सामान्यप्रतिभासो ह्यनुगताकारो विशेषप्रतिभासस्तु व्यावृत्ताकारोऽनुभूयते ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड

अर्थात् पदार्थ पूर्वाकारको छोड़ता है उत्तराकारको ग्रहण करता है और स्व-स्वरूपकी स्थिति रखता है, इसी त्रितयात्मकपरिणामसे पदार्थमें सामान्यविशेषात्मक अर्थक्रिया होती है । सामान्य, विशेषकी प्रतीति भी पदार्थमें होती है—रूप रसादिक यद्यपि अभिन्न काल तथा अ-भिन्न क्षेत्रवर्ती हैं तथापि उनकी भिन्न २ प्रतीति होती ही है । एकेन्द्रियादिक जीवोंमें जाति और व्यक्तिमें सर्वथा अभेद ही मान लिया जाय तो वात आतप आदिमें भी अभेदका प्रसंग होगा । सामान्यका प्रतिभास अनुगतरूपसे होता है जैसे कि जातिका । विशेषका प्रतिभास व्यावृत्तरूपसे होता है जैसे कि व्यक्तिका ।

ऐसी अवस्थामें वस्तु भी अपनी सत्ता नहीं रख सक्ती है। इसलिये अस्ति नास्तिरूप, अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही वस्तुमें एक साथ मानना ठीक है।

शङ्काकार—

ननु का नो हानिः स्यादस्तु व्यतिरेक एव तद्वदपि ।
किन्त्वन्वयो यथाऽस्ति व्यतिरेकोप्यस्ति चिदचिदिव ॥२९३॥

यदि वा स्यान्मतं ते व्यतिरेके नान्वयः कदाप्यस्ति ।
न तथा पक्षच्युतिरिह व्यतिरेकोप्यन्वये यतो न स्यात् ॥२९४॥

तस्मादिदमनवद्यं केवलमयमन्वयो यथास्ति तथा ।
व्यतिरेकोस्त्यविशेषादेकोक्त्या चैकशः समानतया ॥ २९५ ॥

दृष्टान्तोप्यस्ति घटो यथा तथा स्वस्वरूपतोस्ति पटः ।
न घटः पटेऽथ न पटो घटेपि भवतोऽथ घटपटाविह हि ॥२९६॥

न पटाभावो हि घटो न पटाभावे घटस्य निष्पत्तिः ।
न घटाभावो हि पटः पटसर्गो वा घटव्ययादिति चेत् ॥२९७॥

तत्किं व्यतिरेकस्यभावेन विनाऽन्वयोपि नास्तीति ।
अस्त्यन्वयः स्वरूपादिति वक्तुं शक्यते यतस्त्विति चेत् ॥२९८॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि यदि व्यतिरेकके अभावमें अन्वय भी नहीं बनता, तो व्यतिरेक भी उसी तरह मानो, इसमें हमारी कौनसी हानि है? किन्तु इतना अवश्य मानना चाहिये कि अन्वय स्वतन्त्र है, और व्यतिरेक स्वतंत्र है। वे दोनों ऐसे ही स्वतन्त्र हैं जैसे कि जीव और अजीव। यदि कदाचित् तुम्हारा ऐसा सिद्धान्त हो कि व्यतिरेकमें अन्वय कभी नहीं रहता है तो भी हमारे पक्षका खण्डन नहीं होता है, क्योंकि जिस प्रकार व्यतिरेकमें अन्वय नहीं रहता है, उसी प्रकार अन्वयमें व्यतिरेक भी नहीं रहता है। इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि जिस प्रकार केवल अन्वय है, उसी प्रकार व्यतिरेक भी है सामान्य दृष्टिसे दोनों ही समान हैं। जैसे अन्वय कहा जाता है, वैसे ही व्यतिरेक भी कहा जाता है। दृष्टान्त भी इस विषयमें घट पटका ले लीजिये। जिस प्रकार घट अपने स्वरूपको लिये हुए जुदा है, उसी प्रकार अपने स्वरूपको लिये हुए पट भी जुदा है। पटमें घट नहीं रहता है, और न घटमें पट ही रहता है, किन्तु घट और पट दोनों जुदे२ हैं। जिसप्रकार पटका अभाव घट नहीं है, और न पटके अभावमें घटकी उत्पत्ति ही होती है। उसी प्रकार पटभी घटका अभाव नहीं है, और न घटके अभावसे पटकी उत्पत्ति ही होती है। ऐसी अवस्थामें आपका

(ग्रन्थकारका) यह कहना कि व्यतिरेकके अभावमें अन्वय भी नहीं होता है, ठीक नहीं है, क्योंकि घट पटकी तरह हम यह कह सकते हैं कि अन्वय अपने स्वरूपसे जुदा है और व्यतिरेक अपने स्वरूपसे जुदा है, ऐसी अवस्थामें विना व्यतिरेकके भी अन्वय हो सकता है ? **भावार्थ**—ऊपर कहे हुए कथनके अनुसार शङ्काकार अन्वयको स्वतन्त्र मानता है और व्यतिरेकको स्वतन्त्र मानता है । वस्तुको वह सापेक्ष उभय धर्मात्मक नहीं मानता है ।

उत्तर—

तन्न यतः सदिति स्यादद्वैतं द्वैतभावभागपि च ।
तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात् ॥२९९॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । क्योंकि सत् (द्रव्य) कथंचित् अद्वैत भी है, और कथंचित् द्वैत भी है । उन दोनोंमें विधिके विवक्षित होनेपर वह सत् विधि मात्र है, और वही सत् निषेधके विवक्षित होनेपर निषेध मात्र है । **भावार्थ**—पदार्थ सामान्य विशेषात्मक अथवा विधि निषेधात्मक है, जिस समय जो भाव विवक्षित किया जाता है, उस समय वह पदार्थ उसी भाव स्वरूप है ।

वस्तुमें अन्वय और व्यतिरेक स्वतन्त्र नहीं हैं—

नहिं किंचिद्विधिरूपं किञ्चित्तच्छेषतो निषेधांशम् ।
आस्तां साधनमस्मिन्नाम द्वैतं न निर्विशेषत्वात् ॥ ३०० ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि द्रव्यका कुछ भाग तो विधिरूप है, और कुछ भाग निषेध-रूप है । इसमें द्वैत-हेतु भी नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्य केवल विशेषात्मक ही नहीं है । **भावार्थ**—शङ्काकारने अन्वय और व्यतिरेक अथवा विधि और निषेधको स्वतन्त्र बतलाया था, इस श्लोक द्वारा उसीका खण्डन किया गया है । यदि विधि और निषेधको स्वतन्त्र ही वस्तुमें माना जाय तो अवश्य ही उन दोनोंमें विरोध आवेगा । "नैकस्मिन्नसंभवात्" अर्थात् एक पदार्थमें दो विरोधी धर्म नहीं रह सक्ते हैं, यह दोष वस्तुमें तभी आता है जब कि उसमें दोनों धर्मोंको स्वतन्त्र माना जाता है, परस्पर सापेक्षतामें दोनों ही धर्म अविरुद्ध हैं । इस लिये जो विधि निषेधको स्वतन्त्र कहते हैं वे उपर्युक्त दोषसे अपनेको अलग नहीं कर सक्ते हैं और वे स्याद्वादके परिज्ञानसे सर्वथा अपरिचित हैं ।

विधि, निषेधमें सर्वथा नामभेद भी नहीं है—

न पुनर्द्रव्यान्तरवत्संज्ञा भेदोप्यबाधितो भवति ।
तत्र विधौ विधिमात्राच्छेषविशेषादिलक्षणाभावात् ॥ ३०१ ॥

अपि च निषिद्धत्वे सति नहि वस्तुत्वं विधेरभावत्वात्।
उभयात्मकं × यदि खलु प्रकृतं न कथं प्रमीयेत ॥३०२॥

अर्थः—ऐसा भी नहीं है कि द्रव्यान्तर (घट, पट) की तरह विधि, निषेध, दोनों ही सर्वथा भिन्न हों, सर्वथा नाम भेद भी इनमें बाधित ही है, क्योंकि सर्वथा विधिको कहनेसे वस्तु सर्वथा विधिमात्र ही हो जाती है, बाकीके विशेष लक्षणोंका उसमें अभाव ही हो जाता है। उसी प्रकार सर्वथा निषेधको कहनेसे उसमें विधिका अभाव होजाता है। इन दोनोंके सर्वथा भेदमें वस्तुकी वस्तुता ही चली जाती है। यदि वस्तुको उभयात्मक माना जाय तो प्रकृतकी सिद्धि होजाती है।

सारांश—

तस्माद्विधिरूपं वा निर्दिष्टं सन्निषेधरूपं वा।
संहृत्यान्यतरस्वादन्यतरे सन्निरूप्यते तदिह ॥ ३०३ ॥

अर्थ—जब यह बात सिद्ध होचुकी कि पदार्थ विधि निषेधात्मक है, तब वह कभी विधिरूप कहा जाता है, और कभी निषेधरूप कहा जाता है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोऽत्र पटत्वं यावन्निर्दिष्टमेव तन्तुतया।
तावन्न पटो नियमाद् दृश्यन्ते तन्तवस्तथाऽध्यक्षात् ॥ ३०४ ॥
यदि पुनरेव पटत्वं तदिह तथा दृश्यते न तन्तुतया।
अपि संगृह्य समन्तात् पटोयमिति दृश्यते सद्भिः ॥ ३०५ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये पट है। जिस समय पट तन्तुकी दृष्टिसे देखा जाता है, उस समय वह पट प्रतीत नहीं होता, किन्तु तन्तु ही दृष्टिगत होते हैं। यदि वही पट पटबुद्धिसे देखा जाता है, तो वह पट ही प्रतीत होता है, उस समय वह तन्तुरूप नहीं दीखता।

इत्यादिकाश्च बहवो विद्यन्ते पाक्षिका हि दृष्टान्ताः।
तेषामुभयाङ्गत्वान्नहि कोपि कदा विपक्षः स्यात् ॥ ३०६ ॥

अर्थ—पटकी तरह और भी अनेक ऐसे दृष्टान्त हैं, जो कि हमारे पक्षको पुष्ट करते हैं, वे सभी दृष्टान्त उभयपनेको सिद्ध करते हैं, इसलिये उनमेंसे कोई भी दृष्टान्त कभी हमारा (जैन दर्शनका) विपक्ष नहीं होने पाता है।

उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ—

अयमर्थो विधिरेव हि युक्तिवशात्स्यात्स्वयं निषेधात्मा।
अपि च निषेधस्तद्वद्विधिरूपः स्यात्स्वयं हि युक्तिवशात् ॥३०७॥

× यहां पर किसी एक अक्षरके छूट जानेसे छन्दका भंग हो गया है।

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा अर्थ यह है कि विधि ही युक्तिके वशसे स्वयं निषेधरूप होजाती है। और जो निषेध है, वह भी युक्तिके वशसे स्वयं विधिरूप होजाता है। **भावार्थ**—जिस समय पदार्थ सामान्य रीतिसे विवक्षित किया जाता है, उस समय वह समग्र पदार्थ सामान्यरूप ही प्रतीत होता है, ऐसा नहीं है कि उस समय पदार्थका कोई अंश विशेषरूप भी प्रतीत होता हो। इसी प्रकार विशेष विवक्षाके समय समग्र पदार्थ विशेषरूप ही प्रतीत होता है। जो दर्शनकार सामान्य और विशेषको पदार्थके जुदे जुदे अंश मानते हैं उनका इस कथनसे खण्डन होजाता है। क्योंकि पदार्थ एक समयमें दो रूपसे विवक्षित नहीं होसक्ता, और जिस समय जिस रूपसे विवक्षित किया जाता है, वह उस समय उसी रूपसे प्रतीत होता है। स्याद्वादका जितना भी स्वरूप है सब विवक्षाधीन है। इसीलिये जो नयदृष्टिको नहीं समझते हैं, वे स्याद्वाद तक नहीं पहुंच पाते।

जैन—स्याद्वादीका स्वरूप—

इति विन्दन्निह तत्त्वं जैनः स्यात्कोऽपि तत्त्ववेदीति ।
अर्थात्स्यात्स्याद्वादी तदपरथा नाम सिंहमाणवकः ॥ ३०८ ॥

अर्थ—ऊपर कही हुई रीतिके अनुसार जो कोई तत्त्वका ज्ञाता तत्त्वको जानता है, वही जैन है, और वही वास्तविक स्याद्वादी है। यदि ऊपर कही हुई रीतिसे तत्त्वका स्वरूप नहीं जानता है, तो वह स्याद्वादी नहीं है किन्तु उसका नाम सिंहमाणवक है। किसी बालकको यदि सिंह कह दिया जाय तो उसे सिंह माणवक कहते हैं। बालक वास्तवमें सिंह नहीं है।

शङ्काकार—

ननु सदिति स्थायि यथा सदिति तथा सर्वकालसमयेषु ।
तत्र विवक्षितसमये तत्स्यादथवा न तदिदमिति चेत् ॥ ३०९ ॥

अर्थ—सत् ध्रुवरूपसे रहता है, इसलिये वह सम्पूर्ण कालके सभी समयोंमें रहता है, फिर आप (जैन) यह क्यों कहते है कि वह सत् विवक्षित समयमें ही है, अविवक्षित समयमें वह नहीं है?

उत्तर—

सत्यं तत्रोत्तरमिति सन्मात्रापेक्षया तदेवेदम् ।
न तदेवेदं नियमात् सदवस्थापेक्षया पुनः सदिति ॥ ३१० ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ठीक है, तुम्हारी शंकाका उत्तर यह है कि सत्तामात्रकी अपेक्षासे तो सत् वही है, और सतकी अवस्थाओंकी अपेक्षासे सत् वह नहीं है।

शङ्काकार—

ननु तदतदोर्द्वयोरिह नित्यानित्यत्वयोर्द्वयोरेव।
को भेदो भवति मिथो लक्षणलक्ष्यैकभेदभिन्नत्वात् ॥ ३११ ॥

अर्थ—तत् और अतत इन दोनोंमें तथा नित्य और अनित्य इन दोनोंमें परस्पर क्या भेद है, क्योंकि दोनोंका एक ही लक्षण है, और एक ही लक्ष्य है? **भावार्थ**—तत्का अर्थ है—वह, और अतत्का अर्थ है—वह नहीं, जो तत् और अतत्का अर्थ है वही नित्य और अनित्यका अर्थ है, फिर दोनोंके कहनेकी क्या आवश्यक्ता है?

उत्तर—

नैवं यतो विशेषः समयात्परिणमति वा न नित्यादौ।
तदतद्भावविचारे परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा ॥ ३१२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि नित्य अनित्यमें और तद्भाव अतद्भावमें अवश्य भेद है। भेद भी यह है कि नित्य, अनित्य पक्षमें तो वस्तुके समय समयमें होनेवाले परिणमनका ही विचार होता है, वहां पर 'समान परिणाम हैं या असमान हैं, इसका विचार नहीं होता है, परन्तु तद्भाव, अतद्भाव पक्षमें यह विचार होता है कि जो वस्तुमें परिणमन हो रहा है, वह सदृश है अथवा विसदृश है।

शङ्काकार—

ननु सन्नित्यमनित्यं कथंचिदेतावतैव तत्सिद्धिः।
तत्किं तदतद्भावाभावविचारेण गौरवादिति चेत् ॥ ३१३ ॥

अर्थ—सत् कथंचित नित्य है, कथंचित् अनित्य है, इतना ही कहनेसे वस्तुकी सिद्धि हो जाती है, फिर तत, अतत्के भाव और अभावके विचारसे क्या प्रयोजन? इससे उल्टा गौरव ही होता है?

उत्तर—

नैवं तदतद्भावाभावविचारस्य निन्हवे दोषात्।
नित्यानित्यात्मनि सति सत्यपि न स्यात् क्रियाफलं तत्त्वम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है, क्योंकि तत, अतत्के भाव और अभावका विचार यदि न किया जाय तो वस्तु सदोष ठहरती है। तत, अतत्के विना वस्तुको नित्य और अनित्य स्वरूप मानने पर भी उसमें क्रिया और फल नहीं बन सकते।

सर्वथा नित्य पक्षमें दोष—

अयमर्थो यदि नित्यं सर्वं सत् सर्वथेति किल पक्षः।

न तथा का णकार्य, कारकासिद्धिस्तु वि[illegible] भावात् ॥३१५॥

अर्थ—स्पष्ट अर्थ यह है कि " सर्व सत् नित्य ही है " यदि सर्वथा ऐसा ही पक्ष मान लिया जाय, तो कारण और कार्य, दोनों ही नहीं बनते । विक्रियाका अभाव होनेसे कार्य-सिद्धि ही नहीं होती ।

सर्वथा अनित्य पक्षमें दोष—

यदि वा सदनित्यं स्यात्सर्वस्वं सर्वथेति किल पक्षः ।
न तथा क्षणिकत्वादिह क्रियाफलं कारकाणि तत्त्वं च ॥३१६॥

अर्थ—अथवा सत्को यदि सर्वथा अनित्य ही स्वीकार किया जाय तो वह क्षणिक ठहरेगा । और क्षणिक होनेसे उसमें न तो क्रियाका फल ही हो सकता है, और न कारणता ही आ सकती है ।

केवल नित्यानित्यात्मक पक्षमें दोष—

अपि नित्यानित्यात्मनि सत्यपि सति वा न साध्यसंसिद्धिः ।
तदतद्भावाभावैर्विना न यस्माद्विशेषनिष्पत्तिः ॥ ३१७ ॥

अर्थ—यदि तत् अतत्के भाव, अभावका विचार न करके केवल नित्यानित्यात्मक ही पदार्थ माना जाय, तो भी साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि विना तत् अतत्का विचार किये पदार्थमें विशेष बुद्धि ही नहीं हो सकती है ।

अथ तद्यथा यथा सत्परिणममानं यदुक्तमस्तु तथा ।
भवति समीहितसिद्धिर्विना न तदतद्विवक्षया हि यथा ॥३१८॥

अर्थ—यदि सत् (पदार्थ) परिणमन करता हुआ भी नित्य अनित्य स्वरूप ही माना जाय, और उसमें तत् अतत्की विवक्षा न की जाय तो इच्छित अर्थकी सिद्धि नहीं होसक्ती है । उसे ही नीचे दिखलाते हैं—

अपि परिणममानं सन्नतदेतत् सर्वथाऽन्यदेवेति ।
इति पूर्वपक्षः किल विना तदेवेति दुर्निवारः स्यात् ॥ ३१९ ॥

अपि परिणतं यथा सद्दीपशिखा सर्वथा तदेव यथा ।
इति पूर्वपक्षः किल दुर्वारः स्याद्विना न तदिति नयात् ॥३२०॥

अर्थ—" परिणमन करता हुआ सत् वही नहीं है जो पहले था किन्तु उससे सर्वथा भिन्न ही है " इस प्रकारका किया हुआ पूर्व पक्ष (आशंका) विना तत्पक्षके स्वीकार किये दूर नहीं किया जा सक्ता है । इसी प्रकार उस परिणमनशील सत्में दूसरा पूर्वपक्ष ऐसा भी

होसक्ता है कि " यह दीप--शिखा सर्वथा वही है जो पहले थी " इसका समाधान भी विना अतत् पक्षके स्वीकार किये नहीं होसक्ता है। भावार्थ–तत् और अतत्में यह विचार किया जाता है कि यह वस्तु किसी दृष्टिसे वही है और किसी दृष्टिसे वह नहीं है किन्तु दूसरी है। परन्तु नित्य, अनित्यमें यह विचार नहीं होता है, वहां तो केवल नित्य, अनित्य रूपसे परिणमन होनेका ही विचार है, वही है या दूसरा है, इसका कुछ विचार नहीं होता है। यदि वस्तुमें तत्, अतत् पक्षको न माना जाय, केवल नित्य अनित्य पक्षको ही माना जाय तो अवश्य ही उसमें ऊपर की हुई आशंकायें आसक्ती हैं, उनका समाधान विना तत् अतत् पक्षके स्वीकार किये नहीं होसक्ता।

सारांश—

तस्मादवसेयं सन्नित्यानित्यत्ववत्तदतद्वत्।
यस्मादेकेन विना न समीहितसिद्धिरध्यक्षात् ॥ ३२१ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात निश्चित समझना चाहिये कि नित्य अनित्य पक्षकी तरह तत अतत पक्ष भी वस्तुमें मानना योग्य है। क्योंकि जिस प्रकार नित्य अनित्य पक्षके विना स्वीकार किये इच्छित अर्थकी सिद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार विना तत् अतत पक्षके स्वीकार किये भी इच्छित अर्थकी सिद्धि नहीं हो सक्ती है। इसलिये दोनोंका मानना ही परम आवश्यक है।

शङ्काकार—

ननु भवति सर्वथैव हि परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा।
ईहितसिद्धिस्तु सतः परिणामित्वाद्यथाकथञ्चिद्वै ॥ ३२२ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि परिणाम चाहे सर्वथा समान हो अथवा चाहे सर्वथा असमान हो, तुम्हारे इच्छित अर्थकी सिद्धि तो पदार्थको परिणामी माननेसे ही यथा कथञ्चित् बन ही जायगी ? भावार्थ–पदार्थको केवल परिणामी ही मानना चाहिये उसमें सदृश अथवा असदृशके विचारकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उत्तर—

तन्न यतः परिणामः सन्नपि सदृशैकपक्षतो न तथा।
न समर्थश्चार्थकृते नित्यैकान्तादिपक्षवत् सदृशात् ॥ ३२३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि सत्में दो प्रकारका ही परिणमन होगा, सदृशरूप अथवा विसदृशरूप। यदि सदृशरूप ही सत्में परिणमन माना जाय तो भी इष्ट अर्थकी सिद्धि नहीं होती है। जिस प्रकार नित्यैकान्त पक्षमें दोष आते हैं उसी प्रकार सदृश परिणाममें भी दोष आते हैं उससे भी अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती है।

नापीष्टः संसिध्यै परिणामो विसदृशैकपक्षात्मो ।
क्षणिकैकान्तवदसतः प्रादुर्भावात् सतो विनाशाद्वा ॥ ३२४ ॥

अर्थ—यदि विसदृश रूप एक पक्षात्मक ही परिणमन माना जाय तो भी अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती हैं । केवल विसदृश पक्ष माननेमें क्षणिकैकान्तकी तरह असत्‌की उत्पत्ति और सत्‌का विनाश होने लगेगा ।

एतेन निरस्तोऽभूत् क्लीवत्वादात्मनोऽपराद्धतया ।
तदतद्भावाभावापन्हववादी विबोध्यते त्वधुना ॥ ३२५ ॥

अर्थ—सदृश, असदृश पक्षमें नित्यैकान्त और अनित्यैकान्तके समान दोष आनेसे तत् अतत् पक्षका लोप करनेवाला शंकाकार खण्डित हो चुका । क्योंकि वह आत्मापराधी होनेसे स्वयं शक्ति हीन होचुका । अस्तु, अब हम (आचार्य) उसे समझाते हैं ।

तत् अतत् भावके स्वरूपके कहनेकी प्रतिज्ञा—

तदतद्भावनिबद्धो यः परिणामः सतः स्वभावतया ।
तद्दर्शनमधुना किल दृष्टान्तपुरस्सरं वक्ष्ये ॥ ३२६ ॥

अर्थ—तद्भाव और अतद्भावके निमित्तसे जो वस्तुका स्वभावसे परिणमन होता है, उसका स्वरूप अब दृष्टान्त पूर्वक कहा जाता है ।

सदृश परिणमनका उदाहरण—

जीवस्य यथा ज्ञानं परिणामः परिणमँस्तदेवेति ।
सदृशस्योदाहृतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या ॥ ३२७ ॥

अर्थ—जैसे जीवका ज्ञान परिणाम, परिणमन करता हुआ सदा वही (ज्ञान रूप ही) रहता है । ज्ञानके परिणमनमें ज्ञानत्व जाति (ज्ञानगुण) का कभी उल्लंघन नहीं होता है । यही सदृश परिणमनका उदाहरण है ।

असदृश परिणमनका उदाहरण—

यदि वा तदिह ज्ञानं परिणामः परिणमन्न तदिति यतः ।
स्वावसरे यत्सत्त्वं तदसत्त्वं परत्र नययोगात् ॥ ३२८ ॥

अर्थ—अथवा वही जीवका ज्ञान परिणाम परिणमन करता हुआ वह नहीं भी रहता है, क्योंकि उसका एक समयमें जो सत्त्व है, वह नय दृष्टिसे दूसरे समयमें नहीं है ।

इस विषयमें भी दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः सन्ति च परिणामतोपि कालांशाः ।
जातेरनतिक्रमतः सदृशत्वनिबन्धना एव ॥ ३२९ ॥

—यहां पर दूसरा यह भी दृष्टान्त है कि यद्यपि कालके अंश परिणमनशील हैं तथापि स्वजातिका उल्लंघन नहीं होनेसे वे पदार्थमें सदृशबुद्धिके ही उत्पादक हैं।

अपि नययोगा[illegible] सदृशसाधनसिध्यै त एव कालांशाः।
समयः समयः समयः सोपीति [illegible]तित्वात् ॥ ३३० ॥

अर्थ—अथवा नयदृष्टिसे वे ही कालके अंश विसदृश बुद्धिके उत्पादक हो जाते हैं। क्योंकि उनमें एक समय, दो समय, तीन समय, चार समय आदि अनेक रूपसे भिन्न २ प्रतीति होती है, वही क्षणभेद-प्रतीति पदार्थ भेदका कारण है।

अभिन्न प्रतीतिमें हेतु—

अतदिदमिह प्रतीतौ क्रियाफलं कारकाणि हेतुरिति।
तदिदं स्यादिह संविदि हि हेतुस्तत्त्वं हि चेन्मिथः प्रेम ॥३३१॥

अर्थ—'अतत्' अर्थात् यह वह नहीं है इस प्रतीतिमें क्रिया, फल, कारण ये सब हेतु हैं। 'तत्' अर्थात् यह वही है इस प्रतीतिमें परस्पर प्रेमभाव (ऐक्यभाव) को लिये हुए तत्त्व ही नियमसे हेतु है। भावार्थ-किसी वस्तुमें अथवा किसी गुणमें पूर्व पर्याय कारणरूप पड़ती है और उत्तर पर्याय कार्यरूप पड़ती है। तथा उस वस्तुकी अथवा गुणकी पर्यायका पलटना क्रिया कहलाती है। यदि भेद बुद्धिसे विचार किया जाय, तब तो तीनों बातें जुदी २ हैं, क्रिया, भिन्न पदार्थ है, कारणरूप पर्याय भिन्न पदार्थ है, तथा कार्य-फलरूप पर्याय भिन्न पदार्थ है। क्योंकि पूर्व पर्याय और उत्तर पर्यायका समय जुदा २ है, परन्तु द्रव्यदृष्टिसे-अभेद बुद्धिसे यदि विचार किया जाय तो द्रव्य अथवा गुण-अभिन्नरूप ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि पर्याय वस्तुसे जुदी नहीं है, अथवा सब पर्यायोंका समूह ही वस्तु है। इसलिये अभिन्न अवस्थामें क्रिया, कारण, फल सब एकरूप ही प्रतीत होते हैं।

इसीका स्पष्टीकरण—

अयमर्थः सदसद्वत्तदतदपि च विधिनिषेधरूपं स्यात्।
न पुनर्निरपेक्षतया तद्द्वयमपि तत्त्वमुभयतया ॥ ३३२ ॥

अर्थ—तात्पर्य यह है कि सत् और असत्के समान तत् और अतत् भी विधि, निषेधरूप है, परन्तु निरपेक्ष दृष्टिसे वे ऐसे नहीं है, क्योंकि एक दूसरेकी सापेक्षतामें दोनों रूप ही वस्तु है। भावार्थ-जिस प्रकार सत्की विवक्षामें विवक्षित् पदार्थ विधिरूप पड़ता है और अविवक्षित असत्-निषेधरूप पड़ता है उसी प्रकार तत् अतत् विवक्षामें भी क्रमसे विवक्षित पदार्थ विधिरूप और अविवक्षित पदार्थ निषेधरूप पड़ता है। इतना विशेष है कि विधि, निषेधकी अपेक्षा रखता है और निषेध विधिकी अपेक्षा रखता है, सर्वथा स्वतन्त्र एक भी नहीं है।

सर्वथा स्वतन्त्र माननेसे पदार्थ व्यवस्था ही नहीं बनती है, क्योंकि पदार्थका स्वरूप कथञ्चित् विधि निषेधात्मक उभय रूप है।

विशेष—

रूपनिदर्शनमेतत्तदिति यदा केवलं विधिर्मुख्यः।
अतदिति गुणो पृथक्त्वात्तन्मात्रं निरवशेषतया ॥ ३३३॥
अतदिति विधिर्विवक्ष्यो मुख्यःस्यात् केवलं यदादेशात्।
तदिति स्वतो गुणत्वादविवक्षितमित्यतन्मात्रम् ॥ ३३४ ॥

अर्थ— विधि निषेधकी परस्पर सापेक्षतामें इतना विशेष है कि जिस समय केवल विधिको मुख्यतासे कहा जाता है उस समय अतत् अर्थात् निषेध कथन गौण हो जाता है, क्योंकि वह विधिसे जुदा है। विधिकी विवक्षामें वस्तु केवल विधि रूप ही प्रतीत होती है। उसी प्रकार जब 'अतत्' यह विधि कथन विवक्षित होता है, तब आदेशानुसार केवल वही मुख्य होजाता है, उस समय तत् कथन अविवक्षित होनेसे गौण होजाता है, अतत् विवक्षामें वस्तु तन्मात्र नहीं समझी जाती किन्तु अतन्मात्र ही समझी जाती है। यही विधिनिषेधका स्वरूप निदर्शन है। भावार्थ–भेद विवक्षामें वस्तु भिन्न भिन्न रूपसे प्रतीत होती है अभेद विवक्षामें एक रूपसे प्रतीत होती है। और प्रमाण विवक्षामें एक रूपसे अर्थात् उभयात्मक प्रतीत होती है।

शेषविशेषाख्यानं ज्ञातव्यं चोक्तवक्ष्यमाणतया।
सूत्रे पदानुवृत्तिर्ग्राह्या सूत्रान्तरादिति न्यायात् ॥ ३३५ ॥

अर्थ—इस विषयमें विशेष व्याख्यान पहले कहा जा चुका है तथा आगे भी कहा गया है, वहांसे जान लेना चाहिये। ऐसा न्याय भी प्रसिद्ध है कि कोई बात किसी सूत्रमें यदि न हो तो वह दूसरे सूत्रसे लेली जाती है। जैसे कि व्याकरणादिमें पूर्व सूत्रसे पदोंकी अनुवृत्ति करली जाती है।

शङ्काकार—

ननु किं नित्यमनित्यं किमथोभयमनुभयञ्च तत्त्वं स्यात्।
व्यस्तं किमथ समस्तं क्रमतः किमथाक्रमादेतत् ॥ ३३६॥

अर्थ—क्या वस्तु नित्य है, अथवा अनित्य है ? क्या उभयरूप है, अथवा अनुभय (दोनोंरूप नहीं) रूप है ? क्या जुदी २ है, अथवा एकरूप है? क्या क्रम पूर्वक है, अथवा अक्रम पूर्वक है ?

उत्तर—

सत्त्वं स्वपरनिहत्यै सर्वं किल सर्वथेति पदपूर्वं।
स्वपरोपकृतिनिमित्तं सर्वं स्यात्स्यात्पदाङ्कितं तु पदम् ॥ ३३७॥

अर्थ—यदि वस्तुके पहले सर्वथा पद जोड़ दिया जाय तब तो वह स्वपर दोनोंकी विघातक हैं। यदि उसके पहले स्यात् पद जोड़ दिया जाय तब वही स्वपर दोनोंकी उपकारक है। भावार्थः—वस्तु अनन्त धर्मात्मक है इसलिये विवक्षावश उसमें एक धर्म मुख्य इतर गौण हो जाता है। इस गौण और मुख्यकी विवक्षामें ही पदार्थ कभी किसीरूप और कभी किसी रूप कहा जासकता है परन्तु मुख्य गौणकी विवक्षाको छोड़कर सर्वथा एकान्तरूप ही पदार्थको माननेसे किसी पदार्थकी सिद्धि नहींहो पाती, इसलिये पदार्थ कथञ्चित् द्रव्य दृष्टिसे नित्यरूप भी है कथंचित् पर्याय दृष्टिसे अनित्यरूप भी है कथंचित् प्रमाण दृष्टिसे उभयरूप भी है, कथंचित् नय दृष्टिसे अनुभयरूप भी है, अथवा बचनागोचर होनेसे भी अनुभयरूप है। कथंचित् भेद विवक्षासे व्यस्तरूप भी है, कथंचित अभेद विवक्षासे समस्तरूप भी है कथञ्चित् वचन विवक्षासे क्रमरूप भी है और कथंचित् वचनकी अविवक्षासे अक्रमरूप भी है इस प्रकार वस्तुके साथ स्यात् पद, लगा देनेसे सभी बातें बन जाती हैं। विवक्षानुसार कुछ भी कहा जा सकता है परन्तु स्यात् पदको वस्तुसे हटाकर उसके साथ सर्वथा पद लगा देनेसे पदार्थ ही स्वरूप लाभ नहीं कर सक्ता है। सारांश अनेकान्त दृष्टिसे सब ठीक है, एकान्त दृष्टिसे एक भी ठीक नहीं है।

उसीका खुलासा—

अथ तद्यथा यथा सत्स्वतोस्ति सिद्धं तथा च परिणामि।
इति नित्यमथानित्यं सच्चैकं द्विस्स्वभावतया ॥ ३३८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पदार्थ स्वयं सिद्ध है, उसी प्रकार उसका परिणमन भी स्वतः सिद्ध है। अर्थात् परिणमनशील ही पदार्थ अनादि निधन है। वह सदा रहता है अर्थात् वह अपने स्वरूपको कभी नहीं छोड़ता है इस दृष्टिसे वह नित्य भी है, और प्रतिक्षण वह बदलता भी रहता है अर्थात् एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें आया करता है इस दृष्टिसे अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही पदार्थ दो स्वभाव वाला है।

नित्य दृष्टि—

अयमर्थो वस्तु यदा केवलमिह दृश्यते न परिणामः।
नित्यं तदव्ययादिह सर्वं स्यादन्वयार्थनययोगात् ॥ ३३९ ॥

अर्थ—जिस समय निरन्तर एक रूपसे चले आये हुए पदार्थ पर दृष्टि रक्खी जाती है और उसके परिणामपर दृष्टि नहीं रक्खी जाती उस समय पदार्थ नित्य रूप प्रतीत होता है। क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता।

अनित्य दृष्टि—

अपि च यदा परिणामः केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु।
अभिनवभावानभिनवभावाभावादनित्यमंशनयात् ॥ ३४० ॥

अर्थ—तथा जिस समय पदार्थपर दृष्टि नहीं रक्खी जाती केवल उसके परिणामपर ही दृष्टि रक्खी जाती है उस समय वस्तुमें नवीन भाव और पुराने भावकी प्राप्ति अप्राप्ति होनेसे वस्तु अनित्यरूप प्रतीत होती है। यहांपर केवल वस्तुके परिणाम अंशको ग्रहण किया गया है, ऊपर उसके द्रव्य अंशको ग्रहण किया गया है। वस्तुके एक देशको ग्रहण करने वाला ही नय है। यहां पर शङ्काकार १८ श्लोकों द्वारा सत् और परिणामके विषयमें अपनी नाना कल्पनाओं द्वारा शङ्का करता है।

ननु चैकं सदिति यथा तथा च परिणाम एव तद् द्वैतम्।
वक्तुं क्षममन्यतरं क्रमतो हि समं न तदिति कुतः॥ ३४१॥

अर्थ—जिस प्रकार एक सत् है उसी प्रकार एक परिणाम भी है, इन दोनोंमें स्वतन्त्र रीतिसे द्वैत भाव है। फिर क्या कारण है कि उन दोनोंमेंसे एकका क्रमसे ही कथन किया जाय, दोनोंका कथन समानतासे एक साथ क्यों नहीं किया जाता। भावार्थ—जब सत् और परिणाम दोनों ही समान हैं तो फिर वे क्रमसे क्यों कहे जाते हैं, स्वतन्त्र रीतिसे एक साथ क्यों नहीं?

क्या सत् और परिणाम वर्णोंकी ध्वनिके समान है—

अथ किं कखादिवर्णाः सन्ति यथा युगवदेव तुल्यतया।
वक्ष्यन्ते क्रमतस्ते क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरिति न्यायात्॥ ४४२॥

अर्थ—सत् और परिणाम क्या क, ख आदि वर्णोंके समान दोनों बराबर हैं। जिस प्रकार क, ख आदि सभी वर्ण एक समान हैं परन्तु वे क्रमसे बोले जाते हैं, क्योंकि ध्वनि-उच्चारण क्रमसे ही होता है अर्थात् एक साथ दो वर्णोंका उच्चारण हो नहीं सक्ता। क्या इस न्यायसे सत और परिणाम भी समानता रखते हैं और वे क्रमसे बोले जाते हैं?

क्या विन्ध्य हिमाचलके समान है—

अथ किं खरतरदृष्ट्या विन्ध्यहिमाचलयुगं यथास्ति तथा
भवतु विवक्ष्यो मुख्यो विवक्तुरिच्छावशाद्गुणोऽन्यतरः॥४४३॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार विन्ध्य पर्वत और हिमालय पर्वत दोनों ही स्वतन्त्र हैं परन्तु दोनोंमें वक्ता की इच्छासे जो तीक्ष्णदृष्टिसे विवक्षित होता है वह मुख्य समझा जाता है और दूसरा अविवक्षित गौण समझा जाता है। क्या सत् और परिणाम भी इसी प्रकार स्वतन्त्र हैं, और उन दोनोंमें जो विवक्षित होता है वह मुख्य समझा जाता है तथा दूसरा गौण समझा जाता है?

क्या सिंह साधु विशेषणोंके समान है—

अथ चैकः कोपि यथा सिंहः साधुर्विवक्षितो द्वेधा।
सत्परिणामोपि तथा भवति विशेषणविशेष्यवत् किमिति॥३४४

अर्थ—अथवा जिस प्रकार कोई पुरुष शूरता, पराक्रम आदि गुणोंके धारण करनेसे कभी सिंह कहलाता है और सज्जनता, नम्रता आदि गुणोंके धारण करनेसे कभी साधु कहलाता है। एक ही पुरुष विवक्षाके अनुसार दो विशेषणोंवाला हो जाता है, अथवा उन दोनोंमें विवक्षित विशेषण कोटिमें आजाता है और अविवक्षित विशेष्य कोटिमें चला जाता है। क्या उसी प्रकार सत् और परिणाम भी विवक्षाके अनुसार कहे हुए किसी पदार्थके विशेषण हैं? अर्थात् क्या इनका भी कोई विशेष्य और है?

क्या दो नाम और सव्येतर गोविषाणके समान हैं—

अथ किमनेकार्थत्वादेकं नामद्वयाङ्कितं किञ्चित्।
अग्निर्वैश्वानर इव सव्येतरगोविषाणवत् किमथ ॥ ३४५ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक ही पदार्थ अनेक नामोंकी अपेक्षा रखनेसे अग्निवैश्वानरके समान दो नामोंसे कहा जाता है अर्थात् अग्निवैश्वानर आदि भेदोंसे एक ही अग्निके दो नाम (अनेक) हो जाते हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम एक ही पदार्थके दो नाम हैं? अथवा जिस प्रकार गौके दाँये बाँये (एक साथ) दो सींग होते हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी किसी वस्तुके समान कालमें होनेवाले दो धर्म हैं?

क्या कच्ची और पकी हुई पृथ्वीके समान हैं—

अथ किं काल विशेषादेकः पूर्वं ततोऽपरः पश्चात्।
आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं तद्यथा तथा किमिति ॥३४६ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार कच्ची पृथ्वी (कच्चा घड़ा) पहले होती है, पीछे अग्निमें देनेसे वह पकी हुई हो जाती है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी काल विशेषसे आगे पीछे होनेवाले हैं? अर्थात् क्या इन दोनोंमेंसे कोई एक पहले होता है और दूसरा पीछे?

क्या दो सपत्नियोंके समान हैं—

अथ किं कालक्रमतोऽप्युत्पन्नं वर्त्तमानमिव चास्ति।
भवति सपत्नीद्वयमिह यथा मिथः प्रत्यनीकतया ॥ ३४७ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार किसी पुरुषकी आगे पीछे परणी हुई दो स्त्रियां (सौतें) एक कालमें परस्पर विरुद्धरूपसे रहती हैं। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम काल क्रमसे आगे पीछे उत्पन्न होते हुए भी एक कालमें—वर्तमानकालमें परस्पर विरुद्धरूपसे रहते हैं? अर्थात् भिन्न कालमें उत्पन्न होकर भी दोनों एक कालमें समान अधिकारी बनकर परस्पर विरुद्धता धारण करते हैं?

क्या छोटे बड़े भाइयों तथा मल्लोंके समान हैं--

अथ किं ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वयमिव मिथः सपक्षतया ।
किमथोपसुन्दसुन्दमल्लन्यायात्किलेतरेतरस्मात् ॥ ३४८ ॥

अर्थ--अथवा जिस प्रकार बड़े छोटे दो भाई परस्पर प्रेमसे रहते हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम आगे पीछे उत्पन्न होकर वर्त्तमानकालमें परस्पर अविरुद्ध रीतिसे रहने हैं ? अथवा जिस प्रकार * उपसन्द और सुन्द नामके दो मल्ल परस्पर एक दूसरेसे जय अपजय प्राप्त करते हुए अन्तमें मर गये उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर प्रतिद्वन्द्विता रखते हुए अन्तमें नष्ट हो जाते हैं ?

क्या परत्वापरत्व तथा पूर्वापर दिशाओंके समान हैं—

केवल मुपचारादिह भवति परत्वापरत्ववत्किमथ ।
पूर्वापरदिग्द्वैतं यथा तथा द्वैतमिदमपेक्षतया ॥ ३४९ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार दो छोटे बड़े पुरुषोंमें परापर व्यवहार केवल उपचारसे होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी उपचारसे कहे जाते हैं। अथवा जिस प्रकार पूर्व दिशा, पश्चिम दिशा आदि व्यवहार होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी केवल अपेक्षा मात्रसे कहे जाते हैं। **भावार्थ**—बड़े की अपेक्षा छोटा, छोटेकी अपेक्षा बड़ा, यह केवल आपेक्षिक व्यवहार है। यदि छोटाबड़ापन वास्तविक हो तो छोटा छोटा रहना चाहिये और बड़ा बड़ा ही रहना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है, जो छोटा कहलाता है वह भी अपनेसे छोटेकी अपेक्षासे बड़ा कहलाता है, अथवा जो बड़ा कहलाता है वह भी अपनेसे बड़ेकी अपेक्षासे छोटा कहलाता है। इसलिये वास्तवमें छोटापन अथवा बड़ापन कोई वस्तु नहीं है केवल व्यवहार कालकृत अपेक्षासे होनेवाला व्यवहार है। इसी प्रकार क्षेत्रकृत परापर व्यवहार होता है। जैसे—यह निकट है, यह दूर है इत्यादि। यह निकट और दूरका व्यवहार भी केवल परस्परकी अपेक्षासे होता है। वास्तवमें निकटता और दूरता कोई वस्तुभूत नहीं है। परत्वापरत्वके समान दिशायें भी काल्पनिक हैं। सूर्योदयकी अपेक्षासे पूर्व दिशा और सूर्यके छिपनेकी अपेक्षासे पश्चिम दिशाका व्यवहार होता है। इसी प्रकार सूर्यको दाहिनी भुजाकी

* हितोपदेशमें ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि सुन्द उपसुन्द नामके दो मल्लोंने महादेवकी आराधना की, महादेव उनपर प्रसन्न हो गये, दोनोंने महादेवसे उनकी स्त्री पार्वतीको वरमें मांगा। महादेवने क्रोधपूर्वक उसे उनको दे दिया। फिर दोनों ही पार्वतीके लिये लड़ने लगे। महादेवने वृद्ध ब्राह्मणका रूप रखकर उनसे कहा कि जो युद्धमें तुममेंसे विजय प्राप्त करे उसकी पार्वती होगी। दोनों ही ने इस बातको पसंद किया और क्षत्रिय पुत्र होनेसे दोनों ही लड़ने लगे। दोनों समान बलवाले थे इस लिये लड़तेर दोनों ही मर गये।

ओर रखकर खड़े होनेसे सामने उत्तर और पीठ पीछे दक्षिणका व्यवहार होता है, तथा ऊपर ऊर्ध्व और नीचे अधोदिशाका व्यवहार होता है। यह व्यवहार केवल आकाशमें किया जाता है। क्योंकि सूर्योदयकी ओरके आकाशको ही पूर्व दिशा कहा जाता है, उस ओरके आकाशको छोड़कर पूर्व दिशा और कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये दिशा कोई पदार्थ नहीं है * केवल काल्पनिक व्यवहार है* उसी प्रकार सत् और परिणाम भी क्या काल्पनिक हैं।

क्या कारक द्वैतके समान हैं—

किमथाधाराधेयन्यायादिह कारकादि द्वैतमिव।
स यथा घटे जलं स्यान्न स्यादिह जले घटः कश्चित् ॥ ३५० ॥

अर्थ—अथवा यह कहा जाय कि घड़ेमें जल है, तो यह कथन दो कारकोंको प्रकट करता है। घड़ेमें, यह वाक्य अधिकरण कारक रूप है, और जल है, यह वाक्य कर्त्ता कारक-रूप है। क्योंकि घड़ा जलका आधार है, और जल स्वतन्त्र है इसलिये कर्त्ता कारक है। दूसरे वाक्योंमें ऐसा भी कहा जा सकता है कि सप्तमी विभक्त्यन्त पद अधिकरण कारक होता है, और प्रथमा विभक्त्यन्त पद कर्त्ता कारक होता है। अधिकरण आधाररूप होता है और उसमें रहनेवाला आधेय होता है ऐसा विपरीत नहीं होता है कि आधेय तो आधार होजाय और आधार आधेय होजाय, क्योंकि घटमें जल रहता है परन्तु जलमें घट नहीं रहता जिस प्रकार घट और जलमें आधार आधेय भावरूप दो कारक हैं, क्या उसी प्रकार सत् और परिणाम भी हैं? अर्थात् उनमें भी जलके समान एक आधेय रूप और दूसरा घड़ेके समान आधार रूप है?

क्या बीजाङ्कुरके समान हैं—

अथ किं बीजाङ्कुरवत्कारणकार्यद्वयं यथास्ति तथा।
स यथा योनीभूतं तत्रैकं योनिजं तदन्यतरम् ॥ ३५१ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार बीज और अङ्कुरमें कार्यकारण भाव है। बीज अङ्कुरकी उत्पत्तिका स्थान—योनि है, और अङ्कुर उससे उत्पन्न—योनिज है। उसी प्रकार सत् और परिणाममें भी क्या कार्य कारण भाव है?

क्या कनकोपलके समान हैं—

अथ किं कनकोपलवत् किञ्चित्स्वं किञ्चिदस्वमेव यतः।
ग्राह्यं स्वं सारतया तदितरमस्वं तु हेयमसारतया ॥ ३५२ ॥

---

* दिशोऽप्याकाशेऽन्तर्भावः आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपंक्तिषु इतः इदमिति व्यवहारोपपत्तेः। सर्वार्थ सिद्धि—

*नैयायिक, दार्शनिक द्रव्योंके नौ भेद करते हैं और उन्हीं नौ भेदोंमें दिशा भी एक द्रव्य मानते हैं। ऐसा उनका मानना ऊपरके कथनसे खण्डित होजाता है।

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक कनक पाषाण नामका पत्थर होता है उसमें कुछ तो सोनेका अंश रहता है, और कुछ पाषाणका अंश रहता है। उन दोनोंमें स्वर्णांश सारभूत होनेसे ग्रहण करने योग्य होता है ? और दूसरा पाषाणांश असारभूत होनेसे छोड़ने योग्य होता है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममें भी एक ग्रहण करने योग्य है और दूसरा छोड़ने योग्य है ?

क्या वाच्य वाचकके समान है—

अथ किं वागर्थद्वयमिव सम्पृक्तं सदर्थसंसिद्ध्यै ।
पानकवत्तन्नियमादर्थाभिव्यञ्जकं द्वैतात् ॥ ३५३ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार वचन और अर्थ दोनों मिले हुए ही पानकके समान पदार्थके साधक हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी मिले हुए पदार्थके सूचक हैं ? भावार्थ—घड़ी शब्दके कहनेसे उस गोल पदार्थका बोध होता है जो कि समयको बतलाता है, इसलिये घड़ी शब्द उस गोल घड़ीरूप अर्थका वाचक है, तथा वह गोल पदार्थ उस शब्दका वाच्य है। इसी प्रकार जितने भी शब्द हैं वे पदार्थोंके संकेतरूप हैं। इसीको वाच्य वाचक सम्बन्ध कहते हैं। वाच्य वाचकका सम्बन्ध होनेसे ही पानकके समान पदार्थका बोध होता है। लवंग, इलाइची, सोंठ, कालीमिरच इन मिली हुई वस्तुओंसे जो स्वादु रस विशेष तैयार होता है उसीको पानक कहते हैं। जिस प्रकार पानकके समान वाच्य वाचकका सम्बन्ध होनेसे वाचक अपने सांकेतिक वाच्यका बोध कराता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी पदार्थके बोधक हैं ? अर्थात् जिस प्रकार वाच्यसे वाचक भिन्न हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी पदार्थसे भिन्न हैं ?

क्या भेरी दण्डके समान है—

अथ किमवश्यतया तद्वक्तव्यं स्यादनन्यथासिद्धेः ।
भेरी दण्डवदुभयोः संयोगादिव विवक्षितः सिद्ध्येत् । ३५४ ।

अर्थ—अथवा जिस प्रकार भेरी और दण्डके संयोगसे ही शब्द होता है। केवल भेरी (नगाड़ा) से भी शब्द नहीं हो सक्ता और न केवल दण्डसे ही हो सकता है किंतु दोनोंके संयोगसे ही होता है इसलिये दोनोंका होना ही आवश्यक है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणामके संयोगसे पदार्थकीसिद्धि होती है ? क्या दोनोंका कहना इसीलिये आवश्यक है ? अर्थात् जिस प्रकार भेरी और दण्ड दोनों ही भिन्न २ पदार्थ हैं परन्तु दोनोंके मेलसे वाद्य होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी भिन्न२ हैं, तथा उनके मेलसे पदार्थकी सिद्धि होती है ?

क्या अपूर्ण न्यायके समान हैं—

अथ किमुदासीनतया वक्तव्यं वा यथारुचित्वाम्न ।
यदपूर्णन्यायादप्यन्यतरेणेह साध्यसंसिद्धेः । ३५५ ।

अर्थ—अथवा जिस प्रकार अपूर्ण न्यायमें एकका मुख्यतासे ग्रहण होता है और दूसरेका गौणरीतिसे ग्रहण होता है। गौणरीतिसे ग्रहण होनेवालेका विवेचन रुचिपूर्वक नहीं होता है किन्तु उदासीनतासे होता है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं? अथवा जिस प्रकार अपूर्ण न्यायसे पुकारे हुए दो नामोंमेंसे किसी एकसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममेंसे किसी एकसे ही साध्यकी (पदार्थकी) सिद्धि होती है?

क्या मित्रोंके समान हैं—

अथ किमुपादानतया स्वार्थं सृजीत कश्चिदन्यतमः ।
अपरः सहकारितया प्रकृतं पुष्णाति मित्रवत्तदिति ॥ ३५६ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक पुरुष किसी कार्यको स्वयं करता है, उसका मित्र उसे उसके कार्यमें सहायता पहुंचाता है, मित्रकी सहायतासे वह पुरुष अपने कार्यमें सफलता कर लेता है* उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममें एक उपादान होकर कार्य करता है, दूसरा उसका सहायक बनकर पदार्थ सिद्धि कराता है?

क्यां आदेशके समान हैं—

शत्रु वदादेशः स्यात्तद्वत्तद्द्वैतमेव किमिति यथा ।
एकं विनाश्य मूलादन्यतमः स्वयमुदेति निरपेक्षः ॥ ३५७ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार शत्रुके समान आदेश होता है जो कि पहलेको सर्वथा हटाकर उसके स्थानमें स्वयं ठहरता है * उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी हैं? सत्-को सर्वथा नष्ट कर कभी स्वयं परिणाम होता है और परिणामको सर्वथा नष्ट कर कभी स्वयं सत् उदित होता है?

क्या दो रज्जुओंके समान हैं—

अथ किं वैमुख्यतया विसन्धिरूपं द्वयं तदर्थकृते ।
वामेतरकरवर्त्तितरज्जू युग्मं यथास्वमिदमिति चेत् ॥ ३५८ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार छाछ विलोते समय दाँये बाँये हाथमें रहनेवालीं दो रस्सियां परस्पर विमुखतासे अनमिल रहती हुई कार्यको करती हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर विमुख रहकर ही पदार्थकी सिद्धि कराते हैं?

---

* जैसे व्याकरणमें बतलाया जाता है कि छ को तुक् हो तो यदि तुक् आदेशरूपसे होगा तब तो छ के स्थानमें होगा। यदि आगमरूपसे होगा तो छ के स्वासन्न (पासमें) होगा। इसलिये आदेश शत्रुके समान और आगम मित्रके समान होता है।

अब आचार्य प्रत्येक शंकाका उत्तर देते हैं—

नैवमदृष्टान्तत्वात् स्वेतरपक्षोभयस्य घातित्वात् ।
नाचरते मन्दोपि च स्वस्य विनाशाय कश्चिदेव यतः ॥३५९॥

अर्थ—शंकाकारने ऊपरके श्लोकों द्वारा जो जो शंकाएँ की हैं, तथा जो जो दृष्टान्त दिये हैं वे ठीक नहीं हैं। जो दृष्टान्त दिये हैं वे दृष्टान्त नहीं किन्तु दृष्टान्ताभास हैं। क्योंकि उन दृष्टान्तोंमें एक पक्षकी भी सिद्धि नहीं होती है। न तो उन दृष्टान्तोंसे शंकाकारका ही अभिप्राय सिद्ध होता है। और न जैन सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। इसलिये दोनों पक्षोंके घातक होनेसे वे दृष्टान्त, दृष्टान्त कोटिमें ही नहीं आ सक्ते हैं। कोई मन्दबुद्धिवाला पुरुष भी तो ऐसा प्रयोग नहीं करता है जिससे कि स्वयं उसका ही विघात होता हो।

सत् परिणामके विषयमें वर्ण पंक्तिका दृष्टान्त ठीक नहीं है—

तत्र मिथस्सापेक्षधर्मद्वयदेशिनप्रमाणस्य ।
माभूदभाव इति नहि दृष्टान्तो वर्णपंक्तिरित्यत्र ॥३६०॥

अर्थ—सत और परिणाम इन परस्पर सापेक्ष दोनों धर्मोको विषय करनेवाला प्रमाण होता है। उस प्रमाणका अभाव न हो इसलिये इस विषयमें वर्णपंक्तिका दृष्टान्त ठीक नहीं है। भावार्थ—वर्णपंक्ति स्वतन्त्र है। क, ख, ग, घ आदि वर्ण परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए सिद्ध नहीं है किन्तु पृथक् २ सिद्ध हैं। परन्तु सत और परिणाम परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये वर्णपंक्तिका दृष्टान्त इस विषयमें विषम पड़ता है, इन्हीं परस्पर सापेक्ष दोनों धर्मोको प्रमाण निरूपण करता है। प्रमाणका अभाव हो नहीं सक्ता, कारण वस्तुका स्वरूप ही उभय धर्मात्मक है। उसीको विषय करनेवाला प्रमाण है इसलिये प्रमाण व्यवस्था अनिवार्य है।

प्रमाणाभावमें नय भी नहीं ठहरता—

अपि च प्रमाणाभावे नहि नयपक्षः क्षमः स्वरक्षायै ।
वाक्यविवक्षाभावे पदपक्षः कारकोपि यथैकः ॥३६१॥

अर्थ—पहले तो प्रमाणका अभाव किसी दृष्टांतमे सिद्ध ही नहीं होता, दूसरे प्रमाणके अभावमें नय पक्ष भी अपनी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं रह सकता है तथा वाक्य विवक्षाके विना पदपक्ष और कारकसे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। भावार्थ—यदि 'घीका घड़ा लाओ' इस वाक्यकी विवक्षा न रक्खी जाय, और केवल घीका, घड़ा, इन भिन्न२ पदोंका विना सम्बन्धके स्वतन्त्र प्रयोग किया जाय तो इन पदोंसे तथा षष्ठी और कर्म कारकसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, वे निरर्थक ही हैं। इसी प्रकार यदि परस्पर सापेक्ष उभय धर्मको विषय करनेवाले प्रमाणको न माना जाय तो पदार्थके एक अंशको विषय करनेवाला नय भी नहीं ठहर सक्ता है। क्योंकि सम्पूर्ण धर्मोंको विषय करनेवाले ज्ञानके रहते हुए ही एक २ धर्मको विषय करनेवाला ज्ञान ठीक होसक्ता है, अन्यथा नहीं।

आशङ्का—

संस्कारस्य वशादिह पदेषु वाक्यप्रतीतिरिति चेन्न।
वाच्यं प्रमाणमात्रं न नया ह्युक्तस्य दुर्निवारत्वात्॥ ३३२॥
अथ चैवं सति नियमाद् दुर्वारं दूषणद्वयं भवति।
नयपक्षच्युतिरिति वा क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरहेतुत्वम्॥ ३३३॥

अर्थ—ऊपर यह कहा गया है कि विना प्रमाणके स्वीकार किये नय पक्ष भी नहीं ठहर सक्ता है जैसे—विना वाक्य विवक्षाके पदपक्ष अर्थकारी नहीं ठहरता है। इसके उत्तरमें यदि यह आशंका उठाई जाय कि संस्कारके वशसे पदोंमें ही वाक्यकी प्रतीति मानली जाय तो अर्थात् नयोंमें ही प्रमाणकी कल्पना करली जाय तो? उत्तरमें कहा जाता है कि यदि नयोंमें ही वाक्य प्रतीति स्वीकार की जायगी तो प्रमाण मात्र ही कहना चाहिये फिर नय सिद्ध नहीं होते हैं। वही दूषण—नय पक्षका अभाव होना बना रहता है। अथवा पदोंमें वाक्य विवक्षाके समान नयोंमें ही प्रमाण पक्ष स्वीकार करनेमे दो दूषण आते हैं। (१) नय-पक्षका अभाव होजायगा। क्योंकि नयोंके स्थानमें तो उन्हें प्रमाणरूप माना गया है। क्रमसे होने वाली जो ध्वनि है उसे शाब्दबोधमें कारणता नहीं रहेगी। (२) क्योंकि जब पदोंमें ही वाक्यकी प्रतीति हो जायगी तो एक पदसे ही अथवा एक अक्षरसे ही समस्त वाक्योंका बोध होजायगा, ऐसी अवस्थामें ध्वनिको अर्थ प्रतीतिमें हेतुता नहीं आसकेगी।

विन्ध्य हिमाचल भी दृष्टान्ताभास है—

विन्ध्यहिमाचलयुग्मं दृष्टान्तो नेष्टसाधनायालम्।
तदनेकत्वे नियमादिच्छानर्थक्यताऽविवक्षश्च॥ ३३४॥

अर्थ—विन्ध्याचल और हिमाचल दोनों ही स्वतन्त्र सिद्ध हैं इसलिये एकमें मुख्य विवक्षा दूसरेमें गौण—अविवक्षा हो नहीं सक्ती है। दूसरी बात यह है कि जब दोनों ही स्वतन्त्र सिद्ध हैं तो एकमें मुख्य और दूसरेमें गौण विवक्षाकी इच्छाका होना ही निरर्थक है, इसलिये विन्ध्याचल और हिमाचल पर्वतोंका दृष्टान्त भी इष्ट पदार्थको सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं है। **भावार्थ**—विन्ध्याचल और हिमाचल दोनों ही जब स्वतन्त्र हैं तो एकमें प्रधानता दूसरेमें अप्रधानता कैसे आसक्ती है? क्योंकि मुख्य गौण विवक्षाका कारण अभिन्न पदार्थमें दृष्टिभेद है, तथा जहांपर एक धर्म दूसरे धर्मकी अपेक्षा रखता हो, अथवा विना अपेक्षाके वह भी सिद्ध न हो सक्ता हो, वहां पर विवक्षित धर्म मुख्य और अविवक्षित धर्म गौण होता है, विन्ध हिमाचलमें कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता है, और न विना अपेक्षाके किसीकी असिद्धि ही होती है। यदि विन्ध्याचल विना हिमाचलके न होसके अथवा हिमाचल विना विन्ध्याचलके न हो सके तब तो परस्पर अपेक्षा मानी जाय और इच्छानुसार एकको

विवक्षित दूसरेको अविवक्षित बनाया जाय, परन्तु ऐसा नहीं है। दोनों ही सर्वथा स्वतन्त्र हैं इसलिये बिना एक दूसरेकी अपेक्षाके सिद्ध नहीं होनेवाले सत् और परिणामके विषयमें उक्त दोनों पर्वतोंका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

सिंह साधु भी दृष्टान्ताभास है—

नालमसौ दृष्टान्तः सिंहः साधुर्यथेह कोपि नरः ।
दोषादपि स्वरूप.सिद्धत्वात्किल यथा जलं सुरभि ॥ ३६५ ॥
नासिद्धं हि स्वरूपासिद्धत्वं तस्य साध्यशून्यत्वात् ।
केवलमिहरूढिवशादुपेक्ष्य धर्मद्वयं यथेच्छत्वात् ॥ ३६६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी पुरुषके सिंह, साधु विशेषण बना दिये जाते हैं, उसी प्रकार सत् और परिणाम भी पदार्थके विशेषण हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहांपर सत् परिणामात्मक पदार्थ साध्य है, उस साध्यकी सिद्धि इस दृष्टान्तसे नहीं होती है, इसलिये सिंह साधुका दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। इस दृष्टान्तमें स्वरूपासिद्ध दोष आता है यहांपर स्वरूपासिद्ध दोष असिद्ध नहीं है किन्तु साध्यशून्य होनेसे सुघटित ही है। जैसे—किसी पुरुषके रूढिमात्रसे इच्छानुसार सिंह और साधु ऐसे दो नाम रख दिये जाते हैं, उनमें सिंहत्व साधुत्व धर्मोंकी कुछ भी अपेक्षा नहीं की जाती है। केवल दो नामोंकी कल्पना कर दी जाती है, परन्तु सत्परिणाम काल्पनिक नहीं है किन्तु वास्तविक है, इसलिये यह दृष्टान्त उभयधर्मात्मक साध्यसे शून्य है। जिस प्रकार नैयायिकोंके यहां जलमें सुगन्धि सिद्ध करना असिद्ध है क्योंकि *जलमें सुगन्धि स्वरूपसे ही असिद्ध है इसी प्रकार इस दृष्टान्तमें साध्य स्वरूपसे ही असिद्ध है। **भावार्थ**—स्वरूपासिद्ध दोषमें कहींपर हेतुका स्वरूप असिद्ध होता है कहीं पर साध्यका स्वरूप असिद्ध होता है। उपर्युक्त दृष्टान्तसे आश्रयासिद्ध दोष भी आता है, क्योंकि सत्परिणामका कोई आश्रय नहीं है।

अग्नि वैश्वानर भी दृष्टान्ताभास है—

अग्निर्वैश्वानर इव नामद्वैतं च नेष्टसिद्ध्यर्थम् ।
साध्यविरुद्धत्वादिह संदृष्टेरथ च साध्यशून्यत्वात् ॥ ३६७ ॥
नामद्वयं किमर्थादुपेक्ष्य धर्मद्वयं च किमपेक्ष्य ।
प्रथमे धर्माभावेप्यलं विचारेण धर्मिणोऽभावात् ॥ ३६८ ॥
प्रथमेतरपक्षेऽपि च भिन्नमभिन्नं किमन्वयात्तदिति ।
भिन्नं चेदविशेषादुक्तवदसतो हि किं विचारतया ॥ ३६९ ॥

* नैयायिक मत जलमें गन्ध नहीं मानता है। इसलिये उसीके मतानुसार 'जलं सुरभि' दृष्टान्त देकर यहां खण्डन किया गया है।

अथ चेद्युतसिद्धत्वात्तन्निष्पत्तिर्द्वयोः पृथक्त्वेऽपि ।
सर्वस्य सर्वयोगात् सर्वः सर्वोऽपि दुर्निवारः स्यात् ॥ ३७० ॥
चेदन्वयादभिन्नं धर्मद्वैतं किलेति नयपक्षः ।
रूपपटादिवदिति किं किमथ क्षारद्रव्यवच्चेति ॥ ३७१ ॥
क्षारद्रव्यवदिदं चेदनुपादेयं मिथोनपेक्षत्वात् ।
वर्णततेरविशेषन्यायान्न नयाः प्रमाणं वा ॥ ३७२ ॥
रूपपटादिवदिति चेत्सत्यं प्रकृतस्य सानुकूलत्वात् ।
एकं नामद्वयाङ्कमिति पक्षस्य स्वयं विपक्षत्वात् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—अग्नि और वैश्वानरके समान सत् और परिणाम ये दो नाम ही माने जाय तो भी इष्ट सिद्धि नहीं होती है । क्योंकि वे साध्यसे विरुद्ध पड़ते हैं । दृष्टान्त भी साध्य शून्य है, अर्थात् हमारा साध्य—परस्पर सापेक्ष उभय धर्मात्मक पदार्थरूप है उस उभय धर्मात्मक पदार्थरूप साध्यकी सिद्धि दो नामोंसे नहीं होती है । तथा अग्नि और वैश्वानर ये दो नाम भिन्न रहकर एक अग्निके वाचक हैं, इसलिये यह दृष्टांत भी साध्य रहित है । यदि नाम द्वयका दृष्टान्त साध्य विरुद्ध नहीं है तो हम पूछते हैं कि नाम दो धर्मोंकी उपेक्षा रखते हैं अथवा अपेक्षा रखते हैं ? यदि पहला पक्ष स्वीकार किया जाय, अर्थात् दो नाम दो धर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखते केवल एक पदार्थके दो नाम हैं तो धर्मोंका अभाव ही हुआ जाता है, धर्मोंके अभावमें धर्मी भी नहीं ठहर सक्ता है, फिर तो विचार करना ही व्यर्थ है । यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाय अर्थात् दो नाम दो धर्मोंकी उपेक्षा नहीं करते किन्तु अपेक्षा रखते हैं तो वे दोनों धर्म द्रव्यसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं ? यदि द्रव्यसे भिन्न हैं तो भी वे नहींके समान हैं, फिर भी कुछ विशेषता नहीं हुई, जो धर्म द्रव्यसे सर्वथा जुदे हैं तो वे उसके नहीं कहे जा सकते हैं, इसलिये उनका विचार करना ही निरर्थक है । यदि यह कहा जाय कि दोनों धर्म द्रव्यसे यद्यपि जुदे हैं क्योंकि वे युतसिद्ध हैं । *तथापि उन धर्मोंका द्रव्यके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे कोई दोष नहीं आता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, यदि भिन्न पदार्थोंका इस प्रकार सम्बन्ध मानलिया जाय तो सब पदार्थोंका सब पदार्थोंके साथ सम्बन्ध हो जायगा ऐसी अवस्थामें सभी पदार्थ संकर हो जायगे अर्थात् जैसे सर्वथा भिन्न धर्मोंका एक द्रव्यके साथ सम्बन्ध माना जाता है वैसे उनका हरएक द्रव्यके साथ सम्बन्ध होसक्ता है, क्योंकि जब वे धर्म द्रव्यसे सर्वथा जुदे ही हैं तो जैसे उनका एक द्रव्यसे सम्बन्ध होसक्ता है वैसे सब द्रव्योंसे होसक्ता है फिर सभी द्रव्य परस्पर मिल जायंगे । द्रव्योंमें परस्पर भेद ही

* जो एक दूसरेसे आश्रित न होकर स्वतन्त्र हों उन्हें युतसिद्ध कहते हैं । जैसे चौकी पर रक्खी हुई पुस्तक ।

न हो सकेगा। इसलिये द्रव्यसे धर्मोंको जुदा मानना ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि दोनों धर्म द्रव्यसे अभिन्न हैं तो प्रश्न होता है कि वे वस्त्र और वस्त्रमें रहनेवाले रूप (रंग) की तरह अभिन्न हैं अथवा आटेमें मिले हुए खारेपनकी तरह अभिन्न हैं ? यदि कहा जाय कि खारे द्रव्यके समान वे धर्म द्रव्यसे अभिन्न हैं तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि लवणकी रोटीमें जो खारापन है वह लवणका है, रोटीका नहीं है। रोटीसे खारापन जुदा ही है। इसीके समान धर्मद्वय भी द्रव्यसे जुदे पड़ेंगे। जुदे होनेसे उनमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा भी + नहीं रहेगी। परंतु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये क्षार द्रव्यके समान उनकी अभिन्नता उपादेय (ग्राह्य) नहीं है। क्षार द्रव्यके समान जो अभिन्नता है वह वैसी ही है जैसी कि क, ख, ग, घ आदि वर्णोंकी पंक्ति सर्वथा स्वतन्त्र होती है। * इस प्रकारकी स्वतन्त्रता माननेसे न तो नय ही सिद्ध होते हैं और न प्रमाण ही सिद्ध होता है। विना परस्परकी अपेक्षाके एक भी सिद्ध नहीं हो सक्ता है। इसलिये क्षार द्रव्यके समान न मानकर रूप और पटके समान उन धर्मोंकी अभिन्नता यदि मानी जाय तो यह प्रकृतके अनुकूल ही है। अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र और उसका रंग अभिन्न है, विना वस्त्रकी अपेक्षा लिये उसके रंगकी सिद्धि नहीं, और विना उसके रंगकी अपेक्षा लिये वस्त्रकी सिद्धि नहीं, उसी प्रकार यदि परस्पर सापेक्ष सत् और परिणामकी अभिन्नता भी मानी जाय तब तो हमारा कथन ही (जैन सिद्धान्त) सिद्ध होता है, फिर शङ्काकारका एक पदार्थके ही सत् और परिणाम, दो नाम कहना तथा अग्नि और वैश्वानरका दृष्टान्त देना निरर्थक ही नहीं किन्तु उसके पक्षका स्वयं विघातक है।

सव्येतर गोविषाण भी दृष्टान्ताभास है।

अपि चाकिञ्चित्कर इव सव्येतरगोविषाणदृष्टान्तः।
सुरभि गगनारविन्दमिवाश्रयासिद्धदृष्टान्तात् ॥ ३७४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गौके दांये बांये दो सींग एक साथ उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सत् और परिणाम भी एक साथ होनेवाले वस्तुके धर्म हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, सत् और परिणामके विषयमें गौके सींगोंका दृष्टान्त अकिञ्चित्कर है अर्थात् इस दृष्टान्तसे कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि इस दृष्टान्तमें आश्रयासिद्ध दोष आता है। जहां पर

+ आटे और लवणमें यद्यपि स्वादकी अपेक्षासे परस्पर अपेक्षा है परन्तु ऐसी अपेक्षा नहीं है कि विना आटेके लवणकी सिद्धि न हो, अथवा विना लवणके आटेकी सिद्धि न हो। परन्तु सत् और परिणाममें वैसी ही अपेक्षा अभीष्ट है विना सत्के परिणाम नहीं ठहरता और विना परिणामके सत् नहीं ठहरता। दोनोंकी एक दूसरेकी अपेक्षामें ही सिद्धि है।

* भिन्न २ रक्खे हुए सभी वर्ण स्वतन्त्र हैं, ऐसी अवस्थामें उनसे किसी कार्यकी भी सिद्धि नहीं हो सक्ती है।

हेतुका आश्रय ही असिद्ध होता है वहां आश्रयासिद्ध दोष आता है। जैसे—"गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्" अर्थात् यदि कोई पुरुष ऐसा अनुमान बनावे कि आकाशका कमल सुगंधित है, क्योंकि वह कमल है, जो जो कमल होता है वह वह सुगंधित होता है जैसे तालावका कमल, तालावमें कमल होता है वह सुगंधित ही होता है। इसी प्रकार जो आकाशमें कमल है वह भी कमल है इसलिये वह भी सुगंधित है। यहां पर आकाशका कमल यह पक्ष* है, सुगंधिवाला है, यह साध्य है× क्योंकि वह कमल है यह हेतु+ है। यह अनुमान नहीं है किन्तु अनुमानाभास है। क्योंकि हेतुका आश्रय ही असिद्ध है। आकाशमें कमलकी यदि संभावना हो तब तो वहां सुगंधि भी रह सक्ती है। परन्तु आकाशमें तो कमलका होना ही असंभव है फिर उसकी सुगन्धिका होना तो नितान्त ही असंभव है। जब कमलरूप हेतु ही आकाशमें नहीं रहता है तब सुगन्धिरूप साध्य भी वहां कैसे रह सक्ता है? इसलिये जिस प्रकार यहांपर आश्रय न होनेसे आश्रयासिद्ध दोष आता है उसी प्रकार गौके दाँये बाँये सींगोंके दृष्टान्तमें भी आश्रयासिद्ध दोष आता है। क्योंकि सींगोंका दृष्टान्त दिया गया है, सींग विना आश्रयके रह नहीं सक्ते हैं अथवा जिस प्रकार दोनों सींगोंका आश्रय गौ है उसी प्रकार यदि सत् और परिणामका आश्रयभूत कोई पदार्थ हो, तब तो दोनोंकी एक कालमें सत्ता मानी जा सक्ती है, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त उनका आश्रय ही असिद्ध है, क्योंकि सत् परिणामके सिवाय पदार्थका स्वरूप ही कुछ नहीं है। सत् परिणाम उभय धर्मात्मक ही तो पदार्थ है। इसलिये गौके सींगोंका दृष्टांत ठीक नहीं है। *

भावार्थ—दूसरी बात इस दृष्टान्तकी विरुद्धतामें यह भी है कि जिस प्रकार गौके सींग किसी काल विशेषसे उत्पन्न होते हैं उस प्रकार सत् परिणाम किसी काल विशेषसे उत्पन्न नहीं होते हैं। न तो सत् परिणामसे भिन्न इनका कोई आधार ही है, और न इनकी किसी कालविशेषसे उत्पत्ति ही है।

---

* जिस आधार पर साध्य सिद्ध किया जाय उस आधारको पक्ष कहते हैं। उसका दूसरा नाम आश्रय भी है।

× जो सिद्ध किया जाय उसे साध्य कहते हैं।

+ जिसके द्वारा साध्य सिद्ध किया जाय उसे हेतु कहते हैं।

* यहांपर अनुमान वाक्य यह है—एकपदार्थोपादानकारणकौ सत्परिणामौ, समकालाविर्भावकौ, एकपदार्थोपादानकारणकत्वात्, सव्येतरगोविषाणवत्। जिस प्रकार गौके सींगोंका उपादान कारण गौ है इसलिये दोनों सींगोंकी एक साथ उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार सत् परिणामका भी एक पदार्थ उपादान कारण है इसलिये वे भी समानकालमें उत्पन्न होते हैं। यह अनुमान ठीक नहीं है। यहांपर आश्रयासिद्ध दोष आता है।

स्पष्टीकरण—

न यतः पृथगिति किञ्चित् सत्परिणामातिरिक्तमिह वस्तु ।
दीपप्रकाशयोरिह गुम्फितमिव तद्द्वयोरैक्यात् ॥ ३७५ ॥

अर्थ—गौके सीगोंका दृष्टान्त इसलिये ठीक नहीं है कि उसमें सीगोंका आश्रय गौ पदार्थ जुदा पड़ता है, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त वस्तु पड़ती ही नहीं है । क्योंकि सत् परिणाम स्वरूप ही पदार्थ है, उस उभयात्मक भावसे अतिरिक्त वस्तु कोई जुदा पदार्थ नहीं है । उन दोनोंका ऐक्यभाव ही वस्तु है, वह दीप और प्रकाशके समान है । दीपसे प्रकाश भिन्न नहीं है और प्रकाशसे दीप भिन्न नहीं है ।

कच्ची पक्की पृथ्वी भी दृष्टान्ताभास है—

आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं नेह भवति दृष्टान्तः ।
क्रमवर्त्तित्वादुभयोः स्वेतरपक्षद्वयस्य घातित्वात् ॥ ३७६ ॥
परपक्षवधस्तावत् क्रमवर्तित्वाच्च स्वतः प्रतिज्ञायाः ।
असमर्थसाधनत्वात् स्वयमपि वा बाधकः स्वपक्षस्य ॥ ३७७ ॥
तत्साध्यमनित्यं वा यदि वा नित्यं निसर्गतो वस्तु ।
स्यादिह पृथिवीत्वतया नित्यमनित्यं ह्यपक्वपक्वतया ॥३७८॥

अर्थ—कच्ची पक्की पृथ्वी भी सत् परिणामके विषयमें दृष्टान्त नहीं हो सक्ती है, क्योंकि कच्ची पृथ्वी (कच्चा घड़ा) पहले होती है पक्की पृथ्वी (पक्का घड़ा) पीछे होती है, दोनों क्रमसे होते हैं, इसलिये यह दृष्टान्त उभयपक्ष (जैन सिद्धान्त और शंकाकार)का घातक है । अर्थात् इस दृष्टान्तसे दोनों ओरकी सिद्धि नहीं होती । जैन सिद्धान्तकी तो यों नहीं होती कि वह कच्चे पक्के घड़ेके समान सत् परिणामको आगे पीछे नहीं मानता है और इस दृष्टान्तसे तुम क्रमवर्त्तित्व, सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा ही कर चुके हो । परन्तु तुम्हारा यह हेतु कि क्रमसे सत् परिणाम होते हैं, असमर्थ है, क्योंकि सत् परिणामको छोड़कर नहीं रह सक्ता है और परिणाम सतको छोड़कर नहीं रह सक्ता है । तथा इस दृष्टान्तसे शंकाकारका पक्षभी सिद्ध नहीं होता । शंकाकार एक समयमें वस्तुको स्वभावसे नित्य ही सिद्ध करता है अथवा अनित्य ही सिद्ध करता है, परन्तु एक समयमें एक सिद्ध करना बाधित है, क्योंकि दोनों धर्म एक समयमें वस्तुमें सिद्ध होते हैं, जिस समय पृथिवीत्व धर्मकी अपेक्षासे पृथिवीमें नित्यता सिद्ध है उसी समय पक्क अपक्करूपकी अपेक्षासे उसमें अनित्यता भी सिद्ध हैं । दोनों ही धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिये दोनों एक साथ ही रह सक्ते हैं अन्यथा एककी भी सिद्धि नहीं हो सक्ती ।

सपत्नीयुग्म भी दृष्टान्ताभास है—

अपि च सपत्नीयुग्मं स्यादिति हास्यास्पदोपमा दृष्टिः ।
इह यदसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषदुष्टत्वात् ॥ ३७९ ॥

माता मे वन्ध्या स्यादित्यादिवदपि विरुद्धवाक्यत्वात्।
कृतकत्वादिति हेतोः क्षणिकैकान्तात्कृतं कृतं विचारतया। २८०

अर्थ—दो सपत्नियों (सौतों) का दृष्टान्त तो हास्य पैदा करता है, यह दृष्टान्त तो सभी दोषोंसे दूषित है, इस दृष्टान्तसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि सभी दोष आते हैं। जिस प्रकार किसीका यह कहना कि मेरी माता बाँझ है. सर्वथा विरुद्ध है, उसी प्रकार सत् परिणामको दो सपत्नियोंके समान क्रमसे उत्पन्न मानकर एक कालमें परस्पर विरुद्ध रीतिसे उनकी सत्ताका कथन करना भी विरुद्ध है। क्योंकि सत् परिणाम न तो किसी काल विशेषमें क्रमसे उत्पन्न ही होते हैं, और न वे एक स्थानमें विरुद्ध रीतिसे ही रहते हैं, किन्तु अनादि अनन्त उनका परस्पर सापेक्ष प्रवाह युगपत चला जाता है। इसलिये सपत्नीयुग्मका दृष्टान्त विरुद्ध ही है। तथा जिस प्रकार कृतकत्वहेतुसे घट शरावेके समान पदार्थोंमें भिन्नता सिद्ध करना अनैकांतिक है क्योंकि पट और तन्तुओंमें कृतक होनेपर भी अभिन्नता पाई जाती है। इसलिये कृतकत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास दोषसे दूषित है। इसी प्रकार सत् परिणामके विषयमें दो सपत्नियोंका दृष्टान्त भी अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। क्योंकि दो सपत्नियां कहीं पर परस्पर विरुद्ध होकर रहती हैं और कहीं पर परस्पर एक दूसरेकी सहायता चाहती हुई प्रेमपूर्वक अविरुद्ध भी रहती हैं यह नियम नहीं है कि दो सौतें परस्पर विरुद्ध रीतिसे ही रहें। इसलिये यह दृष्टान्त अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। अथवा सपत्नी युग्ममें विरोधिता पाई जाती है कहीं नहीं भी पाई जाती है इसलिये अनैकान्तिक है तथा जिस प्रकार बौद्धका यह सिद्धान्त कि सब पदार्थ अनित्य हैं क्योंकि वे सर्वथा क्षणिक हैं, सर्वथा असिद्ध है* असिद्धताका हेतु भी यही है कि जो क्षणिकैकान्त हेतु दिया जाता है वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पदार्थोंमें नित्यता भी प्रतीत होती है, यदि नित्यता पदार्थोंमें न हो तो यह वही पुरुष है जिसे दो वर्ष पहले देखा था, ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिये परन्तु ऐसा यथार्थ प्रत्यभिज्ञान होता है, तथा यदि नित्यता पदार्थोंमें न मानी जाय तो स्मरण पूर्वक जो लोकमें लैन दैनका व्यवहार होता है वह भी न हो सके, परन्तु वह भी यथार्थ होता है इत्यादि अनेक हेतुओंसे सर्वथा क्षणिकता पदार्थोंमें सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार दो सपत्नियोंका दृष्टांत भी सर्वथा असिद्ध है क्योंकि दो सपत्नियां दो पदार्थ हैं। यहां पर सत् परिणाम उभयात्मक एक ही पदार्थ है। दूसरे सपत्नीयुग्म विरोधी बनकर आगे पीछे क्रमसे होता है। सत् परिणाम एककालमें अविरुद्ध रहते हैं। इसलिये यह दृष्टांत हास्यकारक है, इस पर अधिक विचार करना ही व्यर्थ है।

---

* यहां पर समझानेकी दृष्टि रख कर निरूपण किया गया है, इसलिये हेतुवाद और अनुमान वाक्यका प्रयोग नहीं किया गया है।

बड़े छोटे भाईका दृष्टान्त भी दृष्टान्ताभास है—

तद्वज्ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वैतं विरुद्धदृष्टान्तः ।
×सति चाऽधर्मिणि तत्त्वे तथाऽऽश्रयासिद्धदोषत्वात् ॥ ३८१ ॥
अपि कोपि परायत्तः सोपि परः सर्वथा परायत्तात् ।
सोपि परायत्तः स्यादित्यनवस्था प्रसङ्गदोषश्च ॥ ३८२ ॥

अर्थः—छोटे बड़े भाईका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह साध्यसे विरुद्ध पड़ता है। हमारा साध्य उभय धर्मात्मक पदार्थ है, परन्तु दृष्टान्त तृतीय पदार्थकी सत्ता सिद्ध करता है। छोटे बड़े भाई विना मातापिताके नहीं हो सक्ते हैं, मातापिताके होते हुए ही वे किसीकाल विशेषसे क्रमसे उत्पन्न हुए हैं। परन्तु यह बात सत् परिणाममें नहीं है, न तो सत् परिणामका उन दोनोंसे अतिरिक्त कोई आश्रय ही है और न उनकी काल विशेषसे क्रमसे उत्पत्ति ही है, इसलिये धर्मीका अभाव होनेसे आश्रयासिद्ध दोष आता है * दूसरी बात यह भी है कि इस दृष्टान्तसे अनवस्था दोष भी आता है क्योंकि भाई उनके माता पिताके पराधीन होते हैं। ऐसा पराधीनताका सिद्धान्त माननेमें जो कोई भी पर होगा उसे पराधीन ही मानना पड़ेगा, जिस प्रकार पुत्र पिताके आधीन है, पिता अपने पिताके अधीन है, वह अपने पिताके अधीन है, इसी प्रकार सत् और परिणामको पराधीन माननेपर अनवस्था दोष आता है ÷ क्योंकि पराधीनतारूपी श्रृंखलाका कहीं अन्त नहीं आवेगा।

कारकद्वय भी दृष्टान्ताभास है—

नार्थक्रियासमर्थो दृष्टान्तः कारकादिवद्धि यतः ।
सव्यभिचारित्वादिह सपक्षवृत्तिर्विपक्षवृत्तिश्च ॥ ३८३ ॥
वृक्षे शाखा हि यथा स्यादेकात्मनि तथैव नानात्वे
स्थाल्यां दधीति हेतोर्व्यभिचारी कारकः कथं न स्यात् ॥३८४॥
अपि सव्यभिचारित्वे यथाकथञ्चित्सपक्षदक्षश्चेत् ।
न यतः परपक्षरिपुर्यथा तथारिः स्वयं स्वपक्षस्य ॥ ३८५ ॥
साध्यं देशांशाद्वा सत्परिणामद्वयस्य सांशत्वम् ।
तत्स्वाम्येकविलोपे कस्यांशा अंशमात्रएवांशः ॥ ३८६ ॥

× '[illegible]र्मिणि चाधर्मिणि तत्त्वे,' ऐसा संशोधित पुस्तकमें पाठ है।

* आश्रयासिद्ध दोषका विवेचन किया जा चुका है।

÷ 'अप्रमाणिकानन्तपदार्थकल्पनया विश्रान्तिरनवस्था', अर्थात् विना किसी प्रमाणके अनन्त पदार्थोंकी कल्पना करते चले जाना इसीका नाम अनवस्था है। जहां पर प्रमाणभूत है वहां यह दोष नहीं समझा जाता जैसे—पिता पुत्र, बीज वृक्ष आदि कार्यकारण भावमें।

अर्थ—आधार आधेय न्यायसे जो दो कारकोंका दृष्टान्त दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, वह व्यभिचारी है क्योंकि वह सपक्ष विपक्ष दोनोंमें ही रहता है। साध्यके अनुकूल दृष्टान्तको सपक्ष कहते हैं और उसके प्रतिकूल दृष्टान्तको विपक्ष कहते हैं। जो दृष्टान्त साध्यका सपक्ष भी हो तथा विपक्ष भी हो वह व्यभिचार दोष विशिष्ट दृष्टान्त कहलाता है। सत् परिणमके विषयमें दो कारकोंका दृष्टान्त भी ऐसा ही है। क्योंकि जैसे आधार आधेय दो कारक 'वृक्षे शाखा' (वृक्षमें शाखा) यहां पर अभिन्न—एकात्मक पदार्थमें होते हैं, वैसे 'स्थाल्यां दधि' (बटलोईमें दही यहां पर भिन्न—अनेक पदार्थोंमें भी होते हैं। अर्थात् 'वृक्षे शाखा' यहां पर जो आधार आधेय है वह अभिन्न पदार्थमें हैं इसलिये सपक्ष है। परन्तु 'स्थाल्यां दधि' यहां पर जो आधार आधेय है वह भिन्न दो पदार्थोंमें है इस लिये वह विपक्ष है। इसलिये दो कारकोंका दृष्टान्त व्यभिचारी है। यदि कोई यह कहै कि यह दृष्टान्त व्यभिचारी भले ही हो, परन्तु इससे अपने पक्षकी सिद्धि भी किसी तो प्रकार हो ही जाती है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यभिचारी दृष्टान्त जैसे दूसरे पक्षका शत्रु है वैसे अपने अपने पक्षका भी तो स्वयं शत्रु है अर्थात् व्यभिचारी दृष्टान्त जैसे सपक्षमें रह कर साध्यकी सिद्धि कराता है वैसे विपक्षमें रहकर वह साध्य विरुद्ध भी तो हो जाता है। इसलिये यह दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। यहांपर सत् और परिणाममें देशके अंश होनेसे अंशपना सिद्ध किया जाता है और उनका आधार उनसे भिन्न पदार्थ सिद्ध किया जाता है (यह शंकाकारका मत है यदि उन दोनोंका कोई स्वामी—आधारभूत पदार्थ हो तब तो आधार आधेयभाव उनमें बन जाय, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त उनका कोई स्वामी ही नहीं है तो फिर ये दोनों किसके अंश कहलावेंगे, वे दोनों तो अंश स्वरूप ही माने जा चुके हैं? इसलिये कारकद्वयका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

बीजाङ्कुर भी दृष्टान्ताभास है—

नाप्युपयोगी क्वचिदपि बीजाङ्कुरवदिहेति दृष्टान्तः।
स्वावसरे स्वावसरे पूर्वापरभावभावित्वात्॥ ३८७॥
बीजावसरे नाङ्कुर इव बीजं नाङ्कुरक्षणे हि यथा।
न तथा सत्परिणामद्वैतस्य तदेककालत्वात्॥ ३८८॥

अर्थ—बीज और अङ्कुरका दृष्टान्त भी सत् परिणामके विषयमें उपयोगी नहीं पड़ता है, क्योंकि बीज अपने समयमें होता है, अङ्कुर अपने समयमें होता है। दोनों ही पूर्वापरभाव वाले हैं अर्थात् आगे पीछे होने वाले हैं जिस प्रकार बीजके समय में अङ्कुर नहीं होता है और अङ्कुरके समयमें बीज नहीं होता है, उस प्रकार सत् और परिणाममें पूर्वापरभाव नहीं होता है, उन दोनोंका एक ही काल है। उसीको स्पष्ट करते हैं—

सद्भाव परिणामो भवति न सत्ताक आश्रयाभावात् ।
दीपाभावे हि यथा तत्क्षणमिव दृश्यते प्रकाशो न ॥ ३८९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दीपकका अभाव होनेपर उसी समय प्रकाशका भी अभाव हो जाता है, कारण—दीपक प्रकाशका आश्रय है, विना दीपकके प्रकाश किसके आश्रय ठहरे ? उसी प्रकार सत्के अभावमें परिणाम भी अपनी सत्ता नहीं रख सक्ता है, कारण—परिणामका सत् आश्रय है, विना आश्रयके आश्रयी कैसे रह सक्ता है ? अर्थात् नहीं रह सक्ता। **भावार्थः**—परिणाम पर्यायका नाम है, पर्याय किसी द्रव्य अथवा गुणमें ही हो सक्ती है, जो सत् (भावात्मक) ही नहीं है उसमें पर्यायका होना उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार कि गधेके सींगोंका होना असंभव है । इसलिये सत् और परिणाम दोनोंका एक ही काल है।

परिणामाभावेऽपि च सदिति च नालम्ब्यते हि सत्तान्ताम् ।
स यथा प्रकाशनाशे प्रदीपनाशोऽप्यवश्यमध्यक्षात् ॥ ३९० ॥

अर्थ—जिसप्रकार प्रकाशका नाश होनेपर दीपकका नाश भी प्रत्यक्ष दीखता है, अर्थात् जहां प्रकाश नहीं रहता, वहां दीपक भी नहीं रहता है । उसी प्रकार परिणामके अभावमें सत् भी अपनी सत्ताको नहीं अवलम्बन कर सक्ता है । भावार्थ—दीपक और प्रकाशका सहभावी अविनाभाव है, जबतक दीपक रहता है तभी तक उसका प्रकाश भी रहता है, और जबतक प्रकाश रहता है तभी तक दीपक भी रहता है, ऐसा नहीं होसक्ता कि प्रकाश न रहे और दीपक रह जाय, प्रकाशाभावमें दीपक कोई पदार्थ नहीं ठहरता । दीपक तेल, बत्ती और शरावेका नाम नहीं है किन्तु प्रकाशमान लौ (ज्योति) का है । दीप प्रकाशके समान ही सत् परिणामको समझना चाहिये । सत् सामान्य है, परिणाम विशेष है, न तो विना सामान्यके विशेष ही होसक्ता है, और न विना विशेषके सामान्य ही होसक्ता है * इसलिये सामान्य विशेषात्मक—सत् परिणाम दोनों समकालभावी हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं ।

क्षणभेद माननेमें दोष—

अपि च क्षणभेदः किल भवतु यदीष्टसिद्धिरनायासात् ।
सापि न यतस्तथा सति सतो विनाशोऽसतश्च सर्गः स्यात् ॥३९१॥

अर्थ—यदि अनायास इष्ट पदार्थकी सिद्धि होजाय तो सत् और परिणाम दोनोंका क्षणभेद—कालभेद भी मान लिया जाय, परन्तु कालभेद माननेसे इष्ट सिद्धि तो दूर रहो उल्टी हानि होती है । दोनोंका कालभेद माननेपर सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति होने लगेगी । क्योंकि जब दोनोंका काल भेद माना जायगा तो जो है वह सर्वथा नष्ट होगा और जो उत्पन्न होगा वह सर्वथा नवीन ही होगा । परन्तु ऐसा नहीं होता,

* निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।

सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति माननेसे जो दोष आते हैं उनका पहले (१० वें श्लोकमें) विवेचन किया जा चुका है।

कनकोपल भी दृष्टान्ताभास है—

कनकोपलवदिहैष: न ते न परीक्षितः क्षणं स्थातुम्।
गुणगुणिभावाभावाद्यतः स्वयमसिद्धदोषात्मा ॥ ३९२ ॥
हेयादेयविचारो भवति हि कनकोपलद्वयोरेव।
तदनेकद्रव्यत्वान्न स्यात्साध्ये तदेकद्रव्यत्वात् ॥ ३९३ ॥

अर्थ—सत् परिणामके विषयमें कनकोपलका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। यह दृष्टान्त परीक्षा करनेपर क्षण मात्र भी नहीं ठहर सक्ता है। सोना और पत्थर इन मिली हुई दो द्रव्योंका नाम ही कनकोपल है। इसलिये कनकोपल दो द्रव्योंके समुदायका नाम है। कनकोपलमें गुणगुणीभाव नहीं है अतः यह दृष्टान्त असिद्ध है। क्योंकि जिस प्रकार सत् परिणाममें कथञ्चित् गुणगुणीभाव है इस प्रकार इस दृष्टान्तमें नहीं है। दो द्रव्योंका समुदाय होनेसे ही कनकोपलमें कुछ अंशके ग्रहण करनेका और कुछ अंशके छोडनेका विचार हो सक्ता है। परन्तु सत् परिणाममें इस प्रकार हेय उपादेय विचार नहीं हो सक्ता है, क्योंकि वे दोनों एक द्रव्यरूप हैं। जहांपर दो अथवा अनेक द्रव्य होते हैं वहीं पर एक द्रव्यका ग्रहण और एकका त्याग हो सक्ता है परन्तु जहां पर केवल एक ही द्रव्य है वहां पर ऐसा होना असंभव ही है। इसलिये कनकोपलका दृष्टान्त सर्वथा विषम है।

वाच्य वाचक भी दृष्टान्ताभास है—

वागर्थद्वयमिति वा दृष्टान्तो न स्वसाधनायालम्।
घट इति वर्णद्वैतात् कम्बुग्रीवादिमानिहास्त्यपरः ॥ ३९४ ॥
यदि वा निस्सारतया वागेवार्थः समस्यते सिद्ध्यै।
न तथापीष्टसिद्धिः शब्दवदर्थस्याप्यनित्यत्वात् ३९५ ॥

अर्थ—वचन और पदार्थ अर्थात् वाच्य वाचक द्वैतका दृष्टान्त भी अपनी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि घट—घकार और टकार इन दो वर्णोंसे कम्बुग्रीवादि वाला घट पदार्थ दूसरा ही है। जिस कम्बु (शंख) ग्रीवावाले घटमें जल रक्खा जाता है वह घट पदार्थ उन घ—ट वर्णोंसे सर्वथा जुदा ही है। केवल घट शब्दके उच्चारण करनेसे उस घट पदार्थका बोध हो जाता है इतना ही मात्र घट शब्दका घट पदार्थके साथ वाच्य वाचक सम्बन्ध है। परन्तु सत् परिणाम इस प्रकार भिन्न नहीं है। यदि वागर्थ, शब्दका वचन और पदार्थ, यह अर्थ न किया जाय और दूसरा कि वचन रूप ही अर्थ किया जाय तो ऐसा अर्थ करना पहले तो निस्सार ही है परन्तु सिद्धिके लिये यदि वह माना भी जाय तो भी उससे

अभीष्ट सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि दूसरे अर्थका यही आशय निकला कि शब्दके समान सत् परिणाम हैं, परन्तु ऐसा माननेसे शब्दके समान सत् परिणामात्मक पदार्थ भी अनित्य सिद्ध होगा, और ऐसी अनित्यता पदार्थमें अभीष्ट नहीं है इसलिये उक्त दृष्टान्त भी ठीक नहीं है।

भेरी दण्ड भी दृष्टान्ताभास है--

स्यादविचारितरम्या भेरीदण्डवदिहेति संदृष्टिः।
पक्षाधर्मत्वेपि च व्याप्यासिद्धत्वदोषदुष्टत्वात्॥ ३९६॥
युतसिद्धत्वं स्यादिति सत्परिणामद्वयस्य यदि पक्षः।
एकस्यापि न सिद्धिर्यदि वा सर्वोपि सर्वधर्मः स्यात्॥ ३९७॥

अर्थ—भेरी दण्डका जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी सत् परिणामके विषयमें अविचारित रम्य है अर्थात् जबतक उसके विषयमें विचार नहीं किया जाता है तभी तक वह अच्छा प्रतीत होता है। विचारनेपर निःसार प्रतीत होता है। उसीका अनुमान इस प्रकार है—'सत्परिणामौ कार्यकारिणौ संयुक्तत्वात् भेरीदण्डवत्, अर्थात् शंकाकारका पक्ष है कि सत् परिणाम मिलकर कार्य करते हैं क्योंकि वे संयुक्त हैं। जिस प्रकार भेरी दण्ड संयुक्त होकर कार्यकारी होते हैं। यह शङ्काकारका अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि यहांपर जो 'संयुक्तत्व' हेतु दिया गया है वह सत् परिणामरूप पक्षमें नहीं रहता है। इसलिये हेतु व्याप्यासिद्ध* दोषसे दूषित है। अर्थात् सत् परिणाम भेरीदण्डके समान मिलकर कार्यकारी नहीं है, किन्तु कथंचित् भिन्नता अथवा तादात्म्यरूपमें कार्यकारी है। यदि सत् परिणामको युतसिद्ध—भिन्न २ स्वतन्त्र माना जाय तो दोनोंमेंसे एक भी सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि दोनों ही परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षामें आत्मलाभ—स्वरूप सम्पादन करते हैं। यदि इन्हें स्वतन्त्र २ मानकर एकका दूसरा धर्म माना जाय तो ऐसी अवस्थामें सभी सबके धर्म हो जायँगे। कारण जब स्वतन्त्र रहनेपर भी एक दूसरेका धर्म माना जायगा तो धर्म धर्मीका कुछ नियम नहीं रहेगा। हरकोई हरएकका धर्म बन जाय इसमें कौन बाधक होगा? **भावार्थ**—सत् परिणाम न तो भेरीदण्डके समान स्वतन्त्र ही हैं, और न संयोगी ही हैं। किन्तु परस्पर सापेक्ष तादात्म्य सम्बन्धी हैं इसलिये भेरीदण्डका दृष्टान्त सर्वथा असिद्ध है।

अपूर्ण न्याय भी दृष्टान्ताभास है—

इह यदपूर्णन्यायादस्ति परीक्षाक्षमो न दृष्टान्तः।
अविशेषत्वापत्तौ द्वैताभावस्य दुर्निवारत्वात्॥३९८॥

* पक्षमें हेतुकी असिद्धताको व्याप्यासिद्ध दोष कहते हैं अथवा साध्यके साथ हेतु जहांपर व्याप्त न रहता हो वहांपर व्याप्यासिद्ध दोष आता है। यहांपर—सत् परिणाममें न तो संयुक्तत्व हेतु रहता है और न कार्यकारित्वके साथ संयुक्तत्वकी व्याप्ति है।

अपि चान्यतरेण विना यथेष्टसिद्धिस्तथा तदितरेण।
भवतु विनापि च सिद्धिः स्यादेवं कारणाद्यभावश्च ॥३९९॥

अर्थ—यहांपर अपूर्ण न्यायसे एकका मुख्यतासे दूसरेका उदासीनतासे ग्रहण करने रूप दृष्टान्त भी परीक्षा करने योग्य नहीं है। क्योंकि अपूर्ण न्यायसे जिसका मुख्यतासे ग्रहण किया जायगा वही प्रधान ठहरेगा, दूसरा जो उदासीनतासे कहा जायगा वह नहीं के बराबर सामान्य ठहरेगा, ऐसी अवस्थामें द्वैतका अभाव दुर्निवार ही होगा, अर्थात् जब दूसरा उदासीन नहीं के तुल्य है तो एक ही समझना चाहिये, इसलिये एककी ही सिद्धि होगी, परन्तु सत् परिणाम दो हैं। अतः अपूर्ण न्यायका दृष्टान्त उनके विषयमें ठीक नहीं है यदि यह कहा जाय कि दोनों ही यद्यपि समान हैं तथापि एकको मुख्यतासे कह दिया जाता है तो यह कहना भी विरुद्ध ही पड़ता है, जब दोनोंकी समानतामें भी एकके विना दूसरेकी सिद्धि हो जाती है तो दूसरेकी भी सिद्धि पहलेके विना हो जायगी, अर्थात् दोनों ही निरपेक्ष अथवा एक व्यर्थ सिद्ध होगा, ऐसी अवस्थामें कार्यकारण भाव भी नहीं बन सकेगा। क्योंकि कार्यकारण भाव तो एक दूसरेकी आधीनतामें ही बनता है। इसलिये अपूर्ण न्यायका दृष्टान्त सब तरह विरुद्ध ही पड़ता है।

मित्रद्वैत भी दृष्टान्ताभास है—

मित्रद्वैतवदित्यपि दृष्टान्तः स्वप्नसन्निभो हि यतः।
स्याद्गौरवप्रसंगाद्धेतोरपि हेतु हेतुरनवस्था ॥ ४०० ॥
तदुदाहरणं कश्चित्स्वार्थं सृजतीति मूलहेतुतया।
अपरः सहकारितया तमनु तदन्योपि दुर्निवारः स्यात् ॥४०१॥
कार्यम्प्रति नियतत्वाद्धेतुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तंचेत्।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥ ४०२ ॥

अर्थ—एक अपने कार्यको सिद्ध करता है, दूसरा उसका उसके कार्यमें सहायक होता है, यह मित्रद्वयका दृष्टान्त भी स्वप्नके समान ही है। जिस प्रकार स्वप्नमें पाये हुए पदार्थसे कार्यसिद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार इस दृष्टान्तसे भी कुछ कार्यसिद्धि नहीं होती है, क्योंकि इस दृष्टान्तसे हेतुका हेतु उसका भी फिर हेतु, उस हेतुका भी हेतु मानना पड़ेगा। ऐसा माननेसे अनवस्था दोष आवेगा और गौरवका प्रसंग भी आवेगा। उसका दृष्टान्त इस प्रकार है कि जैसे कोई पुरुष मुख्यतासे अपने कार्यको सिद्ध करताहै और दूसरा उसका मित्र उसके उस कार्यमें सहायक होजाता है। जिस प्रकार दूसरा पहलेकी सहायता करता है उसी प्रकार दूसरेकी सहायताके लिये तीसरे सहायककी आवश्यकता है, उसके लिये चौथेकी, उसके

लिये पांचवेकी, इस प्रकार उत्तरोत्तर सहायकोंकी योजना अवश्य ही अनिवार्य (प्राप्त) होगी* यदि यह कहा जाय कि एक कार्यके लिये दो कारणोंकी ही आवश्यकता होती है (१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण अथवा एक कार्यमें दो ही सहायकमित्र आवश्यक होते हैं। उनसे अतिरिक्त कारणोंकी आवश्यकता ही नहीं होती तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि एक कार्यमें दो ही कारण होते हैं उनसे अधिक होते ही नहीं, इस नियमका विधायक कोई प्रमाण नहीं है+ इसलिये सत् परिणामके विषयमें मित्रद्वयका दृष्टान्त भी कुछ कार्यकारी नहीं है।

शत्रुद्वैत भी दृष्टान्ताभास है

एवं मिथो विपक्षद्वैतवदित्यपि न साधुदृष्टान्तः ।
अनवस्थादोषत्वाद्यथाऽरिरस्यापरारिरपि यस्मात् ॥४०३॥
कार्यम्प्रति नियतत्वाच्छत्रुद्वैते न ततोऽतिरिक्तं चेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥४०४॥

अर्थ—जिस प्रकार मित्र द्वैतका दृष्टान्त ठीक नहीं है, उसी प्रकार शत्रु द्वैतका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार मित्र द्वैतके दृष्टान्तमें अनवस्था दोष आता है, उसी प्रकार शत्रुद्वैतके दृष्टान्तमें भी अनवस्था दोष आता है। जैसे एक पुरुषका दूसरा शत्रु है, वैसे दूसरेका तीसरा और तीसरेका चौथा शत्रु भी होगा। इस शत्रुमालाका भी कहीं अन्त नहीं दीखता है। यदि कहा जाय कि एक कार्यके प्रति दो शत्रु ही नियत हैं, दोसे अधिक नहीं होते हैं तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि एक कार्यमें दो ही शत्रु होते हैं, उन शत्रुओंके शत्रु नहीं होते ऐसा नियम करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये दो शत्रुओंका दृष्टान्त भी सत् परिणामके विषयमें विरुद्ध ही है। **भावार्थ**—सत् परिणाम दो शत्रुओंके समान परस्पर विरुद्धरूपसे नहीं रहते हैं किन्तु परस्पर सापेक्ष रूपसे ही रहते हैं। परस्पर सापेक्ष रहते हुए भी दो मित्रोंके समान एक मुख्य साधक दूसरा सहायक साधक भी उनमें नहीं है किन्तु दोनों मिलकर ही समानरूपसे स्वकार्य साधक एक पदार्थ सिद्धिसाधक हैं। इसलिये इनके विषयमें शत्रुमित्र दोनोंके दृष्टान्त ही विरुद्ध हैं।

---

* अप्रामाणिक अनन्त पदार्थोंकी कल्पनाके अन्त न होनेका नाम ही अनवस्था है। यह दोष है।

+ उपादान-प्रेरक-उदासीन आदि कारण एक कार्यमें आवश्यक होते हैं। संभव है एक कार्यमें अनेक मित्रोंकी सहायता आवश्यक हो।

रज्जू युग्म भी दृष्टान्ताभास है–

वामेतरकरवर्त्तिरज्जूयुग्मं न चेह दृष्टान्तः।
वाधितविषयत्वाद्वा दोषात्कालात्ययापदिष्टत्वात् ॥४०५॥
तद्वाक्यमुपादानकारणसदृशं हि कार्यमेकत्वात्।
अस्त्यनतिगोरसत्वं दधिदुग्धावस्थयोर्यथाध्यक्षात् ॥४०६॥

अर्थ–छाछको विलोते समय दाँये बाँये हाथमें रहनेवाली रस्सियोंका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस दृष्टान्त द्वारा दोनोंको विमुख रहकर कार्यकारी बतलाया गया है। परन्तु परस्परकी विमुखतामें कार्यकी सिद्धि नहीं होती, उलटी हानि होती है, इसलिये इस दृष्टान्तमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा आती है। अतः यह दृष्टान्त कालात्ययापदिष्ट दोष विशिष्ट है अर्थात् बाधित है। क्यों बाधित है? इसका विवेचन इस प्रकार है–जहांपर एक कार्य होता है वहांपर उपादान कारणके समान ही कार्य होता है। ऐसा प्रत्यक्षसे भी देखा जाता है जैसे कि गौके दूधमें गोरसपना है वैसे उसके दहीमें भी गोरसपना अवश्य है। **भावार्थ**–दाँये बाँये हाथमें रहनेवालीं रस्सियां परस्पर एक दूसरेसे विमुख रहकर एक कार्य–छाछ विलोनारूप कार्य करती हैं, ऐसा दृष्टान्त ही प्रत्यक्ष बाधित है, क्योंकि छाछ विलोते समय एक हाथकी रस्सीको संकोचना और दूसरे हाथकी रस्सीको फैलाना यह एक ही कार्य है, दो नहीं। उनका समय भी एक है। जिस समय दाँया हाथ फैलता है। उसी समय बाँया संकुचित होता है। तथा दोनों हाथोंकी रस्सियां परस्पर विरुद्ध भी नहीं है, जिस समय दाँया हाथ फैलता है उस समय बाँया संकुचित नहीं होता किन्तु उसकी सहायता करनेके लिये उधरको ही बढ़ता है, यदि वह उधर बढ़कर सहायक न होता हो तो दाँया हाथ फैल ही नहीं सक्ता, इसलिये परस्पर विरुद्ध नहीं किन्तु अनुकूल ही दोनों हाथोंकी रस्सियां हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिन्हें दो रस्सियोंके नामसे पुकारा जाता है वे दो नहीं किन्तु एक ही है। एक ही रस्सी कभी दाँयेकी ओर कभी बाँये हाथकी ओर जाती है, इसलिये दो रस्सियोंका दृष्टान्त सर्वथा बाधित है। अथवा इसका दूसरा आशय इस प्रकार है कि यदि शंकाकार यह अनुमान बनावे कि 'सत्परिणामौ विसन्धिरूपौ कार्यकारित्वात् वामेतर-करवर्त्तित रज्जूयुग्मवत्, अर्थात् सत्परिणाम परस्पर विमुख बनकर कार्य करते हैं। जैसे बाँये दाँये हाथकी दो रस्सियां तो उसका यह अनुमान प्रत्यक्ष बाधित है। क्योंकि सत्परिणाम परस्पर सापेक्ष तादात्म्यस्वरूप हैं। जहां एक पदार्थमें कार्यकारित्व होता है वहां कारणके सदृश ही होता है जहांपर अनेक पदार्थोंमें कार्यकारित्व होता है वहांपर ही विमुखताकी संभावना रहती है।

सुन्दोपसुन्द भी दृष्टान्तमात्र है ।

सुन्दोपसुन्दमल्लद्वैतं दृष्टान्ततः प्रतिज्ञातम् ।
तदसदसत्वापत्तेरितरेतरनियतदोषत्वात् ॥ ४०७ ॥

सत्युपसुन्दे सुन्दो भवति च सुन्दे किलोपसुन्दोपि ।
एकस्यापि न सिद्धिः क्रियाफलं वा तदात्ममुखदोषात् ॥४०८॥

अर्थ—सुन्द और उपसुन्द इन दो मल्लोंका जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस दृष्टान्तसे अन्योन्याश्रय दोषके साथ ही पदार्थके अभावका प्रसंग आता है। जैसे—जब उपसुन्द है तब उसका प्रतिपक्षी सुन्द सिद्ध होता है, और जब सुन्द है तब उसका प्रतिपक्षी उपसुन्द सिद्ध होता है। ये दोनों ही एक दूसरेके आश्रित सिद्ध होते हैं इसीका नाम अन्योन्याश्रय दोष है। * अन्तमें दोनोंमेंसे एककी भी सिद्धि नहीं हो पाती अर्थात् दोनों ही मरजाते हैं। इसलिये उनसे कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता। यह दोष शङ्काकारने अपने मुखसे ही कह डाला है। भावार्थ—सुन्द, उपसुन्द मल्लोंके समान सत परिणामको यदि माना जाय तो उनकी असिद्धि और उनका अभाव सिद्ध होगा।

यदि उन्हें अनादि सिद्ध माना जाय तो—

अथ चेदनादिसिद्धं कृतकत्वापन्हवात्तदेवेह ।
तदपि न तद्द्वैतं किल त्यक्तदोषास्पदं यदत्रैतत् ॥ ४०९ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि सत् परिणाम दोनों अनादि सिद्ध हैं। वे किसीके किये हुए नहीं हैं। उनमें सदा ये वे ही हैं ऐसी नित्यताकी प्रतीति भी होती रहती है तो ऐसा कहना भी निर्दोष सिद्ध नहीं होता है कारण कि इस प्रकारकी नित्यतामें परिणाम नहीं बन सक्ता है। परिणामकी सिद्धि वहीं पर होसक्ती है जहां पर कि कथञ्चित् अनित्यता है। सर्वथा नित्यमें परिणाम नहीं बन सक्ता है। इसलिये उपर्युक्त रीतिके अनुसार मानने पर भी सत् परिणामके द्वैतमें निर्दोषता नहीं सिद्ध होती है। भावार्थ—अनादि सिद्ध माननेसे शंकाकारने सत परिणामसे अन्योन्याश्रय दोषको हटाना चाहा था, परन्तु उसकी ऐसी अनादि सिद्धतामें द्वैतभाव ही हट जाता है। इसलिये कथंचित् (पर्यायकी अपेक्षासे) अनित्यताको लिये हुए ही पदार्थ अनादि सिद्ध है।

---

* जहां पर दो पदार्थोंकी परस्पर सिद्धि दूसरे पर अवलम्बित रहती है वहां पर अन्योन्याश्रय दोष आता है। जैसे वैदिक ईश्वरके पास उपकरण—सामग्री हो तो वह सृष्टि रचे, और जब वह सृष्टि रचे तब उसके पास उपकरण—सामग्री हो। इन दोनोंमें एक दूसरेके आधीन होनेसे एक भी सिद्ध नहीं होता है।

उपर्युक्त दृष्टान्त प्रशंसनीय नहीं है—

दृष्टान्ताभासा इति निक्षिप्ताः स्वेष्टसाध्यशून्यत्वात्।
लक्ष्योन्मुखेषव इव दृष्टान्तास्त्वथ यथा प्रशस्यन्त ॥४१०॥

अर्थ—ऊपर जो दृष्टान्त दिये गये हैं वे सब दृष्टान्ताभास + हैं उनसे उनके साध्यकी सिद्धि नहीं होती है। जो दृष्टान्त लक्ष्यके सन्मुखवाणोंके समान स्व साध्यकी सिद्धि कराते हैं वे ही दृष्टान्त प्रशंसनीय कहे जाते हैं।

सत् परिणाम कथंचित् भिन्न अभिन्न हैं—

सत्परिणामाद्वैतं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्त्वाद्वै।
सत्परिणामद्वैतं स्यादपि दीपप्रकाशयोरेव ॥ ४११ ॥

अर्थ—सत् परिणामके भिन्न प्रदेश नहीं हैं किन्तु अभिन्न हैं, इसलिये उन दोनोंमें द्वैत भाव नहीं है, अर्थात् दोनों एक ही अद्वैत् हैं। तथा कथंचित् सत् और परिणाममें द्वैत भी है, अर्थात् कथंचित् सत् भिन्न है और परिणाम भिन्न है। सत् परिणाममें कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता ऐसी ही है जैसी कि दीप और प्रकाशमें होती है। दीपसे प्रकाश कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी है।

और भी—

अथवा जलकल्लोलवदद्वैतं द्वैतमपि च तद्द्वैतम्।
उन्मज्जच्च निमज्जन्नाप्युन्मज्जन्निमज्जदेवेति ॥ ४१२ ॥

अर्थ—अथवा सत् परिणाममें जल और उसकी तरंगोंके समान कथंचित् भिन्नता और अभिन्नता है। जलमें एक तरंग उछलती है दूसरी शान्त होती है, फिर तीसरी उछलती है चौथी शान्त होती है। इस तरंगोंके प्रवाहसे तो प्रतीत होता है कि जलसे तरंगें भिन्न हैं। परन्तु वास्तव दृष्टिसे विचार किया जाय तो न कोई तरंग उछलती है और न कोई शान्त होती है, केवल जल ही जल प्रतीत होता है। विचार करने पर तरंगें भी जलमय ही प्रतीत होने लगती हैं, इसी प्रकार सत्में परिणाम कथंचित् भिन्न भी प्रतीत होता है, क्योंकि जो एक समयमें परिणाम है, वह दूसरे समयमें नहीं है। जो दूसरे समयमें है वह तीसरेमें नहीं है। यदि द्रव्य दृष्टिसे विचार किया जाय तो उन प्रतिक्षणमें होनेवाले परिणामों—अवस्थाओंका समूह ही द्रव्य है। अनादि-अनन्तकालके परिणामसमूहको छोड़कर सत् और कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये सत्से परिणाम भिन्न भी नहीं है। भावार्थ—विवक्षाधीन दोनोंकी सिद्धि होती है।

+ साध्यकी सिद्धि करनेवालेको दृष्टान्त कहते हैं, परन्तु जो साध्यकी सिद्धि तो नहीं करावे, किन्तु दृष्टान्तसा दीखता हो उसे दृष्टान्ताभास कहते हैं।

और भी—

घटमृत्तिकयोरिव वा द्वैतं तद्द्वैतवदद्वैतम् ।
नित्यं मृण्मात्रतया यदनित्यं घटत्वमात्रतया ॥ ४१३ ॥

अर्थ—अथवा सत् परिणाममें घट और मिट्टीके समान द्वैतभाव और अद्वैतभाव है मृत्तिका रूपसे तो उस पदार्थमें नित्यता आती है और घटरूप पर्यायकी अपेक्षासे उसमें अनित्यता आती है। उसी प्रकार द्रव्य दृष्टिसे सत् कहा जाता है और पर्याय दृष्टिसे परिणाम कहा जाता है।

उसीका खुलासा—

अयमर्थः सन्नित्यं तदभिज्ञप्तेर्यथा तदेवेदम् ।
न तदेवेदं नियमादिति प्रतीतेश्च सन्न नित्यं स्यात् ॥४१४॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि सत् कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है। किसी पुरुषको १० वर्ष पहले देखनेके पीछे दुबारा जब देखते हैं तब उसका वही स्वरूप पाते हैं जो कि १० वर्ष पहले हमने देखा था, इसलिये हम झट कह देते हैं कि यह वही पुरुष है जिसे हमने पहले देखा है, इस प्रत्यभिज्ञानरूप प्रतीतिसे तो सत् नित्य सिद्ध होता है, और उस पुरुषकी १० वर्ष पहले जो अवस्था थी वह १० वर्ष पीछे नहीं रहती। १० वर्ष पीछे एक प्रकारसे वह पुरुष ही बदल जाता है। फिर उसमें यह प्रतीति होने लगती है कि यह वैसा नहीं है, इस प्रतीतिसे सत् अनित्य सिद्ध होता है।

और भी—

अप्युभयं युक्तिवशादेकं सच्चैककालमेकोक्तेः ।
अप्यनुभयं सदेतन्नयप्रमाणादिवादशून्यत्वात् ॥४१५॥

अर्थ—युक्तिवश–विवक्षावश सत् उभय दो रूप भी है, और एककी विवक्षा करनेसे एक कालमें एक ही कहा जाता है, इसलिये वह एक है, अर्थात् विवक्षावश सत कथंचित् एक रूप है और कथंचित् उभयरूप है तथा वही सत् अनुभयरूप भी प्रतीत होने लगता है जबकि नय प्रमाणादि वादसे वह रहित होता है, अर्थात् विकल्पातीत अवस्थामें वह सत् न एक है न दो है, किन्तु अनुभयरूप प्रतीत होता है।

और भी—

व्यस्तं सन्नयोगान्नित्यं नित्यत्वमात्रतस्तस्य ।
अपि च समस्तं सदिति प्रमाणसापेक्षतो विवक्षायाः ॥४१६॥

अर्थ—नयकी विवक्षा करनेसे सत् पृथक् २ (जुदा) है। नित्यत्वकी विवक्षा करने पर वह नित्य मात्र ही है, और प्रमाणकी विवक्षा करनेसे वही सत् समस्त (अभिन्न–नित्यानित्य) है।

समथा-अविरुद्ध है—

न विरुद्धं क्रमवर्ति च सदिति तथाऽनादितोपि परिणामि।
अक्रमवर्त्ति सदित्यपि न विरुद्धं सदैकरूपत्वात् ॥ ४१७ ॥

अर्थ—सत् क्रमवर्ती–क्रमसे परिवर्त्तनशील है, यह बात भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि वह अनादिकालसे परिणमन करता आया है तथा वह सत अक्रमवर्ती है, यह बात भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि परिवर्त्तनशील होने पर भी वह सदा एकरूप ही रहता है। भावार्थः—द्रव्य अनन्त गुणोंका समूह है, उन सब गुणोंके कार्य भी भिन्न २ हैं। उनमें एक द्रव्यत्व गुण भी है उस गुणका यह कार्य है कि द्रव्य सदा परिणमन करता रहे, कभी भी परिणाम रहित न हो। द्रव्यत्व गुणके निमित्तसे द्रव्य सदा परिणमन करता रहता है, परन्तु परिणमन करते हुए भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी नहीं हो सक्ता, अर्थात् जीव द्रव्य पुद्गलरूप अथवा पुद्गल द्रव्य जीवरूप कभी नहीं हो सक्ता, ऐसा क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि उन्हीं गुणोंमें एक अगुरुलघु नामा भी गुण है उसका यह कार्य है कि कोई भी द्रव्य परिणमन अपने स्वरूपमें ही करे, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी न हो, एक गुण भी दूसरे गुणरूप न हो, तथा एक द्रव्यके अनन्त गुण जुदे २ न बिखर जांय किन्तु तादात्म्यरूपसे बने रहें। इसप्रकार द्रव्य क्रमवर्ती–अक्रमवर्ती, नित्य–अनित्य, भिन्न–अभिन्न, एक–अनेक, उभय–अनुभय, पृथक्–अपृथक् आदि अनेक धर्मवाला विवक्षासे सिद्ध होता है।

शङ्काकार—

ननु किमिह जगदशरणं विरुद्धधर्मद्वयाधिरोपत्वात् ।
स्वयमपि संशयदोलान्दोलित इव चलितप्रतीतिः स्यात् ।४१८।
इह कश्चिज्जिज्ञासुर्नित्यं सदिति प्रतीयमानोपि ।
सदनित्यमिति विपक्षे सति शल्ये स्यात्कथं हि निःशल्यः ।४१९।
इच्छन्नपि सदनित्यं भवति न निश्चितमना जनः कश्चित् ।
जीवदवस्थत्वादिह सन्नित्यं तद्विरोधिनोऽध्यक्षात् ॥४२०॥
तत एव दुरधिगम्यो न श्रेयान् श्रेयसे ह्यनेकान्तः ।
अप्यात्मसुखदोषात् सव्यभिचारो यतो चिरादिति चेत् ।४२१।

अर्थ—क्या एक द्रव्यमें दो विरोधी धर्म रह सक्ते हैं ? यदि ऊपरके कथनानुसार रह सक्ते हैं तब तो इस जगतमें कोई भी शरण नहीं रहेगा। सर्वत्र ही विरुद्ध धर्म उपस्थित रहेंगे। ऐसी विरुद्धतामें कोई भी पदार्थोंके समझनेकी इच्छा रखनेवाला–जिज्ञासु कुछ निश्चय नहीं कर सकेगा किन्तु वह स्वयं संशयरूपी झूलेमें झूलने लगेगा, क्योंकि वह जिस समय सत्–वस्तुको नित्य समझेगा उसी समय उसको नित्यताकी विरोधिनी अनित्यता भी उसमें

प्रतीत होगी, ऐसी अवस्थामें वह न तो वस्तुमें नित्यता ही स्थिर कर सकेगा और न अनित्यता ही स्थिर कर सकेगा किन्तु सदा सशल्य—संशयालु बना रहेगा। उसी प्रकार यदि वह यह समझने लगे कि वस्तु अनित्य ही होती है, तो भी वह निश्चित विचारवाला निःसंशयी नहीं बन सकेगा, क्योंकि उसी समय अनित्यका विरोधी नित्यरूप—सदा वस्तुको निजरूप भी वस्तुमें उसे प्रत्यक्ष दीखने लगेगा। इन बातोंसे जाना जाता है कि अनेकान्त—स्याद्वाद बहुत ही कठिन है, अर्थात् सब कोई इसका पार नहीं पासक्ते हैं, इसीलिये यह अच्छा नहीं है, क्योंकि सहसा इससे कल्याण नहीं होता है, दूसरी बात यह भी है कि यह अनेकान्त स्वयं ही दोषी बन जाता है. क्योंकि जो कुछ भी यह कहता है उसी समय उसका व्यभिचार—निरोध खड़ा हो जाता है, इसलिये यह अनेकान्त ठीक नहीं है ?

उत्तर—

तन्न यतस्तदभावे बलवानस्तीह सर्वथैकान्तः ।
सोपि च सदनित्यं वा सन्नित्यं वा न साधनायालम् ॥ ४२२ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि अनेकान्तका अभाव मान लिया जाय तो उस समय एकान्त ही सर्वथा बलवान सिद्ध होगा, वह या तो सत्को सर्वथा नित्य ही कहेगा अथवा सर्वथा उसे अनित्य ही कहेगा, परन्तु सर्वथा एकान्तरूपसे पदार्थमें न तो नित्यता ही सिद्ध होती है और न अनित्यता ही सिद्ध होती है। इसलिये एकान्त पक्षसे कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। इसी बातको नित्य अनित्य पक्षों द्वारा नीचे दिखाते हैं—

सन्नित्यं सर्वस्मादिति पक्षे विक्रिया कुतो न्यायात् ।
तदभावेपि न तत्त्वं क्रियाफलं कारकाणि यावदिति ॥ ४२३ ॥
परिणामः सदवस्थाकर्मत्वाद्विक्रियेति निर्देशः ।
तदभावे सदभावो नासिद्धः सुप्रसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ४२४ ॥

अर्थ—सर्वथा सत् नित्य ही है, ऐसा पक्ष स्वीकार करनेपर पदार्थमें विक्रिया किस न्यायसे हो सकती है ? अर्थात नहीं हो सक्ती, यदि पदार्थमें विक्रिया ही न मानी जाय तो उसके अभावमें पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता है, न क्रिया ही सिद्ध होती है, न उसका फल सिद्ध होता है और न उसके कारण ही सिद्ध होते है। क्योंकि सत् पदार्थकी अवस्थाओंका नाम ही परिणाम है, और उसीको विक्रियाके नामसे कहते हैं। उस परिणामका प्रतिक्षण होनेवाली अवस्थाओंका अभाव मानने पर सत्का ही अभाव हो जाता है यह बात असिद्ध नहीं है, किन्तु सुप्रसिद्ध दृष्टान्तसे सिद्ध है।

दृष्टान्त—

अथ तद्यथा पटस्य क्रिया प्रसिद्धेति तन्तुसंयोगः।
भवति पटाभावः किल तदभावे यथा तदनन्यात् ॥ ४२५ ॥

अर्थ—यह जगत् प्रसिद्ध है कि अनेक तन्तुओंका संयोग ही पटकी क्रिया है। यदि वह तन्तु संयोगरूप पटक्रिया न मानी जाय तो पट ही कुछ नहीं ठहरता है। क्योंकि तन्तु संयोगसे अतिरिक्त पट कोई पदार्थ नहीं है। **भावार्थ**—तन्तु संयोगरूप क्रियाके मानने पर ही पटकी सत्ता और उससे शीत निवारण आदि कार्य सिद्ध होते हैं, यदि तन्तु संयोग-रूप क्रिया न मानी जाय तो भिन्न २ तन्तुओंसे न तो पटात्मक कार्य ही सिद्ध होता है और न उन स्वतन्त्र तन्तुओंसे शीत निवारणादि कार्य ही सिद्ध होते हैं। इसलिये तन्तु संयोगरूपा क्रिया पटकी अवश्य माननी पड़ती है।

विक्रियाके अभावमें और भी दोष—

अपि साधनं क्रिया स्यादपवर्गस्तत्फलं प्रमाणत्वात्।
तत्कर्त्ता ना कारकमेतत् सर्वं न विक्रियाभावात् ॥ ४२६ ॥

अर्थ—यदि विक्रिया मानी जाती है तब तो मोक्ष प्राप्तिका जो साधन–उपाय किया जाता है वह तो क्रिया पड़ती है, और उसका फल मोक्ष भी प्रमाण सिद्ध है तथा उसका करनेवाला–कर्त्ता पुरुषार्थी पुरुष होता है। यदि पदार्थमें विक्रिया ही न मानी जाय तो इनमेंसे एक मी कारक सिद्ध नहीं होता है। **भावार्थ**—पदार्थोंमें विक्रिया मानने पर ही इस जीवके मोक्ष प्राप्ति और उसके साधनभूत तप आदि उत्तम कार्य सिद्ध होते हैं। अन्यथा कुछ भी नहीं बनता।

शङ्काकार—

ननु का नो हानिः स्याद्भवतु तथा कारकाद्यभावश्च।
अर्थात् सन्नित्यं किल नह्यौषधमातुरे तमनुवर्त्ति ॥४२७॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि ग्रन्थकारने विक्रियाके अभावमें जो कारकादिका न बनना आदि दोष बतलाये हैं वे हों, अर्थात् कारकादि भले ही सिद्ध न हों, ऐसा माननेसे भी हमारी कोई हानि नहीं है। हम तो पदार्थको सर्वथा नित्य ही मानेंगे। नित्य मानने पर उसमें मोक्ष प्राप्ति आदि कुछ भी न सिद्ध हो, इसकी हमें परवाह नहीं है, क्योंकि औषधि रोगीका रोग दूर करनेके लिये दी जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि वह रोगीको अच्छी लगे या बुरी लगे ? **भावार्थ**—औषधि देने पर विचार नहीं किया जाता है कि रोगी इसे अनु-कूल समझेगा या नहीं, उसके समझने न समझने पर औषधिका देना अवलम्बित नहीं है। उसी प्रकार यहां पर वस्तु विचार आवश्यक है। उसमें चाहे कोई भी दोष आओ अथवा किसीका अभाव हो जाओ इससे शंकाकारकी कुछ हानि नहीं है।

उत्तर—

सत्यं सर्वमनीषितमेतत्तद्भाववादिना तावत्।
यत्सत्तत्क्षणिकादिति यावन्नोदेति जलदहष्टान्तः ॥४२८ ॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि शंकाकारके पदार्थको सर्वथा नित्य मानना आदि विचार तभी तक ठहर सक्ते हैं जब तक कि उसके सामने मेघका दृष्टान्त नहीं आया है। जिस समय उसके सामने यह अनुमान रक्खा जाता है कि जो सत् है वह क्षणिक भी है* जैसे जलके देनेवाले मेघ। उसी समय उसके नित्यताके विचार भाग जाते हैं, अर्थात् जो मेघ अभी आते हुए दीखते हैं वे ही मेघ तुरन्त ही नष्ट—विलीन होते हुए भी दीखते हैं, ऐसी अवस्थामें कौन साहस कर सक्ता है कि वह पदार्थको सर्वथा नित्य कहे?

सत्को सर्वथा अनित्य माननेसे दोष—

अयमप्यात्मरिपुः स्यात्सदनित्यं सर्वथेति किल पक्षः।
प्रागेव सतो नाशादपि प्रमाणं क तत्फलं यस्मात् ॥ ४२९ ॥

अर्थ—सत्–पदार्थ सर्वथा अनित्य है ऐसा पक्ष भी उनका (सत्को अनित्य माननेवालोंका) स्वयं शत्रु है। क्योंकि जब सत् अनित्य है तो पहले ही उसका नाश हो जायगा, फिर प्रमाण और उसका फल किस प्रकार बन सक्ता है? अर्थात् नहीं बन सक्ता।

और भी दोष—

अपि यत्सत्तदिति वचो भवति च निग्रहकृते स्वतस्तस्य।
यस्मात्सदिति कुतः स्यात्सिद्धं तच्छून्यवादिनामिह हि ॥४३०॥

अर्थ—जो दार्शनिक (बौद्धादि) पदार्थको सर्वथा अनित्य मानते हैं उनके यहां उनका वचन ही स्वयं उनका खण्डन करता है, क्योंकि जो पदार्थको सर्वथा विनाशीक माननेवाले—शून्यवादी हैं 'वे जो सत् है सो अनित्य है' ऐसा वाक्य ही नहीं कह सक्ते हैं। उसके न कहनेका कारण भी यही है, कि, जब वे वाक्य बोलते हैं उस समय सत् तो नष्ट ही हो जाता है अथवा सर्वथा अनित्य पक्षवालोंके यहां पूरा वाक्य ही नहीं बोला जासक्ता, क्योंकि जब तक वे 'जो सत् है' इस वाक्यका 'सत्' पद बोलेंगे तब तक 'जो' नष्ट हो जायगा। जब 'है' पद बोलेंगे तबतक 'सत्' पद भी नष्ट हो जायगा। जब उत्तरार्ध 'सो अनित्य है' बोलेंगे तबतक पूर्वार्ध और उत्तरार्धके

*सर्वं क्षणिकं सत्वात्, जो सत् है वह सब क्षणिक ही है। इस व्यतिरेक अनुमानसे बौद्ध भी पदार्थोंमें क्षणिकता सिद्ध करते हैं, परन्तु वे एकान्तरूपसे करते हैं, यह बात प्रत्यक्ष बाधित है। क्योंकि पदार्थोंमें 'यह वही है, ऐसी भी प्रतीति होती है।

पहलेके वर्ण भी नष्ट हो जायँगे। इसलिये शून्य वादियोंके यहां पदार्थकी सिद्धि तो दूर रहो, उसका प्रतिवादक वाक्य भी नहीं बनता है।

अपि च सदमन्यमानः कथमिव तदभावसाधनायालम्।
वन्ध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायादिवद्व्यलीकत्वात् ॥४३१॥

अर्थ—यदि सत्का अभाव स्वीकार करते हुए ही किसी प्रकार पदार्थमें नित्यपनेका अभाव सिद्ध किया जाता है तो यह सिद्ध करना उसी प्रकार मिथ्या (झूंठा) है जिस प्रकर किसीका यह कहना कि मैं वाँझ स्त्रीके पुत्रको मारता हूं, मिथ्या है। **भावार्थ**—जब वाँझ स्त्रीके पुत्र ही नहीं होता तो फिर मारा किसे जायगा। उसी प्रकार जब सत्का अभाव ही सर्वथा अनित्यवादियोंने स्वीकार कर लिया है तो वे नित्यताका अभाव किसमें सिद्ध करेंगे।

अपि यत्सत्तन्नित्यं तत्साधनमिह यथा तदेवेदम्।
तदभिज्ञानसमक्षात् क्षणिकैकान्तस्य बाधकं च स्यात् ॥४३२॥

अर्थ—दूसरी बात यह भी है कि लोकमें ऐसी प्रतीति भी होती है जो कि क्षणिक एकान्तकी सर्वथा बाधक है। वह प्रतीति इस प्रकार है—जो सत् है वह नित्य है, जैसे—यह वही वस्तु है जिसे पहले हमने देखा था ऐसा प्रत्यभिज्ञान। प्रत्यभिज्ञान प्रतीति यथार्थ है क्योंकि उससे लोक यथार्थ बोध और इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करता है, प्रत्यभिज्ञानकी यथार्थतासे पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जाता है। विना कथंचित् नित्यताके पदार्थमें प्रत्यभिज्ञान प्रतीति होती ही नहीं। इसलिये यह प्रतीति ही क्षणिकैकान्तकी बाधक है।

सर्वथा नित्य माननेमें दोष—

क्षणिकैकान्तवदित्यपि नित्यैकान्ते न तत्त्वसिद्धिः स्यात्।
तस्मान्न्यायागतमिति नित्यानित्यात्मकं स्वतस्तत्त्वम् ॥४३३॥

अर्थ—जिस प्रकार क्षणिकैकान्तमे पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है उसी प्रकार नित्य एकान्तसे भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है। इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध है कि पदार्थ कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य भी है, उभयात्मक है। **भावार्थ**—जैसे सर्वथा क्षणिक असिद्ध है वैसे सर्वथा नित्य भी असिद्ध है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान जैसे सर्वथा अनित्यमें नहीं हो सक्ता है वैसे वह सर्वथा नित्यमें भी नहीं हो सक्ता है। इसका कारण भी यह है कि प्रत्यभिज्ञानमें पूर्व और वर्त्तमान ऐसी दो प्रकारकी प्रतीति होती है। सर्वथा नित्यमें वैसी प्रतीति नहीं हो सक्ती है। इसलिये पदार्थ नित्यानित्यात्मक ही युक्ति, अनुभव, आगमसे सुसिद्ध है।

शङ्काकार—

ननु चैकं सदिति स्यात्किमनेकं स्यादथोभयं चैतत्।
अनुभयमिति किं तत्त्वं शेषं पूर्ववदथान्यथा किमिति ॥ ४३४॥

अर्थ—क्या सत् एक है, अथवा अनेक है अथवा उभय है या अनुभय है अथवा बाकीके एक एक भंगरूप है। अथवा और ही प्रकार है?

उत्तर—

सत्यं सदेकमिति वा सदनेकं चोभयं च नययोगात् ।
न च सर्वथा सदेकं सदनेकं वा सदप्रमाणत्वात् ॥ ४३५ ॥

अर्थ—ठीक है, सत् नय दृष्टिसे एक भी है अनेक भी है उभय भी है और अनुभय भी है × परन्तु यह बात नयविवक्षासे ही बनती है. नय विवक्षाकी अपेक्षाको छोड़कर सर्वथा सत्को एक कहना भी ठीक नहीं है, अनेक कहना भी ठीक नहीं है * और उभय कहना भी ठीक नहीं, अनुभय कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा एकान्तरूपसे एक अनेक सत् अप्रमाण ही हैं।

सत् स्यात् एक है—

अथ तद्यथा सदेकं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्वाद्वा ।
गुणपर्यायांशैरपि निरंशदेशादखण्डसामान्यात् ॥४३६॥

अर्थ—गुण पर्याय रूप अंशोंको अभिन्न प्रदेशी होनेसे सत् एक है अथवा अखण्ड सामान्यकी अपेक्षासे निरंश–अंश रहित देश होनेसे सत् एक है। भावार्थ–द्रव्यमें गुण पर्यायें इसी प्रकार हैं जिस प्रकार कि जलमें कल्लोलें होती हैं। जिसप्रकार जलसे कल्लोलोंकी सत्ता भिन्न नहीं है उसी प्रकार द्रव्यसे गुण पर्यायोंकी सत्ता भी भिन्न नहीं है। केवल विवक्षासे द्रव्य गुणपर्यायोंकी कल्पना की जाती है, शुद्ध दृष्टिसे जो द्रव्य है सोई गुण पर्याय है, जो गुण है सोई द्रव्य पर्याय है, अथवा जो पर्याय है सोई द्रव्य गुण है, इसलिये जब तीनों एक ही हैं तो न उनकी भिन्न सत्ता है, और न उनके भिन्न प्रदेश ही हैं। तथा शुद्ध दृष्टिसे न उनमें अंश कल्पना ही है किन्तु निरंश–अखण्ड देशात्मक एक ही सत् है।

तथा—

द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेनापीह चाथ भावेन ।
सदखण्डं नियमादिति यथाधुना वक्ष्यते हि तल्लक्ष्म ॥ ४३७ ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे नियमसे सत् अखण्ड है, अब इन चारोंकी अपेक्षासे ही सत्में अखण्डता क्रमसे सिद्ध की जाती है।

द्रव्य–विचार—

गुणपर्ययवद्द्रव्यं तद्गुणपर्ययवपुः सदेकं स्यात् ।
नहि किञ्चिद्गुणरूपं पर्ययरूपं च किञ्चिदंशांशैः ॥४३८॥

× च शब्दसे अनुभयादिका ग्रहण किया जाता है।

* यहांपर 'वा' शब्दसे उभयादिका ग्रहण कर लेना चाहिये।

अर्थ—गुण पर्यायवाला द्रव्य है, अर्थात् गुणपर्याय ही द्रव्यका शरीर है, गुण पर्याय स्वरूप ही द्रव्य है, इसलिये सत् एक है। ऐसा नहीं है कि उसके कुछ अंश तो गुणरूप हों, कुछ पर्यायरूप हों।

दृष्टान्त—

रूपादितन्तुमानिह यथा पटः स्यात्स्वयं हि तद्‌द्वैतम्।
नहि किञ्चिद्रूपमयं तन्तुमयं स्यात्तदंशगर्भांशैः॥ ४३९॥

अर्थ—रूपादि विशिष्ट तन्तुवाला पट कहलाता है, इस कथनकी अपेक्षासे वह स्वयं द्वैतभाव धारण करता है, परन्तु ऐसा नहीं है कि पटमें कुछ अंश तो रूपमय हों, और कुछ तन्तुमय हों। किन्तु रूप तन्तु पट तीनों एक ही पदार्थ है। केवल विवक्षासे उसमें द्वैतभाव है।

न पुनर्गोरसवदिदं नानासत्त्वैकसत्त्वसामान्यम्।
[illegible] घृतरूपं च जलमयं किञ्चित्॥ ४४०॥

अ[illegible]—स[illegible]में जो एकत्व है, वह गोरसके समान अनेक सत्ताओंके सम्मेलनसे एक सामान्य [illegible] नहीं है। जैसे—गोरस (दुग्धादि) की मिली हुई अवस्थामें कुछ घृतभाग है, और कुछ जलभाग है, परन्तु सम्मेलन होनेके कारण उन्हें एक ही गोरससे पुकारते हैं, वैसे स[illegible]में एकत्व नहीं है। [illegible] जैसे गोरसमें कई पदार्थोंकी भिन्न २ सत्ता है परन्तु मिलापके कारण एक गोरसकी ही सत्ता कही जाती है। वैसे सत् एक नहीं कहा जाता है किन्तु एक सत्ता होनेसे वह एक कहा जाता है।

अपि यदशक्यविवेचनमिह न स्याद्वा प्रयोजकं यस्मात्।
क्वचिदश्मनि [illegible]भूत्कनकोपलद्वयाद्वैतम्॥ ४४१॥

अर्थ—अथवा ऐसा भी नहीं कहा जासक्ता कि यद्यपि सत्में भिन्न २ सत्तायें हैं परन्तु उनका भिन्न २ विवेचन नहीं किया जासक्ता है इसलिये सतको एक अथवा एक सत्तावाला कह दिया जाता है। जैसे [illegible]क स्वर्ण पाषाणमें स्वर्ण और पाषाण दो पदार्थ हैं परन्तु उ[illegible] भिन्न [illegible] विवे[illegible] है इसलिये [illegible] एक ही पत्थरके नामसे पुकारा जाता है। ऐसा कहनेसे [illegible]में द्वैतभाव है उसी प्रकार सत्में भी द्वैतभाव सिद्ध होगा, पर[illegible] जिस प्रकार भिन्न २ दो पदार्थ हैं उस प्रकार सत्में न[illegible] है। सत [illegible] एक [illegible] एक ही है।

स[illegible]ंश—

[illegible]डवस्तुत्वम्।
प्रकृतं यथा सदेकं द्रव्येणाखण्डितं मतं तावत्॥ ४४२॥

अर्थ—इसलिये एकत्व सिद्ध करनेके लिये न तो भिन्न २ अनेक सत्ताओंका सम्मेलन ही प्रयोजक है और न अशक्य विवेचन ही एकत्वका प्रयोजक है किन्तु अखण्ड वस्तुत्व ही उसका प्रयोजक है। अर्थात् जो अखण्ड प्रदेशी-एक सत्तात्मक पदार्थ है वही एक है। प्रकृतमें द्रव्यकी अपेक्षासे भी ऐसा ही अखण्ड प्रदेशी एकत्व सत्में माना गया है।

शङ्काकार—

ननु यदि सदेव तत्त्वं स्वयं गुणः पर्ययः स्वयं सदिति ।
शेषः स्यादन्यतरस्तदितरलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ४४३ ॥
न च भवति तथावश्यम्भावात्तत्समुदयस्य निर्देशात् ।
तस्मादनवद्यमिदं छायादर्शवदनेकहेतुः स्यात् ॥ ४४४ ॥

अर्थ—यदि स्वयं सत् ही द्रव्य है, स्वयं ही गुण है, स्वयं ही पर्याय है तो एक शेष रहना चाहिये। अर्थात् जब द्रव्य गुण पर्याय तीनों एक ही हैं तो तीनोंमेंसे कोई एक कहा जा सक्ता है बाकीके दोनोंका लोप होना अवश्यम्भावी है, परन्तु वैसा होता नहीं है, द्रव्य गुण पर्याय, तीनोंका कहना ही आवश्यक प्रतीत होता है, इसलिये यह बात ही निर्दोष सिद्ध होती है कि सत् छाया और दर्पणके समान अनेक कारणजन्य है ? भावार्थ—यदि द्रव्य गुण पर्याय तीनों एक ही बात हैं तब तो एक शेष रहना चाहिये, दोका लोप हो जाना चाहिये। यदि तीनों ही तीन बाते हैं तो वे अवश्य ही सत्को अनेक हेतुक सिद्ध करती हैं, और अनेक हेतुक होनेसे सत्में अनेकत्व भी सिद्ध होगा ?

उत्तर—

सत्यं सदनेकं स्यादपि तद्धेतुश्च यथा प्रतीतत्वात् ।
न च भवति यथेच्छं तच्छायादर्शवदसिद्धदृष्टान्तात् ॥४४५॥

अर्थ—ठीक है, कथंचित् सत् अनेक भी है तथा यथायोग्य अनेक हेतुक भी है। परन्तु उसमें अनेक हेतुता छाया और दर्पणके समान इच्छानुसार नहीं है किन्तु प्रतीतिके अनुसार है। सत्के विषयमें छायादर्शका दृष्टान्त असिद्ध है। क्यों असिद्ध है ? उसीका उत्तर नीचे दिया जाता है।

प्रतिबिम्बः किल छाया वदनादर्शादिसन्निकर्षाद्वै ।
आदर्शस्य सा स्यादिति पक्षे सदसदिव वाऽन्वयाभावः ॥४४६॥
यदि वा सा वदनस्य स्यादिति पक्षोऽसमीक्ष्यकारित्वात् ।
व्यतिरेकाभावः किल भवति तदास्यस्य सतोऽप्यच्छायत्वात् ॥४४७॥

अर्थ—नियमसे प्रतिबिम्बका नाम ही छाया है। वह वदन (मुख) और आदर्श (दर्पण)के सम्बन्धसे होती है। यदि उस छायाको केवल दर्पणकी ही कहा जाय तो ऐसा पक्ष

माननेसे सत् असत्के समान ठहरेगा। अथवा अन्वय नहीं बनेगा। अर्थात् यदि छायाको दर्पणकी ही कहा जाय तो जहां २ दर्पण है वहां २ छाया होनी चाहिये परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता है, विना छायाके भी दर्पण देखा जाता है। परन्तु द्रव्य गुण पर्यायमें वैसा अन्वयाभाव नहीं है। कथंचित् तीनों ही सहभावी हैं और कथंचित् एक हैं। यदि वह छाया मुखकी कही जाय तो यह पक्ष भी विना विचारे कहा हुआ ही प्रतीत होता है, क्योंकि मुखकी छाया माननेसे व्यतिरेक नहीं बनता है। यदि मुखकी ही छाया मानी जाती है तो जहां २ छाया नहीं है वहां २ मुख भी नहीं होना चाहिये, परन्तु यह बात असिद्ध है, जहां मुख देखनेमें आत है वहां छाया नहीं भी देखनेमें आती है। परन्तु द्रव्य गुण पर्यायमें ऐसा व्यतिरेक व्यभिचार नहीं है। जहां द्रव्य नहीं है वहां गुण पर्याय भी नहीं है और जहां गुण पर्याय नहीं है वहां द्रव्य भी नहीं है। तीनोंमें रूप रस गन्ध स्पर्शके समान अभिन्नता है। इसलिये सत्के विषयमें छाया आदर्शका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

फलितार्थ—

एतेन निरस्तोभून्नानासत्त्वैकसत्त्ववादीति।
प्रत्येकमनेकम्प्रति सद्द्रव्यं सन्गुणो यथेत्यादि ॥४४८॥

अर्थ—कोई दर्शनकार (नैयायिकादि) ऐसा मानता है कि द्रव्यकी सत्ता भिन्न है गुणकी भिन्न है, कर्मकी भिन्न है, और उन सब भिन्न २ सत्तावाले पदार्थोंमें एक महा सत्ता रहती है। इस प्रकार नाना सत्त्वोंके ऊपर एक सत्त्व माननेवाला उपर्युक्त कथनसे खण्डित किया गया है। **भावार्थ**—नैयायिक १६ पदार्थ मानता है। वैशेषिक ७ पदार्थ मानता है। वे सात पदार्थ ये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव। ऊपर कहे हुए दोनों ही मत इन सात पदार्थोंको भिन्न २ मानते हैं। परन्तु वास्तवमें ये सातों जुदे २ नहीं है किन्तु सातों मिल कर एक ही पदार्थ है। क्योंकि गुणोंका समूह ही द्रव्य है। द्रव्यसे गुण जुदा पदार्थ नहीं है। गुणोंमें दो प्रकारके गुण हैं (१) भावात्मक (२) क्रियात्मक। क्रियात्मक गुणका नाम ही कर्म है। उन्हीं गुणोंमें द्रव्यकी सत्ता स्थित रखनेवाला अस्तित्त्व नामका गुण है। वही सामान्यके नामसे पुकारा जाता है। विशेष गुणोंको ही विशेषके नामसे कह दिया गया है। विवक्षावश द्रव्य गुणोंमें कथञ्चित् भिन्नता भी लाई जाती है। उस समय उनमें जो तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है उसीका नाम नैयायिकोंने समवाय रख लिया है। विवक्षावश जो एक पदार्थमें इतर पदार्थोंका अभावरूप नास्तित्व धर्म रहता है। उसीको उन्होंने स्वतन्त्र अभाव पदार्थ मान लिया है। इस प्रकार एक पदार्थकी अनेक अवस्थाओंको ही उक्त दर्शनकारोंने भिन्न २ पदार्थ माना है। परन्तु ऐसा उनका मानना उपर्युक्त रीतिसे सर्वथा बाधित है।

क्षेत्र-विचार—

क्षेत्रं प्रदेश इति वा सदधिष्ठानं च भूर्निवासश्च ।
तदपि स्वयं सदेव स्यादपि यावन्न सत्प्रदेशस्थम् ॥४४९॥

अर्थ—क्षेत्र कहो, प्रदेश कहो, सत्का आधार कहो, सत्की पृथ्वी कहो, सत्का निवास कहो, ये सब पर्यायवाची हैं । परन्तु ये सब स्वयं सत् स्वरूप ही हैं । ऐसा नहीं है कि सत् कोई दूसरा पदार्थ हो और क्षेत्र दूसरा हो, उस क्षेत्रमें सत् रहता हो । किन्तु सत् और उसके प्रदेश दोनों एक ही बात है । सत्का क्षेत्र स्वयं सत्का स्वरूप ही है । **भावार्थ**—जिन आकाशके प्रदेशोंमें सत्–पदार्थ ठहरा हो उनको सत्का क्षेत्र नहीं कहते हैं, उस क्षेत्रमें तो और भी अनेक द्रव्य हैं । किन्तु जिन अपने प्रदेशोंसे सत्ने अपना स्वरूप पाया है वे ही सत्के प्रदेश कहे जाते हैं । अर्थात् जितने निज द्रव्यके प्रदेशोंमें सत् बैंटा हुआ है वही उस द्रव्यका क्षेत्र है ।

प्रदेश भेद—

अथ ते त्रिधा प्रदेशाः क्वचिन्निरंशैकदेशमात्रं सत् ।
क्वचिदपि च पुनरसंख्यदेशमयं पुनरनन्तदेशवपुः ॥ ४५० ॥

अर्थ—वे प्रदेश तीन प्रकार हैं–कोई सत् तो निरंश फिर जिसका खण्ड न हो सके ऐसा एक देश मात्र है, कोई (कहीं पर) सत् असंख्यात प्रदेशवाला है, और कोई अनन्त प्रदेशी भी है । **भावार्थ**—एक परमाणु अथवा एक काल द्रव्य एक प्रदेशी है । यहां पर प्रदेशसे तात्पर्य परमाणु और काल द्रव्यके आधारभूत आकाशका नहीं है × किन्तु परमाणु और काल द्रव्यके प्रदेशका है। दोनों ही द्रव्य एक प्रदेशी हैं । धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य ये असंख्यात प्रदेशी हैं । * आकाश अनन्त प्रदेशी है ।

आशङ्का और उत्तर—

ननु च द्व्यणुकादि यथा स्यादपि संख्यातदेशि सदिति चेत् ।
न यतः शुद्धादेशैरुपचारस्याविवक्षितत्वाद्वा ॥ ४५१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार एक प्रदेश, असंख्यात प्रदेश और अनन्त प्रदेशवाले द्रव्य बतलाये गये हैं, उस प्रकार संख्यात प्रदेशी द्रव्य भी बतलानां चाहिये। और ऐसे द्रव्य द्व्यणुक

× जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।
द्रव्य संग्रह ।

यहांपर प्रदेशका परिमाण बतलानेके लिये उसका उपचरित लक्षण किया गया है। परन्तु ऊपर वस्तु–प्रदेश लिया गया है ।

* असंख्यात प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध भी होता है परन्तु उसका यहां ग्रहण नहीं है, क्योंकि उसके प्रदेश उपचरित हैं । यहां शुद्धोंका ही ग्रहण है ।

त्र्यणुक चतुरणुक+ शताणुक लक्षाणुक आदि पुद्गल स्कन्ध हो सकते हैं। उन्हे क्यों छोड़ दिया गया ? परंतु उपर्युक्त आशङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यहां शुद्ध नयकी अपेक्षासे शुद्ध द्रव्योंका कथन है, उपचरित द्रव्योंका कथन नहीं है। भावार्थ—संख्यात प्रदेशी कोई द्रव्य नहीं है किन्तु कई पुद्गल द्रव्योंके मेलसे होनेवाला स्कन्ध है। वह यहां पर विवक्षित नहीं है। परमाणु और काल द्रव्यको संख्यात प्रदेशी नहीं कहा गया है किन्तु निरंश–एक देश मात्र कहा गया है।

प्रकारान्तर—

अयमर्थः सद्द्वेधा यथैकदेशीत्यनेकदेशीति।
एकमनेकं च स्यात्प्रत्येकं तन्नयद्वयान्न्यायात् × ॥४५२॥

अर्थ—तात्पर्य यह है कि सत्के दो भेद हैं (१) एक देशी (२) अनेक देशी। इन दोनोंमें प्रत्येक ही दो नयोंकी विवक्षासे एक और अनेक रूप है। भावार्थ—इस श्लोक द्वारा प्रदेशोंके भेद तीनके स्थानमें दो ही बतलाये गये हैं, और असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश–अनेकमें गर्भित किये गये हैं। जो एक प्रदेशी है वह द्रव्य भी नय सामान्यकी अपेक्षासे एक प्रकार और नय विशेषकी अपेक्षासे अनेक प्रकार है। इसी प्रकार अनेक प्रदेशी द्रव्य भी समझना चाहिये।

अथ यस्य यदा यावद्यदेकदेशे यथा स्थितं सदिति।*
तत्तावत्तस्य तदा तथा समुदितं च सर्वदेशेषु ॥४५३॥

अर्थ—जिस समय जिस द्रव्यके एक देशमें जैसे सत् रहता है वैसे उस द्रव्यके उस समय सर्व देशोंमें सत् समुदित रहता है। भावार्थ—द्रव्यके एक प्रदेशमें जो सत् है वही उसके सर्व प्रदेशोंमें है। यहां पर तिर्यक् अंश कल्पना द्वारा वस्तुमें क्षेत्रका विचार किया है। जैसे–कोई वस्तु एक अंगुल चौड़ी दो अंगुल लम्बी और उतनी ही मोटी है, यदि ऐसी वस्तुमें तिर्यगंश कल्पना की जाय तो वह वस्तु प्रदेशोंके विभागकी अपेक्षासे उतनी ही लम्बी चौड़ी मोटी समझी जायगी ? और उसके प्रदेश उतने ही क्षेत्रमें समझे जायँगे। स्मरण रहे कि यह क्षेत्र उस द्रव्यका आधारभूत आकाशरूप नहीं है किन्तु उसी वस्तुके प्रदेशरूप है तथा वे एक अंगुल चौड़े दो अंगुल लम्बे मोटे प्रदेश अखण्ड–एक सत्तावाले

+ दो अणुओंका मिला हुआ स्कन्ध द्व्यणुक और तीनका मिला हुआ त्र्यणुक कहलाता है। इसी प्रकार सौ अणुओंका स्कन्ध शताणुक कहलाता है। परन्तु नैयायिक दार्शनिक तीन द्वयणुकोंका मिला हुआ एक त्र्यणुक मानते हैं। चार द्वयाणुकोंका मिला हुआ चतुरणक मानते हैं। द्वयणुकको तो वे भी दो परमाणुओंका स्कन्ध कहते हैं।

× "तन्न तद्द्वयान्न्यायात्" ऐसा मूल पुस्तकमें पाठ है वह अशुद्ध प्रतीत होता है।

* "यावद्यनेकदेशे" ऐसा मूल पुस्तकमें पाठ है वह भी असमञ्जस प्रतीत होता है।

हैं, इसलिये उन सब प्रदेशोंमें एक ही सत है अथवा वे सब प्रदेश एक सत् एक द्रव्यके नामसे कहे जाते हैं।

इत्यनवद्यमिदं स्याल्लक्षणमुद्देशि तस्य तत्र यथा ।
क्षेत्रेणाखण्डित्वात् सदेकमित्यत्र नयविभागोऽयम् ॥ ४५४ ॥

अर्थ—इस प्रकार उस सत्का यह निर्दोष लक्षण क्षेत्रकी अपेक्षासे कहा गया। एक सत्के सर्व ही प्रदेश अखण्ड हैं इस लिये वे सब एक ही सत कहे जाते हैं यही एकत्व विवक्षामें नय विभाग है।

न पुनश्चैकापवरकसञ्चरितानेकदीपवत्सदिति ।
हि यथा दीपसमृद्धौ प्रकाशवृद्धिस्तथा न सद्वृद्धिः ॥ ४५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी मकानके भीतर एक दीप फिर दूसरा दीप फिर तीसरा फिर चौथा इसी क्रमसे अनेक दीप लाये जायँ तो जितनी२ दीपोंकी संख्या बढ़ती जायगी उतनी२ ही प्रकाशकी वृद्धि भी होती जायगी। उस प्रकार सत् नहीं है। सत्की वृद्धि अनेक दीपोंके प्रकाशके समान नहीं होती है।

तथा—

अपि तत्र दीपशमनेकस्मिंश्चित्तत्प्रकाशहानिः स्यात् ।
न तथा स्यादविवक्षितदेशे तद्धानिरेकरूपत्वात् ॥ ४५६ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि जिस प्रकार मकानमें रक्खे हुए अनेक दीपोंमेंसे किसी दीपके बुझा देनेपर उस मकानमें कुछ प्रकाशकी कमी हो जाती है, उस प्रकार सत्की भी कमी हो जाती है, किन्तु अविवक्षित देशमें सत्की हानि नहीं होती है, वह सदा एकरूप ही रहता है। भावार्थ—उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें सत्के विषयमें अनेक दीपकोंका दृष्टान्त विषम है। क्योंकि अनेक दीपक अनेक द्रव्य हैं। अनेक द्रव्योंका दृष्टान्त एक द्रव्यके लिये किस प्रकार उपयुक्त (ठीक) हो सक्ता है? भिन्न २ दीपकका भिन्न २ ही प्रकाश होता है, सब दीपोंका समुदाय ही बहु प्रकाशका हेतु है। इसलिये किसी दीपके लानेसे प्रकाशकी वृद्धिका होना और किसी दीपके वहांसे लेजाने पर प्रकाशकी हानिका होना आवश्यक है परन्तु एक सत्के विषयमें बहु द्रव्योंका दृष्टान्त ठीक नहीं है, हां यदि एक ही दीपकका दृष्टान्त उसके विषयमें दिया जाय तो सम है। जैसे एक दीपकको किसी बड़े कमरेमें रखते हैं तो उसका प्रकाश उस विस्तृत कमरेमें फैल जाता है, यदि उसको छोटी कोठरीमें रखते हैं तो उसका प्रकाश उसीमें रह जाता है, यदि उसे एक घड़ेमें रखते हैं तो उसका वह बड़े कमरेमें फैलनेवाला प्रकाश उसी घड़ेमें आजाता है। यहां पर विचारनेकी बात इतनी ही है कि जिस समय दीपकको बड़े कमरेमें हमने रक्खा

है, उस समय दीपकके प्रदेश कुछ बढ़ नहीं गये हैं और जिस समय कोठरी और घड़ेके भीतर उसे रक्खा है तो उसके प्रदेश क्रमसे घट नहीं गये हैं, किन्तु वे जितने हैं उतने ही हैं, दीपकके जितने भी प्रकाश परमाणु हैं वे सब उतने ही हैं। छोटे बड़े कमरोंमें और घड़ेमें दीपकको रखसे वे किञ्चित् भी घटे बढ़े नहीं हैं, केवल आवरक (प्रकाशको रोकनेवाला पदार्थ—कमरा, घड़ा आदि)के भेदसे वे संकुचित और विस्तृत होगये हैं। यदि उन्होंने छोटा क्षेत्र पाया है तो उतनेमें ही वे संकुच कर समा गये हैं यदि बड़ा क्षेत्र उन्होंने पाया है तो वहां पर वे फैलकर समा गये हैं* इसी दृष्टान्तको स्फुट करनेके लिये दूसरे दृष्टान्तका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। जैसे—एक मन रुई धुनने पर एक बड़े लम्बे चोड़े कोठेमें आसक्ती है, परन्तु वही रुई जब पेचमें दबकर गांठकेरूपमें आजाती है तो बहुत ही थोड़े स्थानमें (दो फीट लम्बे और उतने ही चौड़े मोटे स्थानसे मी प्रायः कम क्षेत्रमें) समा जाती है। यहींपर विचार करनेका यही स्थल है कि रुईके प्रदेश धुनते समय क्या कहींसे आकार बढ़ जाते हैं ? अथवा गांठ बाँधते समय उसके कुछ प्रदेश कहीं चले जाते हैं ? वास्तव दृष्टिसे इन दोनोंमेंसे एक भी बात नहीं है। क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें रुई तोलने पर एक ही मन * निकलती है। यदि उसके कुछ अंश कहीं चले जाते तो अवश्य उसकी तोलमें घटी होना चाहिये अथवा वृद्धि होने पर उसकी तोलमें वृद्धि होना चाहिये, परन्तु रुईमें घटी बढ़ी थोड़ी भी नहीं होती, इसलिये यह बात माननी ही पड़ती है कि रुईके अथवा दीपके प्रदेश जितने हैं वे उतने ही सदा रहते हैं केवल निमित्तकारणसे उनमें संकोच और विस्तार होता है। वस स्थूलतासे इन्ही दृष्टान्तोंकी तुलना दार्ष्टान्त—सत् रखता है। सत् जितने प्रदेशोंमें विभाजित है वह सदा उतने ही प्रदेशोंमें रहता है। उसके प्रदेशोंमें अथवा उसमें कभी कभी अधिकता या न्यूनता नहीं हो सक्ती है, केवल द्रव्यान्तरके निमित्तसे उनमें अथवा उसमें संकोच और विस्तार हो सक्ता है। यदि पदार्थमें न्यूनाधिक्य होने लगे तो सत्का विनाश और असतका उत्पाद भी स्वयं सिद्ध होगा फिर पदार्थोंमें कार्य कारण भावका अभाव होनेसे संकर व्यति-

---

* यद्यपि एक दीप भी अनेक परमाणुओंका समूह होनेसे अनेक द्रव्योंका समूह है तथापि स्थूल दृष्टिसे उसे दृष्टान्तांशमें एक ही समझना चाहिये। इसीलिये उसके प्रकाशकी मन्दता और अधिकता पर उपेक्षा ही की जाती है। जिस दृष्टिसे दृष्टान्तका प्रयोग किया जाता है उसी दृष्टिसे उसका उतना ही अंश सर्वत्र लेना योग्य है।

* रुई धुनते समय जो उसमेंसे कुछ धूल (किरकिरी) निकल जानेसे रुई घट जाती है उतना अंश दृष्टान्तांश नहीं कहा जासक्ता। यदि उसे भी जो लेना चाहते है वे धूलके परिमाण और भी रुई मिला कर फिर उसे दृष्टान्त बनावें।

कर अनवस्था शून्यता आदि अनेक दोष भी स्वयं उपस्थित हो जायेंगे जो कि पदार्थमात्रको इस नभोमण्डलमें नहीं ठहरने देंगे।

सर्वथा अभिन्नता भी प्रयोजक नहीं है--

नात्र प्रयोजकं स्यान्नियतनिजाभोगदेशमात्रत्वम्।
तदनन्यथात्वसिद्धौ सदनेकं क्षेत्रतः कथं स्यात्॥ ४५७॥

अर्थ—यहां पर यह भी प्रयोजन नहीं है कि सत् जितने देश (यहां पर देशसे तात्पर्य आकाशकी अपेक्षासे है।) में रहता है उसका नियमित उतना ही देश कहा जाय, यदि ऐसा ही कहा जाय और सत्में अन्यथापना न माना जाय तो क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् अनेक किसप्रकार सिद्ध होगा?

आशंका और उसका उत्तर--

सदनेकं देशानामुपसंहारात्प्रसर्पणादिति चेत्।
न यतो नित्यविभूनां व्योमादीनां न तद्धि तद्योगात्॥४५८॥
अपि परमाणोरिह वा कालाणोरेकदेशमात्रत्वात्।
कथमिव सदनेकं स्यादुपसंहारप्रसर्पणाभावात्॥ ४५९॥

अर्थ—सत्के प्रदेशोंका संकोच विस्तार होता है। इसलिये सत् अनेक है, ऐसी आशंका ठीक नहीं है, यदि सत्के प्रदेशोंका संकोच और विस्तार होनेसे ही उसे अनेक कहा जाय तो आकाश आदि नित्य-विभु (सर्व व्यापक) पदार्थोंमें अनेकत्व नहीं घट सकेगा, क्योंकि आकाश, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्यके प्रदेशोंका संकोच विस्तार ही नहीं होता है तथा परमाणु और कालाणु ये दो द्रव्य एक २ प्रदेश मात्र हैं। इनमें संकोच विस्तार हो ही नहीं सक्ता है, फिर इनमें अनेकत्व किस प्रकार सिद्ध होगा? **भावार्थ**—संकोच विस्तारसे ही सत्में अनेकत्व मानना ठीक नहीं है।

शङ्काकार—

ननु च सदेकं देशैरिव संख्या खण्डयितुमशक्यत्वात्।
अपि सदनेकं देशैरिव संख्यानेकतो नयादिति चेत्॥ ४६०॥

अर्थ—प्रदेशोंके समान सत्की संख्याका खण्ड नहीं किया जा सक्ता है, इसलिये तो सत् एक है और प्रदेशोंके समान सत् अनेक संख्यावाला है इस नयसे वह अनेक है? * **भावार्थ**—सत् सदा अखण्ड रहता है, इसलिये तो वह एक है, परन्तु अखण्ड रहने पर भी उसके प्रदेशोंकी संख्या अनेक है इसलिये वह अनेक भी कहा जाता है?

* इस श्लोकमें इव, शब्दका प्रयोग किस विशेष आशयके आधार पर किया गया है, सो हमारी समझमें नहीं आया है। पंडितजन विचारें।

उत्तर—

न यतोऽशक्यविवेचनमेकक्षेत्रावगाहिनां चास्ति ।
एकत्वमनेकत्वं नहि तेषां तथापि तदयोगात् ॥ ४६१ ॥

अर्थ—सत्में उपर्युक्त रीतिसे एकत्व अनेकत्व लाना ठीक नहीं है । क्योंकि खण्ड तो एक क्षेत्रावगाही अनेक पदार्थोंका भी नहीं होता है, अर्थात् आकाश, धर्म, अधर्म, काल, इन द्रव्योंमें भी क्षेत्र भेद नहीं है । इनके क्षेत्रका भेद करना भी अशक्य ही है, यद्यपि इन पदार्थोंमें क्षेत्र भेदकी अपेक्षासे अनेकत्व नहीं है, तथापि इसप्रकार उनमें एकत्व अथवा अनेकत्व नहीं घटता है । भावार्थ—लोकाकाशमें सर्वत्र ही धर्म द्रव्य अधर्मद्रव्य काल द्रव्य और आकाश द्रव्यके प्रदेश अनादिकालसे मिले हुए हैं और अनन्तकाल तक सदा मिले ही रहेंगे, उनका कभी क्षेत्र भेद नहीं हो सक्ता है, परन्तु वास्तवमें ये चारों ही द्रव्य जुदे २ हैं । यदि शंकाकारके आधार पर प्रदेशोंका खण्डन होनेकी अपेक्षासे ही सतमें एकत्व आता हो तो धर्मादि चारों द्रव्योंमें एकता ही सिद्ध होगी ।

शङ्काकार—

ननु ते यथा प्रदेशाः सन्ति मिथो गुम्फितैकसूत्रत्वात् ।
न तथा सदनेकत्वादेकक्षेत्रावगाहिनः सन्ति + ॥ ४६२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार एक द्रव्यके प्रदेश एक सूत्रमें गुम्फित (गूँथे हुए) होते हैं । उस प्रकार एक क्षेत्रावगाही अनेक द्रव्योंके नहीं होते हैं ? भावार्थ—शंकाकार फिर भी अपनी शंकाको पुष्ट करता है कि जिस प्रकार एक द्रव्यके प्रदेश अखण्ड होते हैं उसप्रकार अनेक द्रव्योंके एक क्षेत्रमें रहने पर भी अखण्ड प्रदेश नहीं होते हैं, इसलिये उसने जो प्रदेशोंकी अखण्डतासे सत्में एकत्व बतलाया था वह ठीक ही है ?

उत्तर—

सत्यं तत्र निदानं किमिति तदन्वेषणीयमेव स्यात् ।
तेनाखण्डितमिव सत् स्यादेकमनेकदेशवत्त्वेपि ॥ ४६३ ॥

अर्थ—ठीक है, एक पदार्थके प्रदेश जैसे अखण्ड होते हैं वैसे एक क्षेत्रवगाही—अनेक पदार्थोंके नहीं होते, इसका ही कारण ढूंढना चाहिये जिससे कि अनेक प्रदेशवाला होने पर भी सत् एक—अखण्ड प्रतीत हो । भावार्थ—आचार्यने शंकाकारके उपर्युक्त उत्तरको कथंचित् ठीक समझा है क्योंकि उन्होंने अखण्डताके कारण पर विचार करनेके लिये उससे प्रश्न किया है ! अब वे यह जानना चाहते हैं कि शङ्काकार पदार्थमें किस प्रकार अखण्डता समझता है ।

+ मूल पुस्तकमें "सदेकत्वात्" पाठ है ।

शङ्काकार—

ननु नच निदानमिदं परिणामे [illegible] देशस्य ।
वेणोरिव पर्वसु किल परिणमनं सर्वदेशेषु ॥ ४६४ ॥

अर्थ—एक पदार्थमें अखण्डताका यह निदान—सूचक है कि उसके एक देशमें परिणमन होने पर सर्व देशमें परिणमन होता है। जिस प्रकार किसी बाँसको एक भागसे फिराने पर उसके सभी पर्वों (गाँठों) में अर्थात् समस्त बाँसमें परिणमन (हिलता) होता है ? भावार्थ—बांसका दृष्टान्त देनेसे विदित है कि शंकाकार अनेक सत्तावाले पदार्थोंको भी एक ही समझता है।

उत्तर—

तन्न यतस्तद्ग्राहकमिव प्रमाणं च नास्त्यदृष्टान्तात् ।
केवलमन्वयमात्रादपि वा व्यतिरेकिणश्च तत्सिद्धिः ॥ ४६५ ॥

अर्थ—एक देशमें परिणमन होनेसे सर्व देशोंमें परिणमन होना एक वस्तुकी अखण्डतामें निदान नहीं हो सकता है। क्योंकि इस बातको सिद्ध करनेवाला न तो कोई प्रमाण ही है और न कोई उसका साधक दृष्टान्त ही है। यदि उपर्युक्त कथन (एक देशमें परिणमन होनेसे सर्व देशमें परिणमन होता है) में अन्वय व्यतिरेक दोनों घटित होते हों तब तो उसकी सिद्धि हो सकती है, अन्यथा केवल अन्वयमात्रसे अथवा केवल व्यतिरेक मात्रसे उक्त कथनकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यहां पर सदृश परिणमनकी अपेक्षासे अन्वय यथा कथंचित् बन भी जाता है परन्तु व्यतिरेक सर्वथा ही नहीं बनता।

शङ्काकार—

ननु चैकस्मिन् देशे कस्मिंश्चिदन्यतरेऽपि हेतुवशात् ।
परिणमति परिणमन्ति हि देशाः सर्वे सदेकत्वात्स्वतिचेत ॥ ४६६ ॥

अर्थ—कारणवश किसी अन्यतर एक देशमें परिणमन होने पर सर्व देशोंमें परिणमन होता ही है, क्योंकि उन सब प्रदेशोंकी एक ही सत्ता है। भावार्थ—शंकाकारने यह अन्वय वाक्य कहा है।

उत्तर—

न यतः सव्यभिचारः पक्षोऽनैकान्तिकत्वदोषत्वात् ।
परिणमति समप्रदेशे तद्देशाः परिणमन्ति चेति यथा ॥ ४६७ ॥

अर्थ—ऊपर जो अन्वय बतलाया गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि वैसा अन्वय पक्ष अनैकान्तिक दोष आनेसे व्यभिचारी (दोषी) है। वह दोष इसप्रकार आता है

कि अनेक सत्तावाले–मिले हुए पदार्थोंमें किसी सांकेतिक देशमें परिणमन होनेपर सभी देशोंमें सभी पदार्थोंमें परिणमन होता है। भा —शंकाकारने एक देशके परिणमन होनेमें एक सत्ता हेतु बतलाया था, परन्तु उसमें दोष आता है। क्योंकि अनेक सत्तावाले पदार्थोंमें होनेवाला सदृश परिणमन भी एक परिणमनके नामसे कहा जाता है। सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो प्रत्येक पदार्थका परिणमन जुदा २ होता है, परन्तु स्थूलतासे समान परिणमनको एक ही परिणमन कह दिया जाता है। एक कहनेका कारण भी अनेक पदार्थोंका घनिष्ट सम्बन्ध है। जैसे वांसमें जो परिणमन होता है उसमें प्रत्येक परमाणुका परिणमन जुदा २ है। परन्तु समुदायकी अपेक्षासे सम्पूर्ण वांसके परिणमनको एक ही परिणमन कहा जाता है। शंकाकार वस्तुके एक देशके परिणमनसे उसके सर्व देशमें परिणमन मानता है परन्तु ऐसा पक्ष युक्ति संगत नहीं है, इसीलिये आचार्यने दिखा दिया है।

शङ्काकार—

व्यतिरेके वाक्यमिदं यदपरिणमति सदेकदेशे हि।
क्वचिदपि न परिणमन्ति हि तद्देशाः सर्वतः सदेकत्वात् ।४६८।

अर्थ—व्यतिरेक पक्षमें यह वाक्य है–किसी वस्तुके एक देशका परिणमन न होनेपर उसके सर्व देशोंमें भी परिणमन नहीं होता है। क्योंकि उन सब देशोंकी एक ही सत्ता है। **भावार्थ**—शंकाकारने ऊपर अन्वय वाक्य कहा था उसमें ग्रन्थकारने अनेकान्तिक दोष दिखला दिया था, अब इस श्लोक द्वारा उसने व्यतिरेक वाक्य कहा है।

उत्तर—

तन्न यतः सति सति वै व्यतिरेकाभाव एव भवति यथा।
तद्देशसमयभावैरखण्डितत्वात्सतः स्वतः सिद्धात्॥ ४६९॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि शंकाकारने जो व्यतिरेक वाक्य कहा है वह बनता ही नहीं है, क्योंकि पदार्थ सदात्मक है अर्थात् उसका सत् लक्षण है और जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहे उसे सत् कहते हैं। जब पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक–सत्‌रूप है तब उसमें व्यतिरेक सर्वथा ही नहीं बनता। क्योंकि उस देशमें प्रतिक्षण अखण्ड रीतिसे परिणमन होता रहता है, और वह पदार्थका स्वतः सिद्ध परिणमन है। **भावार्थ**–ऐसा कोई समय नहीं जिस समय पदार्थमें परिणमन न होता हो, यदि ऐसा समय कभी माना जाय तो उस समय उस पदार्थका ही अभाव सिद्ध होगा। क्योंकि उस समय उसमें सत्ता लक्षण ही नहीं घटित होगा। इसलिये शंकाकारका यह कहना कि "जहांपर एक देशमें परिणमन नहीं होता है वहांपर सर्व देशमें भी नहीं होता" सर्वथा निर्मूल है।

बांसका दृष्टान्त देकर एक देशके परिणमनसे सर्व देशोंके परिणमन द्वारा शंकाकारने जो अखण्ड प्रदेशिता वस्तुमें सिद्ध की थी वह इस अन्वय व्यतिरेकके न बननेसे सिद्ध न हो सकी, इसलिये एक सत्ता ही एक बस्तुकी अखण्ड प्रदेशिता की नियामक है ।

एवं यकेपि दूरादपनेतव्या हि लक्षणाभासाः ।
यदकिञ्चित्कारित्वादत्रानधिकारिणोऽनुक्ताः ॥ ४७० ॥

अर्थ—इसीप्रकार और भी जो लक्षणाभास हैं उन्हें भी दूरसे ही छोड़ देना चाहिये । क्योंकि उनसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं हो पाती, ऐसे अकिञ्चित्कर लक्षणभासोंका यहांपर हम उल्लेख भी नहीं करते हैं । उनका प्रयोग करना अधिकारसे बाहर है ।

काल–विचार—

कालः समयो यदि वा तद्देशे वर्त्तनाकृतिश्चार्थात् ।
तेनाप्यखण्डितत्वाद्भवति सदेकं तदेकनययोगात् ॥ ४७१ ॥

अर्थ—काल, समय अथवा उस देश (वस्तु) में वर्त्तनारूप आकारका होना ये तीनों ही बातें एक हैं । उस कालसे भी वस्तु अखण्डित है। वस्तुमें यह अखण्डता द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे लाई जाती है । भावार्थ—यहां पर कालसे तात्पर्य काल द्रव्यका नहीं है किन्तु द्रव्य मात्रसे है, अथवा प्रत्येक वस्तुके कालसे है । जो काल द्रव्य है वह तो हर एक वस्तुके परिणमनमें उदासीन कारण है परन्तु हर एक द्रव्यके परिणमनमें उपादान कारण स्वयं वह द्रव्य ही है । उसी परिणमनशील द्रव्यका यहां स्व–कालकी अपेक्षासे विचार किया जाता है । प्रत्येक वस्तुका प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है । ऐसे अनादिकालसे अनन्त काल तक होनेवाले परिणमनोंके समुदायका नाम ही द्रव्य है । वस्तुकी एक समयकी अवस्था उस वस्तुसे अभिन्न है । वह प्रत्येक समयमें होनेवाली अवस्था ही उस वस्तुका काल है । उस कालकी अपेक्षासे भी वस्तु अखण्ड और एक है ।

इसीका स्पष्ट कथन—

अयमर्थः सन्मालामिह संस्थाप्य प्रवाहरूपेण ।
क्रमतो व्यस्तसमस्तैरितस्ततो वा विचारयन्तु बुधाः ॥४७२॥
तत्रैकावसरस्थं यावद्यादृगस्ति सत्सर्वम् ।
सर्वावसरसमुदितं तत्तावत्तादृगस्ति सत्सर्वम् ॥ ४७३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि एक पदार्थ अनादिकालसे अनन्तकाल तक (सदा) नवीन २ पर्यायोंको धारण करता रहता है । इसलिये पदार्थ उन समस्त अवस्थाओंका समूह ही है । उस पर्याय समूहरूप पदार्थमाला पर बुद्धिमान पुरुष विचार

करें तो वे यह बात समझ लेंगे कि प्रवाहरूपसे होनेवालीं क्रमसे भिन्न भिन्न अथवा समस्त पर्यायें पदार्थरूप ही हैं अथवा पदार्थ ही प्रवाहसे होनेवालीं उन पर्यायोंस्वरूप है किसी रूपसे भी पदार्थके ऊपर विचार किया जाय तो यही बात सिद्ध होती है कि पदार्थ जैसा एक समयमें होनेवाली अवस्थारूप है वैसा सम्पूर्ण समयोंमें होनेवालीं अवस्थाओंस्वरूप भी वही है, अथवा वह जितना एक समयमें होनेवाली अवस्थारूप है, उतना ही वह सम्पूर्ण समयोंमें होनेवाली अवस्थाओंरूप है।

*** न पुनः कालसमृद्धौ यथा शरीरादिवृद्धिरिति वृद्धौ ।**
अपि तद्धानौ हानिर्न तथा वृद्धिर्न हानिरेव सतः ॥ ४७४ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार कालकी वृद्धि होनेपर शरीरादिकी वृद्धि होती है और कालकी हानि होनेपर शरीरादिकी हानि होती है, उस प्रकार सत्की भी हानि वृद्धि होती हो। शरीरादिकी हानि वृद्धिके समान न तो पदार्थकी वृद्धि ही होती है और न हानि ही होती है। भावार्थ जिस प्रकार थोड़े कालका बालक लघु शरीरवाला होता है परन्तु अधिक कालका होनेपर वही बालक हृष्ट पुष्ट—लम्बे चौड़े शरीरवाला युवा—पुरुष होता है। वृक्ष वनस्पतियोंमें भी यही बात देखी जाती है, कालानुसार वे भी अंकुरावस्थासे बढ़कर लम्बे वृक्ष और लताओंरूप हो जाती हैं, उसप्रकार एक पदार्थकी हानि वृद्धि नहीं होती है। उसके विषयमें शरीरादिका दृष्टान्त विषम है। शरीरादि पुद्गल द्रव्यकी स्थूल पर्याय है और वह अनेक द्रव्योंका समूह है। अनेक परमाणुओंके मेलसे बना हुआ स्कन्ध ही जीव शरीर है। उन परमाणुओंकी न्यूनतामें वह न्यून और उनकी अधिकतामें वह अधिक होजाता है, परन्तु एक द्रव्यमें ऐसी न्यूनता, अधिकता नहीं होसक्ती है। वह जितना है उतना ही रहता है। पुद्गल द्रव्यमें एक परमाणु भी जितना है वह सदा उतना ही बना रहेगा, उसमें न्यूनाधिता कभी कुछ नहीं होगी। उसमें परिणमन किसी प्रकारका भी होता रहो। *

शंकाकार—

× ननु भवति पूर्वपूर्वभावध्वंसान्नु हानिरेव सतः ।
स्यादपि तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन वृद्धिरेव सतः ॥ ४७५ ॥

* 'न पुनः, के स्थानमें 'च पुनः, पाठ संशोधित पुस्तकमें है। वही ठीक प्रतीत होता है। अन्यथा तीन नकारोंमें एक व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

* जैसे क्षेत्रकी अपेक्षासे वस्तुमें विष्कंभक्रमसे विचार होता है वैसे कालकी अपेक्षासे उसमें विचार नहीं होता है। क्षेत्रकी अपेक्षासे तो उसके प्रदेशोंका विचार होता है। वस्तुका एक प्रदेश उसके सर्व देशमें नहीं रहता है परन्तु कालकी अपेक्षासे एक गुणांश उसे वस्तुके सर्व देशमें रहता है प्रत्येक समयमें एक गुणकी जो अवस्था होती है उस ही गुणांश कहते हैं।

× मूल पुस्तकमें हानिके स्थानमें वृद्धि और वृद्धिके स्थानमें हानि पाठ है वह ठीक नहीं है।

अर्थ—जब पदार्थमें पहले २ भावोंका नाश होता जाता है तो अवश्य ही पदार्थकी हानि (न्यूनता) होती है, और जब उत्तरोत्तर—नवीन भावोंका उसमें उत्पाद होता रहता है तो अवश्य ही उसकी वृद्धि होती है ?

उत्तर—

नैवं सतो विनाशादसतः सर्गादसिद्धसिद्धान्तात् ।
सदनन्यथाथ वा चेत्सदनित्यं कालतः कथं तस्य ॥ ४७६ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, यदि पदार्थकी हानि और वृद्धि होने लगे तो सत्पदार्थका विनाश और असत्का उत्पाद भी स्वयं सिद्ध होगा और ऐसा सिद्धान्त सर्वथा असिद्ध है अथवा यदि पदार्थको सर्वथा एकरूपमें ही मान लिया जाय, उसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य न माना जाय तो ऐसा माननेवालेके यहां कालकी अपेक्षासे सत् अनित्य किस प्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् विना परिणमन स्वीकार किये पदार्थमें अनित्यता भी कालकी अपेक्षासे नहीं आसक्ती है ।

नासिद्धमनित्यत्वं सतस्ततः कालतोप्यनित्यस्य ।
परिणामित्वान्नियतं सिद्धं तज्जलधरादिदृष्टान्तात् ॥ ४७७ ॥

अर्थ—पदार्थ कथञ्चित् अनित्य है यह बात असिद्ध भी नहीं है । कालकी अपेक्षासे वह सदा परिणमन करता ही रहता है, इसलिये उसमें कथंचित् अनित्यता स्वयं सिद्ध है । इस विषयमें मेघ-विजली आदि अनेक दृष्टान्त प्रत्यक्ष सिद्ध हैं ।

सारांश—

तस्मादनवद्यमिदं परिणममानं पुनः पुनः सदपि ।
स्यादेकं कालादपि निजप्रमाणादखण्डितत्त्वाद्वा ॥ ४७८ ॥

अर्थ—ऊपरके कथनसे यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध होती है कि सत् बार बार परिणमन करता हुआ भी कालकी अपेक्षासे वह एक है, क्योंकि उसका जितना प्रमाण (परिमाण) है, उससे वह सदा अखण्ड रहता है । **भावार्थ**-पुनः पुनः परिणमनकी अपेक्षा तो सत्में अनेकत्व आता है, तथा उसमें अखण्ड निजरूपकी अपेक्षा एकत्व आता है । इसलिये कालकी अपेक्षासे सत् कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य अथवा कथंचित् एक और कथंचित् अनेक सिद्ध हो चुका ।

भाव-विचार—

भावः परिणाममयः शक्तिविशेषोऽथवा स्वभावः स्यात् ।
प्रकृतिः स्वरूपमात्रं लक्षणमिह गुणश्च धर्मश्च ॥ ४७९ ॥

अर्थ—भाव, परिणाम, शक्ति, विशेष, स्वभाव, प्रकृति, स्वरूप, लक्षण, गुण, धर्म ये सब भावके ही पर्यायवाचक हैं ।

तेनाखण्डतया स्यादेकं सच्चैकदेशनययोगात् ।
तल्लक्षणमिदमधुना विधीयते सावधानतया ॥ ४८० ॥

अर्थ—उस भावसे सत् अखण्ड है । इसलिये एक देश नयसे (गुणोंकी अखण्डताके कारण) वह कथंचित् एक है । भावकी अपेक्षासे सत् एक है । इस विषयका लक्षण (स्वरूप) सावधानीसे इस समय कहा जाता है—

सर्वं सदिति यथा स्यादिह संस्थाप्य गुणपंक्तिरूपेण ।
पश्यन्तु भावसादिह निःशेषं सन्नशेषमिह किञ्चित् ॥ ४८१ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण सत्को गुणोंकी पंक्तिरूपसे यदि स्थापित किया जाय तो उस सम्पूर्ण सत्को आप भावरूप ही देखेंगे, भावों (गुणों) को छोड़कर सत्में और कुछ भी आपकी दृष्टिमें न आवेगा । **भावार्थ**—सत् गुणका समुदाय रूप है, इसलिये उसे यदि गुणोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह गुण—भावरूप ही प्रतीत होगा । उस समय गुणोंके सिवा उसका भिन्न रूप कुछ नहीं प्रतीत होगा । जैसे स्कन्ध, शाखा, डाली, गुच्छा, पत्ते, फल, फूल आदि वृक्षके अवयवोंको अवयव रूपसे देखा जाय तो फिर समग्र वृक्ष अवयव स्वरूप ही प्रतीत होता है । अवयवोंसे भिन्न वृक्ष कोई वस्तु नहीं ठहरता है । क्योंकि अवयवसमुदाय ही तो वृक्ष है । वैसे ही एक द्रव्यके-द्रव्यत्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्व, अगुरुलघुत्व, अस्तित्व, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, रूप, रस, अमूर्तित्व आदि गुणोंको गुण रूपसे देखा जाय तो फिर उनसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ शेष नहीं रह जाता है । क्योंकि गुणसमुदाय ही तो द्रव्य है इसलिये भावकी विवक्षामें पदार्थ भावमय ही है ।

एकं तत्रान्यतरं भावं समपेक्ष्य यावदिह सदिति ।
सर्वानपि भावानिह व्यस्तसमस्तानपेक्ष्य सत्तावत् ॥४८२ ॥

अर्थ—उन सम्पूर्ण भावों (गुणों) में से जब किसी एक भावकी विवक्षा की जाती है तो संपूर्ण सत् उसीरूप (तन्मय) प्रतीत होता है । इसी प्रकार भिन्न २ भावोंकी अथवा समस्त भावोंकी विवक्षा करनेसे सत् भी उतना ही प्रतीत होता है ।

न पुनर्द्व्यणुकादिरिति स्कन्धः पुद्गलमयोऽस्त्यणूनां हि ।
लघुरपि भवति लघुत्वे सति च महत्वे महानिहास्ति यथा ।४८३।

अर्थ—जिस प्रकार पुद्गलमय द्व्यणुकादि स्कन्ध परमाणुओंके कम होनेसे छोटा और उनके अधिक होनेपर बड़ा हो जाता है, उस प्रकार सत्में छोटापन और बड़ापन नहीं

होता है। अर्थात् उसमें न तो कोई गुण कहीं चला जाता है और न कोई कहींसे आजाता है। वह जितना है सदा उतना ही रहता है।

स्पष्ट विवरण—

अयमर्थो वस्तु यदा केवलमिह विवक्षितैकभावेन ।
तन्मात्रं सदिति स्यात्सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥४८४॥
यदि पुनरन्यतरेण हि भावेन विवक्षितं सदेव स्यात् ।
तन्मात्रं सदिति स्यात्सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥४८५॥

अर्थ—जिस समय जिस विवक्षित भावसे वस्तु कही जाती है, उस समय वह उसी भावमय प्रतीत होती है, और वह विवक्षित भाव भी सत्स्वरूप प्रतीत होता है, यदि किसी दूसरे भावसे वस्तु विवक्षित की जाती है तो वह उसी भावमय प्रतीत होती है और वह विवक्षित भाव भी उसी रूप (सत्स्वरूप) प्रतीत होता है। **भावार्थ**—जिस समय जिस भावकी विवक्षा की जाती है, उस समय सम्पूर्ण वस्तु उसी भावरूप प्रतीत होती है वाकीके सब गुण उसीके अंतर्लीन हो जाते हैं। इसका कारण भी उनका तादात्म्य भाव है।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः कनकः पीतादिमानिहास्ति यथा ।
पीतेन पीतमात्रो भवति गुरुत्वादिना च तन्मात्रः ॥४८६॥
न च किंचित्पीतत्वं किंचित्स्निग्धत्वमस्ति गुरुता च ।
तेषामिह समवायादपि न सुवर्णस्त्रिसत्ताकः ॥४८७॥
इदमत्र तु तात्पर्यं यत्पीतत्वे गुणः सुवर्णस्य ।
अन्तर्लीनगुरुत्वादि भवत्येव तद्गुरुत्वेन ॥४८८॥

अर्थ—वस्तु जिस भावसे विवक्षित की जाती है उसी भावमय प्रतीत होती है, इस विषयमें सुवर्ण (सोना)का दृष्टान्त भी है। सुवर्णमें पीलापन भारीपन, चमकीलापन आदि अनेक गुण हैं। जिस समय वह पीत गुणसे विवक्षित किया जाता है उस समय वह पीत मात्र ही प्रतीत होता है। तथा जिस समय वह सुवर्ण गुरुत्व गुणसे विवक्षित किया जाता है उस समय वह गुरु रूप ही प्रतीत होता है। ऐसा नहीं है कि उस सोनेमें कुछ तो पीतिमा हो, कुछ स्निग्धता हो, और कुछ गुरुता हो, और उन सबके समवायसे तीन सत्ताओंवाला एक सोना कहलाता हो। *

* न्यायदर्शन, गुण गुणीका सर्वथा भेद मानता है। सोनेमें जो पीलापन, भारीपन आदि गुण हैं उन्हें वह सोनेसे सर्वथा भिन्न ही मानता है और प्रत्येक गुणकी भिन्न २ सत्ता भी मानता है, परन्तु ऐसा उसका मानना सर्वथा बाधित है। जब प्रत्येक गुणकी भिन्न भिन्न सत्ता है तो गुण द्रव्य कहलाना चाहिये। क्योंकि द्रव्य

यहां पर इतना ही तात्पर्य है कि जो सोनेका पीत गुण है उसके गुरुत्व आदिक गुण अन्तर्भूत हैं इसलिये सोना केवल गुरुत्वगुणके द्वारा भी कहा जाता है। भावार्थ—सोनेके पीतत्व, गुरुत्व, स्निग्धत्व, आदि सभी गुणोंमें तादात्म्य है। वे सब अभिन्न हैं, इसलिये विवक्षित गुण प्रधान हो जाता है बाकीके सब उसीके अन्तर्लीन हो जाते हैं। सोना उस समय विवक्षित गुणरूप ही सब ओरसे प्रतीत होता है।

ज्ञानत्वं जीवगुणस्तदिह विवक्षावशात्सुखत्वं स्यात् ।
अन्तर्लीनत्वादिह तदेकसत्त्वं तदात्मकत्वाच्च ॥ ४८९ ॥

अर्थ—जीवका जो ज्ञान गुण है, वही विवक्षावश सुखरूप हो जाता है, क्योंकि सुख गुण ज्ञान गुणके अन्तर्लीन (भीतर छिपा हुआ) रहता है। इसलिये विवक्षा करने पर ज्ञान सुखरूप ही प्रतीत होने लगता है। जिस समय जीवको सुख गुणसे विवक्षित किया जाता है, उस समय वह सुखस्वरूप ही प्रतीत होता है। उस समय जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि सभी गुणोंकी सुख स्वरूप ही एक सत्ता प्रतीत होती है।

शंकाकार—

ननु निर्गुणा गुणा इति सूत्रे सूक्तं प्रमाणतो वृद्धैः ।
तत्किं ज्ञानं गुण इति विवक्षितं स्यात्सुखत्वेन ॥ ४९० ॥

अर्थ—सूत्रकार-पूर्वमहर्षियोंने गुणोंका लक्षण बतलाते हुए उन्हें निर्गुण बतलाया है, ऐसा सूत्रभी है—' द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ' और यह बात सप्रमाण सिद्ध की गई है, फिर किस प्रकार जीवका ज्ञान गुण सुख रूपसे विवक्षित किया जा सक्ता है ?

भावार्थ—जब एक गुणमें दूसरा गुण रहता ही नहीं है ऐसा सिद्धान्त है तब ज्ञानमें सुखकी अंतर्लीनता अथवा सुखमें ज्ञानकी अन्तर्लीनता यहां पर क्यों बतलाई गई है।

उत्तर—

सत्यं लक्षणभेदाद्गुणभेदो निर्विलक्षणः स स्यात् ।
तेषां तदेकसत्त्वादखण्डितत्त्वं प्रमाणतोऽध्यक्षात् ॥ ४९१ ॥

अर्थ—ठीक है, परन्तु बात यह है कि गुणोंमें जो भेद है वह उनके लक्षणोंके भेदसे है। वह ऐसा भेद नहीं है कि गुणोंको सर्वथा जुदा २ सिद्ध करनेवाला हो। उन

जैसे भिन्न सत्तावाला स्वतन्त्र है वैसे गुण भी भिन्न सत्तावाला स्वतन्त्र होना चाहिये। जब दोनों ही स्वतन्त्र हैं तो एक गुण दूसरा गुणी यह व्यवहार कैसे होसक्ता है ? दूसरी बात यह भी है कि जब गुण द्रव्यसे सर्वथा जुदे हैं तो वे जिस प्रकार समवाय सम्बन्धसे एक द्रव्यके साथ रहते हैं उस प्रकार किसी अन्य द्रव्यके साथ भी रह सक्ते हैं, फिर अमुक द्रव्यका ही अमुक गुण है अथवा अमुक गुण अमुक द्रव्यमें ही रहता है, इस प्रतीतिका सर्वथा लोप होजायगा। इन दूषणोंके सिवा और भी अनेक दूषण गुण गुणीको सर्वथा भेद माननेमें आते हैं।

सम्पूर्ण गुणोंकी एक ही सत्ता है इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे उनमें अखण्डता—अभेद सिद्ध हैं।

भावार्थ—जो पूर्वमहर्षियोंने 'द्रव्याश्रयानिर्गुणा गुणाः' इस सूत्र द्वारा बतलाया है, उसका और इस कथनका एक ही आशय है। शंकाकारको जो उन दोनोंमें विरुद्धता प्रतीत होती है उसका कारण उसकी असमझ है। उसने अपेक्षाको नहीं समझा है। अपेक्षाके समझनेपर जिन बातोंमें विरोध प्रतीत होता है उन्हींमें अविरोध प्रतीत होने लगता है। सूत्रकारोंने गुणोंमें लक्षण भेदसे भेद बतलाया है। लक्षणकी अपेक्षासे सभी गुण परस्पर भेद रखते हैं। जो ज्ञान है वह दर्शन नहीं है, जो दर्शन है वह चारित्र नहीं है, जो चारित्र है वह वीर्य नहीं है, जो वीर्य है वह सुख नहीं है, क्योंकि सभी गुणोंके भिन्न २ कार्य प्रतीत होते हैं। इसलिये लक्षण भेदसे सभी गुण भिन्न हैं। एक गुण दूसरे गुणमें नहीं रह सक्ता है। ज्ञानका लक्षण वस्तुको जानना है। सुखका लक्षण आनन्द है। जानना आनन्द नहीं हो सक्ता है। आनन्द बात दूसरी है, जानना बात दूसरी है। ऐसा भेद देखा भी जाता है कि जिस समय कोई विद्वान् किसी ग्रन्थको समझने लगता है तो उसे उसके समझनेपर आनन्द आता है * इससे यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञान दूसरा है, सुख दूसरा है। इसी प्रकार चारित्र, वीर्य आदि सभी गुणोंके भिन्न २ कार्य होनेसे सभी भिन्न हैं। इसलिये निर्गुणा गुणाः, इस सूत्रका आशय गुणोंमें सुघटित ही है। साथ ही दूसरी दृष्टिसे विचारने पर वे सभी गुण एक रूप ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि सब गुणोंकी एक ही सत्ता है। जिनकी एक सत्ता है वे किसी प्रकार भिन्न नहीं कहे जासक्ते हैं। यदि सत्ताके अभेदमें भी भेद माना जाय तो किसी वस्तुमें अभिन्नता और स्वतन्त्रता आही नहीं सक्ती है। ज्ञान दर्शन सुख आदि अभिन्न हैं, ऐसी प्रतीति भी होती है, जिस समय जीवको ज्ञानी कहा जाता है उस समय विचार कहने पर सम्पूर्ण जीव ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। द्रष्टा कहने पर वह दर्शनमय ही प्रतीत होता है। सुखी कहने पर वह सुखमय ही प्रतीत होता है। ऐसा नहीं है कि ज्ञानी कहने पर जीवमें कुछ अंश तो ज्ञानमय प्रतीत होता हो, कुछ दर्शनमय होता हो और कुछ अंश सुखमय प्रतीत होता हो। किन्तु सर्वांश ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। सुखी कहने पर सर्वांशरूपसे जीव सुखमय ही प्रतीत होता है, यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञानी कहनेसे सम्पूर्ण जीवका बोध नहीं होना चाहिये अथवा द्रष्टा और सुखी कहनेसे भी सम्पूर्ण जीवका

---

* किसी ग्रन्थके समझने पर जो आनन्द आता है वह सच्चा सुख नहीं कहा जा सक्ता। क्योंकि उसमें रागभाव है। उसे सुख गुणकी वैभाविक परिणति कहनेमें कोई हानि नहीं दीखती। यह ज्ञान सुखका भेद साधक बहुत स्थूल दृष्टान्त है ठीक दृष्टान्त सम्यग्दृष्टिके स्वानुभव और सुखका है। जिस समय आत्मा निजका अनुभव करता है उसी समय उसे अलौकिक आनन्द आता है। वही आनन्द सच्चा सुख है। परन्तु वह अनुभव-ज्ञानसे जुदा है।

बोध नहीं होना चाहिये। किंतु उसके एक अंशका ही बोध होना चाहिये। परन्तु ऐसा बोध नहीं होता है। इसलिये किसी वस्तु पर विचार करनेसे वह वस्तु अभिन्न गुणमय एक रसमय ही प्रतीत होती है। ऐसी प्रतीतिमें गुणोंमें अखण्डता अभिन्नताभी सुघटित ही है। गुणोंकी अभिन्नतामें विवक्षित गुणके अन्तर्गत इतर सब गुणोंका होना भी स्वयं सिद्ध है।

सारांश—

तस्मादनवद्यमिदं भावेनाखण्डितं सदेकं स्यात्।
तदपि विवक्षावशतः स्यादिति सर्वं न सर्वथेति नयात् ॥४९२॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो चुकी कि भावकी अपेक्षासे सत् अखण्डित एक है। इतना विशेष समझना चाहिये कि वह सत्की एकता विवक्षाके आधीन है। सर्वथा एकता उसमें असिद्ध ही है, क्योंकि वस्तुमें एकता और अनेकता किसी नय विशेषसे सिद्ध होती है।

एवं भवति सदेकं भवति न तदपि च निरंकुशं किन्तु।
सदनेकं स्यादिति किल सप्रतिपक्षं यथा प्रमाणाद्वा ॥ ४९३ ॥

अर्थ—सत् एक है परन्तु वह सर्वथा एक नहीं है। उसका प्रतिपक्ष भी प्रमाण सिद्ध है इसलिये वह निश्चयसे अनेक भी है।

अपि च स्यात्सदनेकं तद्द्रव्याद्यैरखण्डितत्त्वेपि।
व्यतिरेकेण विना यन्नान्वयपक्षः स्वपक्षरक्षार्थम् ॥ ४९४ ॥

अर्थ—यद्यपि सत् द्रव्य गुण, पर्यायोंसे अखण्ड है तथापि वह अनेक है क्योंकि विना व्यतिरेकपक्ष स्वीकार किये अन्वयपक्ष भी अपनी रक्षा नहीं कर सक्ता है। **भावार्थ**:—विना कथंचित् भेदपक्ष स्वीकार किये अभेदपक्ष भी नहीं सिद्ध होता। उभयात्मक ही वस्तुस्वरूप है। अब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों होंसे वस्तुमें भेद सिद्ध किया जाता है।

द्रव्य विचार—

अस्ति गुणस्तल्लक्षणयोगादिह पर्ययस्तथा च स्यात्।
तदनेकत्वे नियमात्सदनेकं द्रव्यतः कथं न स्यात् ॥ ४९५ ॥

अर्थ—गुणोंका लक्षण भिन्न है, पर्यायका लक्षण * भिन्न है। गुण पर्यायोंकी अनेकतामें द्रव्यकी अपेक्षासे सत् अनेक क्यों नहीं है? अर्थात् भेद विवक्षासे सत् कथंचित् अनेक भी है।

* 'अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः' अर्थात् गुण सहभावी हुआ करते हैं। पर्यायें क्रमभावी हुआ करती हैं। दोनोंमें यही लक्षण भेद है।

क्षेत्र विचार—

यत्सत्तदेकदेशे तद्देशे न तद्द्वितीयेषु ।
अपि तद्द्वितीयदेशे सदनेकं क्षेत्रतश्च को नेच्छेत् ॥ ४९६ ॥

अर्थ—जो सत् एक देशमें है वह उसी देशमें है। वह दूसरे देशोंमें नहीं है। और जो दूसरे देशमें है वह उसीमें है, वह अन्यमें नहीं है। इसलिये क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् अनेक है, इस बातको कौन नहीं चाहेगा ?

काल विचार—

यत्सत्तदेककाले तत्तत्काले न तदितरत्र पुनः ।
अपि सत्तदितरकाले सदनेकं कालतोपि तदवश्यम् ॥ ४९७ ॥

अर्थ—जो सत् एक कालमें है, वह उसी कालमें है, वह दूसरे कालमें नहीं है, और जो सत् दूसरे कालमें है वह पहलेमें अथवा तीसरे आदि कालोंमें नहीं है इसलिये कालकी अपेक्षासेभी सत् अनेक अवश्य है।

भाव विचार—

तन्मात्रत्वादेको भावो यः स न तदन्यभावः स्यात् ।
भवति च तदन्यभावः सदनेकं भावतो भवेन्नियतम् ॥४९८॥

अर्थ—जो एक भाव है वह अपने स्वरूपसे उसी प्रकार है, वह अन्यभावरूप नहीं हो सक्ता है, और जो अन्यभाव है वह अन्यरूप ही है वह दूसरे भाव रूप नहीं हो सक्ता है, इसलिये भावकी अपेक्षासे भी नियमसे सत् अनेक है।

शेषो विधिरुक्तत्वादत्र न निर्दिष्ट एव दृष्टान्तः ।
अपि गौरवप्रसङ्गाद्यदि वा पुनरुक्तदोषभयात् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—बाकीकी विधि (सत् नित्य अनित्य भिन्न आदिरूप) पहले ही कही जा चुकी है, इसलिये वह नहीं कही जाती है। गौरवके प्रसंगसे अथवा पुनरुक्त दोषके भयसे उस विषयमें दृष्टान्त भी नहीं कहा जाता है

सारांश—

तस्माद्यदिह सदेकं सदनेकं स्यात्तदेव युक्तिवशात् ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषविलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ५०० ॥

अर्थ—इसलिये जो सत् एक है वही युक्तिवशसे अनेक भी सिद्ध होता है। यदि एक और अनेक इन दोनोंमेंसे किसी एकका लोप कर दिया जाय तो दूसरेका लोप भी दुर्निवार—अवश्यम्भावी है, अर्थात् एक दूसरेकी अपेक्षा रखता है। दोनोंकी सिद्धिमें दोनोंकी सापेक्षता ही कारण है। एक की असिद्धिमें दूसरेकी असिद्धि स्वयं सिद्ध है।

सर्वथा एक माननेमें दोष—

अपि सर्वथा सदेकं स्यादिति पक्षो न साधनायालम् ।
इह तदवयवाभावे नियमात्सदवयविनोप्यभावत्वात् ॥५०१॥

अर्थ—सत् सर्वथा एक है, यह पक्ष भी वस्तुकी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है। वस्तुके अवयवोंके अभावमें वस्तुरूप अवयवी भी नियमसे सिद्ध नहीं होता है।

सर्वथा अनेक माननेमें दोष—

अपि सदनेकं स्यादिति पक्षः कुशलो न सर्वथेति यतः ।
एकमनेकं स्यादिति नानेकं स्यादनेकमेकैकात् ॥ ५०२ ॥

अर्थ—सत सर्वथा अनेक है यह पक्ष भी सर्वथा ठीक नहीं है। क्योंकि एक एक मिलकर ही अनेक कहलाता है। अनेक ही अनेक नहीं कहलाता। किन्तु एक एक संख्याके जोड़से ही अनेक सिद्ध होता है। भावार्थ—ऊपरके श्लोकोंद्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत्में अनेकत्व सिद्ध किया गया है। उनसे पहलेके श्लोकोंद्वारा सत्में एकत्व–अखण्डता सिद्ध की गई है। अखण्डताके विषयमें ऊपर स्पष्ट विवेचन किया जा चुका है। यहां पर संक्षेपसे भेदपक्ष–अनेकत्व दिखला देना अयुक्त न होगा। वस्तुमें लक्षण भेदसे द्रव्य जुदा, गुण जुदा पर्याय जुदी प्रतीत होती है। इसलिये द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तु अनेक है। वस्तु जितने प्रदेशोंमें विष्कंभ क्रमसे विस्तृत है उन प्रदेशोंमें जो प्रदेश जिस क्षेत्रमें हैं वह वहीं है और दूसरे, दूसरे क्षेत्रोंमें जहांके तहां हैं, वस्तुका एक प्रदेश दूसरे प्रदेशपर नहीं जाता है, यदि एक प्रदेश दूसरे प्रदेश पर चला जाय तो वस्तु एक प्रदेश मात्र ठहरेगी। इसलिये प्रदेश भेदसे वस्तु क्षेत्रकी अपेक्षासे अनेक है। तथा जो वस्तुकी एक समयकी अवस्था है वह दूसरे समयकी नहीं कही जा सक्ती, जो दूसरे समयकी अवस्था है वह उसी समयकी कहलायगी वह उससे भिन्न समयकी नहीं कही जायगी। इसलिये वस्तु कालकी अपेक्षासे अनेक है और जो वस्तुका एक गुण है वह दूसरा नहीं कहा जा सक्ता, जो पुद्गल (जड़) का रूप गुण है वह गन्ध अथवा रस नहीं कहा जा सक्ता। जितने गुण हैं सभी लक्षण भेदसे भिन्न हैं। इसलिये भावकी अपेक्षासे वस्तु अनेक है। इसप्रकार अपेक्षा भेदसे वस्तु कथञ्चित् एक और कथञ्चित् अनेक है। जो विद्वान् एक अनेक, भेद–अभेद, नित्य–अनित्य आदि धर्मोंको परस्पर विरोधी बतलाते हुए उनमें संशय विरोध, वैयधिकरण, संकर, व्यतिकर आदि दोष सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, उनकी ऐसी असंभव चेष्टा सूर्यमें अन्धकार सिद्ध करनेके समान प्रत्यक्ष बाधित है, उन्हें वस्तुस्वरूप पर दृष्टि डालकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करना चाहिये।

प्रमाण नयके स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तं सदिति यथा स्यादेकमनेकं सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
अधुना तद्वाङ्मात्रं प्रमाणनयलक्षणं वक्ष्ये ॥ ५०३ ॥

अर्थ—सत्–पदार्थ कथंचित् एक है, कथंचित् वह अनेक है, यह बात सुप्रसिद्ध दृष्टान्तों द्वारा सिद्ध की जा चुकी है। अब वचनमात्र प्रमाण नयका लक्षण कहा जाता है।

नयोंका स्वरूप—

इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे ।
तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः ॥ ५०४ ॥

अर्थ—पदार्थ विरुद्ध दो धर्म स्वरूप है, ऐसा उसका लक्षण ऊपर कहा जा चुका है। उन दोनों विरोधी धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मका कहनेवाला नय कहलाता है। **भावार्थ**—पदार्थ उभय धर्मात्मक है, और उस उभय धर्मात्मक पदार्थको विषय करनेवाला तथा कहनेवाला प्रमाण है। उन धर्मोंमेंसे एक धर्मको कहनेवाला नय है अर्थात् विवक्षित अंशका प्रतिपादक नय है।

नयोंके भेद—

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोपि यथा ।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः ।५०५

अर्थ—वह नय भी द्रव्यनय और भावनयके भेदसे दो प्रकार है। × पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है तथा जीवका चेतना गुण भावनय कहलाता है।

भावार्थ—किसीअपेक्षासे जो वचन बोला जाता है उसे शब्दनय कहते हैं। जैसे किसीने घीकी अपेक्षा रख कर यह वाक्य कहा कि घीका घड़ा लाओ, यह वाक्य असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षासे कहा गया है। इसलिये यह वाक्य भी नय कहलाता है। अर्थात् पदार्थके एक अंशका प्रतिपादक वाक्य द्रव्य नय कहलाता है, और पदार्थके एक अंशको विषय करनेवाला ज्ञान भाव नय कहलाता है।

अथवा—

यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोस्ति सोप्यपरमार्थः ।
नयतो ज्ञानं गुण इति शुद्धं ज्ञेयं च किन्तु तद्योगात् ॥ ५०६ ॥

× शब्द भाषा वर्गणासे बनता है इसलिये पौद्गलिक होता ही है उसका पौद्गलिक विशेषण देना स्थूलतासे निरर्थक ही प्रतीत होता है। परन्तु निरर्थक नहीं है। शब्दके दो भेद है (१) द्रव्य शब्द (२) भावशब्द। द्रव्य शब्द पौद्गलिक है। भावशब्द ज्ञानात्मक है। इस भेदको दिखलानेके लिये ही शब्दका यहांपर पौद्गलिक विशेषण दिया है। जो वचन बोला जाता है वह सब पौद्गलिक ही है।

अर्थ—अथवा ज्ञान विकल्पका नाम ही नय है। अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञानको नय कहते हैं-और जितना विकल्प है वह सब अपरमार्थ-अयथार्थ है क्योंकि शुद्ध ज्ञान गुण नय नहीं कहा जाता है, और न शुद्ध ज्ञेय ही नय कहा जता है। किंतु ज्ञान और ज्ञेय, इन दोनोंके योग-सम्बन्धसे ही नय कहा जाता है। इसीलिये वह अयथार्थ है।

स्पष्ट विवेचन—

ज्ञानविकल्पो नय इति तत्रेयं प्रक्रियापि संयोज्या ।
ज्ञानं ज्ञानं न नयो नयोपि न ज्ञानमिह विकल्पत्वात् ॥५०७॥

अर्थ—ज्ञान विकल्प नय है इस विषयमें यह प्रक्रिया (शैली) लगानी चाहिये कि ज्ञान तो ज्ञानरूप ही है, ज्ञान नयरूप नहीं है। जो नय है वह ज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि नय विकल्प स्वरूप है। **भावार्थ**-शुद्ध ज्ञान नयरूप नहीं है। किंतु विकल्पात्मक ज्ञान नय है।

उन्मज्जति नयपक्षो भवति विकल्पो विवक्षितो हि यदा ।
न विवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः ॥५०८॥

अर्थ—जिस समय विकल्प विवक्षित होता है उस समय नय पक्ष भी प्रकट होता है। जिस समय विकल्प विवक्षित नहीं होता है, उस समय नय पक्ष भी स्वयं छिप जाता है। अर्थात् जहां पदार्थ किसी अपेक्षा विशेषसे विवक्षित होता है वहींपर नय पक्ष स्वकार्यदक्ष होता है।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः स्पष्टेयं स्यादुपचाराद्यथा घटज्ञानम् ।
ज्ञानं ज्ञानं न घटो घटोपि न ज्ञानमस्ति स इति घटः ॥५०९॥

अर्थ—यह दृष्टान्त स्पष्ट ही है कि जैसे उपचारसे घटको विषय करनेवाले ज्ञानको घटज्ञान कहा जाता है। वास्तवमें ज्ञान घट रूप नहीं होजाता, और न घट ही ज्ञान रूप होजाता है। ज्ञान ज्ञान ही रहता है तथा घट घट ही रहता है। **भावार्थ**—ज्ञानका स्वभाव जानना है। हरएक वस्तु उसका ज्ञेय पड़ती है। फिर घटको विषय करनेवाले ज्ञानको घट ज्ञान क्यों कह दिया जाता है, ? उत्तर-उपचारसे। उपचारका कारण भी विकल्प है। यद्यपि घटसे ज्ञान सर्वथा भिन्न है, तथापि ज्ञानमें घट, यह विकल्प अवश्य पड़ा है। इसीसे उस ज्ञानको घटज्ञान कह दिया जाता है।

तात्पर्य—

इदमत्र तु तात्पर्यं हेयः सर्वो नयो विकल्पात्मा ।
बलवानिव दुर्वारः प्रवर्त्तते किल तथापि बलात् ॥ ५१० ॥

अर्थ—नयके विषयमें यही तात्पर्य है कि जितना भी विकल्पात्मक नय है सभी

त्याज्य छोडने योग्य) है। यहांपर शंका होसकी है कि जब विकल्पात्मक नय सभी छोड़ने योग्य है फिर क्यों कहा जाता है ? उत्तर—यद्यपि यह बात ठीक है तथापि उसका कहना आवश्यक प्रतीत होता है। इसलिये वह बलवान्‌के समान बलपूर्वक प्रवर्तित होता ही है अर्थात् उसका प्रयोग करना ही पड़ता है। वह यद्यपि त्याज्य है तथापि वह दुर्वार है। **भावार्थः**—विकल्पात्मक–नय सम्पूर्ण पदार्थके स्वरूपको नहीं कह सकता है। इसका कारण भी यह है कि वह पदार्थको अंशरूपसे ग्रहण करता है। इस लिये उपादेय नहीं है। तथापि उसके विना कहे हुए भी पदार्थव्यवस्था नहीं जानी जासकती है, इसलिये उसका कहना भी आवश्यक ही है।

नयमात्र विकल्पात्मक है–

अथ तद्यथा यथा सत्सन्मात्रं मन्यमान इह कश्चित् ।
न विकल्पमतिक्रामति सदिति विकल्पस्य दुर्निवारत्वात् ॥५११॥

अर्थः—जितना भी नय है सब विकल्पात्मक है इसी बातको यहां पर स्पष्ट करते हैं। जैसे किसी पुरुषने सत्‌में कोई विकल्प नहीं समझा हो केवल उसे उसने सन्मात्र सत्स्वरूप ही समझा हो तो यहां पर भी विकल्पातीत उसका ज्ञान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'सत्' यह विकल्प उसके ज्ञानमें आचुका ही है, वह दुर्निवार है, अर्थात् सत् इस विकल्पको तो कोई उसके ज्ञानसे दूर नहीं कर सकता। भावार्थः—सम्पूर्ण विकल्पजाल भेद ज्ञानोंको छोड़कर केवल जिसने पदार्थको सन्मात्र ही समझा है उसका ज्ञान भी विकल्पात्मक ही है क्योंकि उसके ज्ञानमें सत्, यह विकल्प आचुका है। सत् भी तो पदार्थका एक अंश ही है।

स्थूलं वा सूक्ष्मं वा बाह्यान्तर्जल्पमात्रवर्णमयम् ।
ज्ञानं तन्मयमिति वा नयकल्पो वाग्विलासत्वात् ॥५१२॥

अर्थ—स्थूल अथवा सूक्ष्म जो बाह्यजल्प (स्पष्टबोलना) और अन्तर्जल्प (मन ही मनमें बोलना) है वह सब वर्णमय है और वह नयरूप है, क्योंकि वह वचन विन्यासरूप है। जितना भी वचनात्मक कथन है सब नयात्मक है तथा उन वचनोंका जो बोध है ज्ञान है वह भी नयरूप ही है। क्योंकि वचनोंके समान उसने भी वस्तुके विवक्षित अंशको ही विषय किया है। भावार्थः—वाचक तथा वाच्य बोध दोनों ही नयात्मक हैं।

अथवा—

अवलोक्य वस्तुधर्मं प्रतिनियतं प्रतिविशिष्टमेकैकम् ।
संज्ञाकरणं यदि वा तद्वागुपचर्यते च नयः ॥ ५१३ ॥

अर्थ—एक एक प्रतिनियत वस्तु धर्मको वस्तुसे विशिष्ट देखकर उस धर्म विशिष्ट वस्तुकी उसी नामसे संज्ञा—नामकरण करना भी नय है। ऐसा ज्ञान भी नयात्मक है और वचन भी नयात्मक हीं उपचार है।

दृष्टान्त—

अथ तद्यथा यथाग्नेरौष्ण्यं धर्मं समक्षतोऽपेक्ष्य।
उष्णोग्निरिति वागिह तज्ज्ञानं वा नयोपचारः स्यात् ॥५१४॥

अर्थ—जैसे अग्निका उष्णधर्म सामने देखकर किसीने कहा कि 'अग्नि उष्ण है, यह वचन नयरूप है और उस वचनका वाच्यरूप बोध भी नयात्मक है। **भावार्थ**—अग्निमें दीपन, पाचन, प्रकाशन, जलाना, उष्णता आदि अनेक गुण हैं। परन्तु किसी विवक्षित धर्मसे जब वह कही जाती है तब वह अग्नि उतनी मात्र ही समझी जाती है। इसी प्रकार जीवको ज्ञानी कहने पर उसमें अनेक गुण रहते हुए भी वह ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। इसलिये यह सब कथन तथा ऐसा ज्ञान नयरूप ही है।

इह किल छिदाविधौ स्यादिह परशुः स्वतन्त्र एव यथा।
न तथा नयः स्वतन्त्रो धर्मविशिष्टं करोति वस्तुबलात् ॥५१५॥

अर्थ—जिस प्रकार छेदनक्रियाका कारण फरसा छेदनक्रियाके करनेमें स्वतंत्र रीतिसे चलाया जाता है। उस प्रकार नय स्वतन्त्र रीतिसे वस्तुको किसी धर्मसे विशिष्ट नहीं समझता है और न कहता ही है। **भावार्थ**—फरसाके चलनेमें यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी दूसरे हथियार (शस्त्र) की अपेक्षा रखकर ही छेदनक्रियाको करे, परन्तु नयका प्रयोग स्वतन्त्र नहीं हो सक्ता है। बिना किसी अपेक्षाविशेषके नयप्रयोग नहीं हो सक्ता है। नय प्रयोगमें अपेक्षा विशेष तथा प्रतिपक्ष नयकी सापेक्षता आवश्यक है। इसीलिये छेदन क्रियामें फरसाके समान नय स्वतन्त्र नहीं, किन्तु विवक्षा और प्रतिपक्ष नयसे वह परतन्त्र है। जो नय बिना अपेक्षाके और प्रतिपक्ष नयकी सापेक्षताके प्रयोग किया जाता है उसे नय ही नहीं कहना चाहिये अथवा मिथ्या नय कहना चाहिये।

नय भेद—

एकः सर्वोपि नयो भवति विकल्पाविशेषतोपि नयात्।
अपि च द्विविधः स यथा स्वविषयभेदे विकल्पद्वैविध्यात् ।५१६।

अर्थ—विकल्पात्मक ज्ञानको ही नय कहते हैं कोई नय क्यों न हो, विकल्पात्मक ही होगा इसलिये विकल्पकी अविशेषता होनेसे सभी नय एक हैं। सभी नयोंकी एकताका विकल्पसामान्य ही हेतु है। विषयभेदकी अपेक्षा होनेपर वह नय दो प्रकार भी है। विषयभेदसे विकल्पभेद—विकल्पद्वैविध्यका होना भी आवश्यक है और विकल्पद्वैविध्यमें नयद्वैविध्यका होना भी आवश्यक है।

अब नयके दो भेदोंका उल्लेख किया जाता है—

एकोद्रव्यार्थिक इति पर्यायार्थिक इति द्वितीयः स्यात् ।
सर्वेषां च नयानां मूलमिदं नयद्वयं यावत् ॥ ५१७ ॥

अर्थ—एक द्रव्यार्थिक नय है, दूसरा पर्यायार्थिक नय है । सम्पूर्ण नयोंके मूलभूत ये दो ही नय हैं ।

द्रव्यार्थिक नय—

द्रव्यं सन्मुख्यतया केवलमर्थः प्रयोजनं यस्य ।
भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः ॥ ५१८ ॥

अर्थ—केवल द्रव्य ही मुख्यतासे जिस नयका प्रयोजन विषय है वह नय द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है और वही अपनी धातुके अर्थके अनुसार यथार्थ नाम धारक है तथा वह एक है । भावार्थ—पर्यायको गौण रखकर मुख्यतासे जहां द्रव्य कहा जाता है अथवा उसका ज्ञान किया जाता है वह द्रव्यार्थिक नय कहलाता है, और वह एक है, क्योंकि उसमें भेद विवक्षा नहीं है ।

पर्यायार्थिक नय—

अंशाः पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंऽशः सः
अर्थो यस्येति मतः पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च ॥ ५१९ ॥

अर्थ—अंशोंका नाम ही पर्याय है उन अंशोंमेंसे जो विवक्षित अंश है वह अंश जिस नयका विषय है, वही पर्यायार्थिक नय कहलाता है । ऐसे पर्यायार्थिक नय अनेक हैं । **भावार्थ**—वस्तुकी प्रतिक्षण नई २ पर्यायें होती रहती हैं, वे सब वस्तुके ही अंश हैं । जिस समय किसी अवस्थारूपमें वस्तु कही जाती है उस समय वह कथन अथवा वह ज्ञान पर्यायार्थिक नय कहा जाता है । पर्यायें अनेक हैं इसलिये उनको विषय करनेवाला ज्ञान भी अनेक है तथा उसको प्रतिपादन करनेवाले वाक्य भी अनेक हैं ।

नयोंका विशद स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा—

अधुना रूपदर्शनं संदृष्टिपुरस्सरं द्वयोर्वक्ष्ये ।
श्रुतपूर्वमिव सर्वं भवति च यद्वाऽनुभूतपूर्वं तत् ॥ ५२० ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि वे अब उन दोनों नयोंका स्वरूप दृष्टान्तपूर्वक कहेंगे । दृष्टान्त पूर्वक कहनेसे सुननेवालोंको वह विषय पहले सुने हुएके समान हो जाता है अथवा पहले अनुभव किये हुएके समान होजाता है ।

पर्यायार्थिक नय विचार—

पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति ।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोप्युपचारमात्रः स्यात् ॥ ५२१ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिक नय कहो अथवा व्यवहार नय कहो दोनोंका एक ही अर्थ है, सभी उपचार मात्र है। भावार्थ—व्यवहार नय पदार्थके यथार्थ रूपको नहीं कहता है, वह व्यवहारार्थ पदार्थमें भेद करता है, वास्तव दृष्टिसे पदार्थ वैसा नहीं है, इसलिये व्यवहार नय उपचरित कथन करता है। पर्यायार्थिक नय भी व्यवहारनयका ही दूसरे नाम है, क्योंकि पर्यायार्थिक नय वस्तुके किसी विवक्षित अंशको ही विषय करता है। इसलिये वह भी वस्तुमें भेद सिद्ध करता है। अतः दोनों नयोंका एक ही अर्थ है यह बात सुसिद्ध है।

व्यवहारनयका स्वरूप—

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः।
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥५२२॥

अर्थ—किसी वस्तुमें भेद करनेका नाम ही व्यवहार है, व्यवहारनय शब्दार्थ—वाक्य विवक्षाके आधार पर है अथवा शब्द और अर्थ दोनोंहीसे अपरमार्थ है। वास्तवमें यह नय वस्तुके यथार्थ रूपको नहीं कहता है इसलिये यह परमार्थभूत नहीं है। जैसे—यद्यपि सत् अभिन्न—अखण्ड है तथापि उसमें 'यह गुण है' यह गुणी है, इसप्रकार गुण गुणीका भेद करना ही इस नयका विषय है।

साधारणगुण इति वा यदि वाऽसाधारणः सतस्तस्य।
भवति विवक्ष्यो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥५२३॥

अर्थ—पदार्थका सामान्य गुण हो अथवा विशेष गुण हो, जो जिस समय विवक्षित होता है उसी समय उसे व्यवहारनयका यथार्थ विषय समझना चाहिये। अर्थात् विवक्षित गुण ही गुण गुणीमें भेद सिद्ध करता है, वह व्यवहारनयका विषय है। यहां पर यह शंका की जा सक्ती है कि जब व्यवहारनय वस्तुमें भेद सिद्ध करता है तथा उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक नहीं है तो फिर उसका विवेचन ही क्यों किया जाता है, अर्थात् उससे जब किसी उपयोगी फलकी सिद्धि ही नहीं होती तो उसका मानना ही निष्फल है? इस शंकाके उत्तरमें व्यवहारनयका फल नीचेके श्लोकसे कहा जाता है—

फलमास्तिक्यमतिः स्यादनन्तधर्मैकधर्मिणस्तस्य।
गुणसद्भावे नियमाद्द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात् ॥५२४॥

अर्थ—व्यवहारनयका फल पदार्थोंमें आस्तिक्यबुद्धिका होना है, व्यवहारनयसे वस्तु अनन्त गुणोंका पुञ्ज है, यह बात जानी जाती है। क्योंकि गुणोंकी विवक्षामें गुणोंका सद्भाव सिद्ध होता है और गुणोंके सद्भावमें गुणी—द्रव्यका सद्भाव स्वयं सिद्ध अनुभवमें आता है। भावार्थ—व्यवहार नयके विना पदार्थ विज्ञान होता ही नहीं दृष्टान्तके लिये जीव द्रव्यको ही ले लीजिये, व्यवहार नयसे जीवका कभी ज्ञान गुण विवक्षित

किया जाता है, कभी दर्शनगुण, कभी चारित्र, कभी सुख, कभी वीर्य, कभी सम्यक्त्व, कभी अस्तित्व, कभी वस्तुत्व, कभी द्रव्यत्व इत्यादि सब गुणोंको क्रमशः विवक्षित करनेसे यह बात ध्यानमें आजाती है कि जीव द्रव्य अनन्त गुणोंका पुञ्ज है। साथ ही इस बातका भी परिज्ञान व्यवहार नयसे) होजाता है कि ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, सम्यक्त्व, ये जीवके विशेष गुण हैं, क्योंकि ये गुण जीवके सिवा अन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं, और अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य गुण हैं, क्योंकि ये गुण जीव द्रव्यके सिवा अन्य सभी द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं, तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पुद्गलके सिवा अन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये वे पुद्गलके विशेष गुण हैं। इसप्रकार वस्तुमें अनन्त गुणोंके परिज्ञानके साथ ही उसके सामान्य विशेष गुणोंका परिज्ञान भी व्यवहार नयसे होता है। गुण गुणी और सामान्य विशेष गुणोंका परिज्ञान होनेपर ही पदार्थमें आस्तिक्य भाव होता है। इसलिये विना व्यवहार नयके माने काम नहीं चल सकता। क्योंकि पदार्थका स्वरूप विना समझाये आ नहीं सकता और जो कुछ समझाया जायगा वह अंशरूपसे कहा जायगा और इसीको पदार्थमें भेद बुद्धि कहते हैं। अभिन्न अखण्ड पदार्थमें भेद बुद्धिको उपचरित कहा गया है। परन्तु व्यवहार नय निश्चय नयकी अपेक्षा रखनेसे यथार्थ है। निरपेक्ष मिथ्या है।

व्यवहार नयके भेद—

व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः ।
सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात् ॥ ५२५ ॥

अर्थ—व्यवहार नयके दो भेद हैं। (१) सद्भूतव्यवहार नय (२) असद्भूत व्यवहार नय। सद्भूत उस वस्तुके गुणोंका नाम है, और व्यवहार उनकी प्रवृत्तिका नाम है। **भावार्थ**—किसी द्रव्यके गुण उसी द्रव्यमें विवक्षित करनेका नाम ही सद्भूत व्यवहार नय है। यह नय उसी वस्तुके गुणोंका विवेचन करता है इसलिये यथार्थ है। इस नयमें अयथार्थपना केवल इतना है कि यह अखण्ड वस्तुमेंसे गुण गुणीका भेद करता है।

सद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिका हेतु—

अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात् ।
अविवक्षितोऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात् ॥५२६॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नयकी प्रवृत्तिका हेतु यह है कि पदार्थके असाधारण गुण ही इस नय द्वारा विवक्षित किये जाते हैं अथवा पदार्थके साधारण गुण इस नय द्वारा विवक्षित नहीं किये जाते हैं। ऐसा नहीं है कि इस नय द्वारा कभी कोई और कभी कोई गुण विवक्षित और अविवक्षित किया जाय। **भावार्थ**—सद्भूत व्यवहार नय वस्तुके सा-

मान्य गुणोंको गौण रखता हुआ उसके विशेष गुणोंका ही विवेचक है ।

इस नयसे होनेवाला फल—

अस्यावगमे फलमिति तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धिः स्यात् ।
इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यञ्जको न नयः ॥ ५२७ ॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नयके समझने पर एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमें निषेध बुद्धि हो जाती है अर्थात् एक पदार्थसे दूसरा पदार्थ जुदा ही प्रतीत होने लगता है यह सद्भूत व्यवहार नय एक पदार्थकी दूसरे पदार्थसे भिन्न प्रतीति करानेवाला है। एक ही पदार्थमें भिन्नताका सूचक नहीं हैं। भावार्थ—सद्भूत व्यवहारनय वस्तुके विशेष गुणोंका विवेचन करता है इसलिये वह वस्तु अपने विशेष गुणों द्वारा दूसरी वस्तुसे भिन्न ही प्रतीत होने लगती है। जैसे जीवका ज्ञान गुण इस नय द्वारा विवक्षित होनेपर वह जीवको इतर पुद्गल आदि द्रव्योंसे भिन्न सिद्ध कर देता है। ऐसा नहीं है कि जीवको उसके गुणोंसे ही जुदा सिद्ध करता हो।

बस यही इस नयका फल है—

अस्तमितसर्वसङ्करदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा ।
अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणमिदम् ॥५२८॥

अर्थ— सद्भूत व्यवहार नयसे वस्तुका यथार्थ परिज्ञान होनेपर वह सब प्रकारके संकर * दोषोंसे रहित—सबसे जुदी, सब प्रकारके शून्यता—अभाव आदि दोषोंसे रहित, समस्त ही वस्तु परमाणुके समान (अखण्ड) प्रतीत होती है। ऐसी अवस्थामें वह उसका शरण वही दीखती है। **भावार्थ**—इस नय द्वारा जब वस्तु उसके विशेष गुणोंसे भिन्न सिद्ध हो जाती है, फिर उसमें संकर दोष नहीं आसक्ता है। तथा गुणोंका परिज्ञान होने पर उसमें शून्यता, अभाव आदि दोष भी नहीं आसक्ते हैं, क्योंकि उसके गुणोंकी सत्ता और उनकी नित्यताका परिज्ञान उक्त दोनों दोषोंका विरोधी है तथा जब वस्तुके (सामान्य भी) गुण उसमें ही दीखते हैं उससे बाहर नहीं दीखते, तब वस्तु परमाणुके समान उसके गुणोंसे अखण्ड प्रतीत होती है। इतने बोध होनेपर ही वस्तु अनन्य शरण प्रतीत होती है।

---

* सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः, येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणाऽसत्त्वस्यापि प्रसंगः। येनरूपेण चाऽसत्त्वं तेन रूपेण सत्त्वस्यापि प्रसङ्गः इतिः सङ्करः। **सप्तभंगी तरङ्गिणी** । अर्थात् परस्पर पदार्थोंके मिलनेका नाम ही संकर है।

असद्भूत व्यवहार नयका लक्षण—

अपि चाऽसद्भूतादिर्व्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा ।
अन्यद्रव्यस्य गुणाः सञ्जायन्ते बलात्तदन्यत्र * ॥ ५२९ ॥

अर्थ—दूसरे द्रव्यके गुणोंका बल पूर्वक दूसरे द्रव्यमें आरोपण किया जाय, इसीको असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं।

दृष्टान्त—

स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम् ।
तत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोपि जीवभवाः ॥५३०॥

अर्थ—वर्णादिवाले मूर्त द्रव्यसे कर्म बनते हैं इससिये वे भी मूर्त ही हैं। उन कर्मोंके सम्बन्धसे क्रोधादिक भाव बनते हैं इसलिये वेभी मूर्त हैं, उन्हें जीवके कहना यही असद्भूत व्यवहार नयका विषय है। **भावार्थ**—रूप रस गन्ध स्पर्शका नाम ही मूर्ति है। यह मूर्ति पुद्गलमें ही पाई जाती है इसलिये पुद्गल ही वास्तवमें मूर्त है। उसी पुद्गलका भेद एक कार्माण वर्गणा भी है। उस वर्गणासे मोहनीय आदि कर्म बनते हैं। उन कर्मोंके सम्बन्धसे ही आत्माके क्रोधादिक वैभाविक भाव बनते हैं। इसलिये वे भी मूर्त हैं। उन क्रोधादिकोंको आत्माके भाव वतलानेवाला ही असद्भूत व्यवहार नय है। *

असद्भूतव्यवहार नयकी प्रवृत्तिमें हेतु—

कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्तिः स्यात् ।
सा भवति सहजसिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः ॥५३१॥

अर्थ—असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्ति क्यों होती है? इसका कारण द्रव्यमें रहनेवाली वैभाविक शक्ति है। वह स्वाभाविकी शक्ति है तथा केवल जीव और पुद्गलमें ही वह पाई जाती है। **भावार्थ**—जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें एक वैभाविक नामा गुण है यह उक्त दोनों द्रव्योंका स्वाभाविक गुण है उस गुणका पर–कर्मके निमित्तसे वैभाविक परिणमन

---

* संशोधित पुस्तकमें 'सञ्जायते' के स्थानमें 'संयोज्यन्ते' पाठ है वह विशेष अच्छा प्रतीत होता है।

* आत्माके चारित्र गुणकी वैभाविक परिणतिका नाम ही क्रोधादि है। वे क्रोधादिभाव पुद्गलके नहीं किन्तु आत्माके ही हैं। परन्तु पुद्गलके निमित्तसे होनेवाले हैं इसलिये वे शुद्धात्माके नहीं कहे जा सक्ते। स्वामी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती–सूरिने द्रव्यसंग्रहमें जीवका कर्तृत्व बतलाते हुए क्रोधादिकोंको चेतन कर्म बतलाया है। और उन्हें अशुद्ध निश्चयनयका विषय बतलाया है। शुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाले पञ्चाध्यायीकारने उन्हीं क्रोधादिकोंको जीवके निजगुण नहीं माना है इसीलिये उन्हें जीवके पक्षमें असद्भूत व्यवहार नयका विषय बतलाया है।

होता है। विना पर निमितके उसका स्वाभाविक परिणमन होता है। + उसी वैभाविक शक्तिके विभाव परिणमनसे असद्भूत व्यवहार नयके विषयभूत जीवके क्रोधादिक भाव बनते हैं।

इसका फल—

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह ।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥५३२॥

अर्थ—जीवमें क्रोधादिक उपाधि है। वह आगन्तुक भावों—कर्मोंसे हुई है। उपाधिको दूर करदेनेसे जीव शुद्ध गुणोंवाला प्रतीत होता है, अर्थात् जीवके गुणोंमेंसे परनिमित्तसे होनेवाली उपाधिको हटा देनेसे बाकी उसके चारित्र आदि शुद्ध गुण प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा समझ कर जीवके स्वरूपको पहचान कर कोई (मिथ्यादृष्टि अथवा विचलितवृत्ति जीव भी) सम्यग्दृष्टि हो सकता है। बस यही इस नयका फल है।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः ।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥ ५३३ ॥

अर्थ—इस विषयमें दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि सोना दूसरे पदार्थके गुणके सम्बन्धसे कुछ सफेदीको लिये हुए पीला हो जाता है, परगुणके विना वही सोना किन्हींको शुद्ध (तेजोमय पीला) अनुभवमें आता है।

सद्भूत, असद्भूत नयोंके भेद—

सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ।
अपि चाऽसद्भूतः सोनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ॥५३४॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित भी होता है और उपचरित होता है। तथा असद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित होता है।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका स्वरूप—

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः ।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥ ५३५ ॥

अर्थ—जिस पदार्थके भीतर जो शक्ति है, वह विशेषकी अपेक्षासे रहित सामान्य रीतिसे उसीकी निरूपण की जाती है। यही अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नयका स्वरूप है।

दृष्टान्त—

इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः ।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवी स्यात् ॥५३६॥

+ पञ्चाध्यायीके द्वितीयभागमें बन्ध प्रकरणमें इस शक्तिका विशद विवेचन किया गया है।

अर्थ—अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनयके विषयमें यह उदाहरण है कि ज्ञान जीवका अनुजीवी गुण है। वह ज्ञेयके अवलम्बन कालमें ज्ञेयका उपजीवी गुण नहीं होता है। **भावार्थ**—किसी पदार्थको विषय करते समय ज्ञान सदा जीवका अनुजीवी गुण रहेगा। यही अनुपचरित—सद्भूत व्यवहार नयका विषय है।

उसीका खुलासा—

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः।
अस्ति घटाभावेपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः॥ ५३७॥

अर्थ—जैसे ज्ञान घटके सद्भाव (घटको विषय करते समय) में घटनिरपेक्ष जीवका गुण है। वैसे घटाभावमें भी वह घट निरपेक्ष जीवका ही गुण है। **भावार्थ**—जिस समय ज्ञानमें घट विषय पड़ा है उस समय भी वह घटाकार ज्ञान ज्ञान ही है। घटाकार (घटको विषय करनेसे) होनेसे वह ज्ञान घटरूप अथवा घटका गुण नहीं हो जाता है। घटाकार होना केवल ज्ञानका ही स्वरूप है। जैसे दर्पणमें किसी पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है। दर्पणका पदार्थाकार होना दर्पणकी ही पर्याय है। दर्पण उस प्रतिबिम्बमूलक पदार्थरूप नहीं हो जाता है, तथा जैसा दर्पण पदार्थाकार होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है वैसा पदार्थाकार न होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है। ऐसा नहीं है कि पदार्थाकार होते समय पदार्थके कुछ गुण दर्पणमें आ जाते हों अथवा दर्पणके कुछ गुण पदार्थमें चले जाते हों उसी प्रकार ज्ञान भी जैसा पदार्थाकार होते समय जीवका चैतन्य गुण है वैसा पदार्थाकारके बिना भी जीवका चैतन्य गुण है। दोनों अवस्थाओंमें वह जीवका ही गुण है।

एतेन निरस्तं यन्मतमेतत्सति घटे घटज्ञानम्।
असति घटे न ज्ञानं न घटज्ञानं प्रमाणशून्यत्वात्॥ ५३८॥

अर्थ—जो सिद्धान्त ऐसा मानता है कि घटके होनेपर ही घटज्ञान हो सकता है, घटके न होने पर घटज्ञान भी नहीं हो सकता और ज्ञान भी नहीं हो सकता है। वह सिद्धान्त उपर्युक्त कथनसे खण्डित हो चुका, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। **भावार्थ**—बौद्ध सिद्धान्त है कि पदार्थज्ञानमें पदार्थ ही कारण है, विना पदार्थके उसका ज्ञान नहीं हो सकता है, साथ ही ज्ञानमात्र भी नहीं हो सकता है क्योंकि जो भी ज्ञान होगा वह पदार्थसे ही उत्पन्न होगा, अर्थात् पदार्थके रहते हुए ही होगा। पदार्थका ज्ञानमें कारण होना वह यों बतलाता है कि यदि पदार्थके ज्ञानमें पदार्थ कारण न हो तो जिस समय घटज्ञान किया जाताहै उस समय उस ज्ञानमें घट ही विषय क्यों पड़ता है, पटादि अन्य पदार्थ क्यों नहीं पड़ जाते ? उसके यहां तो घटज्ञानमें घट कारण है इसलिये घट ही विषय पड़ता है,

घटज्ञानमें अन्य पदार्थ विषय नहीं पड़ सकते । पदार्थको ज्ञानमें कारण नहीं माननेवालोंके यहां (जैन सिद्धान्तमें) यह व्यवस्था नहीं बनेगी, ऐसा बौद्ध सिद्धान्त है परन्तु वह सिद्धान्त ऊपरके श्लोक द्वारा खण्डित हो चुका । क्योंकि पदार्थके न रहने पर भी पदार्थका ज्ञान होता है । पदार्थको ज्ञानमें कारण माननेसे अनेक दूषण आते हैं । जैसे कोई पुरुष चादर ओढ़े हुए और शिर खोले हुए सोरहा है कुछ दूरसे दूसरा आदमी सोनेवालेके काले केश देख कर उन्हें मच्छर समझ लेता है, ऐसा भ्रम होना प्रायः देखा जाता है । यदि पदार्थज्ञानमें पदार्थ ही कारण हो तो केशोंमें मच्छरोंका बोध सर्वथा नहीं होना चाहिये, वहांपर जो केश पदार्थ है उसीका बोध होना चाहिये । परन्तु यहांपर उलटी ही बात है । जो मच्छर पदार्थ नहीं हैं उसका तो बोध हो रहा है और जो केश पदार्थ उपस्थित है उसका बोध नहीं हो रहा है । उभय था अन्वय व्यभिचार, व्यतिरेक व्यभिचार दूषण आता है । इसलिये पदार्थज्ञानमें पदार्थ आवश्यक कारण नहीं है । जैसे—दीपक पदार्थोंका प्रकाशक है, परन्तु दीपक पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं है । दीपकके दृष्टांतसे भी यह बात सिद्ध नहीं होती कि जो जिससे उत्पन्न होता है वही उसका प्रकाशक है । बौद्धकी यह युक्ति भी कि घटज्ञानमें घट ही विषय क्यों पड़ता है, पटादि क्यों नहीं ? ठीक नहीं है । क्योंकि मच्छरके विषय न पड़ते हुए भी मच्छरज्ञान हो जाता है अथवा केशके विषय पड़ते हुए भी केशज्ञान नहीं होता है । जैन सिद्धान्त तो घट ज्ञानमें घट ही विषय पड़ता है, पटज्ञानमें पट ही विषय पड़ता है, इस व्यवस्थामें योग्यताको कारण बतलाता है । योग्यता नाम उसके आवरणके क्षयोपशमका है । × जिस जातिका क्षयोपशम होता है उसी जातिका बोध होता है । यद्यपि एक समयमें घट पटादि बहुत पदार्थोंके ज्ञान विषयक आवरणका क्षयोपशम हो जाता है, तथापि उपयोगकी प्रधानतासे उपयुक्त विषयका ही ज्ञान होता है । योग्यताको कारण माननेसे ही पदार्थव्यवस्था बनती है अन्यथा नहीं । बौद्ध सिद्धान्तके आधार पर पदार्थव्यवस्था माननेसे उपयुक्त दूषणोंके सिवा और भी अनेक दूषण आते हैं । इस विषयमें विशदज्ञान चाहनेवालोंको प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अवलोकन करना चाहिये ।

इसका फल—

फलमास्तिक्यनिदानं सद्द्रव्ये वास्तवप्रतीतिः स्यात् ।
भवति क्षणिकादिमते परमोपेक्षा यतो विनायासात् ॥ ५३९ ॥

× स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति । **परीक्षामुख अर्थात्** भिन्न२ आवरण क्षयोपशम लक्षण योग्यता द्वारा ज्ञान उस योग्यताके भीतर आये हुए (प्रतिनियत) पदार्थका ही बोध करता है ।

अर्थ—पदार्थमें यथार्थ प्रतीतिक होना ही आस्तिक्यबुद्धिका कारण है। ऐसी यथार्थ प्रतीति अनुपचरित-सद्भूत व्यवहार नयसे होती है। साथ ही क्षणिकादि सिद्धान्तके माननेवालों (बौद्धादि)में विना किसी प्रयासके ही परम उपेक्षा (उदासीनता) हो जाती है, यही इस नयका फल है। **भावार्थ**—घटज्ञान अवस्थामें भी ज्ञानको जीवका ही गुण समझना अनुपचरित-सद्भूत नय है, और यही पदार्थकी यथार्थ प्रतीतिका बीज है।

उपचरित-सद्भूत व्यवहारनयका स्वरूप—

उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम।
अविरुद्धं हेतुवशात्परतोप्युपचर्यते यथा स्वगुणः॥ ५४०॥

अर्थ—अविरुद्धता पूर्वक किसी हेतुसे उस वस्तुका उसीमें परकी अपेक्षासे भी जहां पर उपचरित किया जाता है वहां पर उपचरित सद्भूत व्यवहार नय प्रवर्त्तित होता है। **भावार्थ**—यहां पर उसी वस्तुका गुण (विशेषगुण) उसीमें विवक्षित किया जाता है, इतना अंश तो सद्भूतका स्वरूप है। गुणीसे गुणका भेद किया गया है, इतना अंश व्यवहारका स्वरूप है तथा वह गुण उस वस्तुमें परसे उपचरित किया जाता है, इतना उपचरित-अंश है। इसलिये ऐसे ज्ञानवाला-उपचरित-सद्भूत व्यवहार नय कहलाता है, अथवा ऐसा उपचरित-प्रयोग भी उसी नयका विषय है।

दृष्टान्त

अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेधुनापि यथा।
अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम्॥ ५४१॥

अर्थ—जैसे प्रमाणका लक्षण कहा जाता है कि अर्थ विकल्प ज्ञानरूप प्रमाण होता है, यहां पर अर्थ नाम ज्ञान और पर पदार्थोंका है। विकल्प नाम ज्ञानका उस आकाररूप होना है। अर्थात् स्व पर ज्ञान होना ही प्रमाण है। **भावार्थ**—ज्ञान अपने स्वरूपको जानता हुआ ही पर पदार्थोंको जानता है, यही उसकी प्रमाणताका हेतु है। स्व पर पदार्थोंका निश्चयात्मक बोध ही प्रमाण कहलाता है और यह ज्ञानकी विकल्पात्मक अवस्था है। यहां पर ज्ञानका स्वरूप उसके विषयभूत पदार्थोंके उपचारसे सिद्ध किया जाता है, परन्तु विकल्परूप ज्ञानको जीवका ही गुण बतलाया गया है। इसलिये यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नयका विषय है।

असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात्।
तदपि न विनावलम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम्॥ ५४२॥

अर्थ—ज्ञान यद्यपि निर्विकल्पक होनेसे सन्मात्र है इसलिये उपर्युक्त विकल्प स्वरूप लक्षण उसमें नहीं जाता है, तथापि वह विना अवलम्बनके निर्विषय नहीं कहा जासक्ता है।

तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात् ।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ॥५४३॥

अर्थ—इसलिये ज्ञान अपने स्वरूपमें स्वयं सिद्ध है अतएव वह अनन्य शरण (उसका वही अवलम्बन) है तो भी हेतु वश वह ज्ञान अन्य शरणके समान उपचरित होता है।

ऐसा होनेमें हेतु—

हेतुः स्वरूपसिद्धिं विना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात् ।
तदपि च शक्तिविशेषाद् द्रव्यविशेषे यथा प्रमाणं स्यात् ॥५४४॥

अर्थ—ऐसा होनेमें कारण भी यह है कि स्वरूप सिद्धिके विना परसे सिद्धि अप्रमाण ही है, अर्थात् ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है तभी वह परसे भी सिद्ध माना जाता है। ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है इस विषयमें भी यही कहा जा सकता है कि वह द्रव्य विशेष (जीव द्रव्य)का गुण विशेष है। यह बात प्रमाण पूर्वक सिद्ध है। भावार्थ-अर्थ विकल्पो ज्ञानं प्रमाणम्, अर्थात् स्व-पर पदार्थका बोध ही प्रमाण है। ऐसा ऊपर कहा गया है। इस कथनसे ज्ञानमें प्रमाणता परसे लाई गई है। परन्तु परसे प्रमाणता ज्ञानमें तभी आसकती है जब कि वह अपने स्वरूपसे सिद्ध हो, इसी बातको यहां पर स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान अपने स्वरूपमें स्वयं सिद्ध है। कारण कि वह जीवद्रव्यका विशेष गुण है स्वयं सिद्ध होकर ही वह परसे उपचरित कहा जाता है।

इसका फल ।

अर्थो ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषभ्रमक्षयो यदि वा ।
अविनाभावात् साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात् ॥५४५॥

अर्थ—उपचरित-सद्भूत व्यवहार नयका यह फल है कि ज्ञेय और ज्ञायकमें अर्थात् ज्ञान और पदार्थमें संकर दोष न उत्पन्न हो, तथा किसी प्रकारका भ्रम भी इनमें न उत्पन्न हो। यदि पहले ज्ञेय और ज्ञायकमें संकर दोष अथवा दोनोंमें भ्रम हुआ हो तो इस नयके जानने पर वह दोष तथा वह भ्रम दूर हो जाता है। यहा पर अविनाभाव होनेसे सामान्य साध्य है तथा विशेष उसका साधक है अर्थात् ज्ञान साध्य है और घटज्ञान पटज्ञानादि उसके साधक हैं। दोनोंका ही अविनाभाव है। कारण कि पदार्थ प्रमेय है इसलिये वह किसी न किसीके ज्ञानका विषय होता ही है और ज्ञान भी ज्ञेयका अवलम्बन करता ही है निर्विषय वह भी नहीं होता। भावार्थ—कोई पदार्थके स्वरूप नहीं समझनेवाले ज्ञानको घट पटादि पदार्थोंका धर्म बतलाते हैं, कोई २ ज्ञेयके धर्म ज्ञायकमें बतलाते हैं। अथवा विषय-विषयीके सम्बन्धमें किन्हींको भ्रम हो रहा है उन सबका अज्ञान दूर करना ही इस नयका फल है। इस नय द्वारा यही बात बतलाई गई है कि विकल्पता

ज्ञानका साधक है अर्थात् घटज्ञान, पटज्ञान पुस्तकज्ञान, रत्नज्ञान इत्यादि ज्ञानके विशेषण साधक हैं। सामान्यज्ञान साध्य है। उपर्युक्त विशेषणोंसे सामान्यज्ञानकी ही सिद्धि होती है। ज्ञानमें घटादि धर्मता सिद्ध नहीं होती। ऐसा यथार्थ परिज्ञान होनेसे ज्ञेय ज्ञायकमें संकरताका बोध कभी नहीं हो सक्ता है।

अनुपचरित—असद्भूत व्यवहार नयका दृष्टान्त—

अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः॥ ५४६॥

अर्थ—अबुद्धि पूर्वक होनेवाले क्रोधादिक भावोंमें जीवके भावोंकी विवक्षा करना, यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है। भावार्थ—दूसरे द्रव्यके गुण दूसरे द्रव्यमें विवक्षित किये जायँ इसीको असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। क्रोधादिक भावकर्मोंके सम्बन्धसे होते हैं इसलिये वे जीवके नहीं कहे जासक्ते यह बात असद्भूत व्यवहार नयके दृष्टान्तमें स्पष्ट कर दी गई है। उन्हीं भावोंको जीवके भाव कहना या जानना असद्भूत नय है। परन्तु क्रोधादिक भाव दो प्रकारके होते हैं (१) बुद्धि पूर्वक (२) अबुद्धि पूर्वक। बुद्धि पूर्वक भाव उन्हें कहते हैं जो भाव स्थूलतासे उदयमें आ रहे हों तथा जिनके विषयमें हम बोध भी कर रहे हों कि वे क्रोधादिक भाव हैं। ऐसा समझ कर भी कि ये क्रोधादिक हैं, फिर भी उन्हें जीवके बतलाना या जानना उपचरित नय है, परन्तु जहां पर क्रोधादिक भाव सूक्ष्मतासे उदयमें आरहे हैं, जिनके विषयमें यह निर्णय नहीं किया जासक्ता कि क्रोधादि भाव हैं या नहीं ऐसे भावोंको अबुद्धि पूर्वक क्रोधादि भावोंको जीवके विवक्षित करना अनुपचरित—असद्भूत व्यवहारनय है। यहांपर वैभाविक भावोंको (परभावोंको) जीवका कहना इतना अंश तो असद्भूतका है। गुण गुणीका विकल्प व्यवहार अंश है। अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिकोंको कहना इतना अंश अनुपचरितका है।

इसका कारण

कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद्विभावभावमयी।
उपयोगदशाविष्टा सा शक्तिः स्यात्तदाप्यनन्यमयी। ५४७।

अर्थ—जिस पदार्थकी जो शक्ति वैभाविक भावमय हो रही है और उपयोगदशा (कार्यकारिणी) विशिष्ट है। तो भी वह शक्ति अन्यकी नहीं कही जा सक्ती। यही अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिमें कारण है। भावार्थ—यदि एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप परिणत हो जाय तब तो एक पदार्थके गुण दूसरे पदार्थमें चले जानेसे संकर और अभाव दोष उत्पन्न होते हैं, तथा ऐसा ज्ञान और कथन भी मिथ्यानय है। जीवके क्रोधादिक भाव उसके चारित्र गुणके ही परनिमित्तसे होनेवाले विकार हैं। चारित्र गुण कितना ही विकारमय अवस्थामें क्यों न परिणत हो जाय परन्तु वह सदा जीवका ही रहेगा। इसी लिये वहां

असद्भूत व्यवहारनय प्रवृत्त होता है, अर्थात् किसी वस्तुके गुणका अन्यरूप परिणत न होना ही इस नयकी प्रवृत्तिका हेतु है ।

इस नयका फल—

फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्तियावन्तः ।
क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात् । ५४८ ।

अर्थ—अपने और परके निमित्तसे होनेवाले जितने भी आगन्तुक भाव--वैभाविकभाव हैं। वे सब आत्माके धर्म नहीं हैं। इसलिये वे क्षणिक हैं। क्षणिक होनेसे अथवा आत्मिक धर्म न होनेसे वे ग्राह्य--ग्रहण करने योग्य नहीं हैं ऐसी बुद्धिका होना ही इस नयका फल है। **भावार्थ**—अनुपचरित–असद्भूत व्यवहार नय वैभाविक भावमें प्रवृत्त होता है। उसका फल यह निकलता है कि ये भाव परके निमित्तसे होते हैं इसलिये अग्राह्य हैं।

उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय—

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा ।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ॥ ५४९ ॥

अर्थ—औदयिक क्रोधादिक भाव यदि बुद्धिपूर्वक हों, फिर उन्हें जीवके समझना या कहना उपचरित–असद्भूत व्यवहार नय है। **भावार्थ**—बुद्धिपूर्वक क्रोधादि भाव उन्हें कहते हैं कि जिनके विषयमें यह ज्ञात हो कि ये क्रोधादि भाव हैं। जैसे कोई पुरुष क्रोध करता है अथवा लोभ करता है और जानता भी है कि वह क्रोध कर रहा है अथवा लोभ कर रहा है, फिर भी वह अपने उस क्रोध भावको अथवा लोभभावको अपना निजका समझे या कहे तो उसका वह समझना या कहना उपचरित–असद्भूत व्यवहार नयका विषय है अथवा वह नय है। क्रोधादिक भाव केवल जीवके नहीं हैं। उन्हें जीवके कहना इतना अंश तो असद्भूतका है जो कि पहले ही कहा जा चुका है। क्रोधादिकोंको क्रोधादि समझ करके भी उन्हें जीवके बतलाना इतना अंश उपचरित है। बुद्धिपूर्वक क्रोधादिक भाव छठे गुणस्थान तक होते हैं। उससे ऊपर नहीं।

इसका कारण—

बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात् ।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः ॥५५०॥

अर्थ—जितने भी वैभाविक भाव हैं वे नियमसे अपने और परके निमित्तसे होते हैं। यद्यपि वे शक्ति विशेष हैं अर्थात् किसी द्रव्यके निज गुण हैं तथापि वे परके निमित्त विना नहीं होते हैं। **भावार्थ**—आत्माके गुणोंका पुद्गल कर्मके निमित्तसे वैभाविक-

रूप होना ही उपचरित असद्भूत व्यवहार नयका कारण है।

इस नयका फल।

तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः।
तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः॥ ५५१॥

अर्थ—विना अबुद्धिपूर्वक भावोंके बुद्धिपूर्वक भाव हो ही नहीं सक्ते हैं। इसलिये बुद्धिपूर्वक भावोंका अबुद्धिपूर्वक भावोंके साथ अविनाभाव है। अविनाभाव होनेसे अबुद्धिपूर्वक भाव साध्य हैं और उनकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये साधन बुद्धिपूर्वक भाव हैं। यही इसका फल है। भावार्थ—बुद्धिपूर्वक भावोंसे अबुद्धिपूर्वक भावोंका परिज्ञान करना ही अनुपचरित—असद्भूत व्यवहार नयका फल है।

शङ्काकार—

ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यतद्गुणारोपः।
दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्विति चेत्॥५५२॥

अर्थ—असद्भूत व्यवहार नय वहांपर प्रवृत्त होता है जहां कि एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें आरोपित किये जाते हैं। दृष्टान्त—जैसे जीवको वर्णादिवाला कहना। ऐसा माननेमें क्या हानि है? भावार्थ—ग्रन्थकारने ऊपर अनुपचरित और उपचरित दोनों प्रकारका ही असद्भूत व्यवहार नय तद्गुणारोपी बतलाया है, अर्थात् उसी वस्तुके गुण उसीमें आरोपित करनेकी विवक्षाको असद्भूत नय कहा है। क्योंकि क्रोधादिक भाव भी तो जीवके ही हैं और वे जीवमें ही विवक्षित किये गये हैं। शङ्काकारका कहना है कि सद्भूत नयको तो तद्गुणारोपी कहना चाहिये और असद्भूत नयको अतद्गुणारोपी कहना चाहिये। इस विषयमें वह दृष्टान्त देता है कि जैसे वर्णादि पुद्गलके गुण हैं उनको जीवके कहना यही असद्भूत नयका विषय है?

उत्तर—

तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति।
स्वयमप्यतद्गुणत्वादव्यवहाराऽविशेषतो न्यायात्॥ ५५३॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। कारण जो तद्गुणारोपी नहीं हैं किन्तु एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें आरोपित करते हैं वे नय नहीं है किन्तु नयाभास हैं। वे व्यवहारके योग्य नहीं हैं। भावार्थ—मिथ्यानयको नयाभास कहते हैं। जो नय अतद्गुणारोपी है वह नयाभास है।

तथा—

तदभिज्ञानं चैतद्येऽतद्गुणलक्षणा नयाः प्रोक्ताः।
तन्मिथ्यावादत्वाद्ध्वस्तास्तद्वादिनोपि मिथ्याख्याः॥ ५५४॥

अर्थ—जो ऊपर कहा गया है उसका खुलासा इस प्रकार है कि जितने अतद्गुणलक्षण नय कहे गये हैं वे सब मिथ्यावादरूप हैं। अतएव वे खण्डित किये गये हैं। उन नयोंके माननेवाले भी मिथ्यावादी हैं।

वह मिथ्या यों है—

तद्वादोऽथ यथा स्याज्जीवो वर्णादिमानिहास्तीति ।
इत्युक्ते न गुणः स्यात्प्रत्युत दोषस्तदेकबुद्धित्वात् ॥ ५५५ ॥

अर्थ—वह मिथ्यावाद यों है कि यदि कोई यह कहे कि जीव रूप, रस, गन्ध स्पर्शवाला है। तो ऐसा कहने पर कोई गुण—लाभ नहीं होता है किन्तु उल्टा दोष होता है। दोष यह होता है कि जीव और रूप रसादिमें एकत्व बुद्धि होने लगती है और ऐसी बुद्धिका होना ही मिथ्या है।

शंकाकार—

ननु किल वस्तु विचारे भवतु गुणो वाथ दोष एव यतः ।
न्यायबलादायातो दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहश्च ॥ ५५६ ॥

अर्थ—वस्तुके विचार समयमें गुण हो अथवा दोष हो, अर्थात् जो वस्तु जिस रूपमें है उसी रूपमें वह सिद्ध होगी, चाहे उसकी यथार्थसिद्धिमें दोष आवे या गुण। नयोंका प्रवाह न्याय बलसे प्राप्त हुआ है इसलिये वह दूर नहीं किया जा सक्ता ? भावार्थ जीवको वर्णादिमान् कहना यह भी एक नय है। इस नयकी सिद्धिमें जीव और वर्णादिमें एकता भले ही प्रतीत हो, परन्तु उसकी सिद्धि आवश्यक है।

उत्तर—

सत्यं दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहो यथाप्रमाणाद्वा ।
दुर्वारश्च तथा स्यात्सम्यङ्मिथ्येति नयविशेषोपि ॥ ५५७ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि नयप्रवाह अनिवार्य है, परन्तु साथ ही यह भी अनिवार्य है कि वह प्रमाणाधीन हो। तथा कोई नय समीचीन (यथार्थ) होता है कोई मिथ्या होता है यह नयोंकी विशेषता भी अनिवार्य है।

तथा—

अर्थ विकल्पो ज्ञानं भवति तदेकं विकल्पमात्रत्वात् ।
अस्ति च सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञानं विशेषविषयत्वात् ॥ ५५८ ॥

अर्थ—ज्ञान अर्थविकल्पात्मक होता है अर्थात् ज्ञान स्व—पर पदार्थको विषय करता है इसलिये ज्ञान सामान्यकी अपेक्षासे ज्ञान एक ही है, क्योंकि अर्थ विकल्पता सभी ज्ञानोंमें है, परन्तु विशेष २ विषयोंकी अपेक्षासे उसी ज्ञानके दो भेद हो जाते हैं (१) सम्यग्ज्ञान (२) मिथ्याज्ञान।

दोनों ज्ञानोंका स्वरूप—

तत्रापि यथावस्तु ज्ञानं सम्यग्विशेषहेतुः स्यात् ।
अथ चेदयथावस्तु ज्ञानं मिथ्याविशेषहेतुः स्यात् ॥ ५५९ ॥

अर्थ—उन दोनों ज्ञानोंमें सम्यग्ज्ञानका कारण वस्तुका यथार्थ ज्ञान है तथा मिथ्याज्ञानका कारण वस्तुका अयथार्थ ज्ञान है। **भावार्थ**—जो वस्तु ज्ञानमें विषय पड़ी है उस वस्तुका वैसा ही ज्ञान होना जैसी कि वह है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। जैसे—किसीके ज्ञानमें चांदी विषय पड़ी हो तो चांदीको चांदी ही वह समझे तब तो उसका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और यदि चांदीको वह ज्ञान सीप समझे तो वह मिथ्याज्ञान है जिस ज्ञानमें वस्तु तो कुछ और ही पड़ी हो और ज्ञान दूसरी ही वस्तुका हो उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं। इसप्रकार विषयके भेदसे ज्ञानके भी सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

नयके भी दो भेद हैं—

ज्ञानं यथा तथासौ नयोस्ति सर्वो विकल्पमात्रत्वात् ।
तत्रापि नयः सम्यक् तदितरथा स्यान्नयाभासः ॥ ५६० ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञान है उसी प्रकार नय भी है, अर्थात् जैसे सामान्य ज्ञान एक है वैसे सम्पूर्ण नय भी विकल्पमात्र होनेसे (विकल्पात्मक ज्ञानको ही नय कहते हैं) सामान्यरूपसे एक है और विशेषकी अपेक्षासे ज्ञानके समान नय भी सम्यक् नय, मिथ्या नय ऐसे दो भेद वाले हैं। जो सम्यक् नय हैं उन्हें नय कहते हैं जो मिथ्या नय हैं उन्हें नयाभास कहते हैं।

दोनोंका स्वरूप—

तद्गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः सहेतुरथ फलवान् ।
यो हि नयः स नयः स्याद्विपरीतो नयो नयाभासः ॥ ५६१ ॥

अर्थ—जो तद्गुणसंविज्ञान हो अर्थात् गुण गुणीके भेद पूर्वक किसी वस्तुके विशेष गुणोंको उसीमें बतलानेवाला हो, उदाहरण सहित हो, हेतु पूर्वक हो, फल सहित हो, वही नय, नय कहलाता है। उपर्युक्त बातोंसे जो विपरीत हो, वह नय नयाभास कहलाता है।

फलवत्त्वेन नयानां भाव्यमवश्यं प्रमाणवद्धि यतः ।
स्यादवयवि प्रमाणं स्युस्तदवयवा नयास्तदंशत्वात् ॥ ५६२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रमाण फल सहित होता है उस प्रकार नयोंका भी फल सहित होना परम आवश्यक है कारण आवयवी प्रमाण कहलाता है, उसीके अवयव नय कहलाते हैं। नय प्रमाणके ही अंश रूप हैं। **भावार्थ**—नयोंकी उत्पत्तिमें प्रमाण योनिभूत—मूल कारण है। प्रमाणसे जो पदार्थ कहा जाता है उसके एक अंशको

लेकर अर्थात् पर्याय विशेषके द्वारा जो पदार्थका विवेचन किया जाता है उसे ही नय कहते हैं अथवा सम्पूर्ण पदार्थको प्रमाण विषय करता है और उसके एक देशको नय विषय करता है। इस प्रकार अंश अंशीरूप होनेसे प्रमाणके समान नय भी फलविशिष्ट ही होता है।

सारांश—

तस्मादनुपादेयो व्यवहारोऽतद्गुणे तदारोपः।
इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीवः ॥५६३॥

अर्थ—जिस वस्तुमें जो गुण नहीं हैं, दूसरी वस्तुके गुण उसमें आरोपित–विवक्षित किये जाते हैं; जहांपर ऐसा व्यवहार किया जाता है वह व्यवहार ग्राह्य नहीं है। क्योंकि ऐसे व्यवहारसे इष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये जीवको वर्णादिवाला कहना, यह नय नहीं है किन्तु नयाभास है। भावार्थ—शंकाकारने ऊपर कहा था कि जीवको वर्णादिमान् कहना इसको असद्भूत व्यवहार नय कहना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नय नहीं किन्तु नयाभास है। क्योंकि जीवके वर्णादि गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीवके कहनेसे जीव और पुद्गलमें एकत्त्वबुद्धि होने लगेगी। यही इष्ट फलकी हानि है।

शंकाकार—

ननु चैवं सति नियमादुक्तासद्भूतलक्षणो न नयः।
भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्गुणारोपात् ॥ ५६४ ॥

अर्थ—यदि एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें आरोपित करनेका नाम नयाभास है तो ऐसा माननेसे जो ऊपर असद्भूत व्यवहार नय कहा गया है उसे भी नय नहीं कहना चाहिये किन्तु नयाभास कहना चाहिये। कारण क्रोधादिक जीवके गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीवके कहा गया है। यह भी तो अतद्गुणारोप ही है, इसलिये ग्रन्थकारका कहा हुआ भी असद्भूत व्यवहार नय नयाभास ही है ?

उत्तर—

नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसंभवा भावाः।
न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ॥ ५६५ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार क्रोधादिक भाव जीवसे उत्पन्न हैं अथवा जीवके हैं। उस प्रकार पुद्गलमय वर्णादिक जीवके भाव नहीं हैं। भावार्थ—पुद्गल कर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र गुणका जो विकार है उसे ही क्रोध, मान, माया, लोभादिके नामसे कहा जाता है। इसलिये क्रोधादिक आत्माके ही वैभाविक भाव हैं। अतः जीवमें उनको आरोप करना असद्गुणारोप नहीं कहा जासक्ता किन्तु तद्-

गुणारोप ही है। वे भाव शुद्धात्माके नहीं हैं किन्तु परके निमित्तसे होते हैं इसलिये उन्हें असद्भूत नयका विषय कहा जाता है। चाहे सद्भूत हो अथवा असद्भूत हो, तद्गुणारोपी ही नय है अन्यथा वह नयाभास है। रूप, रस, गन्धादिक पुद्गलके ही गुण हैं, वे जीवके किसी प्रकार नहीं कहे जासक्ते हैं। रूप रसादिको जीवके भाव कहना, यह अतद्गुणारोप है इसलिये यह नयाभास है।

कुछ नयाभासोंका उल्लेख—

अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ताः ।
अत्रोच्यन्ते केचिद्धेयतया वा नयादिशुद्ध्यर्थम् ॥ ५६६ ॥

अर्थ—उपचार नामवाले (उपचार पूर्वक) हेतु दृष्टान्तोंको ही नयाभास कहते हैं। यहांपर कुछ नयाभासोंका उल्लेख किया जाता है। वह इसलिये कि उन नयाभासोंको समझकर उन्हें छोड़ दिया जाय अथवा उन नयाभासोंके देखनेसे शुद्ध नयोंका परिज्ञान हो-जाय।

लोक व्यवहार—

अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात् ।
योऽयं मनुजादिवपुर्भवति सजीवस्ततोऽप्यनन्यत्वात् ॥५६७॥

अर्थ—बुद्धिका अभाव होनेसे लोकोंका यह व्यवहार होता है कि जो यह मनुष्यादि-का शरीर है वह जीव है क्योंकि वह जीवसे अभिन्न है।

यह व्यवहार मिथ्या है।

सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात् ।
अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ॥५६८॥

अर्थ—शरीरमें जीवका व्यवहार जो लोकमें होता है वह व्यवहार अयोग्य व्यवहार है, अथवा व्यवहारके अयोग्य व्यवहार है। कारण वह सिद्धान्त विरुद्ध है। सिद्धान्त विरुद्धता इस व्यवहारमें असिद्ध नहीं है, किन्तु शरीर और जीवको भिन्न २ धर्मी होनेसे प्रसिद्ध ही है। **भावार्थ**—शरीर पुद्गल द्रव्य भिन्न पदार्थ है और जीव द्रव्य भिन्न पदार्थ है, फिर भी जो लोग शरीरमें जीव व्यवहार करते हैं वे अवश्य सिद्धान्त विरुद्ध कहते हैं।

नाशङ्क्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत् ।
सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ॥५६९॥

अर्थ—शरीर और जीव दोनोंका एक क्षेत्रमें अवगाहन (स्थिति) है इसी कारण लोकमें वैसा व्यवहार होता है ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि एक क्षेत्रमें तो सम्पूर्ण द्रव्योंका अवगाहन होरहा है, यदि एक क्षेत्रमें अवगाहन होना ही एकताका कारण हो

तो सभी पदार्थोंमें अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा। भावार्थ–धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव, पुद्गल ये छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहते हैं परन्तु छहोंके लक्षण जुदे २ हैं यदि एक क्षेत्रावगाह ही एकताका कारण हो तो छहोंमें अतिव्याप्ति दोष आवेगा, अथवा उनमें अनेकता न रहेगी।

अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदिवानयोर्न शङ्क्यमिति।
तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोप्यसिद्धत्वात्॥ ५७०॥

अर्थ—कदाचित् यह कहा जाय कि जीव और शरीरमें परस्पर वन्ध्य बन्धक भाव है इसलिये वैसा व्यवहार होता है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि बन्ध नियमसे अनेक पदार्थोंमें होता है। एक पदार्थमें अपने आप ही बन्धका होना असिद्ध ही है। भावार्थः–पुद्गलको बाँधनेवाला आत्मा है, आत्मासे बँधनेवाला पुद्गल है। इसलिये पुद्गल शरीर वन्ध्य है, आत्मा उसका बन्धक है। ऐसा बन्ध्य बन्धक सम्बन्ध होनेसे शरीरमें जीव व्यवहार किया जाता है ऐसी आशंका भी निर्मूल है, क्योंकि बन्ध तभी होसक्ता है जब कि दो पदार्थ प्रसिद्ध हों अर्थात् बन्ध्यबंधक भावमें तो द्वैत ही प्रतीत होता है।

अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया॥५७१॥

अर्थ—कदाचित् मनुष्यादि शरीरमें जीवत्व बुद्धिका कारण शरीर और जीवका निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सक्ता, कारण जो अपने आप परिणमनशील है उसके लिये निमित्तपनेसे क्या प्रयोजन? अर्थात् जीवस्वरूपमें निमित्त कारण कुछ नहीं कर सक्ता। भावार्थ–जीव और शरीरमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध शरीरमें निमित्तता और जीवमें नैमित्तिकताका ही सूचक होगा, वह सम्बन्ध दोनोंमें एकत्व बुद्धिका जनक नहीं कहा जा सक्ता, क्योंकि जीव अपने स्वरूपसे ही परिणमन करता है, निमित्त कारणके निमित्तसे उसमें पररूपता नहीं आती। इसलिये मनुष्यादि शरीरमें जीव व्यवहार करना नयाभास है।

दूसरा नयाभास—

अपरोपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः।
कर्त्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोकर्मकर्मकृतेः॥ ५७२॥

अर्थ—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा ये चार वर्गणायें जब आत्मासे सम्बन्धित होती हैं, तब वे नोकर्मके नामसे कहीं जातीं हैं, और कार्माणवर्गणा जब आत्मासे सम्बन्धित होकर कर्मरूप–ज्ञानावरणादिरूप परिणत होती है तब वह कर्मके नामसे कही जाती है। ये कर्म और नोकर्म पुद्गलकी पर्यायें हैं, अतएव वे मूर्त हैं। उन मूर्त कर्म नोकर्मका जीव कर्ता तथा भोक्ता है ऐसा कहना दूसरा नयाभास है। भावार्थ—जीव अ-

मूर्तस्वरूपवाला है, वह अपने ज्ञानादिभावोंका ही कर्त्ता भोक्ता हो सक्ता है, उसको ज्ञानादिभावोंका कर्त्ता भोक्ता कहना भी व्यवहार ही है। परन्तु जो उसे मूर्त पदार्थोंका कर्त्ता भोक्ता व्यवहार नयसे बतलाते हैं उस विषयमें आचार्य कहते हैं कि वह नय नहीं किन्तु नयाभास है।

नयाभास यों है—

नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्ततो नयस्यास्य।
सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रातिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥५७३॥
गुणसंक्रातिमृते यदि कर्त्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा।
सर्वस्य सर्वसंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥ ५७४ ॥

अर्थ—मूर्तकर्मोंका जीवको कर्त्ता भोक्ता बतलानेवाला व्यवहार नय नयाभास है यह बात असिद्ध नहीं है कारण ऐसा व्यवहार नय सिद्धान्तविरुद्ध है। सिद्धान्तविरुद्धताका भी कारण यह है कि जब कर्म और जीव दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं तब उनमें गुणसंक्रमण किस प्रमाणसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा तथा विना गुणोंके परिवर्त्तन हुए जीव, कर्मका कर्त्ता भोक्ता नहीं होसक्ता, यदि विना गुणोंकी संक्रातिके ही जीव कर्मका कर्त्ता भोक्ता होजाय तो सब पदार्थोंमें सर्वसंकर दोष उत्पन्न होगा। तथा सर्वशून्य दोष भी उत्पन्न होगा। **भावार्थ**—यदि जीवके गुण पुद्गलमें चले जायं तभी जीव पुद्गलका कर्त्ता भोक्ता हो सक्ता है। कपड़ा बुननेवालेके कुछ गुण वा सब गुण उस कपड़ेमें आवें तभी वह बुननेवाला उस कपड़ेका कर्त्ता कहा जासक्ता है। अन्यथा कपड़ेमें उसकी कतृता क्या आई ? कुछ भी नहीं केवल निमित्तता है। यदि विना गुणोंका संक्रमण हुए ही जीवमें पुद्गलका कतृत्व माना जाय तो सभी पदार्थ एक दूसरेके कर्त्ता होसक्ते हैं। ऐसी अवस्थामें धर्मादि द्रव्योंका भी जीवमें कर्तृत्व सिद्ध होगा।

भ्रमका कारण—

अस्त्यत्र भ्रमहेतुर्जीवस्याशुद्धपरणतिं प्राप्य।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिमयतो द्रव्यम् ॥ ५७५ ॥

अर्थ—जीव कर्मोंका कर्त्ता है, इस भ्रमका कारण भी यह है कि जीवकी अशुद्ध परिणतिके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य—कार्माण वर्गणा स्वयं (उपादान) कर्मरूप परिणत होजाती है। **भावार्थ**—जीवके रागद्वेष भावोंके निमित्तसे कार्माण वर्गणा कर्म पर्यायको धारण करती है। इसीलिये उसमें जीवकर्त्तृताका भ्रम होता है।

समाधान—

इदमत्र समाधानं कर्त्ता यः कोपि सः स्वभावस्य।
परभावस्य न कर्त्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेपि ॥५७६ ॥

अर्थ—उस भ्रमका समाधान यह है कि जो कोई भी कर्त्ता होगा वह अपने स्वभावका ही कर्त्ता होगा। उसका निमित्त कारण मात्र होनेपर भी कोई परभावका कर्त्ता अथवा भोक्ता नहीं होसक्ता है।

दृष्टान्त—

भवति स यथा कुलालः कर्त्ता भोक्ता यथात्मभावस्य।
न तथा परभावस्य च कर्त्ता भोक्ता कदापि कलशस्य ॥५७७॥

अर्थ—कुम्हार सदा अपने स्वभावका ही कर्त्ता भोक्ता होता है वह परभाव-कलशका कर्त्ता भोक्ता कभी नहीं होता, अर्थात् कलशके बनानेमें वह केवल निमित्त कारण है। निमित्त मात्र होनेसे वह उसका कर्त्ता भोक्ता नहीं कहा जासक्ता।

उसीका उल्लेख—

तदभिज्ञानं च यथा भवति घटो मृत्तिकास्वभावेन।
अपि मृण्मयो घटः स्यान्न स्यादिह घटः कुलालमयः ॥५७८॥

अर्थ—कुम्हार कलशका कर्त्ता क्यों नहीं है इस विषयमें यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष है कि घट मिट्टीके स्वभाववाला होता है, अथवा मिट्टी स्वरूप ही वह होता है, परन्तु घट कभी कुम्हारके स्वभाववाला अथवा कुम्हारस्वरूप नहीं होता है। भावार्थ—जब घटके भीतर कुम्हारका एक भी गुण नहीं पाया जाता है तब कुम्हारने घटका क्या किया? अर्थात् कुछ नहीं किया, केवल वह उसका निमित्त मात्र है।

लोक व्यवहार मिथ्या है—

अथ चेद्घटकर्त्तासौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोयम्।
दुर्वारो भवतु तदा कानो हानिर्यदा नयाभासः ॥५७९॥

अर्थ—यदि यह कहाजाय कि लोकमें यह व्यवहार होता है कि घटकार-कुम्हार घटका बनानेवाला है; सो क्यों? आचार्य कहते हैं कि उस व्यवहारको होने दो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है परन्तु उसे नयाभास समझो, अर्थात् उसे नयाभास समझते हुए बराबर व्यवहार करो इससे हमारे कथनमें कोई बाधा नहीं आती है। परन्तु यदि उसे नय समझने वाला लोकव्यवहार है तो वह मिथ्या है।

तीसरा नयाभास—

अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः।
यदबद्धेपि परस्मिन् कर्त्ता भोक्ता परोपि भवति यथा ॥५८०॥

अर्थ—और भी खोटी बुद्धिके धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टी पुरुष मिथ्या बातें कहते हैं। जैसे-जो पर पदार्थ सर्वथा दूर है, जीवके साथ जो बँधा हुआ भी नहीं है उसका भी

जीव कर्ता भोक्ता होता है। ऐसा वे कहते हैं।

सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्राँश्च।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ॥५८१॥

अर्थ—सातावेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाले जो घर धन, धान्य, स्त्री, पुत्र आदि सजीव निर्जीव पदार्थ (स्थावर जंगम सम्पत्ति) हैं उनका जीव ही स्वयं कर्त्ता है और वही जीव उनका भोक्ता है।

शङ्काकार—

ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात्।
असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्त्ता स एव तद्भोक्ता ॥ ५८२ ॥

अर्थ—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि घर, स्त्री आदिके होने पर ही जीवोंको सुख होता है उनके अभावमें उन्हें सुख भी नहीं होता। इसलिये जीव ही उनका कर्त्ता है और वही उनका भोक्ता है ? अर्थात् अपनी सुख सामग्रीको यह जीव स्वयं संग्रह करता है और स्वयं उसको भोगता है।

उत्तर—

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम्।
सति बहिरर्थेपि यतः किल केषाञ्चिदसुखादिहेतुत्वात् ॥५८३॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि घर वनितादिके संयोगसे यह संसारी जीव सुख समझने लगता है परन्तु उसका यह सुख केवल वैषयिक–विषयजन्य है। वास्तविक नहीं है। सो भी घर, स्त्री आदि पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं रखता है। कारण घर स्त्री आदि बाह्य पदार्थोंके होने पर भी किन्हीं पुरुषोंको सुखके बदले दुःख होता है, उनके लिये वही सामग्री दुःखका कारण होती है।

सारांश—

इदमत्र तात्पर्यं भवतु स कर्त्ताथ वा च मा भवतु।
भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथञ्चिच्चिदात्मको जीवः ॥५८४॥

अर्थ—यहां पर सारांश इतना ही है कि जीव अपना और परका यथा कथंचित् कर्त्ता हो अथवा भोक्ता हो अथवा मत हो परन्तु वह चिदात्मक–चैतन्य स्वरूप है। **भावार्थ**–जीव सदा अपने भावोंका ही कर्त्ता भोक्ता है। परका नहीं।

चौथा नयभास–

अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसम्बन्धः।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ॥५८५॥

अर्थ—परस्पर ज्ञान और ज्ञेयका जो बोध्यबोधरूप सम्बन्ध है, उसके कारण ज्ञानको ज्ञेयगत–ज्ञेयका धर्म मानना अथवा ज्ञेयको ज्ञानगत मानना यह भी नयाभास है। **भावार्थ**—ज्ञानका स्वभाव है कि वह हरएक पदार्थको जाने परन्तु किसी पदार्थको जानता हुआ भी वह सदा अपने ही स्वरूपमें स्थिर रहता है, वह पदार्थमें नहीं चला जाता है और न वह उसका धर्म ही हो जाता है। तथा न पदार्थका कुछ अंश ही ज्ञानमें आता है, जो कोई इसके विरुद्ध मानते हैं वे नयाभास मिथ्याज्ञानसे ग्रसित हैं।

दृष्टांत—

चक्षू रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ॥५८६॥

अर्थ—जिस प्रकार चक्षु रूपको देखता है, परन्तु वह रूपमें चला नहीं जाता है। अथवा रूपका वह धर्म नहीं हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयपदार्थको जानता है परन्तु वह ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता है अथवा उसका धर्म नहीं हो जाता है।

इत्यादिकाश्च वहवः सन्ति यथालक्षणा नयाभासाः ।
तेषामयमुद्देशो भवति विलक्ष्यो नयान्नयाभासः ॥५८७॥

अर्थ—कुछ नयाभासोंका ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके सिवा और भी बहुतसे नयाभास हैं जो कि वैसे ही लक्षणोंवाले हैं। उन सब नयाभासोंका यह उद्देश्य–आशय नयसे विरुद्ध है। इसीलिये वे नयाभास कहे जाते हैं। भावार्थ–नयोंका जो स्वरूप कहा गया है उससे नयाभासोंका स्वरूप विरुद्ध है। इसलिये जो समीचीन नय है उसे नय कहते है और मिथ्या नयको नयाभास कहते हैं।

शङ्काकार—

ननु सर्वतो नयास्ते किं नामानोथ वा कियन्तश्च ।
कथमिव मिथ्यार्थास्ते कथमिव ते सन्ति सम्यगुपदेश्याः ॥५८८॥

अर्थ—सम्पूर्ण नयोंके क्या २ नाम हैं और वे समस्त नय कितने हैं, तथा कैसे वे मिथ्या अर्थको विषय करनेवाले होजाते हैं और कैसे यथार्थ पदार्थको विषय करनेवाले होते हैं? अर्थात् कैसे वे ठीक २ कहे जाते हैं और कैसे विरुद्ध कहे जाते हैं?

उत्तर (नयवादके भेद)

सत्यं यावदनन्ताः सन्ति गुणा वस्तुतो विशेषाख्याः ।
तावन्तो नयवादा वचोविलासा विकल्पाख्याः ॥ ५८९ ॥
अपि निरपेक्षा मिथ्यास्त एव सापेक्षका नयाः सम्यक् ।
अविनाभावत्वे सति सामान्यविशेषयोश्च सापेक्षात् ॥५९०॥

अर्थ—वास्तवमें जितने भी वस्तुके अनन्त विशेष गुण हैं उतने ही नयवाद हैं, तथा जितनी भी वचनविवक्षा है वह सब नयवाद है। कारण विशेष गुणोंका परिज्ञान और वचनविकल्प दोनों ही विकल्पात्मक हैं। विकल्पज्ञानको ही नय कहते हैं, तथा जो निरपेक्ष नय हैं वे ही मिथ्या नय हैं। जो दूसरे नयकी अपेक्षा रखते हैं वे नय यथार्थ नय हैं, क्योंकि सामान्य विशेषात्मक ही पदार्थ है। इसलिये सामान्य विशेष दोनोंमें परस्पर अविनाभाव होनेसे सापेक्षता है। **भावार्थ**—वस्तुमें जितने भी गुण हैं वे सब जिस समय विवक्षित किये जाते हैं उस समय नय कहलाते हैं। इसलिये ज्ञानकी अपेक्षासे अनन्त नय हैं, क्योंकि जितना भी भेदरूप विज्ञान है सब नयवाद है। वचन तो नयवाद सुसिद्ध है। यहांपर विशेष गुणोंका उल्लेख इसलिये किया गया है कि शुद्धपदार्थके निरूपणमें तद्‌गुण ही नय कहा गया है। तद्‌गुण विशेष ही हो सक्ता है तथा निरपेक्ष नयको मिथ्या इसलिये कहा गया है कि नय, पदार्थके विवक्षित अंशका ही विवेचन करता है, निरपेक्ष अवस्थामें वह विवेचन एकान्तरूप पड़ता है, परन्तु पदार्थ उतना ही नहीं है जितना कि वह विवेचित किया गया है। उसके अन्य भी अनंत धर्म हैं। इसलिये वह एकान्त विवेचन या ज्ञान मिथ्या है। यदि अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखकर किसी नयका प्रयोग किया जाता है तो वह समीचीन प्रयोग है, क्योंकि वह सापेक्ष नय वस्तुके एक अंशको तो कहता है परन्तु पदार्थको उस अंशरूप ही नहीं समझता है। इसलिये सापेक्ष नय सम्यक् नय है। निरपेक्ष नय मिथ्या नय है।

सापेक्षत्वं नियमादविनाभावस्त्वनन्यथासिद्धः ।
अविनाभावोपि यथा येन विना जायते न तत्सिद्धिः ॥ ५९१॥

अर्थ—सामान्य विशेषमें परस्पर सापेक्षता इसलिये है कि उनमें नियमसे अविनाभाव है। उनका अविनाभाव अन्यथा सिद्ध नहीं है अर्थात और प्रकार नहीं बन सक्ता है। अविनाभाव उसे कहते हैं कि जिसके विना जिसकी सिद्धि न हो। **भावार्थ**—सामान्यके विना विशेष नहीं सिद्ध होता है और विशेषके विना सामान्य नहीं सिद्ध होता है। अतएव इन दोनोंमें अविनाभाव है। परस्पर अविनाभाव होनेके कारण ही दोनोंमें सापेक्षता है।

नयोंके नाम—

अस्त्युक्तो यस्य सतो यन्नामा यो गुणो विशेषात्मा ।
तत्पर्यायविशिष्टास्तन्नामानो नया यथाम्नायात् ॥ ५९२॥

अर्थ—जिस द्रव्यका जिस नामवाला विशेष गुण कहा जाता है, उस गुणकी पर्यायोंको विषय करनेवाला अथवा उस गुणको विषय करनेवाला नय भी आगमके अनुसार उसी नामसे कहा जाता है। इसी प्रकार जितने भी गुण विवक्षित किये जाते हैं वे जिस२

नामवाले हैं उनको प्रतिपादन करनेवाले या जाननेवाले नय भी उन्हीं नामोंसे कहे जाते हैं।

दृष्टान्त--

अस्तित्वं नाम गुणः स्यादिति साधारणः सतस्तस्य।
तत्पर्यायश्च नयः समासतोस्तित्वनय इति वा ॥ ५९३ ॥

अर्थ---द्रव्यका एक सामान्य गुण अस्तित्व नामवाला है, उस अस्तित्वको विषय करनेवाला नय भी संक्षेपसे अस्तित्व नय कहलाता है।

कर्तृत्वं जीवगुणोस्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः।
तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनयो यथा नाम ॥ ५९४ ॥

अर्थ---जीवका कर्तृत्व गुण है, अथवा उसका वह वैभाविक भाव है, उस कर्तृत्व पर्यायको विषय करनेवाला नय भी कर्तृत्व नय कहलाता है। **भावार्थ**--कर्तृत्व गुणको विषय करनेवाला नय भी कर्तृत्व नय कहा जाता है, और क्रोध कर्तृत्व, मान कर्तृत्व, ज्ञान कर्तृत्व आदि पर्यायोंको विषय करनेवाला नय भी उसी नामसे कहा जाता है।

अनया परिपाट्या किल नयचक्रं यावदस्ति बोद्धव्यम्।
एकैकं धर्मं प्रति नयोपि चैकैक एव भवति यतः ॥ ५९५ ॥

अर्थ-- जितना भी नयचक्र है वह सब इसी परिपाटी (शैली)से जान लेना चाहिये, क्योंकि एक २ धर्मके प्रति नय भी एक २ है। इसलिये वस्तुमें जितने धर्म हैं नय भी उतने और उन्हीं नामोंवाले हैं।

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात्।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥ ५९६ ॥

अर्थ---जितना भी उदाहरण सहित नय है और विशेषण विशेष्यरूप नय है वह सब पर्यायार्थिक नय है, उसीका दूसरा नाम व्यवहार नय है। उदाहरण पूर्वक विशेषण विशेष्यको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय नहीं है। **भावार्थ**--जो कुछ भी भेद विवक्षामें कहा जाता है वह सब व्यवहार अथवा पर्याय नय है।

प्रश्न---

ननु चोक्तलक्षण इति यदि न द्रव्यार्थिको नयो नियमात्।
कोऽसौ द्रव्यार्थिक इति पृष्टास्तच्चिन्हमाहुराचार्याः ॥ ५९७ ॥

अर्थ---यदि उपर्युक्त लक्षणवाला द्रव्यार्थिक नय नहीं है तो फिर द्रव्यार्थिक नय कौन है? इसप्रकार किसीने आचार्यसे प्रश्न किया, प्रश्नानुसार अब आचार्य द्रव्यार्थिक नयका लक्षण कहते हैं।

द्रव्यार्थिक नयका स्वरूप।

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥५९८॥

अर्थ—व्यवहार प्रतिषेध्य है अर्थात् निषेध करने योग्य है, उसका निषेध करनेवाला निश्चय है । इसलिये व्यवहारका निषेध ही निश्चय नयका वाच्य—अर्थ है । **भावार्थ**—जो कुछ भी व्यवहार नयसे कहा जाता है वह सब हेय—छोड़ने योग्य है। कारण जो कुछ व्यवहार नय कहता है वह पदार्थका स्वरूप नहीं है, पदार्थ अभिन्न—अखण्ड—अवक्तव्यरूप है । व्यवहार नय उसका भेद बतलाता है । पदार्थ अनन्त गुणात्मक है, व्यवहार नय उसे किसी विवक्षित गुणसे विवेचित करता है। पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, व्यवहार नय उसे अंशरूपसे ग्रहण करता है, इसलिये जो कुछ भी व्यवहार नयका विषय है वह सब निषेध करने योग्य है वह निषेध ही निश्चय नयका विषय है । जैसे—व्यवहार नय गुणगुणीमें भेद बतलाता है निश्चय नय कहता है कि 'ऐसा नहीं है'। व्यवहार नयमें जो कुछ विषय पड़ता है उसका निषेध करना ही निश्चय नयका वाच्यार्थ है ।

दृष्टान्त—

व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा ।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥५९९॥

अर्थ—व्यवहार नय विवेचन करता है अथवा जानता है कि द्रव्य सत्रूप है, निश्चय नय बतलाता है कि नहीं । व्यवहार नय बतलाता है कि जीव ज्ञानवान् है, निश्चय नय बतलाता है कि नहीं । इस प्रकार न—निषेधको विषय करनेवाला ही निश्चय नय है, और वही सब नयोंका शिरोमणि है । **भावार्थ**—व्यवहार नयने द्रव्यको सत्स्वरूप बतलाया है, परन्तु निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् पदार्थ ऐसा नहीं है । कारण—सत्नाम अस्तित्व गुणका है, पदार्थ केवल अस्तित्व गुण स्वरूप तो नहीं है किन्तु अनन्त गुणात्मक है इसलिये पदार्थको सदात्मक बतलाना ठीक नहीं है । इसीलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है । इसी प्रकार जीवको ज्ञानवान् कहना यह भी व्यवहार नयका विषय है । निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् जीव ऐसा नहीं है, क्योंकि जीव अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड है, इसलिये वे अनन्तगुण अभिन्न प्रदेशी हैं। अभिन्नतामें गुण गुणीका भेद करना ही मिथ्या है इसलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है । निश्चय नय व्यवहारके समान किसी पदार्थका विवेचन नहीं करता है किन्तु जो कुछ व्यवहार नयसे विवेचन किया जाता है अथवा भेदरूप जाना जाता है उसका निषेध करता है। यदि वह भी किसी विषयका विवेचन करे तो वह भी मिथ्या ठहरेगा। कारण—जितना भी विवे-

चन है वह सब अंशरूप है इसलिये वह मिथ्या है। अतएव निश्चय नय कुछ न कहकर केवल निषेध करता है। शङ्का हो सक्ती है कि जब निश्चय नय केवल निषेध ही करता है तो फिर इसने कहा क्या? इसका विषय क्या समझा जाय? उत्तर—न—निषेध ही इसका विषय है। इस निषेधसे यही ध्वनि निकलती है कि पदार्थ अवक्तव्य स्वरूप है। परन्तु उसकी अवक्तव्यताका प्रतिपादन करना भी वक्तव्य ही है। इसलिये प्रतिपादन मात्रका निषेध करना ही उसकी अवक्तव्यताका सूचक है। अतएव निश्चय नय नयाधिपति है।

शङ्काकार—

ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोस्ति सर्वोपि किल विकल्पात्मा।
तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥६००॥

अर्थ—यह बात पहले कही जा चुकी है कि सभी नय विकल्पात्मक ही होते हैं। नयका लक्षण ही विकल्प है। फिर इस द्रव्यार्थिक नय—निश्चय नयमें विकल्प तो कुछ पड़ता ही नहीं है। क्योंकि उक्त नय केवल निषेधात्मक है। इसलिये विकल्पका अभाव होनेसे इस नयको नयपना ही कैसे आवेगा? अर्थात् इस नयमें नयका लक्षण ही नहीं जाता है।

द्रव्यार्थिक नय भी विकल्पात्मक है—

तन्न यतोस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात्।
पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ॥ ६०१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि द्रव्यार्थिक नयमें भी न (निषेधात्मक) यह पक्ष आता ही है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि द्रव्यार्थिक नयका वाच्य 'न' है अर्थात् निषेध है। यह निषेध ही उसका एक पक्ष है और पक्षका ग्राहक ही नय होता है, तथा पक्ष ही विकल्पात्मक होता है। भावार्थ—नयका लक्षण विकल्प बतलाया गया है। द्रव्यार्थिक नयमें निषेधरूप विकल्प पड़ता ही है, अथवा किसी एक पक्षके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको अथवा उसके वाचक वाक्यको भी नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक—निश्चय नयमें निषेधरूप पक्षका ही ग्रहण होता है। जिस प्रकार व्यवहार नय किसी धर्मका प्रतिपादन करनेसे विकल्पात्मक है उसी प्रकार व्यवहार नयके विषयभूत पदार्थका निषेध करने रूपका प्रतिपादन करनेसे निश्चय नय भी विकल्पात्मक ही है। इसलिये नयका लक्षण निश्चय नयमें सुघटित ही है।

तथा—

प्रतिषेध्यो विधिरूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात्।
प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा॥६०२॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रतिषेध्य विधिरूप है और स्वयं विकल्परूप होनेसे विकल्पात्मक

है। उसी प्रकार प्रतिषेधक भी निषेधात्मक विकल्परूप है। भावार्थ—जैसे प्रतिषेध्यमें विधिरूप पक्ष होनेसे वह विकल्पात्मक है वैसे प्रतिषेधकमें निषेधरूप पक्ष होनेसे वह भी विकल्पात्मक है।

दृष्टान्त—

तल्लक्षणमपि च यथा स्यादुपयोगो विकल्प एवेति ।
अर्थानुपयोगः किल वाचक इह निर्विकल्पस्य ॥ ६०३ ॥
अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् किलोपयोग इति ।
नार्थाकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनुपयोग एव यथा ॥ ६०४ ॥
नेति निषेधात्मा यो नानुपयोगः सबोधपक्षत्वात् ।
अर्थाकारेण विना नेतिनिषेधावबोधशून्यत्वात् ॥ ६०५ ॥

अर्थ—प्रतिषेधक भी विकल्पात्मक है इस बातको ही इन श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया जाता है। पदार्थका उपयोग ही तो विकल्प कहा जाता है, तथा पदार्थका अनुपयोग निर्विकल्प कहा जाता है, तथा ज्ञानका पदार्थाकार परिणमन होना ही उपयोग कहलाता है, उसका अर्थाकार परिणमन न होना अनुपयोग कहलाता है। जब उपयोग अनुपयोगकी ऐसी व्यवस्था है तब द्रव्यार्थिक नयमें 'न' इत्याकारक जो निषेधात्मक बोध है वह भी निषेध ज्ञानरूप पक्षसे विशिष्ट होनेसे अनुपयोग नहीं कहा जा सक्ता है। किन्तु उपयोग ही है, क्योंकि उपयोग उसीको कहते हैं कि जिस ज्ञानमें पदार्थाकार परिणमन हो। यहां पर भी अर्थाकार परिणमनके बिना 'न' इत्याकारक निषेधात्मक ज्ञान नहीं हो सक्ता है। परन्तु द्रव्यार्थिक नयमें निषेधरूप बोध होता है। इसलिये निषेधाकार परिणमन होनेसे द्रव्यार्थिक नय भी उपयोगात्मक है और उपयोगको ही विकल्प कहते हैं।

भावार्थ—किसी पदार्थको ज्ञान विषय करे इसीका नाम उपयोग है। यही उपयोग विकल्पात्मक बोध कहा जाता है। जिस प्रकार व्यवहार नयके विषयभूत पदार्थोंको विषय करनेसे वह नय उपयोगात्मक होनेसे विकल्पात्मक है, उसी प्रकार उस नयके विषयभूत पदार्थोंका निषेध करने रूप पदार्थको विषय करनेसे द्रव्यर्थिक नय भी उपयोगात्मक होनेसे विकल्पात्मक है। व्यवहार नयमें विधि विषय पड़ा है, यहां पर निषेध विषय पड़ा है। विषय बोधसे व्यवहारके समान वह भी खाली नहीं है। इसलिये द्रव्यर्थिक नयमें नयका लक्षण सुघटित ही है।

दृष्टान्त—

जीवो ज्ञानगुणः स्यादर्थालोकं विना नयो नासौ ।
नेति निषेधात्मत्वादर्थालोकं विना नयो नासौ ॥६०६ ॥

अर्थ—जिस 'प्रकार जीव ज्ञान गुणवाला है, यह नय (व्यवहार) अर्थालोकके बिना अर्थात् पदार्थको विषय करनेके विना नहीं होता है, उसी प्रकार' ऐसा नहीं है, यह नय (निश्चय) भी निषेधको विषय करनेसे अर्थालोकके विना नहीं होता है। विषय बोधसे दोनों ही सहित हैं।

स्पष्टी करण—

स यथा शक्तिविशेषं समीक्ष्य पक्षश्चिदात्मको जीवः।
न तथेत्यपि पक्षः स्यादभिन्नदेशादिकं समीक्ष्य पुनः॥ ६०७॥

अर्थ—जीवकी विशेष शक्तिको देख कर (विचार कर) यह कहना या समझना कि जीव चिदात्मक है जिस प्रकार यह पक्ष है, उसी प्रकार जीवको अभिन्न प्रदेशी समझ कर यह कहना या समझना कि वैसा नहीं है, यह भी तो पक्ष है। पक्षग्राहिता उभयत्र समान है, क्योंकि—

अर्थालोकविकल्पः स्यादुभयत्राविशेषतोपि यतः।
न तथेतयस्य नयत्वं स्यादिह पक्षस्य लक्षकत्वाच्च॥ ६०८॥

अर्थ—अर्थका प्रकाश—पदार्थ विषयितारूप विकल्प दोनों ही जगह समान हैं। इसलिये वैसा नहीं है, इत्याकारक निषेधको विषय करनेसे द्रव्यार्थिक नयमें नयपना है ही। कारण उसने एक निषेध पक्षका अवलम्बन किया है।

एकाङ्गग्रहणादिति पक्षस्य स्यादिहांशधर्मत्वम्।
न तथेति द्रव्यार्थिकनयोस्ति मूलं यथा नयत्वस्य॥ ६०९॥

अर्थ—पक्ष उसीको कहते हैं जो एक अंगको ग्रहण करता है। इसलिये 'न तथा' इस पक्षमें भी अंश धर्मता है ही। अतएव 'न तथा' को विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय एक अंशको विषय करनेसे पक्षात्मक है।

एकाङ्गत्वमसिद्धं न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः।
वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तदविशेषशक्तित्वात्॥६१०॥

अर्थ—न, इस निषेधको विषय करनेवाले निश्चयनयमें एकाङ्गता असिद्ध नहीं है, किन्तु सिद्ध ही है। जिस प्रकार वस्तुमें विशेष शक्ति होती है, उसी प्रकार उसमें सामान्य शक्ति भी होती है।

भावार्थ—पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, वही प्रमाणका विषय है, तथा सामान्यांश द्रव्यार्थिकनयका विषय है, विशेषांश पर्यायार्थिकनयका विषय है। इसलिये विशेषके निषेध-रूप सामान्यांशको विषय करनेवाले निश्चयनय-द्रव्यार्थिकनयमें एकाङ्गता सिद्ध ही है।

शङ्काकार—

ननु च व्यवहारनयः सोदाहरणो यथा तथायमपि ।
भवतु तदा को दोषो ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात् ॥६११॥
स यथा व्यवहारनयः सदनेकं स्याच्चिदात्मको जीवः ।
तदितरनयः स्वपक्षं वदतु सदेकं चिदात्मवत्त्विति चेत् ॥६१२॥

अर्थ—जिस प्रकार व्यवहारनय उदाहरण सहित होता है, उस प्रकार **निश्चयनय** भी उदाहरण सहित माना जाय तो क्या दोष आता है? क्योंकि जैसा ज्ञान विकल्प उदाहरण रहित ज्ञानमें है, वैसा ही ज्ञान विकल्प उदाहरण सहित ज्ञान विकल्पमें है। इस न्यायसे निश्चय नयको सोदाहरण ही मानना ठीक है। उदाहरण सहित निश्चय नयको कहनेसे व्यवहार नयसे कैसे भेद होगा,? वह इस प्रकार होगा—जैसे व्यवहार नय सत्को अनेक बतलाता है, जीवको चिदात्मक बतलाता है। निश्चय नय केवल अपने पक्षका ही विवेचन करे, जैसे सत् एक है, जीव चित् ही है। ऐसा कहनेसे निश्चय नय उदाहरण सहित भी होजाता है, तथा व्यवहार नयसे भिन्न भी होजाता है?

उत्तर—

न यतः सङ्करदोषो भवति तथा सर्वशून्यदोषश्च ।
स यथा लक्षणभेदाल्लक्ष्यविभागोस्त्यनन्यथासिद्धः ॥ ६१३ ॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। ऐसी शंकामें संकर दोष और सर्वशून्य दोष आता है। क्योंकि लक्षणके भेदसे लक्ष्यका भेद अवश्यंभावी है। **भावार्थ**—सत्को एक कहने पर भी सत् लक्ष्य और उसका 'एक' लक्षण सिद्ध होता है। इसी प्रकार जीवको चित्स्वरूप कहने पर भी जीव लक्ष्य और उसका चित् लक्षण सिद्ध होता है। ऐसा लक्ष्य लक्षणरूप भेद व्यवहारनयका ही विषय होसक्ता है, निश्चयका नहीं, यदि निश्चयका भी भेद, विषय माना जाय तो संकरता और सर्वशून्यता भी स्वयं सिद्ध है।

लक्षणमेकस्य सतो यथाकथञ्चिद्यथा द्विधाकरणम् ।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः ॥ ६१४ ॥

अर्थ—व्यवहार नयका लक्षण यह है कि एक ही सत्का जिस किसी प्रकार द्वैधीभाव करना, अर्थात् सत्में भेद बतलाना व्यवहार नयका लक्षण है, ठीक इससे उल्टा निश्चय नयका लक्षण है, अर्थात् सत्में अभेद बतलाना निश्चय नयका लक्षण है।

निश्चय नयको सोदाहरण माननेमें दोष—

अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोथ निश्चयो वदति ।
व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ॥ ६१५ ॥

अर्थ—यदि शंकाकारके कथनानुसार सत्को एक माना जाय अथवा चित् ही जीव माना जाय और इनको निश्चय नयका उदाहरण कहा जाय तो व्यवहार नयसे निश्चय नयमें कुछ भी भेद नहीं रहेगा, क्योंकि ये दोनों ही उदाहरण व्यवहार नयके ही अन्तर्गत-(गर्भित) हो जाते हैं। सत्को एक कहनेसे भी सत्में भेद ही सिद्ध होता है, अथवा जीवको चित्स्वरूप कहनेसे भी जीवमें भेद ही सिद्ध होता है। किस प्रकार? सो नीचे कहते हैं—

एवं सदुदाहरणे सल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति।
लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥ ६१६ ॥
अथवा चिदेव जीवो यदुदाह्रियतेप्यभेदबुद्धिमता।
उक्तवदत्रापि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ६१७ ॥

अर्थ—शंकाकारने निश्चय नयका उदाहरण यह बतलाया है कि सत् एक है, इसमें आचार्य दोष दिखलाते हैं— सत् एक है, यहां पर सत् तो लक्ष्य ठहरता है और उसका एक यह लक्षण ठहरता है। इस प्रकारका लक्षण लक्ष्यका भेद व्यवहार नयमें ही होता है निश्चय नयमें नहीं होता। जिस प्रकार सत् और एकमें लक्षण लक्ष्यका भेद होता है, उसी प्रकार जीव और चित्में भी होता है। जीव लक्ष्य और चित् उसका लक्षण सिद्ध होता है। शंकाकारने यद्यपि इन उदाहरणोंको अभेद बुद्धिसे बतलाया है, परन्तु विचार करने पर उदाहरण मात्र ही भेदजनक पड़ता है। इसलिये यह व्यवहार नयका ही विषय है, निश्चयका नहीं। क्योंकि जितना भी भेद व्यवहार है, सब व्यवहार ही है।

एवं सुसिद्धसंकरदोषे सति सर्वशून्यदोषः स्यात्।
निरपेक्षस्य नयत्वाभावात्तल्लक्षणाद्यभावत्वात् ॥ ६१८ ॥

अर्थ—इस प्रकार दोनों ही नयोंमें संकरता आती है। संकरता आनेसे सर्वशून्य दोष आता है, जो निरपेक्ष है उसमें नयपना ही नहीं आता, क्योंकि निरपेक्षता नयका लक्षण ही नहीं है। **भावार्थ**—निश्चय नयको भी सोदाहरण माननेसे व्यवहारसे उसमें कुछ भेद नहीं रहेगा दोनों एक रूपमें आजायंगे ऐसी अवस्थामें प्रमाण भी आत्मलाभ न कर सकेगा इसलिये निश्चय नयको उदाहरण सहित मानना ठीक नहीं है।

शङ्काकार—

ननु केवलं सदेव हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः।
भवति च तदुदाहरणं भेदाभावात्तदा हि को दोषः ॥ ६१९ ॥
अपि चैवं प्रतिनियतं व्यवहारस्यावकाश एव यथा।
सदनेकं च सदेकं जीवश्चिद्द्रव्यमात्मवानिति चेत् ॥ ६२० ॥

अर्थ—यदि सत्को एक कहनेसे और जीवको चित् रूप कहनेसे भी व्यवहार नयका

ही विषय आजाता है तो निश्चय नयका उदाहरण केवल सत् ही कहना चाहिये, अथवा जीव ही कहना चाहिये। सत्का एकत्व विशेष और जीवका चित् विशेष नहीं कहना चाहिये। सन्मात्र कहनेसे अथवा जीव मात्र कहनेसे फिर कोई दोष नहीं रहता है। सन्मात्र और जीव मात्र कहनेसे भेद बुद्धि भी नहीं रहती है। व्यवहार नयका अवकाश तो भेदमें ही प्रति नियत है जैसे यह कहना कि सत् एक है, सत् अनेक है, जीव चिद्द्रव्य है, जीव आत्मवान है, यह भेदज्ञान ही व्यवहार नयका लक्षण है। निश्चय नयमें केवल सत् अथवा जीव ही उदाहरण मान लेने चाहिये ?

उत्तर—

न यतः सदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च ।
तत्तद्धर्मविशिष्टस्तदानुपचर्यते स यथा ॥ ६२१ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत् यह विकल्प और जीव यह विकल्प दोनों ही काल्पनिक हैं। भिन्न २ धर्मोंसे विशिष्ट होनेसे उन धर्म वाले उपचारसे कहे जाते हैं, अर्थात् जिस धर्मकी विवक्षा रक्खी जाती है उसी धर्मसे विशिष्ट वस्तु कही जाती है। वह धर्मका उपचार इस प्रकार होता है—

जीवः प्राणादिमतः संज्ञा करणं यदेतदेवेति ।
जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्यर्थात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—जो प्राणोंको धारण करनेवाला है उसीको जीव इस नामसे कहा जाता है, अथवा जो जीवन गुणकी अपेक्षा रखनेवाला है उसे ही जीव कहते हैं। इसलिये जीव मात्र कहनेसे भी प्राण विशिष्ट और जीवत्वगुण विशिष्टका ही बोध होता है। इसी प्रकार—

यदि वा सदिति सत्स्यतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात् ।
लब्धं तदनुक्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—अथवा सत् यह नाम सत्तागुणकी अपेक्षा रखनेवाले (अस्तित्व गुण विशिष्ट) सत् पदार्थका है। इसलिये सत् इतना कहनेसे ही विना कहे हुए भी अस्तित्व गुण अथवा अस्तित्व गुण विशिष्ट द्रव्यका बोध होता है। **भावार्थ**—यद्यपि सत्में यह विकल्प नहीं उठाया गया है कि वह द्रव्य है, अथवा गुण है तथापि वह विकल्प विना कहे हुए भी सत् कहनेसे ही उठ जाता है, और जितना विकल्पात्मक—भेदविज्ञान है सब व्यवहार नयका विषय है।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः ।
द्रव्यं गुणो न य इति वा व्यव रलोपदोषः स्याव॥६२४॥

अर्थ—यदि विशेषण रहित विशेष्य ही केवल निश्चय नयका विषय माना जाय तो द्रव्य और गुणकी ही सिद्धि होगी, पर्यायकी सिद्धि नहीं होगी, अथवा व्यवहारका ही लोप हो जायगा। यह एक बड़ा दोष है।

सारांश—

तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः।
तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः॥ ६२५॥

अर्थ—इसलिये यह निश्चय करना चाहिये कि जितना भी उदाहरण पूर्वक कथन है उतना सब व्यवहार नय है। उस व्यवहारका निषेधक ही निश्चय नय है।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति च निश्चयनयो विकल्पात्मा।
कथमाद्यः प्रतिषेध्योऽस्त्यन्यः प्रतिषेधकश्च कथमिति चेत्॥६२६॥

अर्थ—व्यवहार नय भी विकल्पात्मक है और निश्चय नय भी विकल्पात्मक है फिर व्यवहार नय क्यों निषेध करने योग्य है, तथा निश्चय नय क्यों उसका निषेध करनेवाला है? **भावार्थ**—जब दोनों ही नय विकल्पात्मक हैं तो एक निषेध्य और दूसर निषेधक उनमें कैसा?

उत्तर—

न यतो विकल्पमात्रमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु।
प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य॥ ६२७॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि हरएक वस्तुमें उस वस्तुके अनुरूप अर्थाकार परिणमन करनेवाले ज्ञानको ही विकल्प कहते हैं। वह विकल्प प्रतिषेध्यका हेतु नहीं है, किन्तु उसका कारण अयथार्थता है। **भावार्थ**—व्यवहार नयके निषेधका कारण विकल्पात्मक बोध नहीं है विकल्पात्मक बोध तो निश्चय नयमें भी है किन्तु उसका अयथार्थ बोध है, अर्थात् व्यवहार नय मिथ्या है इसी लिये वह निषेध करने योग्य है। इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं।

व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च॥ ६२८॥

अर्थ—व्यवहार नय मिथ्या है क्योंकि वह स्वयं ही मिथ्या उपदेश देता है। इसलिये वह प्रतिषेध्य निषेध करने योग्य है और उस व्यवहार नयके विषय पर दृष्टि देनेवाला—श्रद्धान करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

निश्चय नय यथार्थ है—

स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम् ।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥६२९॥
यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात् ।
तस्मात् स उपादेयोनोपादेय स्तदन्यनयवादः ॥ ६३० ॥

अर्थ—निश्चय नय यथार्थ विषयका प्रतिपादन करनेवाला है, इसलिये वह सम्यक्‌रूप है। यद्यपि निश्चयनय भी विकल्पात्मक है, तो भी वह विकल्प रहितसा प्रतीत होता है। यद्यपि वह 'न' इत्याकारक वचनसे कहा जाता है तो भी वह वचनागोचर ही जैसा प्रतीत होता है। निश्चय नयका क्या वाच्य है यह बात अनुभवगम्य ही है अर्थात् निश्चय नयके विषयका बोध अनुभवसे ही जाना जाता है। वचनसे वह नहीं कहा जाता, क्योंकि जो कुछ वचनसे विवेचन किया जायगा वह सब भेदरूप होनेसे व्यवहार नयका ही विषय हो जाता है। इसलिये वचनसे तो वह 'न' निषेधरूप ही वक्तव्य है। अथवा उस निश्चय नयके विषयपर श्रद्धान करनेवाला सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है। इसलिये निश्चयनय ही उपादेय—ग्राह्य है। अन्य जितना भी नयवाद है सभी अग्राह्य—त्याज्य है।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोपि कथमभूतार्थः ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं यथोपदेशात्तथानुभूतेश्च ॥६३१॥
अथ किमभूतार्थत्वं द्रव्याभावोऽथ वा गुणाभावः ।
उभयाभावो वा किल तद्योगस्याप्यभावसादिति चेत् ॥६३२॥

अर्थ—सम्पूर्ण ही व्यवहार नय किसप्रकार मिथ्या हो सक्ता है ? क्योंकि 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, गुण पर्यायवाला द्रव्य होता है, ऐसा उपदेश (सर्वज्ञ व महर्षियोंका) भी है तथा अनुभवसे भी यही बात सिद्ध होती है। हम पूछते हैं (शंकाकार) कि यहां पर क्या अभूतार्थपना है, द्रव्याभाव है अथवा गुणाभाव है। अथवा दोनोंका अभाव है, अथवा उन दोनोंके योग (मेल)का अभाव है। किसका अभाव है जिससे कि 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' यह कथन अभूतार्थ समझा जाय, यदि किसीका अभाव नहीं है तो फिर व्यबहार नय मिथ्या क्यों ?

उत्तर—

सत्यं न गुणाभावो द्रव्याभावो न नोभयाभावः ।
न हि तद्योगाभावो व्यवहारः स्यात्तथाऽप्यभूतार्थः ॥६३३॥

अर्थ—ठीक है, न गुणका अभाव है, न द्रव्यका अभाव है, न दोनोंका अभाव है, और न उन दोनोंके योगका अभाव है, तो भी व्यवहार नय मिथ्या ही है। क्यों मिथ्या है? उसीको स्पष्ट करते हैं—

इदमत्र निदानं किल गुणवद्द्रव्यं यदुक्तमिह सूत्रे।
अस्ति गुणोस्ति द्रव्यं तद्योगात्तदिह लब्धमित्यर्थात् ॥६३४॥
तदसन्न गुणोस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः।
केवलमद्वैतं सद्भवतु गुणो वा तदेव सद्द्रव्यम् ॥६३५॥

अर्थ—व्यवहारनय मिथ्या है, इसमें यह कारण है कि जो सूत्रमें 'गुणवद्द्रव्यम्' कहा गया है, उसका यह अर्थ निकलता है कि एक कोई गुण पदार्थ है एक द्रव्य पदार्थ है, उन दोनोंके योगसे द्रव्य सिद्ध होता है। परन्तु ऐसा कथन ही मिथ्या है। क्योंकि न कोई गुण है, न द्रव्य है, न दोनों हैं, और न उनका योग ही है, किन्तु केवल अद्वैत सत् है, वही सत् गुण कहलाओ अथवा वही सत् द्रव्य कहलाओ। कुछ कहलाओ।

व्यवहारनय मिथ्या है—

तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोप्यभूतार्थः।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेपि ॥ ६३६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात न्यायसे प्राप्त हो चुकी कि व्यवहारनय अभूतार्थ है। जो लोग केवल उसी व्यवहारनयका अनुभव करते रहते हैं वे नष्ट हो चुके हैं, तथा वे मिथ्या-दृष्टि हैं।

शंकाकार—

ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः।
किमकिञ्चित्कारित्वाद्व्यवहारेण तथाविधेन यतः ॥ ६३७ ॥

अर्थ—यदि व्यवहारनय मिथ्या ही है तो केवल निश्चयनय ही आदरणीय होना चाहिये। व्यवहारनय मिथ्या है इसलिये कुछ भी करनेमें असमर्थ है, फिर उसे सर्वथा कहना ही नहीं चाहिये?

उत्तर—वस्तु विचारार्थ व्यवहारनय भी आवश्यक है—

नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बि तज्ज्ञानम् ॥६३८॥

अर्थ—ऊपरकी शंका ठीक नहीं है, कारण किसी विषयमें विवाद होने पर अथवा किसी विषयमें संदेह होनेपर अथवा वस्तुके विचार करनेमें व्यवहारनयका अवलम्बन बलपूर्वक (अवश्य ही) लेना पड़ता है। जो ज्ञान निश्चयनय और व्यवहारनय दोनोंका अवलम्बन करता है वही ज्ञान प्रमाणज्ञान समझा जाता है।

भावार्थ—विना व्यवहारनयका अवलम्बन किये केवल निश्चयनयसे ज्ञानमें प्रमाणता ही नहीं आ सक्ती है। विना व्यवहारनयका अवलम्बन किये पदार्थका विचार ही नहीं हो सक्ताहै, यह शंका फिर भी की जा सक्ती है कि जब व्यवहारनय मिथ्या है तो उसके द्वारा किया हुआ वस्तु विचार भी मिथ्या ही होगा ? यद्यपि किसी अंशमें यह शंका ठीक हो सक्ती है, परन्तु बात यह है कि वस्तुका विचार बिना व्यवहारके हो नहीं सक्ता, बिना विवेचन किये यह कैसे जाना जासक्ता है कि वस्तु अनन्त गुणात्मक है, परिणामी है, इसलिये व्यवहार द्वारा वस्तुको जान कर उसकी यथार्थताका बोध हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि यह आत्मा व्यवहारपूर्वक ही निश्चयनय पर आरूढ़ होता है, विवेचना वस्तुकी यथार्थता नहीं है, किन्तु विवेचनाके द्वारा ही यथार्थताका बोध होता है इसलिये व्यवहार नय भी आदरणीय है।

तस्मादाश्रयणीयः केषाञ्चित् स नयः प्रसङ्गत्वात्।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ॥६३९॥

अर्थ—इसलिये प्रसंगवश किन्हीं २ को व्यवहार नय भी आश्रयणीय (आश्रय करने योग्य) है। वह सविकल्पक बोधवालोंके लिये ही आश्रय करने योग्य है। सविकल्पक बोधवालोंके समान निर्विकल्पक बोधवालोंके लिये वह नय हितकारी नहीं है। **भावार्थ**—सविकल्पकबोध पूर्वक जो निर्विकल्पक बोधको पा चुके हैं, फिर उन्हें व्यवहारनयकी शरण नहीं लेनी पडती है निश्चय नयकी प्राप्तिके लिये ही व्यवहारका आश्रय लेना आवश्यक है।

शङ्काकार—

ननु च समीहितसिद्धिः किल चैकस्मान्नयात्कथं न स्यात्।
विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचारश्च निश्चयादिति चेत् ॥६४०॥

अर्थ—अपने अभीष्टकी सिद्धि एक ही नय (निश्चय) से क्यों नहीं हो जाती है, विवादका परिहार और वस्तुका विचार भी निश्चयसे ही हो जायगा इसलिये केवल निश्चयनय ही मान लो ?

उत्तर—

नैवं यतोस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोपि ॥ ६४१ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि दोनों नयोंमें भेद है। निश्चय नय अनिर्बचनीय है, उसके द्वारा पदार्थका विवेचन नहीं किया जा सक्ता, इसलिये धर्म अथवा दर्शनकी स्थितिके लिये अर्थात् वस्तु स्वभावको जाननेके लिये कोई बोलनेवाला भी नय—व्यवहार नय हितकारी है।

शंकाकार—

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमिति यदालम्ब्य वर्त्तते ज्ञानम् ।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥ ६४२ ॥

अर्थ—निश्चय नयका क्या वाच्य (विषय) है कि जिसको अवलम्बन करके ज्ञान रहता है ? सम्पूर्ण विशेषके अभावमें निश्चयनयसे अत्यन्ताभाव ही प्रतीत होता है। **भावार्थ**—निश्चयनय जब किसी विशेषका अवलम्बन नहीं करता है तो फिर उसका कुछ भी विषय नहीं है, वह केवल अभावात्मक ही है।

उत्तर—

इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च नयस्य यद्वाच्यम् ।
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थ—ऊपरकी शंकाका यहांपर यह समाधान किया जाता है कि जो कुछ व्यवहार नयका वाच्य है उसमेंसे सम्पूर्ण विकल्पोंको दूर करनेपर जो वाच्य रहता है वही निश्चय नयका वाच्य है।

दृष्टान्त—

अस्त्यत्र च संदृष्टिस्तृणाग्निरिति वा यदोष्ण एवाग्निः ।
सर्वविकल्पाभावे तत्संस्पर्शादिनाप्यशीतत्वम् ॥ ६४४ ॥

अर्थ—निश्चय नयके वाच्यके विषयमें यहांपर अग्निका दृष्टान्त दिया जाता है—अग्नि यदि तृणकी अग्नि है तब भी अग्नि ही है, यदि वह कण्डेकी अग्नि है तो भी वह उष्ण अग्नि ही है, यदि वह कोयलेकी अग्नि है तो भी वह उष्ण अग्नि ही है। इसलिये उस अग्नि-मेंसे तृण, कण्डा (उपला) कोयला आदि विकल्प दूर कर दिये जायँ तो भी वह स्पर्शादिसे उष्ण ही प्रतीत होगी। **भावार्थ**—तृणकी अग्नि कहना ही वास्तवमें मिथ्या है, जिस समय तृण अग्नि परिणत है उस समय वह तृण नहीं किन्तु अग्नि है। जिस समय अग्नि परिणत नहीं है उस समय वह तृण है अग्नि नहीं है। इसलिये तृणादि विकल्पोंको दूर कर देना ही ठीक है। परन्तु अग्निरूप सिद्ध करनेके लिये पहले तृणादिका व्यवहार होना भी आवश्यक है। ठीक यही दृष्टान्त निश्चयनयमें घटित होता है। जो व्यवहारनयका विषय है वह विकल्पात्मक है, उसमेंसे विकल्पोंको दूर कर जो वाच्य पड़ता है वही निश्चयनयका विषय है। निश्चयनय गुणद्रव्य पर्यायरूप भेदोंको मिथ्या समझता है। गुणात्मक--अखण्डपिण्ड ही निश्चयनयका विषय है। वह अनिर्वचनीय है। इसीलिये व्यवहार नयके विषयको निषेधद्वारा कह दिया जाता है। निषेध कहनेसे उसका अभावात्मक वाच्य नहीं समझना चाहिये किन्तु शुद्ध द्रव्य समझना चाहिये।

शंकाकार—

ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलंवी स्यात् ।
अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलंबी यः ॥ ६४५ ॥

अर्थ—जो व्यवहारनयका अवलम्बन करनेवाला है, वह जिस प्रकार सामान्यरीतिसे मिथ्यादृष्टि है उसी प्रकार जो निश्चयनयका अवलम्बन करनेवाला है वह मिथ्यादृष्टि क्यों है ? अर्थात् व्यवहारनयके अवलम्बन करनेवालेको मिथ्यादृष्टि कहा गया है, सो ठीक परंतु निश्चयनयावलंवीको भी मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है सो क्यों ?

उत्तर—

सत्यं किन्तु विशेषो भवति स सूक्ष्मो गुरूपदेश्यत्वात् ।
अपि निश्चयनयपक्षादपरः स्वात्मानुभूतिमहिमा स्यात् ॥६४६॥

अर्थ—ठीक है, परन्तु निश्चयनयसे भी विशेष कोई है, वह सूक्ष्म है, इसलिये वह गुरुके ही उपदेश योग्य है । सिवा महनीय गुरुके उसका स्वरूप कोई नहीं बतला सक्ता । वह विशेष स्वात्मानुभूतिकी महिमा है जोकि निश्चयनयसे भी बहुत सूक्ष्म और भिन्न है ।

उभयं णयं विभणिमं जाणइ णवरं तु समय पडिवद्धो ।
णदु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥ १ ॥
इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च ।
सर्वोपि नयो यावान् परसमयः सच नयावलंबी ॥ ६४७ ॥

अर्थ—निश्चय नयावलम्बीको भी मिथ्यादृष्टि कहा गया है इस विषयमें उक्त गाथा भी प्रमाण है। उसका अर्थ यह है कि जो दो प्रकारके नय कहे गये हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि जानता तो है परन्तु किसी भी नयके पक्षको ग्रहण नहीं करता है, वह नय पक्षसे रहित है। है । इस गाथारूप सूत्रसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि सम्यग्दृष्टि निश्चय नयका भी अवलम्बन नहीं करता है। दूसरी बात यह है कि निश्चय नयको भी आचार्यने सविकल्पक बतलाया है और जितना सविकल्प ज्ञान है उसे अभूतार्थ बतलाया है जैसा कि पहले कहा गया है यथा—"यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोस्ति सोप्यपरमार्थः" इसलिये सविकल्प-ज्ञानात्मक होनेसे भी निश्चय नय मिथ्या सिद्ध होता है, तथा अनुभवमें भी यही बात आती है कि जितने भी नय हैं सभी पर समय—मिथ्या हैं, तथा उन नयोंका अवलम्बन करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है ?

स्वात्मानुभूतिका स्वरूप—

स यथा सति सविकल्पे भवति स निश्चयनयो निषेधात्मा ।
न विकल्पो न निषेधो भवति चिदात्मानुभूतिमात्रं च ॥६४८॥

अर्थ—वह स्वात्मानुभूतिकी महिमा इसप्रकार है कि सविकल्पज्ञान होनेपर निश्चय नय उस विकल्पका निषेध करता है। परन्तु जहां पर न तो विकल्प ही है और न निषेध ही है वहां पर चिदात्मानुभूति मात्र है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोपि नरः।
महिषोयमहं तस्योपासक इति नयावलम्बी स्यात्॥ ६४९॥
चिरमचिरं वा यावत् स एव दैवात् स्वयं हि महिषात्मा।
महिषस्यैकस्य यथा भवनान् महिषानुभूतिमात्रं स्यात्॥ ६५०॥

अर्थ—स्वात्मानुभूतिके विषयमें दृष्टान्त भी है, जैसे-कोई पुरुष महिषके ध्यानमें आरूढ़ है। ध्यान करते हुए वह यह समझता है कि यह महिष (भैंसा) है और मैं उसकी उपासना (सेवा-ध्यान) करनेवाला हूं। इसप्रकारके विकल्पको लिये हुए जब तक उसका ज्ञान है। तब तक वह नयका अवलम्बन करनेवाला है। बहुत काल तक अथवा जल्दी ही ध्यान करते २ जिस समय वह दैव वश * स्वयं महिषरूप वन जाता है तो उस समय वह केवल एक महिषका ही अनुभव करता है, वही महिषानुभूति है। **भावार्थ**—महिषका ध्यान करनेवाला जब तक यह विकल्प करता है कि यह महिष है मैं उसका उपासक हूं तब तक तो वह विकल्पात्मक नयके अधीन है, परन्तु ध्यान करते २ जिस समय उसके ज्ञानसे यह उपर्युक्त विकल्प दूर हो जाता है केवल महिष रूप अपने आपको अनुभवन करने लगता है उसी समय उसके महिषानुभूति होती है। इस प्रकारकी अनुभूतिमें फिर उपास्य उपासकका भेद नहीं रहता है आत्मा जिसे पहले ध्येय बना कर स्वयं ध्याता बनता है, अनुभूतिके समय ध्याता ध्येयका विकल्प नहीं रहता है किंतु ध्याता स्वयं ध्येयरूप होकर तन्मय हो जाता है इसीलिये स्वानुभूतिकी अपार महिमा है।

दार्ष्टान्त—

स्वात्मध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोपि किल यावत्।
अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभविताहमस्यनयपक्षः॥ ६५१॥
चिरमचिरं वा दैवात् स एव यदि निर्विकल्पश्च स्यात्।
स्वयमात्मेत्यनुभवनात् स्यादियमात्मानुभूतिरिह तावत्॥ ६५२॥

अर्थ—उसी प्रकार यदि कोई पुरुष अपने आत्माके ध्यान करनेमें आरूढ़ है, ध्यान करते हुए वह विकल्प उठाता है कि मैं यह आत्मा हूं और मैं ही स्वयं उसका अनुभवन

---

* दैववशका आशय यह नहीं है कि वह वास्तवमें महिषकी पर्यायको धारण करलेता हो, किन्तु यह है कि पुण्योदयवश यदि ध्यानकी एकाग्रता हो जाय तो।

करनेवाला हूं, जबतक उसके ऐसा विकल्पात्मक बोध है तब तक उसके नय पक्ष है। बहुत काल तक अथवा जल्दी ही दैववश वही आत्मा यदि निर्विकल्प होजाय, अर्थात् 'मैं उपासक हूं और मैं ही स्वयं उपास्य हूं, इस उपास्य उपासक विकल्पको दूर कर स्वयं आत्मा निज आत्मामें तन्मय होजाय तो उस समय वह आत्मा स्वात्मानुभवन करने लग जाता है। जो स्वात्मानुभवन है वही स्वात्मानुभूति कहलाती है। भावार्थ—कविवर दौलतरामजीने छहढालामें इसीका आशय लिया है। वे कहते हैं कि 'जहां ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प वच भेद न जहां आदि' अर्थात् जिस आत्मानुभूतिमें ध्यान क्या है, ध्याता कौन है, ध्येय कौन है यह विकल्प ही नहीं उठता है, और न जिसमें वचनका ही विकल्प है। निश्चय नयमें भी विकल्प है इसी लिये सम्यग्दृष्टि—स्वात्मानुभूतिनिमग्न उसे भी छोड़ देता है, इसीलिये 'णयपक्ख परिहीणो' अर्थात् सम्यग्दृष्टि दोनों नय पक्षोंसे रहित है ऐसा कहा गया है। जहां विकल्पातीत, वचनातीत आत्माकी निर्विकल्प अवस्था है वही स्वात्मानुभूति विज्ञान है। वह निश्चयनयसे भी बहुत ऊपर है, बहुत सूक्ष्म है, उस अलौकिक आनन्दमें निमग्न महात्माओं द्वारा ही उसका कुछ विवेचन होसक्ता है, उस आनन्दसे बंचित पुरुष उसका यथार्थ स्वरूप नहीं कह सक्ते हैं। जिसने मिश्रीको चख लिया है वही कुछ उसका स्वाद किन्हीं शब्दोंमें कह सक्ता है। जिसने मिश्रीको सुना मात्र है वह विचारा उसका स्वाद क्या बतला सक्ता है, इसी लिये स्वात्माभूतिको गुरूपदेश्य कहा गया है।

सारांश—

तस्माद्व्यवहार इव प्रकृतो नात्मानुभूतिहेतुः स्यात्।
अयमहमस्य स्वामी सदवश्यम्भाविनो विकल्पत्वात् ॥६५३॥

अर्थ—इसलिये व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी आत्मानुभूतिका कारण नहीं है। क्योंकि उसमें भी यह आत्मा है, मैं इसका स्वामी हूं, ऐसा सत् पदार्थमें अवश्यंभावी विकल्प उठता ही है।

शङ्काकार—

ननु केवलमिह निश्चयनयपक्षो यदि विवक्षितो भवति।
व्यवहारान्निरपेक्षो भवति तदात्मानुभूतिहेतुः सः ॥ ६५४ ॥

अर्थ—यदि यहांपर व्यवहार नयसे निरपेक्ष केवल निश्चयनयका पक्ष ही विवक्षित किया जाय तो वह आत्मानुभूतिका कारण होगा?

उत्तर—

नैवमसंभवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः।
सति च विधौ प्रतिषेधः प्रतिषेधे सति विधेः प्रसिद्धत्वात् ॥६५५॥

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है कारण वैसा माननेमें असंभव दोष आता है। कोई भी नय निरपेक्ष नहीं हुआ करता है, न हो सक्ता है। क्योंकि विधिके होनेपर प्रतिषेधका होना भी अवश्यंभावी है, और प्रतिषेधके होनेपर विधिका होना भी प्रसिद्ध है। भावार्थ—नय वस्तुके एक अंशको विषय करता है, इसलिये वह एक—विवक्षित अंशका विवेचन करता हुआ दूसरे अंशकी अपेक्षा अवश्य रखता है। अन्यथा निरपेक्ष अवस्थामें उसे नय ही नहीं कह सक्ते। विधिकी विवक्षामें प्रतिषेधकी सापेक्षता और प्रतिषेधकी विवक्षामें विधिकी सापेक्षताका होना आवश्यक है। इसलिये व्यवहार और निश्चयनयमें परस्पर सापेक्षता ही है।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति यथाऽनेक एव सांशत्वात् ।
अपि निश्चयो नयः किल तद्वदनेकोऽथ चैककस्त्विति चेत् ।६५६।

अर्थ—जिस प्रकार अनेक अंश सहित होनेसे व्यवहारनय अनेक ही है, उसी प्रकार व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी एक एक मिलाकर नियमसे अनेक है ऐसा माना जाय तो ?

उत्तर—

नैवं यतोस्त्यनेको नैकः प्रथमोप्यनन्तधर्मत्वात् ।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ॥६५७॥

अर्थ—उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, कारण व्यवहारनय तो अनन्तधर्मात्मक होनेसे अनेक है, वह एक नहीं है। परन्तु निश्चनय अनेक नहीं है, क्योंकि उसका लक्षण 'न तथा' है अर्थात् जो कुछ व्यवहारनय कहता है उसका निषेध करना, कि (पदार्थ) वैसा नहीं है। यही निश्चयनयका लक्षण है, इसलिये कितने ही धर्मोंके विवेचन क्यों न किये जायँ, सबोंका निषेध करना मात्र ही निश्चयनयका एक कार्य है अतएव वह एक ही है।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक् ।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ॥६५८॥

अर्थ—निश्चयनय क्यों एक है इस विषयमें सोनेका दृष्टान्त भी है। सोना तांवेकी उपाधिकी निवृत्तिसे जैसा है, वैसा ही चांदीकी उपाधिकी निवृत्तिसे भी है, अथवा और और अनेक उपाधियोंकी निवृत्तिसे भी वैसा ही सोना है, अर्थात् सोनेमें जो ताँवा, पीतल, चांदी, कालिमा आदि उपाधियाँ हैं वे अनेक हैं परन्तु उनका अभाव होना अनेक नहींहै, किसी उपाधिका अभाव क्यों न हो वह एक अभाव ही रहेगा। हरएक उपाधिकी निवृत्तिमें सोना सदा सोना ही रहेगा।

निश्चयनयको अनेक कहनेवाले ठीक नहीं हैं—

एतेन हतास्ते ये स्वात्मप्रज्ञापराधतः केचित्।
अप्येकनिश्चयनयमनेकमिति सेवयन्ति यथा ॥६५९॥

अर्थ—इस कथनसे वे पुरुष खण्डित किये गये जो कि अपने ज्ञानके दोषसे एक निश्चय नयको अनेक समझते हैं। कोई कोई अज्ञानी निश्चय नयके इसप्रकार भेद कहते हैं

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ॥६६०॥

अर्थ—एक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है, उसीका नाम शुद्ध निश्चय नय है। दूसरा अशुद्धद्रव्यार्थिक नय है उसका नाम अशुद्ध निश्चय नय है। ऐसे निश्चय नयके दो भेद हैं।

इत्यादिकाश्च वहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते।
सहि मिथ्यादृष्टित्वात् सर्वज्ञाज्ञानमानितो नियमात् ॥६६१॥

अर्थ—और भी बहुतसे भेद निश्चय नयके जिसके मतमें हैं वह मिथ्यादृष्टि है। इसीलिये वह नियमसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उलङ्घन करता है, अर्थात् निश्चय नयके शुद्ध अशुद्ध आदि भेद कुछ भी नहीं हैं ऐसा जैन सिद्धान्त है, वह केवल निषेधात्मक एक है। जो उसके भेद करता है वह सर्वज्ञकी आज्ञाका उलङ्घन करता है। अतएव वह मिथ्यादृष्टि है।*

इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्यं चिदादि यद्वस्तु।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं यथात्मशुद्ध्यर्थम् ॥ ६६२ ॥

---

* पञ्चाध्यायीकारका निरूपण स्वसमयकी अपेक्षासे है इसी लिये दूसरोंने जो शुद्ध द्रव्यार्थिक अशुद्ध द्रव्यार्थिक भेद किये हैं उनको इन्होंने व्यवहारनयमें ही गर्भित किया है। आलापपद्धतिकारने क्रोधादि भावोंको आत्माके भाव अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे बतलाये हैं, तथा आत्माके दर्शन ज्ञानादि गुण हैं यह भेदसापेक्ष कल्पना भी उक्त ग्रन्थकारने अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे बतलाई है, अथवा श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें रागादि भावोंका कर्त्ता जीवको अशुद्ध निश्चयनयसे कहा है। पञ्चाध्यायीकारने क्रोधादि भावोंको अनुपचरित—असद्भूत व्यवहारनय तथा उपचरित—असद्भूत व्यवहारनयसे बतलाया है, तथा जीवके ज्ञानदर्शनादि गुण हैं यह कथन सद्भूत व्यवहारनयसे किया है। यह इतना बड़ा भेद केवल अपेक्षाका भेद है। पंचाध्यायीकारने स्वसमयकी अपेक्षासे निरूपण किया है। स्वसमयकी अपेक्षासे जीवके क्रोधादि भाव कहना वास्तवमें मिथ्या है। सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेवालोंका सभीका कथन एक ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि सबोंका कथन अपेक्षा भेदसे है। नय विभाग ही अपेक्षा पर निर्भर है। जो कथन एक दृष्टिसे मिथ्या प्रतीत होता है वही दूसरी दृष्टिसे ठीक समझा जाता है। इसलिये विना नय विभागके समझे जैन धर्मकी यथार्थताका बोध हो ही नहीं सकता।

अर्थ—यहां पर इतना ही तात्पर्य है कि जीवादिक जो पदार्थ हैं वे आत्मशुद्धिके लिये तभी उपयुक्त होसक्ते हैं जब कि वे व्यवहार और निश्चय नयके द्वारा अविरुद्ध रीतिसे जाने जाते हैं।

अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु ।
फलमात्मसिद्धिः स्यात् कर्मकलंकावमुक्तबोधात्मा ॥ ६६३ ॥

अर्थ—निश्चय नयका कारण नियमसे सामान्य मात्र वस्तु है। फल आत्माकी सिद्धि है। निश्चय नयसे वस्तु बोध करने पर कर्म कलंकसे रहित ज्ञानवाला आत्मा हो जाता है।

प्रमाणका स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तो व्यवहारनयस्तदनु नयो निश्चयः पृथक् पृथक् ।
युगपद्द्वयं च मिलितं प्रमाणमिति लक्षणं वक्ष्ये ॥ ६६४ ॥

अर्थ—व्यवहार नयका स्वरूप कहा गया, उसके पीछे निश्चय नयका भी स्वरूप कहा गया। दोनों ही नय भिन्न २ स्वरूपवाले हैं। जब एक साथ दोनों नय मिल जाते हैं तभी वह प्रमाणका स्वरूप कहलाता है। उसी प्रमाणका लक्षण कहा जाता है।

प्रमाणका स्वरूप—

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः ।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥६६५॥

अर्थ—विधिपूर्वक प्रतिषेध होता है। प्रतिषेध पूर्वक विधि होती है। विधि और प्रतिषेध इन दोनोंकी जो मैत्री है वही प्रमाण कहलाता है अथवा स्व परको जाननेवाला जो ज्ञान है वही प्रमाण कहलाता है।

स्पष्टीकरण—

अयमर्थोर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य ।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः ॥६६६॥

अर्थ—ऊपर जो कहा गया है उसका खुलासा इस प्रकार है। अर्थाकार—पदार्थाकार परिणमन करनेका नाम ही अर्थ विकल्प है, यही ज्ञानका लक्षण है। वह ज्ञान जब एक विकल्प होता है अर्थात् एक अंशको विषय करता है तब वह नयाधीन—नयात्मक ज्ञान कहलाता है, और वही ज्ञान जब उभय विकल्प होता है अर्थात पदार्थके दोनों अंशोंको विषय करता है तब वह प्रमाणरूप ज्ञान कहलाता है। भावार्थ—पदार्थमें सामान्य और विशेष ऐसी दो प्रकार की प्रतीति होती है। 'यह वही है, ऐसी अनुगत प्रतीतिको सामान्य प्रतीति कहते हैं, तथा विशेष २ पर्यायात्मक प्रतीतिको विशेष प्रतीति कहते हैं। सामान्य विशेष प्रतीति पदार्थमें तभी होसकती है जब कि वह सामान्य

विशेषात्मक हो। इसलिये सिद्ध होता है कि पदार्थ उभयात्मक है। (सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः) ऐसा सूत्र भी है, अर्थात् पदार्थके सामान्य अंशको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है। उसके विशेषांशको विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। दोनों अंशोंको युगपत् (एक साथ) विषय करनेवाला प्रमाण ज्ञान है। उभयात्मक पदार्थ ही प्रमाणका विषय है।

शङ्काकार—

ननु चास्त्येकविकल्पोऽप्यविरुद्धोभयविकल्प एवास्ति।
कथमिव तदेकसमये विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः स्यात् ॥६६७॥
अथ चेदस्ति विकल्पो क्रमेण युगपद्वा वलाद्वाच्यः।
अथ चेत् क्रमेण नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमितिदोषः ॥६६८॥
युगपच्चेदथ न मिथो विरोधिनोर्यौगपद्यं स्यात्।
दृष्टिविरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोर्द्वयोरिति चेत् ॥ ६६९ ॥

अर्थ—एक विकल्प भी अविरुद्ध उभय (दो) विकल्पवाला हो सक्ता है। अर्थात् अविरोधी कई धर्म एक साथ रह सक्ते हैं। परन्तु एक समयमें विरुद्ध दो भावोंका विकल्प किस प्रकार होसक्ता है? यदि एक साथ विरुद्ध दो विकल्प होसक्ते हैं तो क्रमसे हो सक्ते हैं या एक साथ उन दोनोंका हट पूर्वक प्रयोग किया जासक्ता है? यदि कहा जाय कि विरोधी दो धर्म क्रमसे होसक्ते हैं तो वे क्रमसे होनेवाले धर्म नय ही कहे जायँगे, प्रमाण वे नियमसे नहीं कहे जासक्ते, यह एक बड़ा दोष उपस्थित होगा। यदि कहा जाय कि वे दोनों धर्म एक साथ होसक्ते हैं तो यह बात बनती नहीं, कारण विरोधी धर्म एक साथ दो रह नहीं सक्ते। दो विरोधी धर्म एक साथ रहें इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध आता है। जैसे प्रकाश और अन्धकार दोनों ही विरोधी हैं। वे क्या एक साथ रहते हुए कभी किसीने देखे हैं?

विरोधी धर्म भी एक साथ रह सक्ते हैं—

न यतो युक्तिविशेषाद्युगपद्वृत्तिर्विरोधिनामस्ति।
सदसदनेकेषामिह भावाभावध्रुवाध्रुवाणाञ्च ॥ ६७० ॥

अर्थ—ऊपर की हुई शङ्का ठीक नहीं है, कारण युक्ति विशेषसे विरोधी धर्मोंकी भी एक साथ वृत्ति रह सक्ती है। सत् असत्, भाव अभाव, नित्य अनित्य, भेद अभेद, एक अनेक आदि अनेक धर्मोंकी एक पदार्थमें एक साथ वृत्ति रहती है। भावार्थ—यद्यपि स्थूल दृष्टिसे सत् असत् आदि धर्म विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे सापेक्ष विचार करनेपर जो विरोधी धर्म हैं वे भी अविरोधी प्रतीत होने लगते हैं। अथवा यदि वे विरोधी

भी बने रहें तो भी पदार्थका यह स्वभाव है कि वह परस्पर विरुद्ध धर्मोंको भी एक समयमें धारण करे, इसका कारण द्रव्य और पर्याय है । द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ सदा सत् रूप है, भावरूप है, नित्य है, अभिन्न है, एक है, परन्तु वही पदार्थ पर्यायदृष्टिसे असत् है, अभावरूप है, अनित्य है, भिन्न है, अनेक है । ग्रन्थान्तरमें कहा भी है—'समुदेति विलय मृच्छति भावो नियमेन पर्ययनयेन, नोदेति नो विनश्यति द्रव्यनयालिङ्गितो नित्यम्, अर्थात् पदार्थ पर्यायदृष्टिसे उत्पन्न भी होता है तथा नष्ट भी होता रहता है, परन्तु द्रव्य दृष्टिसे न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है । स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी कहा है—"सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः । भेदाभेदविवाक्षायामसाधारणहेतुवत्" ॥ अर्थात् जिस प्रकार असाधारण हेतु पक्षधर्मादि भेदोंकी अपेक्षासे अनेक है और हेतु सामान्यकी अपेक्षासे वही हेतु एक है । उसी प्रकार पदार्थ भी द्रव्यभेदकी अपेक्षासे भिन्न है—अनेक है, परन्तु वही पदार्थ सत् सामान्यकी अपेक्षासे अभिन्न—एक है । इसलिये पदार्थ कथंचित् भेदाभेद विवक्षासे एक अनेक भिन्न अभिन्न आदि धर्मोंवाला एक ही समयमें ठहरता है । विना अपेक्षादृष्टिसे उन्हीं दो धर्मोंमें विरोध दीखता है, अपेक्षादृष्टिका परिज्ञान करनेसे उन्हींमें अविरोध दीखने लगता है।

अयमर्थो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानम् ।
यदि वा सदभिज्ञानं यथा हि सोयं बलादृयामर्शि ॥६७१॥

अर्थ—ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ है कि जीवादि पदार्थोंमें व्यवहार और निश्चयके विचारपूर्वक जो ज्ञान है वही प्रमाण ज्ञान है । अथवा पदार्थमें जो प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाण ज्ञान है जैसे—यह वही है, इसप्रकारका ज्ञान एक वस्तुकी सामान्य विशेष दोनों अवस्थाओंको एक समयमें ग्रहण करता है ।

दृष्टान्त—

सोयं जीवविशेषो यः सामान्येन सदिति वस्तुमयः ।
संस्कारस्य वशादिह सामान्यविशेषजं भवेज्ज्ञानम् ॥६७२॥

अर्थ—वही यह जीव विशेष है जो सामान्यतामे सन्मात्र—वस्तुरूप था । उस सत्पदार्थमें संस्कारके वशसे सामान्यविशेषात्मक ज्ञान हो जाता है । **भावार्थ**—सामान्य दृष्टिसे वस्तु सन्मात्र प्रतीत होती है । विशेष दृष्टिसे वही विशेष पदार्थरूप प्रतीत होती है । जो जीव पदार्थ सन्मात्र प्रतीत होता है । वही जीवरूप (विशेष) भी प्रतीत होता है । जिस समय सन्मात्र और जीवरूप विशेषका बोध एक साथ होता है वही सामान्य विशेषको विषय करनेवाला प्रमाण ज्ञान है ।

अस्त्युपयोगि ज्ञानं सामान्यविशेषयोः समं सम्यक्।
× आदर्शस्थानीयात् तस्य प्रतिबिम्बमात्रतोऽन्यस्य ॥६७३॥

अर्थ—एक साथ सामान्यविशेषका उपयोगात्मक ज्ञान भले प्रकार हो सक्ता है। जैसे–दर्पणसे उसमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब यद्यपि (कथंचित्) भिन्न है। तथापि उस प्रतिबिम्बका और दर्पणका एक साथ बोध होता है। भावार्थ—जो अनेक प्रकारका चित्र ज्ञान होता है वह भी अनेकोंका युगपत् ही होता है इसलिये युगपत् सामान्य विशेषका उपयोगी ज्ञान होता है यह सर्व सम्मत है।

शंकाकार—

ननु चैवं नययुग्मं व्यस्तं नय एव न प्रमाणं स्यात्।
तदिह समस्तं योगात् प्रमाणमिति केवलं न नयः ॥ ६७४ ॥

अर्थ—दोनों ही नय जब भिन्न २ प्रयुक्त किये जाते हैं तब तो वे नय हीं हैं, प्रमाण नहीं हैं और वे ही दोनों नय जब मिलाकर एक साथ प्रयोगमें लाये जाते हैं तब वह केवल प्रमाण कहलाता है, नय नहीं कहलाता है? भावार्थ—या तो नयकी सिद्धि होगी या प्रमाणकी सिद्धि होगी। नय प्रमाण दोनोंकी सिद्धि नहीं होसक्ती है?

प्रमाण नयोंसे भिन्न है—

तन्न यतो नययोगादतिरिक्तरसान्तरं प्रमाणमिदम्।
लक्षणविषयोदाहृतिहेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात् ॥ ६७५ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है, क्योंकि नयोंके योगसे प्रमाण भिन्न ही वस्तु है, प्रमाणका लक्षण, विषय, उदाहरण हेतु, फल, नाम, भेद, आदि स्वरूप नयोंसे जुदा ही है। उसीको नीचे स्पष्ट करते हैं।

तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वस्वग्राहकं प्रमाणमिति।
विषयो वस्तुसमस्तं निरंशदेशादिभूरुदाहरणम् ॥६७६ ॥

अर्थ—प्रमाणका लक्षण सम्पूर्णपदार्थको ग्रहण करना। प्रमाणका विषय–समस्त वस्तु निरंशदेशादिक पृथ्वी उसका उदाहरण है।

तथा—

हेतुस्तत्त्वबुभुत्सोः संदिग्धस्याथवा च बालस्य।
सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवद्वेतुकामस्य ॥ ६७७ ॥

अर्थ—तत्त्वके जाननेकी इच्छा रखनेवाला जो कोई संदिग्ध पुरुष अथवा मूर्ख पुरुष है उसकी एक साथ अनेक द्रव्यको हाथमें रक्खे हुए आमलेके समान जाननेकी इच्छाका होना ही प्रमाणका कारण है।

× यह श्लोकका अर्ध भाग छपी हुई प्रतिमें नहीं है किन्तु लिखी हुईसे लिया गया है।

तथा—

फलमस्यानुभवः स्यात्समक्षमिव सर्ववस्तुजातस्य ।
आख्या प्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ॥६७८॥

अर्थ—सम्पूर्ण वस्तुमात्रका प्रत्यक्षके समान अनुभव होना ही प्रमाणका फल है। प्रमाणका नाम प्रमाण है। प्रत्यक्ष और परोक्ष उसके दो भेद हैं। **भावार्थ**—उपर्युक्त कथनसे प्रमाण और नयमें अन्तर सिद्ध होगया। प्रमाण वस्तुके सर्व धर्मोंको विषय करता है। नय वस्तुके एक देशको विषय करता है। इसी बातको सर्वार्थसिद्धिकारने कहा है कि "सकलादेशः प्रमाणाधीनम्, विकलादेशो नयाधीनम्" इसी प्रकार प्रमाणका लक्षण जुदा है। एक गुणके द्वारा समस्त वस्तुके कथनको प्रमाण कहते हैं, प्रमाणसे जाने हुए पदार्थके परिणाम विशेषके कथनको नय कहते हैं। प्रमाणका फल समस्त वस्तुबोध है। नयका फल वस्तुका एकदेश बोध है। शब्द भेद भी है। प्रमाण और नय ये दो नाम भी जुदे २ हैं। प्रमाणके प्रत्यक्ष परोक्ष आदि भेद हैं। नयके द्रव्य, पर्याय आदि भेद हैं। इसलिये प्रमाण और नय दोनोंका ही स्वरूप जुदा २ है। उनमेंसे किसी एकका लोप करना सर्व लोपके प्रसंगका हेतु है। नयके अभावमें प्रमाण व्यवस्था नहीं बन सक्ती है, और प्रमाणके अभावमें नय व्यवस्था भी नहीं बन सक्ती है।

प्रमाण नयमें विषय भेदसे भेद है—

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात् ।
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः ॥ ६७९ ॥

अर्थ—नय भी ज्ञानविशेष है, और प्रमाण भी ज्ञानविशेष है। दोनोंमें विषय विशेषकी अपेक्षासे ही भेद है, वास्तवमें ज्ञानकी अपेक्षासे दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है।

भावार्थ—नय और प्रमाण दोनों ही ज्ञानात्मक हैं परन्तु दोनोंका विषय जुदा२ है इसी लिये उनमें भेद है। अब विषयभेदको ही प्रकट किया जाता है—

स यथा विषयविशेषो द्रव्यैकांशो नयस्य योन्यतमः ।
सोप्यपरस्तदपर इह निखिलं विषयः प्रमाणजातस्य ॥६८०॥

अर्थ—प्रमाण और नयमें विषयभेद इस प्रकार है—द्रव्यके अनन्त गुणोंमेंसे कोई सा विवक्षित अंश नयका विषय है। वह अंश तथा और भी सब अंश अर्थात् अनन्त गुणात्मक समस्त ही वस्तु प्रमाणका विषय है।

आशंका और परिहार—

यदनेकनयसमूहे संग्रहकरणादनेकधर्मत्वम् ।
तत्सदपि न सदिव यतस्तदनेकत्वं विरुद्धधर्ममयम ॥ ६८१ ॥

यदनेकांशग्राहकमिह प्रमाणं न प्रत्यनीकतया ।
प्रत्युत मैत्रीभावादिति नयभेदाद्दः प्रभिन्नं स्यात् ॥ ६८२ ॥

अर्थ—कोई ऐसी आशंका करते हैं कि जब वस्तुके एक अंशको विषय करनेवाला नय है तो अनेक नयोंका समूह होनेपर उससे ही अनेक धर्मता प्रमाणमें आजायगी, अर्थात् प्रमाण स्वतन्त्र कोई ज्ञान विशेष न माना जाय, अनेक नयोंके समूहको ही प्रमाण कहा जाय तो क्या हानि है ? आचार्य उत्तर देते हैं कि यह आशंका किसी प्रकार ठीक सी मालूम पड़ती है तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक नयोंके संग्रहसे जो अनेक धर्मोंका संग्रह होगा वह विरुद्ध होगा। कारण नय सभी एक दूसरेसे प्रतिपक्ष धर्मोंका विवेचन करते हैं। प्रमाण जो अनेक अंशोंका ग्रहण करता है सो वह विरुद्ध रीतिसे नहीं करता है। किन्तु परस्पर मैत्रीभाव पूर्वक ही उन धर्मोंको ग्रहण करता है। इसलिये नयभेदसे प्रमाण भिन्न ही है। **भावार्थ**—प्रत्येक नय एक२ धर्मको विरुद्ध रीतिसे ग्रहण करता है, परन्तु प्रमाण वस्तुके सर्वांशोंको अविरुद्धतामे ग्रहण करता है। इसका कारण यह है कि सब अंशोंको विषय करनेवाला एक ही ज्ञान है। भिन्न २ ज्ञान ही प्रत्येक अंशको विवक्षतासे ग्रहण कर सक्ते हैं। जैसे एक ज्ञान रूपको ही जानता है, दूसरा रसको जानता है, तीसरा गन्धको जानता है, चौथा स्पर्शको जानता है। ये चारों ही ज्ञान परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि विरुद्ध विषयोंको विषय करते हैं, परन्तु रूप, रस, गन्ध स्पर्श, चारोंका समुदायात्मक जो एक ज्ञान होगा वह अविरुद्ध ही होगा। यही दृष्टान्त प्रमाण नयमें सुघटित करलेना चाहिये। तथा पदार्थका नित्यांश उसके अनित्यांशका विरोधी है, उसी प्रकार अनित्यांश उसके नित्यांशका विरोधी है परन्तु दोनों मिलकर ही पदार्थस्वरूपके साधक हैं। इसका कारण यही है कि प्रत्येक पक्षका स्वतन्त्र ज्ञान द्वितीय पक्षका विरोधी है परन्तु उभय पक्षका समुदायात्मक ज्ञान परस्पर विरुद्ध होता हुआ भी अविरुद्ध है।

शंकाकार—

ननु युगपदुच्यमानं नययुग्मं तद्यथास्ति नास्तीति ।
एको भङ्गः कथमयमेकांशग्राहको नयो नान्यत् ॥ ६८३ ॥
अपि चास्ति न चास्तीति सममेकोक्त्या प्रमाणनाशः स्यात्
अथ च क्रमेण यदि वा स्वस्य रिपुः स्वयमहो स्वनाशाय ॥ ६८४ ॥
अथवाऽवक्तव्यमयो वक्तुमशक्यात्समं स चेद्भङ्गः ।
पूर्वापरबाधायाः कुतः प्रमाणात्प्रमाणमिह सिद्ध्येत् ॥ ६८५ ॥
इदमपि वक्तुमयुक्तं वक्ता नय एव न प्रमाणमिह ।
मूलविनाशाय यतोऽवक्तरि किल चेदवाच्यतादोषः ॥ ६८६ ॥

अर्थ–'स्यात् अस्ति नास्ति' यह एक साथ कहा हुआ नययुग्म एक भङ्ग कहलाता है। यह भंग एक अंशका ग्रहण करनेवाला नय कैसे कहा जा सक्ता है, इसमें 'अस्ति नास्ति' ऐसे दो अंश आचुके हैं इसलिये यह प्रमाण क्यों नहीं कहा जाता है? दूसरी बात यह भी है कि 'अस्ति नास्ति' ये एक साथ कहे जाते हैं तो फिर प्रमाणका नाश ही हो जायगा। कारण अस्ति नास्तिको एक साथ कहनेवाला एक भंग ही है उसीसे कार्य चल जाता है फिर प्रमाणका लोप ही समझना चाहिये, अथवा यदि यह कहा जाय कि अस्ति नास्ति क्रमसे होते हैं तो यह कहना अपने नाशके लिये स्वयं अपना शत्रु है। कारण क्रमसे होनेवाला भंग दूसरा ही है, अथवा यदि यह कहा जाय कि अस्ति नास्ति एक साथ कहा नहीं जा सक्ता इसलिये वह अवक्तव्यमय भंग है तो ऐसा माननेमें पूर्वापर वाधा आती है। किस प्रमाणसे किस प्रमाणकी सिद्धि हो सक्ती है? अर्थात् यदि एक साथ कथन अवक्तव्य है तो प्रमाणकी सिद्धि करनेवाला कोई प्रमाण नहीं रहेगा क्योंकि प्रमाण तो अवक्तव्य हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि बोलनेवाला नय ही होता है, प्रमाण नहीं, तो ऐसा कथन भी मूलका विघात करनेवाला है क्योंकि प्रमाणको अवक्ता (नहीं बोलनेवाला) मान लेने पर अवाच्यताका दोष आता है?

उत्तर—

नैवं यतः प्रमाणं भंगध्वंसादभंगबोधवपुः।
भङ्गात्मको नय इति यावानिह तदंशधर्मत्वात् ॥६८७॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है। क्योंकि प्रमाण भंगज्ञानमय नहीं है किन्तु अभंगज्ञानमय है, भंगज्ञानमय नय होता है, कारण जितना भी नय विभाग है सभी वस्तुके अंशधर्मको विषय करता है। इसलिये—

× स यथास्ति च नास्तीति च क्रमेण युगपच्च वानयोर्भङ्गः।
अपि वाऽवक्तव्यमिदं नयो विकल्पानतिक्रमादेव ॥६८८॥

अर्थ–'स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति' इनका क्रमसे होनेवाला अथवा युगपत् होनेवाला भंग, भंग ही है, अथवा अवक्तव्यरूप भी भंग ही है। इन सब भंगोंमें विकल्पका उल्लंघन नहीं है इसलिये ये सभी भंग नय रूप हैं। **भावार्थ**–स्यादस्ति स्यान्नास्ति ये दोनों क्रमसे भिन्न २ कहे जायँ तो पहला दूसरा भंग होता है यदि इन दोनोंका क्रमसे एक साथ प्रयोग किया जाय तो तीसरा भंग 'स्यादस्ति नास्ति' होता है। यदि इन दोनोंका अक्रमसे एक साथ प्रयोग किया जाय तो 'अवक्तव्य' चौथा भंग होता है। इसलिये ये सब नयके ही भेद हैं और वे सब अं-

× मूल पुस्तकमें 'स्वयोस्ति' ऐसा पाठ है, उसका अर्थ आत्मा है ऐसा होता है परन्तु वह अर्थ यहां पर पूर्वापर सम्बन्ध न होनेसे ठीक नहीं जँचता इसलिये संशोधित पुस्तकका उपर्युक्त 'स यथास्ति' पाठ लिखा गया है।

शात्मक हैं। प्रमाणरूप—अनेक धर्मात्मक नहीं कहे जासक्ते हैं। इसी बातको पुनः स्पष्ट किया जाता है—

तत्रास्ति च नास्ति समं भंगस्यास्यैकधर्मता नियमात् ।
न पुनः प्रमाणमिव किल विरुद्धधर्मद्वयाधिरूढत्वम् ॥६८९॥

अर्थ—उन भंगोंमें 'स्यादस्ति नास्ति यह एक साथ बोला हुआ भंग नियमसे एक धर्मवाला है। वह प्रमाणके समान नहीं कहा जा सक्ता क्योंकि प्रमाण एक ही समयमें दो विरुद्ध धर्मोंका मैत्रीभावसे प्रतिपादन करता है। उस प्रकार यह भंग विरुद्ध दो धर्मोंका प्रतिपादन नहीं करता है किन्तु पहले दूसरे भंगकी मिली हुई तीसरी ही अवस्थाका प्रतिपादन करता है इसलिये वह ज्ञान भी अंशरूप ही है।

अयमर्थश्चार्थवशादथ च विवक्षावशात्तदंशत्वम् ।
युगपदिदं कथ्यमानं क्रमाज्ज्ञेयं तथापि तत्स यथा ॥६९०॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका यह आशय है कि प्रयोजनवश अथवा विवक्षावश युगपत् क्रमसे कहा हुआ जो भंग है वह अंशरूप है इसलिये वह नय ही है।

अस्ति स्वरूपसिद्धेर्नास्ति च पररूपासिद्ध्यभावाच्च ।
अपरस्योभयरूपादितस्ततः कथितमस्ति नास्तीति ॥ ६९१ ॥

अर्थ—वस्तुमें निजरूपकी अपेक्षासे अस्तित्व है, यह प्रथम भंग है। उसमें पररूपकी अपेक्षासे नास्तित्व है, यह द्वितीय भंग है। तथा स्वरूपकी अपेक्षासे अस्तित्व पररूपकी अपेक्षासे नास्तित्व ऐसा तृतीय भंग उभयरूपकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति रूप कहा गया है। अर्थात् (१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति (३) स्यादस्तिनास्ति। ये तीन भंग स्वरूप, पररूप, स्वरूप पररूपकी, अपेक्षासे क्रमसे जान लेने चाहिये। प्रमाणका स्वरूप इन भंगोंसे जुदा ही है—

उक्तं प्रमाणदर्शनमस्ति स योयं हि नास्तिमानर्थः ।
भवतीदमुदाहरणं न कथञ्चित्तं प्रमाणतोऽन्यत्र ॥ ६९२ ॥

अर्थ—प्रमाणका जो स्वरूप कहा गया है वह नयोंसे जुदा ही है वह इस प्रकार है—जो पदार्थ अस्तिरूप है वही पदार्थ नास्तिरूप है। तृतीय भंगमें स्वरूपसे अस्तित्व और पररूपसे नास्तित्व क्रमसे कहा जाता है प्रमाणमें दोनों धर्मोंका प्रतिपादन समकालमें प्रत्यभिज्ञानरूपसे कहा जाता है। जो अस्ति रूप है वही नास्ति रूप है, यह उदाहरण प्रमाणको छोड़कर अन्यत्र किसी प्रकार भी नहीं मिल सक्ता है, अर्थात् नयों द्वारा ऐसा विवेचन नहीं किया जा सक्ता। नयोंसे युगपत् ऐसा विवेचन क्यों नहीं हो सक्ता? उसे ही स्पष्ट करते हैं—

तद्भिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् समं नयस्य यतः।
अपि तुर्यो नयभंगस्तत्त्वावक्तव्यतां श्रितस्तस्मात् ॥ ६९३ ॥

अर्थ—उसका कारण यह है कि नय एक साथ दो धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है। इसलिये एक साथ दो धर्मोंके कहनेकी विवक्षामें 'अवक्तव्य' नामक चौथा भंग होता है। यह भंग भी एक अंशात्मक है। जो नहीं बोला जा सके उसे अवक्तव्य कहते हैं एक समयमें एक ही धर्मका विवेचन हो सक्ता है, दो का नहीं।

परन्तु—

न पुनर्वक्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य।
क्रमवर्ती केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वदिह यस्मात् ॥ ६९४ ॥

अर्थ—परन्तु प्रमाणके विषयभूत दो धर्म एक साथ कहे नहीं जा सके ऐसा नहीं है, किन्तु एक साथ दोनों धर्म कहे जाते हैं। क्रमवर्ती केवल नय है, नयके समान प्रमाण क्रमवर्ती नहीं है, अर्थात् प्रमाण चतुर्थ नयके समान अवक्तव्य भी नहीं है और तृतीय नयके समान वह क्रमसे भी दो धर्मोंका प्रतिपादन नहीं करता है, किन्तु दोनों धर्मोंका समकाल ही प्रतिपादन करता है। इसलिये नय युग्मसे प्रमाण भिन्न ही है।

यत्किल पुनः प्रमाणं वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत्।
सदसदनेकैकमथो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति ॥ ६९५ ॥

अर्थ—वह प्रमाण निश्चयसे वस्तु मात्रका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है, अथवा सत् असत् एक अनेक, नित्य अनित्य, इत्यादि अनेक धर्मोंका युगपत् प्रतिपादन करनेमें प्रमाण ही समर्थ है।

प्रमाणके भेद—

अथ तद्द्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षञ्च।
असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम् ॥ ६९६ ॥

अर्थ—प्रमाणरूप ज्ञानके दो भेद हैं, (१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष। जो ज्ञान किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता वह प्रत्यक्ष है, और जो ज्ञान दूसरोंकी सहायताकी अपेक्षा रखता है वह परोक्ष है। भावार्थ—जो ज्ञान विना इन्द्रिय, मन आलोक आदि सहायताके केवल आत्मासे होता है वह प्रत्यक्ष है, और जो ज्ञान इन्द्रियादिकी सहायतासे होता है वह परोक्ष है।

प्रत्यक्षके भेद—

प्रत्यक्षं द्विविधं तत्सकलप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम्।
क्षायोपशमिकमपरं देशप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि च ॥६९७॥

अर्थ—प्रत्यक्ष दो प्रकारका है (१) सकल प्रत्यक्ष (२) विकल प्रत्यक्ष। जो अक्षय—अविनाशी ज्ञान है वह सकल प्रत्यक्ष है। दूसरा विकल प्रत्यक्ष अर्थात् देश प्रत्यक्ष कर्मोंके क्षयोपशमसे होता है। देश प्रत्यक्ष कर्मोंके क्षयसे नहीं होता है, तथा यह विनाशी भी है।

सकल प्रत्यक्षका स्वरूप—

अयमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात्।
प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षातीतं सुखं तदक्षयिकम् ॥ ६९८ ॥

अर्थ—स्पष्ट अर्थ यह है कि जो ज्ञान समस्त कर्मोंके क्षयसे प्रकट होता है तथा जो साक्षात्—आत्म मात्र सापेक्ष होता है वह सकल प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान क्षायिक है, इन्द्रियोंसे रहित है, आत्मीक सुख स्वरूप है, तथा अविनश्वर है। **भावार्थ**—आवरण और इन्द्रियों सहित जो ज्ञान होता है वह पूर्ण नहीं होसक्ता, कारण जितने अंशमें उस ज्ञानके साथ आवरण लगे हुए हैं उतने अंशमें वह ज्ञान छिपा हुआ ही रहेगा। जैसा कि हम लोगोंका ज्ञान आवरण विशिष्ट है इसलिये वह स्वल्प है। इसी प्रकार इन्द्रियों सहित ज्ञान भी पूर्ण नहीं होसक्ता है। क्योंकि इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान होता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादाको लिये हुए होता है, साथ ही वह क्रमसे होता है, इसलिये जो इन्द्रियोंसे रहित तथा आवरणसे रहित ज्ञान है वही पूर्ण ज्ञान है। वह ज्ञान फिर कभी नष्ट भी नहीं होसक्ता है और उसी परिपूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञानके साथ अनन्त अक्षातीत आत्मीक सुख गुण भी प्रकट होजाता है।

देश प्रत्यक्षका स्वरूप—

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनःपर्ययं च यज्ज्ञानम्।
देशं नोइन्द्रियमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात् ॥ ६९९ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान देश प्रत्यक्ष कहलाते हैं। देश प्रत्यक्ष इन्हें क्यों कहते हैं। देश तो इसलिये कहते हैं कि ये मनसे उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्ष इसलिये कहलाते हैं कि ये इतर इन्द्रियोंकी सहायतासे निरपेक्ष हैं। **भावार्थ**—अवधि और मनःपर्यय ये दो ज्ञान स्पर्शनादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होते हैं, केवल मनसे* उत्पन्न होते हैं इसलिये ये देश प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

---

* गोमट्टसारके " इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि णिखेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण " इस गाथाके अनुसार ऋजुमति मनःपर्यय इन्द्रिय नोइन्द्रियकी सहायतासे होता है परन्तु विपुलमति मनःपर्यय और अवधिज्ञान दोनों ही इन्द्रिय मनकी सहायतासे नहीं होते हैं। ऋजुमति ईहामतिज्ञानपूर्वक (परम्परा) होता है। इसलिये उसमें इन्द्रिय मनकी सापेक्षता समझी गई है। पञ्चाध्यायीकारने अवधि मनःपर्यय दोनोंमें ही मनकी सापेक्षता बतलाई है। यह सब सापेक्षता बाह्यापेक्षासे है, साक्षात् तो आत्ममात्र सापेक्ष ही दोनों हैं। तथापि चिन्तनीय है।

परोक्षका स्वरूप—

आभिनिवोधिकबोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात्।
भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुतं ज्ञानम्॥७००॥

अर्थ—आभिनिबोधिक बोध अर्थात् मतिज्ञान पदार्थ और इन्द्रियोंके सन्निकर्षसे होता है इसलिये वह नियमसे परोक्ष है, और मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, वह भी परोक्ष है। **भावार्थ**—स्थूल वर्तमान योग्य क्षेत्रमें ठहरे हुए पदार्थको अभिमुख कहते हैं, और जो विषय जिस इन्द्रियका नियत है उसे नियमित कहते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह स्थूल पदार्थका होता है, सूक्ष्म परमाणु आदिका नहीं होता है। साथ ही योग्य देशमें (जितनी निकटता या दूरता आवश्यक है) सामने स्थित पदार्थका ज्ञान होता है। और चक्षुका रूप विषय नियत है, रसनाका रस नियत है ऐसे ही पांचों इन्द्रियोंका नियत विषय है। इनके सिवा जो मनके द्वारा बोध होता है वह सब मतिज्ञान कहलाता है। अभिमुख नियमित बोधको ही आभिनिवोधिक बोध कहा गया है। यह नाम इन्द्रियोंकी मुख्यतासे कहा गया है। मतिज्ञान परोक्ष है श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तथा मनकी अपेक्षा मुख्यतासे रखता है इसलिये वह भी परोक्ष है। इतना विशेष है कि जो मतिज्ञानको विषय विषयीके सन्निकर्ष सम्बन्धसे उत्पन्न बतलाया गया है उसका आशय यह है कि स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र ये चार इन्द्रियां तो पदार्थका सम्बन्ध कर बोध करती हैं, परन्तु चक्षु और मन ये दो इन्द्रियां पदार्थको दूरसे ही जानती हैं। न तो इनके पास पदार्थ ही आता है और न ये ही पदार्थके पास पहुंचती हैं। मनसे हजारों कोशोंमें ठहरे हुए पदार्थोंका बोध होता है। इसलिये वह तो पदार्थका विना सम्बन्ध किये ही ज्ञान करता है यह निर्णीत है। चक्षु भी यदि सम्बन्धसे पदार्थका बोध करता तो नेत्रमें लगे हुए अंजनका बोध स्पष्ट होता, परन्तु चक्षुसे अति निकटका पदार्थ नहीं देखा जाता है। पुस्तकको यदि चक्षुके अति निकट रख दिया जाय तो चक्षु उसे नहीं देखता है। दूसरी बात यह भी है कि नेत्रको खोलते ही सामनेके वृक्ष चन्द्रमा आदि सबोंको वह एक साथ ही देख लेता है, यदि वह पदार्थोंका सम्बन्ध करके ही उनका बोध करता तो जैसे स्पर्शन इन्द्रिय जैसा २ स्पर्श करती है वैसा २ ही क्रमसे बोध करती है उसी प्रकार चक्षु भी पहले पासके पदार्थोंको देखता, पीछे दूरवर्त्ती पदार्थोंको क्रमसे जानता। एक साथ सबोंका बोध सम्बन्ध माननेसे कदापि नहीं बन सक्ता है। तीसरी बात यह है कि यदि पदार्थोंके सम्बन्धसे ही चक्षु पदार्थोंका बोध करता तो एक बड़े मोटे काचके भीतर रक्खे हुए पदार्थोंको चक्षु नहीं देख सक्ता, परन्तु कितना ही मोटा कांच क्यों न हो उसके भीतरके पदार्थोंका चक्षु बोध कर लेता है। यदि इसके विपक्षमें यह कहा जाय कि शब्द जिस प्रकार भित्तिका

प्रतिबन्ध रहते हुए भी दूसरी ओर ठहरे हुए मनुष्यके कानमें चला जाता है उसी प्रकार चक्षु भी कांचके भीतर अपनी किरणें डाल देता है। परन्तु सूक्ष्म विचार करनेपर यह विपक्ष कथन खण्डित हो जाता है। शब्द विना खुला हुआ प्रदेश पाये बाहर जाता ही नहीं है। मकानके भीतर रहकर हम भित्तिका प्रतिबन्ध समझते हैं परन्तु उसमें शब्दके बाहर निकलनेके बहुतसे मार्ग खुले रहते हैं जैसे—किवाड़ोंकी दरारें, खिड़कियोंकी संदें झरोखे आदि। यदि सर्वथा बन्द प्रदेश हो तो शब्द भी बाहर नहीं जाता है। पानीमें डूब जानेपर यदि बाहरसे कोई मनुष्य कितना ही जोरसे क्यों न चिल्लावे परन्तु पानीमें डूबा हुआ मनुष्य उसका शब्द नहीं सुनता है यह अनुभव की हुई बात है। यदि शब्द प्रतिबन्ध रहनेपर भी बाहर चला जाय तो भित्तिके भीतर धीरे २ बात करनेपर क्यों नहीं दूसरी ओर सुनाई पड़ती है। इसका कारण यही है वह शब्द वर्गणा वहींपर दीवालसे टकराकर रह जाती हैं। इसलिये चक्षु पदार्थसे सम्बन्ध नहीं करता है किन्तु दूरसे ही उसे जानता है। मन भी ऐसा ही है। इन दोनोंके साथ संबंधका अर्थ योग्य देश प्राप्त करना चाहिये। *

चारों ही ज्ञान परोक्ष हैं—

छद्मस्थावस्थायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम् ।
यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षमिववाच्यम् ॥ ७०१ ॥

अर्थ—छद्मस्थ-अल्पज्ञ अवस्थामें जितने भी ज्ञान हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय चारों ही आवरण और इन्द्रियोंकी सहायताकी अपेक्षा रखते हैं। इसलिये इन चारों ही ज्ञानोंको परोक्षके समान ही कहना चाहिये। अर्थात् मतिश्रुत तो परोक्ष कहे ही गये हैं परन्तु अवधि मनःपर्यय भी इन्द्रिय आवरणकी अपेक्षा रखते हैं इसलिये वे भी परोक्ष तुल्य ही हैं।

अवधिमनःपर्ययविद्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात् ।
केवलमिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वर्थात् ॥ ७०२ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष कहे गये हैं, परन्तु इनमें यह प्रत्यक्षता विवक्षावश केवल उपचारसे ही घटती है। वास्तवमें ये प्रत्यक्ष नहीं हैं।

तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात् ।
अथ तत्पूर्वं श्रुतमपि न तथावधिचित्तपर्ययं ज्ञानम् ॥ ७०३ ॥

---

* नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शनवाले चक्षुको प्राप्यकारी अर्थात् पदार्थोंके पास जानेवाला बतलाते हैं परन्तु ऐसा उनका मानना उपर्युक्त युक्तियोंसे सर्वथा बाधित है। चक्षुको प्राप्यकारी माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं जिनका विस्तृत वर्णन प्रमेयकमल मार्तण्ड-में किया गया है।

अर्थ—उपचारका कारण भी यह है कि जिस प्रकार मतिज्ञान नियमसे इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है, और उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान भी इन्द्रियजन्य है। उस प्रकार अवधि और मनः पर्यय ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है इसीलिये अवधि और मनःपर्यय उपचारसे प्रत्यक्ष कहे जाते हैं।

यत्स्यादवग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम्।
आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा तथा नैव चान्तिमं द्वैतम्॥ ७०४॥

अर्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय धारणाके पराधीन जिस प्रकार आदिके दो ज्ञान होते हैं उस प्रकार अन्तके दो नहीं होते।

दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात्।
केवलमेव मनःसादवधिमनः पर्ययद्वयं ज्ञानम्॥ ७०५॥

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान केवल मनकी सहायतासे दूरवर्त्ती पदार्थोंको कौतुकके समान प्रत्यक्ष जान लेते हैं।

मतिश्रुत भी मुख्य प्रत्यक्षके समान प्रत्यक्ष हैं—

अपि किंवाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत्॥ ७०६॥

अर्थ—विशेष बात यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये आदिके दो ज्ञान भी स्वात्मानुभूतिके समय प्रत्यक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष हो जाते हैं, और समयमें नहीं। **भावार्थ**—केवल स्वात्मानुभवके समय जो ज्ञान होता है वह यद्यपि मतिज्ञान है तो भी वह वैसा ही प्रत्यक्ष है जैसा कि आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। किन्तु—

तदिह द्वैतमिदं चित्स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे।
व्योमाद्यवगमकाले भवति परोक्षं न समक्षमिह नियमात्॥७०७॥

अर्थ—वे ही मतिज्ञान श्रुतज्ञान जब स्पर्शादि इन्द्रियोंके विषयोंका (मानसिक) बोध करने लगते हैं तब वे नियमसे परोक्ष हैं, प्रत्यक्ष नहीं।

शङ्काकार—

ननु चाद्ये हि परोक्षे कथमिव सूत्रे कृतः समुद्देशः।
अपि तल्लक्षणयोगात् परोक्षमिव सम्भवत्येतत्॥७०८॥

अर्थ—'आद्ये परोक्षम्' इस सूत्रमें मतिज्ञान श्रुतज्ञानको परोक्ष बतलाया गया है, तथा परोक्षका लक्षण भी इन दोनोंमें सुघटित होता है इसलिये ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं। फिर उन्हें स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष क्यों बतलाया जाता है? **भावार्थ**—आगम प्रमाणसे

भी दोनों ज्ञान परोक्ष हैं तथा इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण भी मतिश्रुत परोक्ष हैं फिर ग्रन्थकार स्वात्मानुभूति कालमें निरपेक्ष ज्ञानके समान उन्हें प्रत्यक्ष कैसे बतलाते हैं ?

उत्तर—

सत्यं वस्तुविचारः स्यादतिशयवर्जितोऽविसंवादात्।
साधारणरूपतया भवति परोक्षं तथा प्रतिज्ञायाः ॥७०९॥
इह सम्यग्दृष्टेः किल मिथ्यात्वोदयविनाशजा शक्तिः।
काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्ति यया ॥ ७१० ॥

अर्थ—ठीक है, परन्तु वस्तुका विचार अतिशय रहित होता है, उसमें कोई विवाद नहीं रहता। यद्यपि यह बात ठीक है और ऐसी ही सूत्रकारकी प्रतिज्ञा है कि साधारणरूपसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व कर्मोदयके नाश होनेसे कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रकट होजाती है कि जिसके द्वारा नियमसे स्वात्म प्रत्यक्ष होने लगता है। भावार्थः—यद्यपि सामान्य रीतिसे मति श्रुत परोक्ष हैं तथापि दर्शनमोहनीयके नाश या उपशम या क्षयोपशम होनेसे सम्यग्दृष्टिके स्वात्मानुभवरूप मतिज्ञान विशेष उत्पन्न होजाता है वही प्रत्यक्ष है, परन्तु स्वात्मानुभवको छोड़ कर इतर पदार्थोंके ग्रहण कालमें उक्त ज्ञान परोक्ष ही है। इसका कारण—

तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेस्मिन्।
स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च नोपयोगि मतम् ॥ ७११ ॥

अर्थ—इसका कारण यह है कि इस शुद्ध स्वात्मानुभवके समयमें स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाचों इन्द्रियाँ उपयोगात्मक नहीं मानी गई हैं। अर्थात् शुद्ध-आत्मानुभवके समय इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता है, किन्तु—

केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा।
द्रव्यमनो भावमनो नोइन्द्रियनाम किल स्वार्थात् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—केवल मन ही उस समय उपयुक्त होता है। वह मन दो प्रकार है। (१) द्रव्यमन (२) भावमन। मनका ही उसके अर्थानुसार दूसरा नाम नो इन्द्रिय है। **भावार्थ** जिस प्रकार इन्द्रियां बाह्य स्थित हैं और नियत विषयको जानती हैं उस प्रकार मन बाह्य स्थित नहीं है तथा नियत विषयको भी नहीं जानता है। इसलिये वह ईषत् (कम) इन्द्रिय होनेसे नोइन्द्रिय कहलाता है।

द्रव्यमन—

द्रव्यमनो हृत्कमले घनाङ्गुलासंख्यभागमात्रं यत् ।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति ॥ ७१३ ॥

अर्थ—द्रव्यमन हृदय कमलमें होता है, वह घनाङ्गुलके असंख्यात मात्र भाग प्रमाण होता है । यद्यपि वह अचेतन–जड़ है तथापि भाव मन जिस समय पदार्थोंको विषय करता है उस समय द्रव्यमन उसकी सहायता करता है । **भावार्थ**—पुद्गलकी जिन पाँच वर्गणाओंसे जीवका सम्बन्ध है उनमें एक मनोवर्गणा भी है । उसी मनोवर्गणाका हृदय स्थानमें कमल-वत् द्रव्य मन बनता है । उसी द्रव्य मनमें आत्माका हेयोपादेयरूप विशेष ज्ञान-भाव मन उत्पन्न होता है । जिस प्रकार रूपका बोध आत्मा चक्षु द्वारा ही करता है उसी प्रकार आत्माके विचारोंकी उत्पत्तिका स्थान द्रव्यमन है ।

भावमन—

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा ।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयात्क्रमाच्च स्यात् ॥७१४॥

अर्थ—भावमन आत्माका ज्ञानात्मक परिणाम विशेष है । वह अपने प्रतिपक्षी-आवरण कर्मके क्षय होनेसे लब्धि और उपयोग सहित क्रमसे होता है। **भावार्थ**—कर्मोंके क्षयो-पशमसे जो आत्मामें विशुद्धि-निर्मलता होती है उसे लब्धि कहते हैं, तथा पदार्थोंकी ओर उन्मुख (रुजू) होकर उनके जाननेको उपयोग कहते हैं । विना लब्धिरूप ज्ञानके उपयो-गात्मक बोध नहीं हो सक्ता है, परन्तु लब्धिके रहते हुए उपयोगात्मक बोध हो या न हो, नियम नहीं है । मनसे जो बोध होता है वह युगपत् नहीं होता है किन्तु क्रमसे होता है ।

स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चकं यावत् ।
मूर्तग्राहकमेकं मूर्त्तामूर्त्तस्य वेदकं च मनः ॥७१५॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये जितनी भी पाचों इन्द्रियां हैं सभी एक मूर्त्त पदार्थको ग्रहण करनेवाली हैं । परन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनोंको जाननेवाला है ।

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः ।
किन्तु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ॥७१६॥

अर्थ—इसलिये वह वात निर्दोष रीतिसे सिद्ध होचुकी कि स्वात्माके ग्रहण करनेमें नियमसे मन ही उपयोगी है । किन्तु इतना विशेष है कि वह मन विशेष अवस्थामें अर्थात् अमूर्त पदार्थके ग्रहण करते समय स्वयं भी अमूर्त ज्ञानरूप हो जाता है । **भावार्थ**—पहले कहा गया है कि स्वात्मानुभूति यद्यपि मतिज्ञान स्वरूप है अथवा तत्पूर्वक श्रुत ज्ञान स्वरूप भी है । तथापि वह निरपेक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष ज्ञान रूप है । इसी वातको यहां पर

स्पष्ट कर दिया गया है कि यद्यपि मतिश्रुत परोक्ष होते हैं तथापि वे इन्द्रिय और मनसे होते हैं, मन अमूर्तका भी जाननेवाला है। जिस समय वह केवल अमूर्त पदार्थको ही जान रहा है अर्थात् केवल स्वात्माका ही ग्रहण कर रहा है उस समय वह मन रूप ज्ञान भी अमूर्त ही है। इसीलिये वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रियां मूर्त पदार्थका ही ग्रहण करती हैं इसलिये स्वात्म प्रत्यक्षमें उनका उपयोग ही नहीं है। इसीको पुनः स्पष्ट करते हैं:—

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात्।
स्यान्मतिज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ॥ ७१७ ॥

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्तम्।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ॥ ७१८ ॥

अर्थ—यह बात असिद्ध भी नहीं है, सूत्रद्वारा यह बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान तथा उस मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं। इतना विशेष है कि भावमन विशेष (अमूर्त) ज्ञान विशिष्ट जब होता है तब वह स्वयं अमूर्त स्वरूप होजाता है। उस अमूर्त—मनरूप ज्ञानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष होता है इसलिये वह प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय क्यों न हो? अर्थात् केवल स्वात्माको जाननेवाला जो मानसिक ज्ञान है वह अवश्य अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतू मतिश्रुती ज्ञाने।
प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम् ॥ ७१९ ॥

अर्थ—तथा आत्माकी भले प्रकार सिद्धिके लिये मतिश्रुत ये दो ही ज्ञान नियत कारण हैं। कारण इसका यह है कि अवधि और मनःपर्यय ज्ञानोंके विना तो मोक्ष होजाता हैं परन्तु मतिश्रुतके विना कदापि नहीं होता। भावार्थ—यह नियम नहीं है कि सब ज्ञानोंके होनेपर ही केवलज्ञान उत्पन्न हो। किसीके अवधि मनःपर्यय नहीं भी होते हैं तो भी उसके केवलज्ञान होजाता है। परन्तु मतिश्रुत तो प्राणीमात्रके नियमसे होते हैं। इसलिये सुमति सुश्रुत ये दो ही आत्माकी प्राप्तिमें मूल कारण हैं। अतएव मिथ्यात्वके अनुदयमें विशेष मतिज्ञानद्वारा स्वात्माका साक्षात्कार हो ही जाता है।

शङ्काकार—

ननु जैनानामेतन्मतं मतेष्वेव नापरेषां हि।
विप्रतिपत्तौ बहवः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यतः ॥ ७२० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण मतोंमें जैनियोंके मतमें ही प्रमाणकी ऐसी व्यवस्था है, दूसरोंके यहां ऐसी नहीं है। यह विषय विवादग्रस्त है, क्योंकि बहुतसे मत प्रमाणका स्वरूप दूसरे ही

प्रकार कहते हैं। भावार्थ—जैनियोंने उपर्युक्त कथनानुसार ज्ञानको ही प्रमाण मानकर उसके प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद किये हैं परन्तु अन्य दर्शनवाले ऐसा नहीं मानते हैं ?

कोई वेदको ही प्रमाण मानते हैं—

वेदाः प्रमाणमिति किल वदन्ति वेदान्तिनो विदाभासाः।
यस्मादपौरुषेयाः सन्ति यथा व्योम ते स्वतः सिद्धाः॥ ७२१ ॥

अर्थ—ज्ञानाभासी (मिथ्याज्ञानी) वेदान्त मतवाले कहते हैं कि वेद ही प्रमाण हैं। और वे पुरुषके बनाये हुए नहीं है, किन्तु आकाशके समान स्वतः सिद्ध हैं। अर्थात् जिस-प्रकार आकाश अनादिनिधन स्वयं सिद्ध है किसीने उसे नहीं बनाया है उसी प्रकार वेद भी अनादिनिधन स्वयं सिद्ध हैं।

कोई प्रमाकरणको प्रमाण मानते हैं—

अपरे प्रमानिदानं प्रमाणमिच्छन्ति पण्डितम्मन्याः।
समयन्ति सम्यगनुभवसाधनमिह यत्प्रमाणमिति केचित्॥७२२॥

अर्थ—दूसरे मतवाले (नैयायिक) अपने आपको पण्डित मानते हुए प्रमाणका स्वरूप यह कहते हैं कि जो प्रमाका निदान हो वह प्रमाण है अर्थात् प्रमा नाम प्रमाणके फलका है। उस फलका जो साधकतम कारण है वही प्रमाण है ऐसा नैयायिक कहते हैं। दूसरे कोई ऐसा भी कहते हैं कि जो सम्यग्ज्ञानमें कारण पड़ता हो वही प्रमाण है। ऐसा प्रमाणका स्वरूप माननेवालोंमें वैशेषिक बौद्ध आदि कई मतवाले आजाते हैं जो कि आलोक, पदार्थ, सन्निकर्षादिको प्रमाण मानते हैं।

इत्यादि वादिवृन्दैः प्रमाणमालक्ष्यते यथारुचि तत्।
आप्ताभिमानदग्धैरलब्धमानैरतीन्द्रियं वस्तु॥ ७२३ ॥

अर्थ—जिन्होंने अतीन्द्रिय वस्तुके स्वरूपको नहीं पहचाना है, जो वृथा ही अपने आपको आप्तपनेके अभिमानसे जला रहे हैं ऐसे अनेक वादीगण प्रमाणका स्वरूप अपनी इच्छानुसार कहते हैं।

वेदान्तादिवादियोंके माने हुए प्रमाणोंमें दूषण—

प्रकृतमलक्षणमेतल्लक्षणदोषैरधिष्ठितं यस्मात्।
स्यादविचारितरम्यं विचार्यमाणं खपुष्पवत्सर्वम्॥ ७२४ ॥

अर्थ—जिन प्रमाणोंका ऊपर उल्लेख किया गया है वे सब दूषित हैं, कारण जो प्रमाणका लक्षण होना चाहिये वह लक्षण उनमें जाता ही नहीं है और जो कुछ उनका लक्षण किया गया है वह दोषोंसे विशिष्ट (सहित) है तथा अविचारित रम्य है। उन समस्त

प्रमाणोंके लक्षणोंपर विचार किया जाय तो वे आकाशके पुष्पोंके समान मालूम होते हैं। अर्थात् असिद्ध ठहरते हैं। क्यों? सो आगे कहा गया है।—

ज्ञान ही प्रमाण है—

अर्थाद्यथा कथञ्चिज्ज्ञानादन्यत्र न प्रमाणत्वम्।
करणादि विना ज्ञानादचेतनं कः प्रमाणयति ॥ ७२५ ॥

अर्थ—अर्थात् किसी भी प्रकार ज्ञानको छोड़कर अन्य किसी जड़ पदार्थमें प्रमाणता आ नहीं सकती है। विना ज्ञानके अचेतन करण, सन्निकर्ष इन्द्रिय आदिको कौन प्रमाण समझेगा? अर्थात् प्रमाणका फल प्रमा—अज्ञान निवृत्तिरूप है, उसका कारण भी अज्ञान निवृत्तिरूप होना आवश्यक है इसलिये प्रमाण भी अज्ञान निवृत्ति ज्ञानस्वरूप होना चाहिये। जड़ पदार्थ प्रमेय हैं वे प्रमाण नहीं हो सकते हैं, अपने आपको जाननेवाला ही परका ज्ञाता हो सकता है जो स्वयं अज्ञानरूप है वह स्व—पर किसीको नहीं जना सकता है। इसलिये करण आदि जड़ हैं वे प्रमाण नहीं हो सकते, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

तत्रान्तर्लीनत्वाज्ज्ञानसनाथं प्रमाणमिदमिति चेत्।
ज्ञानं प्रमाणमिति यत्प्रकृतं न कथं प्रतीयेत ॥ ७२६ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि करण आदि बाह्य कारण हैं उनमें भीतर जाननेवाला ज्ञान ही है इसलिये ज्ञान सहित करण आदि प्रमाण हैं, तो ऐसा कहनेसे वही बात सिद्ध हुई कि जो प्रकृतमें हम (जैन) कह रहे हैं अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है। यही बात सिद्ध होगई। **भावार्थ**—प्रमाणमें सहायक सामग्री प्रकाश योग्यदेश, इन्द्रियव्यापार, कारक साफल्य, पदार्थ सान्निध्य सन्निकर्ष आदि कितने ही क्यों न होजाओ परन्तु पदार्थका बोध करनेवाला प्रमाण ज्ञान ही पड़ता है उसके विना सभी कारण सामग्री निरर्थक है।

शंकाकार—

ननु फलभूतं ज्ञानं तस्य तु करणं भवेत्प्रमाणमिति।
ज्ञानस्य कृतार्थत्वात् फलवत्त्वमसिद्धमिदमिति चेत् ॥७२७॥

अर्थ—ज्ञानको प्रमाणका फल मानना चाहिये, उसके कारणको प्रमाण मानना चाहिये। यदि ज्ञानको ही प्रमाण मान लिया जाय तो ज्ञानका प्रयोजन तो हो चुका फिर फल क्या होगा? फिर फल असिद्ध ही होगा। **भावार्थ**—शंकाकारका यह अभिप्राय है कि प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों ही जुदे २ होने चाहिये और प्रमाण फल सहित ही होना चाहिये। ऐसी अवस्थामें ज्ञानको प्रमाणका फल और उस ज्ञानके कारण (करण-जड़) को प्रमाण मानना ही ठीक है, यदि ऐसा नहीं माना जाय और ज्ञानको ही प्रमाण माना जाय तो फिर प्रमाणका फल क्या ठहरेगा? उसका अभाव ही हो जायगा?

उत्तर—

नैवं यतः प्रमाणं फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ।
दृष्टिर्यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाश्यः प्रकाशकश्च स्यात् ॥७२८॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाण, उसका फल, उसका कारण स्वयं ज्ञान ही है। जिस प्रकार दीपक स्वयं अपना भी प्रकाश करता है और दूसरोंका भी प्रकाश करता है, अथवा दीपक स्वयं प्रकाश्य (जिसका प्रकाश किया जाय) भी है और वही प्रकाशक है। **भावार्थ**—दीपकके दृष्टान्तके समान प्रमाण भी ज्ञान ही है, प्रमाणका कारण भी ज्ञान ही है और प्रमाणका फल भी ज्ञान ही है। ज्ञानसे भिन्न न कोई प्रमाण है और न उसका फल ही है। यहां पर यह शंका अभी खड़ी ही रहती है कि दोनोंको ज्ञानरूप माननेसे दोनों एक ही हो जायंगे, अथवा फल शून्य प्रमाण और प्रमाणशून्य फल हो जायगा, परन्तु विचार करनेपर यह शंका भी निर्मूल ठहरती है, जैन सिद्धान्तमें प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा भिन्न नहीं है। किन्तु कथञ्चित् भिन्न है, कथञ्चित् भेदमें ज्ञानकी पूर्व पर्याय प्रमाणरूप पड़ती है उसकी उत्तर पर्याय फलरूप पड़ती है। क्योंकि प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्ति माना है तथा हेयोपादेय और उपेक्षा भी प्रमाणका फल है। जो प्रमाणरूप ज्ञान है वही ज्ञान अज्ञानसे निवृत्त होता है और उसीमें हेयोपादेय तथा उपेक्षा रूप बुद्धि होती है। इसलिये ज्ञान ही प्रमाण और ज्ञान ही फल सिद्ध हो चुका। साथ ही प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों एक हो जायंगे अथवा फल शून्य प्रमाण हो जायगा, इस शंकाका परिहार भी हो चुका।

उक्तं कदाचिदिन्द्रियमथ च तदर्थेन सन्निकर्षयुतम् ।
भवति कदाचिज्ज्ञानं त्रिविधं करणं प्रमायाश्च ॥ ७२९ ॥
पूर्वं पूर्वं करणं तत्र फलं चोत्तरोत्तरं ज्ञेयम् ।
न्यायात्सिद्धमिदं चित्फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ॥ ७३० ॥

अर्थ—कभी इन्द्रियोंको प्रमाण कहा गया है, कभी इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षको प्रमाण कहा गया है, कभी ज्ञानको ही प्रमाण कहा गया है। इस प्रकार तीन प्रकार प्रमा (प्रमाणका फल)का करण अर्थात् प्रमाणका परम साधक कारण कहा गया है। ये तीनों ही आत्माकी अवस्थायें हैं। पहली इन्द्रियरूप अवस्था भी आत्मावस्था है, सन्निकर्ष विशिष्ट अवस्था भी आत्मावस्था है। तथा ज्ञानावस्था भी आत्मावस्था है, अर्थात् तीनों ही ज्ञान रूप हैं। इन तीनोंमें पहला पहला करण पड़ता है और आगे आगेका फल पड़ता है। इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध हो चुकी कि ज्ञान ही फल है और ज्ञान ही प्रमाण है।

तत्रापि यदा करणं ज्ञानं फलसिद्धिरस्ति नाम तदा।
अविनाभावेन चितो हानोपादानबुद्धिसिद्धित्वात् ॥ ७३१ ॥

अर्थ—उनमें भी जिस समय ज्ञान करण पड़ता है, उस समय अविनाभावसे आत्माकी हान उपादान रूपा बुद्धि उसका फल पड़ता है अर्थात् पूर्व ज्ञान करण और उत्तर ज्ञान फल पड़ता है और यह बात असिद्ध भी नहीं है।

नाप्येतदप्रसिद्धं साधनसाध्यद्वयोः सदृष्टान्तात्।
न विना ज्ञानात्त्यागो भुजगादेर्वा स्रगाद्युपादानम् ॥ ७३२ ॥

अर्थ—साधन भी ज्ञान पड़ता है और साध्य भी ज्ञान पड़ता है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु दृष्टान्तसे सुसिद्ध है। यह बात प्रसिद्ध है कि ज्ञानके विना सर्पादिका त्याग और माला आदि इष्ट पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता है।

भावार्थ—प्रमाणका स्वरूप इस प्रकार है–" हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् " हित नाम सुख और सुखके कारणोंका है, अहित नाम दुःख और दुःखोंके कारणोंका है। जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमें समर्थ है वही प्रमाण होता है। ऐसा प्रमाण ज्ञान ही हो सक्ता है। क्योंकि सुख और सुखके कारणोंका परिज्ञान तथा दुःख और दुःखके कारणोंका परिज्ञान सिवा ज्ञानके जड़ पदार्थोंसे नहीं हो सक्ता है, ज्ञानमें ही यह सामर्थ्य है कि वह सर्पादि अनिष्ट पदार्थोंमें ग्रहण रूप बुद्धि करावे इसलिये प्रमाण ज्ञान ही हो सक्ता है। तथा फल भी ज्ञान रूप ही होता है यह बात प्रायः सर्व सिद्ध है। कारण प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्तिरूप होता है। ऐसा फल ज्ञान ही हो सक्ता है, जड़ नहीं।

उक्तं प्रमाणलक्षणमिह यदनार्हतं कुवादिभिः स्वैरम्।
तल्लक्षणदोषत्वात्तत्सर्वं लक्षणाभासम् ॥ ७३३ ॥

अर्थ—जो कुछ प्रमाणका लक्षण कुवादियोंने कहा है वह आर्हत (जैन) लक्षण नहीं है, किन्तु उन्होंने स्वेच्छा पूर्वक कहा है, उसमें लक्षणके दोष आते हैं इसलिये वह लक्षण नहीं किन्तु लक्षणाभास है। **भावार्थ**—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव ये तीन लक्षण के दोष हैं, जो लक्षण अपने लक्ष्यके एक देशमें न रहे उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं, जो लक्षण अपने लक्ष्यके सिवा अलक्ष्यमें भी रहे उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं जो लक्षण अपने लक्ष्यमें सर्वथा न रहे उसे असंभव दोष कहते हैं। इन तीन दोषोंसे रहित लक्षण ही लक्षण कहलाता है, अन्यथा वह लक्षणाभास है। प्रमाणका जो लक्षण अन्यवादियोंने किया है वह इन दोषोंसे रहित नहीं है यही बात नीचे कही जाती है—

स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षण प्रमाकरणम् ।
अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तदयोगात् ॥ ७३४ ॥

अर्थ—यदि प्रमाण लक्ष्य है, उसका प्रमाकरण लक्षण है तो अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि ईश्वरमें उस लक्षणका सदा अभाव रहता है । **भावार्थ**—नैयायिक ईश्वरको प्रमाण तो मानते हैं वे कहते हैं 'तन्मे प्रमाणं शिव इति' अर्थात् वह ईश्वर मुझे प्रमाण है । परन्तु वे उस ईश्वरको प्रमाका करण नहीं मानते हैं किन्तु उसका उसे अधिकरण मानते हैं । उनके मतसे ईश्वर प्रमाण है तो भी उसमें प्रमाकरण रूप प्रमाणका लक्षण नहीं रहता । इसलिये लक्ष्यके एक देश-ईश्वरमें प्रमाणका लक्षण न जानेसे अव्याप्ति दोष बना रहा ।

तथा—

योगिज्ञानेपि तथा न स्यात्तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्सन्निकर्षश्च ॥७३५॥

अर्थ—इसी प्रकार जो लोग प्रमाकरण प्रमाणका लक्षण करते हैं उनके यहां योगियोंके ज्ञानमें भी उक्त लक्षण नहीं जाता है, क्योंकि उन्हीं लोगोंने योगियोंके ज्ञानको दिव्य ज्ञान माना है वह सूक्ष्म और अमूर्त पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष करता है ऐसा वे स्वीकार करते हैं परन्तु परमाणु आदि पदार्थोंमें इन्द्रिय सन्निकर्ष नियमसे नहीं हो सक्ता है । **भावार्थ**—इन्द्रियसन्निकर्ष अथवा इन्द्रियव्यापार ही को वे प्रमाकरण बतलाते हैं, यह सन्निकर्ष और व्यापार स्थूल मूर्त पदार्थोंके साथ ही हो सक्ता है, सूक्ष्म परमाणु तथा अमूर्त धर्माधर्म, और दूरवर्ती पदार्थोंका वह नहीं हो सक्ता है, इसलिये सन्निकर्ष अथवा इन्द्रियव्यापार-प्रमाकरणको प्रमाण माननेसे योगीजन सूक्ष्मादि पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सक्ते परन्तु वे करते हैं ऐसा वे मानते हैं इसलिये योगीजनोंमें उनके मतसे ही प्रमाकरण लक्षण नहीं जाता है यदि वे योगियोंको प्रमाका करण स्वयं नहीं मानते हैं तो उनके मतमे ही प्रमाणका लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित हो गया । क्योंकि उन्होंने योगियोंके ज्ञानको प्रमाण माना है ।

वेद भी प्रमाण नहीं है—

वेदाः प्रमाणमत्र तु हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम् ।
आगमगोचरताया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥ ७३६ ॥

अर्थ—वेदको प्रमाण माननेवाले वेदान्ती तो केवल अपौरुषेय हेतु द्वारा उसमें प्रमाणता लाते हैं । दूसरा उनका हेतु आगम है, आगम प्रमाणरूप हेतु अन्योन्याश्रय दोष आनेसे अहेतु हो जाता है । **भावार्थ**—वेदको अपौरुषेय माननेवाले उसकी अनादितामें प्रवाह नित्यताका हेतु देते हैं, वह प्रवाह नित्यता क्या शब्दमात्रमें है या विशेष आनुपूर्वी-रूप जो शब्द वेदमें उल्लिखित हैं उन्हींमें है ? यदि पूर्व पक्ष स्वीकार किया जाय तब तो

जितने भी शब्द हैं सभी वैदिक हो जांयगे, फिर वेद ही क्यों अपौरुषेय (पुरुषका नहीं बनाया हुआ) कहा जाता है ? यदि उत्तर पक्ष स्वीकार किया जाय तो प्रश्न होता है कि उस विशेष आनुपूर्वीरूप शब्दोंका अर्थ किसीका समझा हुआ है या नहीं ? यदि नहीं, तब तो विना ज्ञानके उन वेद वाक्योंमें प्रमाणता नहीं आ सकती है, यदि किसीका समझा हुआ है तो उन वेद वाक्योंके अर्थको समझानेवाला—व्याख्याता सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ ? यदि सर्वज्ञ है तो वेदके समान अतीन्द्रिय पदार्थोंके जाननेवाले सर्वज्ञके वचन भी प्रमाणरूप क्यों न माने जायँ, ऐसी अवस्थामें वेदमें सर्वज्ञ पुरुष कृत ही प्रमाणता आती है इसलिये उसका अपौरुषेयत्व प्रमाण सूचक नहीं सिद्ध होता। यदि वेदका व्याख्याता अल्पज्ञ है तो उस वेदके कठिन२ वाक्योंका उलटा भी अर्थ कर सकता है, क्योंकि वाक्य स्वयं तो यह कहते नहीं हैं कि हमारा अमुक अर्थ है, अमुक नहीं है, किन्तु पुरुषोंद्वारा उनके अर्थोंका बोध किया जाता है। यदि वे पुरुष अज्ञ और रागादि दोषोंसे विशिष्ट हैं तो वे अवश्य कुछका कुछ निरूपण कर सकते हैं। कदाचित् यह कहा जाय कि उसके व्याख्याता अल्पज्ञ भी हों तो भी वेदोंके अर्थकी व्याख्यान परम्परा बराबर ठीक चली आनेसे वे उनका यथार्थ निरूपण कर सकते हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ठीक परम्परा चली आने पर भी अतीन्द्रिय पदार्थोंमें अल्पज्ञोंकी संशय रहित प्रवृत्ति (व्याख्यानमें) नहीं हो सकती है, दूसरी बात यह है कि यदि वेदार्थ अनादिपरम्परासे ठीक चला आता है तो मीमांसकादि भावना, विधि, नियोगरूप भिन्न २ अर्थ प्रतिपत्तिको क्यों प्रमाण मानते हैं ? इसलिये वेदको अनादि परम्परागत—अपौरुषेय मानना प्रमाण सिद्ध नहीं है। वेदकी अनादि माननेमें ऐसा भी कहा जाता है कि जिस प्रकार वर्त्तमान कालमें कोई वेदोंको बनानेवाला नहीं है उस प्रकार भूतकाल और भविष्यत् कालमें भी कोई नहीं हो सकता है। परन्तु यह कोई युक्ति नहीं है, विपक्षमें ऐसा भी कहा जा सकता है कि जैसे वर्त्तमानमें श्रुतिका बनानेवाला कोई नहीं है वैसे भूत भविष्यत् कालमें भी कोई नहीं हो सकता है, अथवा जैसे वर्त्तमानकालमें वेदोंका कोई जानकार नहीं है वैसे उनका जानकार भूत भविष्यत कालमें भी कोई नहीं हो सकता है इसी प्रकार ऐसा कहना भी कि वेदका अध्ययन वेदाध्यायन पूर्वक है वर्त्तमान अध्ययनके समान, मिथ्या ही है। कारण विपक्षमें भी कहा जा सकता है कि भारतादिका अध्ययन भारताध्यायन पूर्वक है। वर्त्तमान अध्ययनके समान। इसलिये उपर्युक्त कथनसे भी वेदमें अनादिता सिद्ध नहीं होती है। यदि यह कहा जाय कि वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता है इसलिये उसके कर्त्ताका अभाव कह दिया जाता है ऐसा कहना भी बाधित है क्योंकि ऐसी बहुतसी पुरानी वस्तुएं हैं जिनके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता है, तो क्या वे भी अपौरुषेय मानी जायंगी ? यदि नहीं तो वेद ही क्यों वैसा माना जाय ? तथा वेदके कर्त्ताका

स्मरण नहीं होता ऐसा सब वेदानुयायी मानते भी नहीं हैं। पिटकत्रयमें वेदके कर्त्ताका कुछ लोग स्मरण करते ही हैं। इसलिये वेद पुरुष कृत नहीं है यह बात किसी प्रकार नहीं बनती कुछ कालके लिये यदि वेदको अपौरुषेय भी मान लिया जाय तो भी उसमें सर्वज्ञका अभाव होनेसे प्रमाणता नहीं आती है। सर्वज्ञ वक्ताके मानने पर 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्, अर्थात् धर्मके विषयमें वेद ही प्रमाण है यह बात नहीं बनेगी, क्योंकि सर्वज्ञका वचन भी प्रमाण मानना पड़ेगा, तथा सर्वज्ञ उसका वक्ता मानने पर उस वेदमें पूर्वापर विरोध नहीं रह सकता है, परन्तु उसमें पूर्वापर विरोध है, हिंसाका निषेध करता हुआ भी वह कहीं हिंसाका विधान करता है तथा एक ही वेदका एक अंश एक वेदानुयायी नहीं मानता है वह उसे अप्रमाण समझता हुआ उसीके दूसरे अंशको वह प्रमाण मानता है, जिसे वह प्रमाण मानता है उसे ही तीसरा वेदानुयायी अप्रमाण मानता है। यदि वह सर्वज्ञ वक्तासे प्रतिपादित होता तो इस प्रकार पूर्वापर विरोध सर्वथा नहीं होसकता है इसलिये वेदमें प्रमाणता किसी प्रकार नहीं आती।

वेदके विषयमें यह कहना कि उसके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता इसलिये वह अनादि अपौरुषेय है, इस कथनके विषयमें पहली बात तो यह है कि नित्य वस्तुके विषयमें ऐसा कहना ही व्यर्थ है, नित्य वस्तु जो होती है उसमें न तो उसके कर्त्ताका स्मरण ही होता है न अस्मरण (स्मरणका न होना) ही होता है किन्तु वह अकर्तृक होती है यदि यह कहा जाय कि वेदकी सम्प्रदाय (वेदका वर्णक्रम, पाठक्रम, उदात्तादिक्रम) का विच्छेद नहीं है इसीलिये यह कहा जाता है कि उसके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता है तो यह कथन भी ठीक नहीं है, बहुतसे ऐसे वाक्य हैं जिनका विशेष प्रयोजन न होनेके कारण उनके कर्त्ताका स्मरण नहीं रहा है, साथ ही वे अनवच्छिन्न चले आ रहे हैं जैसे—'वटे २ वैश्रवणः वृक्ष वृक्षमें यक्ष (कुबेर) रहता है। तथा "चत्वरे २ ईश्वरः। पर्वते पर्वते रामः सर्वत्र मधुसूदनः। सा ते भवतु सुप्रीता देवी गिरिनिवासिनी, विद्यारंभं करिष्यामि सिद्धिर्भवतु मे सदा" अर्थात् घर २ में ईश्वर है, पर्वत पर्वतमें राम है, सर्वत्र कृष्ण है, तेरे ऊपर पार्वती देवी प्रसन्न हों, मैं विद्यारंभ करूंगा, मेरी सदा सिद्धि हो, इत्यादि अनेक वाक्य अविच्छिन्न हैं, परन्तु उनको वेद वादियोंने भी अपौरुषेय नहीं माना है। दूसरी बात यह है कि वेदके कर्त्ताका अभाव किस प्रकार कहा जा सक्ता है पौराणिक लोग वेदका कर्त्ता ब्रह्माको बतलाते हैं। वे कहते हैं 'कि वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिसृताः' अर्थात् ब्रह्माके मुखोंसे वेद निकले हैं। 'यो वेदांश्च प्रहिणोति, इत्यादि वेदवाक्य ही वेदके कर्त्ताको सिद्ध करते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि उसमें ऋषियोंके नाम भी आये हैं। इसलिये या तो वेदवादी उन ऋषियोंको अनादिनिधन मानें या वेदको अनादि न मानें। दोनोंमेंसे

एक बात ही बन सक्ती है, दोनों नहीं। इस कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध है कि वेदोंकी प्रमाणताकी पोषक एक भी सद्युक्ति नहीं है। इन सब बातोंके सिवा वेदविहित अर्थों पर यदि दृष्टि डाली जाय तो वे सब ऐसे ही असम्बद्ध जान पड़ते हैं कि जैसे दशदाड़िमादि वाक्य असम्बद्ध होते हैं। वेदोंका अर्थ पूर्वापर विरुद्ध और असमञ्जस है, वेदोंकी अप्रमाणताका विशेष निदर्शन करनेके लिये प्रमेयकमल मार्तण्ड और अष्टसहस्रीको देखना चाहिये।

एवमनेकविधं स्यादिह मिथ्यामतकदम्बकं यावत्।
अनुपादेयमसारं वृद्धैः स्याद्वादवेदिभिः समयात्॥ ७३७॥

अर्थ—इसप्रकार जितना भी अनेक विध प्रचलित मिथ्या मतोंका समूह है वह सब असार है, इसलिये वह शास्त्रानुसार स्याद्वादवेदी—वृद्ध पुरुषों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है।

निक्षेपोंके कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तं प्रमाणलक्षणमनुभवगम्यं यथागमज्ञानात्।
अधुना निक्षेपपदं संक्षेपाल्लक्ष्यते यथालक्ष्म॥ ७३८॥

अर्थ—आगमज्ञानके अनुसार अनुभवमें आने योग्य प्रमाणका लक्षण कहा गया। अब संक्षेपसे निक्षेपोंका स्वरूप उनके लक्षणानुसार कहा जाता है।

शङ्काकार—

ननु निक्षेपो न नयो नच प्रमाणं न चांशकं तस्य।
पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्यं स्वलक्षणादितिचेत्॥ ७३९॥

अर्थ—निक्षेप न नय है, और न प्रमाण है, न उसका अंश है, नय प्रमाणसे निक्षेपका उद्देश्य ही जुदा है। उद्देश्य जुदा होनेसे उसका लक्षण ही जुदा है, इसलिये लक्ष्य भी स्वतन्त्र होना चाहिये? अर्थात् निक्षेप नय प्रमाणसे जब जुदा है तो उनके समान इसका भी स्वतन्त्र ही उल्लेख करना चाहिये?

निक्षेपका स्वरूप (उत्तर)

सत्यं गुणसाक्षेपो सविपक्षः स च नयः स्वपक्षपतिः।
य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः॥ ७४०॥

अर्थ—नय तो गौण और मुख्यकी अपेक्षा रखता है, इसीलिये वह विपक्ष सहित है। नय सदा अपने (विवक्षित) पक्षका स्वामी है अर्थात् वह विवक्षित पक्ष पर आरूढ़ रहता है और दूसरे प्रतिपक्ष नयकी अपेक्षा भी रखता है, निक्षेपमें यह बात नहीं है, यहां पर तो गौण पदार्थमें मुख्यका आक्षेप किया जाता है, इसलिये निक्षेप केवल उपचरित है। भावार्थ—नय और निक्षेपका स्वरूप कहनेसे ही शंकाकारकी शंकाका परिहार होजाता है। सबसे बड़ा भेद तो इनमें यह है कि नय तो ज्ञान विकल्परूप है और निक्षेप पदार्थोंमें व्यवहारके लिये किये

हुए संकेतोंका नाम है। वह संकेत कहीं पर तद्गुण होता है और कहीं पर अतद्गुण होता है। नय और निक्षेपमें विषय विषयी सम्बन्ध है, नय विषय करनेवाला ज्ञान है, और निक्षेप उसका विषय भूत पदार्थ है। इसलिये नयोंके कहनेसे ही निक्षेपोंका विवेचन स्वयं होजाता है, अतएव इनके स्वतन्त्र उल्लेखकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी यह शंका होसक्ती है कि जब निक्षेप नयका ही विषय है तो फिर चार निक्षेपोंका स्वतन्त्र विवेचन सूत्रों द्वारा ग्रन्थकारोंने क्यों किया है? इसके उत्तरमें इतना कहना ही पर्याप्त है कि केवल समझानेके अभिप्रायसे निक्षेपोंका निरूपण किया गया है, अन्यथा विषयभूत पदार्थोंमें ही वे गर्भित हैं। दूसरे भिन्न भिन्न व्यवहार चलाना ही निक्षेपोंका प्रयोजन है इसलिये उस प्रयोजनको स्पष्ट करनेके लिये ग्रन्थकारोंने उनका निरूपण किया है।

इस श्लोकमें 'गुणाक्षेपः' पद आया है, उसका अर्थ चारों निक्षेपोंमें इसप्रकार घटित होता है—नाम गौण पदार्थमें अर्थात् अतद्गुण पदार्थमें केवल व्यवहारार्थ किया हुआ आक्षेप। स्थापनामें—अतद्गुण पदार्थमें किया हुआ गुणोंका आक्षेप। द्रव्यमें—भावि अथवा भूत तद्गुणमें वर्त्तमानवत् किया हुआ गुणोंका आक्षेप। भावमें—वर्त्तमान तद्गुणमें किया हुआ वर्त्तमान गुणोंका आक्षेप। इसप्रकार गौणमें आक्षेप अथवा गुणोंका आक्षेप ही निक्षेप है।

नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं। भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय है। अन्तर्नयोंकी अपेक्षासे नाम निक्षेप समभिरूढ़ नयका विषय है स्थापना और द्रव्य निक्षेप नैगम नयका विषय है। भाव निक्षेप ऋजुसूत्र तथा एवंभूत नयका विषय है।

निक्षेपः स चतुर्धा नाम ततः स्थापना ततो द्रव्यम्।
भावस्तल्लक्षणमिह भवति यथा लक्ष्यतेऽधुना चार्थात्॥७४१॥

अर्थ—निक्षेप चार प्रकार है-(१) नाम निक्षेप, (२) स्थापना निक्षेप (३) द्रव्य निक्षेप (४) भाव निक्षेप। अब इन चारोंका लक्षण कहा जाता है।

वस्तुन्यतद्गुणे खलु संज्ञाकरणं जिनो यथा नाम।
सोऽयं तत्समरूपे तद्बुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा॥७४२॥

अर्थ—किसी वस्तुमें उसके नामके अनुसार गुण तो न हों, केवल व्यवहार चलानेके लिये उसका नाम रख देना नाम निक्षेप हैं। जैसे किसी पुरुषमें कर्मोंके जीतनेका गुण सर्वथा नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है उसको बुलानेके लिये 'जिन' यह नाम रख दिया जाता है।

किसी समान आकारवाले अथवा असमान आकारवाले पदार्थमें गुण तो न हों, परन्तु उसमें गुणोंकी बुद्धि रखना और उसका 'यह वही है' ऐसा व्यवहार करना स्थापना निक्षेप है। जैसे—प्रतिमा, जैसे पार्श्वनाथकी प्रतिमाको मंदिरमें हम पूजते हैं, यद्यपि प्रतिमा पुरु-

धाकार है परन्तु है पाषाणकी। उस पाषाणकी प्रतिमामें उन पार्श्वनाथ भगवानके जीवकी जो कि अनन्तगुण धारी—अर्हन् हैं (थे) स्थापना करना और व्यवहार करना कि यह प्रतिमा ही पार्श्वनाथ है स्थापना निक्षेप है। भावार्थ—उपर्युक्त उदाहरण तदाकार स्थापनाका है। चावल आदि में जो पहले अरहन्तकी स्थापना की जाती थी * वह अतदाकार स्थापना है। अथवा शतरंजके मोहरोंमें जो घोड़े हाथी पयादे आदिकी स्थापना की जाती है वह अतदाकार स्थापना है।

यद्यपि नाम और स्थापना दोनों ही अतद्गुण (गुण रहित) हैं, तथापि दोनोंमें अन्तर है। नाम यदि किसीका जिन रक्खा गया है तो उसे मनुष्य केवल उस नामसे बुलावेंगे। 'जिन'की जो पूज्यता होती है, वह पूज्यता वहां पर नहीं है। परन्तु स्थापनामें जिसकी स्थापना की जाती है, उसका जैसा आदर सत्कार अथवा पूज्यता और गुण स्तवन होता है वैसा ही उसकी स्थापनामें किया जाता है। जैसी जिन (अरहन्त) की पूज्यता मूल जिनमें है वैसी ही उनकी स्थापित मूर्तिमें भी है। बस यही अन्तर है।

ऋजुनयनिरपेक्षतया, सापेक्षं भाविनैगमादिनयैः।
छद्मस्थो जिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम् ॥७४३॥

अर्थ—ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा नहीं रखनेवाला किन्तु भाविनैगम आदि नयोंकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्य निक्षेप है। जैसे—छद्मस्थ जिनके जीवको साक्षात् जिनके समान समझना। **भावार्थ**—द्रव्य निक्षेप तद्गुण होता है, परन्तु पदार्थमें जो गुण आगे होनेवाले हैं अथवा पहले हो चुके हैं उन गुणोंवाला उसे वर्तमानमें कहना यही द्रव्यनिक्षेप है जैसे महावीर स्वामी सर्वज्ञ होनेपर जिन कहलाये थे, परन्तु उन्हें अल्पज्ञ अवस्थामें ही जिन कहना, यह भावि द्रव्य निक्षेप है तथा महावीर स्वामीको मोक्ष गए हुए आज २४४४ वर्ष बीत गये परन्तु दिवालीके दिन यह कहना कि आज ही महावीर स्वामी मोक्ष गये हैं, भूत द्रव्यनिक्षेप है। द्रव्यनिक्षेप वर्तमान गुणोंकी अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिये वह ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं है किन्तु भूत और भावि नैगम नयका विषय है।

तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवशरणसंस्थितिकः।
घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः ॥ ७४४ ॥

---

* यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि हमलोग प्रतिदिन जो पूजाके पहिले आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण करते हैं वह स्थापना स्थापनानिक्षेप नहीं है क्योंकि उसमें 'यह वही है' ऐसा संकल्प नहीं किया जाता वह तो पूजा वा आदरसत्कारका एक अंग है जो कि पूजामें अवश्य कर्त्तव्य हैं यदि ये आह्वान आदि पूजाके समय न किये जायँ तो पूजामें उतने ही अंग कम समझे जाते हैं।

अर्थ—वर्त्तमानमें जो पदार्थ जिस पर्याय सहित हैं उसी पर्यायवाला उसे कहना भाव निक्षेप है। जैसे समवशरणमें विराजमान, चार घातियाकर्मोंसे रहित, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, इस ज्ञानचतुष्टय (अनन्त चतुष्टय) से विशिष्ट, परम औदारिक शरीरवाले अरहन्त–जिनको जिन कहना। भावार्थ—भावनिक्षेप, वर्त्तमान तद्गुणवाले पदार्थका वर्त्तमानमें ही निरूपण करता है इसलिये वह ऋजुसूत्र नय और एवंभूत नयका विषय है। यदि शब्दकी वाच्य मात्र पर्यायका निरूपण करता है तब तो वह एवंभूत नयका विषय है, और यदि पदार्थकी समस्त अर्थ पर्यायोंका वर्त्तमानमें निरूपण करता है तो वह ऋजु सूत्र नयका विषय है।* द्रव्यनिक्षेप और भाव निक्षेप दोनों ही तद्गुण हैं तथापि उनमें कालभेदसे भेद है।

दिङ्मात्रमत्र कथितं व्यासादपि तच्चतुष्टयं यावत्।
प्रत्येकमुदाहरणं ज्ञेयं जीवादिकेषु चार्थेषु॥ ७४५॥

अर्थ—यहांपर चारों निक्षेपोंका डिङ्मात्र (संक्षिप्त) स्वरूप कहा गया है। इनका विस्तारसे कथन और प्रत्येकका उदाहरण जीवादि पदार्थोंमें सुघटित जानना चाहिये। दूसरे ग्रन्थमें भी सोदाहरण चारों निक्षेपोंका उल्लेख इस प्रकार है—

णाम जिणा जिण णामा ठवणजिणा जिणिंदपडिमाए।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था॥ १॥

अर्थ—जिन नाम रख देना नाम जिन कहलाता है। जिनेन्द्रकी प्रतिमा स्थापना जिन कहलाती है। जिनका जीव द्रव्यजिन कहलाता है और समवशरणमें विराजमान जिनेन्द्र भगवान् भाव जिन कहलाते हैं।

प्रतिज्ञा—

उक्तं गुरूपदेशान्नयनिक्षेपप्रमाणमिति तावत्।
द्रव्यगुणपर्ययाणामुपरि यथासंभवं दधाम्यधुना॥ ७४६॥

अर्थ—गुरु (पूर्वाचार्य) के उपदेशसे नय, निक्षेप और प्रमाणका स्वरूप मैंने कहा। अब उनको द्रव्य गुण पर्यायोंके ऊपर यथायोग्य मैं (ग्रन्थकार) घटाता हूं। **भावार्थ**—अब

---

* कुछ लोगोंसे ऐसी शंका भी सुननेमें आती है कि भावनिक्षेप, ऋजुसूत्र नय और एवंभूत नय, इन तीनोंमें क्या अन्तर है, क्योंकि तीनों ही वर्त्तमान पदार्थका निरूपण करते हैं। ऐसे लोगोंकी शंकाका परिहार उपर्युक्त कथनसे भलीभांति होजाता है हम लिख चुके हैं कि निक्षेप और नयोंमें तो विषयविषयीका भेद है। ऋजुसूत्र अर्थनय है, एवंभूत शब्दनय है अर्थात् ऋजुसूत्र नय पदार्थकी वर्तमान समस्त अर्थ पर्यायोंको ग्रहण करता है, और एवंभूत–बोले हुए शब्दकी वाच्य मात्र वर्तमान क्रियाको ग्रहण करता है, इसलिये दोनोंमें महान् अन्तर है।

ग्रन्थकार नय प्रमाणको निक्षेपों पर घटाते हैं । पहले वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंका विषय बतलावेंगे पीछे प्रमाणका विषय बतलावेंगे ।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंका विषय ।

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम् ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ॥ ७४७ ॥

अर्थ—तत्त्व अनिर्वचनीय है अर्थात् बचनके अगोचर है । यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है । तथा तत्त्व (द्रव्य) गुण पर्यायवाला है यह पर्यायार्थिक नयका पक्ष है । **भावार्थ**—तत्त्वमें अभेदबुद्धिका होना द्रव्यार्थिक नय और उसमें भेदबुद्धिका होना पर्यायार्थिक नय है ।

प्रमाणका विषय—

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत् ।
गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ॥ ७४८ ॥

अर्थ—जो तत्त्व अनिर्वचनीय है वही गुण पर्यायवाला है, अन्य नहीं है तथा जो तत्त्व गुण पर्यायवाला है, वही तत्त्व है, यही प्रमाणका विषय है । भावार्थ—वस्तु सामान्य विशेषात्मक है । वस्तुका सामान्यांश द्रव्यार्थिकका विषय है । उसका विशेषांश पर्यायार्थिकका विषय है, तथा सामान्य विशेषात्मक—उभयात्मक वस्तु प्रमाणका विषय है । प्रमाण एक ही समयमें अविरुद्ध रीतिसे दोनों धर्मोंको विषय करता है ।

भेद अभेद पक्ष—

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात् ।
पर्यायोपि यथा स्यादृजुनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात् ॥ ७४९ ॥
यदिदं द्रव्यं स गुणो योपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थात् ।
तदुभयपक्षे दक्षो विवक्षितः प्रमाणपक्षोऽयम् ॥ ७५० ॥

अर्थ—जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है, तथा जो द्रव्य गुण है वह पर्याय नहीं है । यह ऋजुसूत्र नय (पर्यायार्थिक) का पक्ष है क्योंकि भेद पक्ष ही पर्यायार्थिक नयका पक्ष है । तथा जो द्रव्य है वही गुण है, जो गुण है वही द्रव्य है । गुण द्रव्य दोनोंका एक ही अर्थ है । यह अभेदपक्ष द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है तथा भेद और अभेद इन दोनों पक्षोंमें समर्थ विवक्षित प्रमाण पक्ष है ।

पृथगादानमशिष्टं निक्षेपो नयविशेष इव यस्मात् ।
तदुदाहरणं नियमादस्ति नयानां निरूपणावसरे ॥७५१॥

अर्थ—नय और प्रमाणके समान निक्षेपोंका स्वतन्त्र निरूपण करना व्यर्थ है, क्योंकि निक्षेपोंका उदाहरण नयोंके विवेचनमें नियमसे किया गया है।

एक अनेक पक्ष—

अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत्त्रयं मिथोऽनेकम्।
व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वाऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥७५२॥

अर्थ—द्रव्य, अथवा गुण अथवा पर्याय, ये तीनों ही अनेक हैं। व्यवहार विशिष्ट यही नय अनेक संज्ञक कहलाता है, अर्थात् व्यवहार नाम पर्यायका है पर्याय विशिष्ट अनेक अनेक पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना।
इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ॥७५३॥

अर्थ—द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय ये तीनों ही एक नामसे सत् कहे जाते हैं। अर्थात् तीनों ही अभिन्न एक सत्रूप हैं। एकके कहनेसे बाकीके दो का विना कहे हुए ही ग्रहण हो जाता है। यही एक नयका पक्ष है अर्थात् एक पर्यायार्थिक नयका पक्ष है।

न द्रव्यं नापि गुणो नच पर्यायो निरंशदेशत्वात्।
व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ॥७५४॥

अर्थ—न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और न विकल्पद्वारा ही प्रकट है किन्तु निरंश देशात्मक (तत्व) है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है।

द्रव्यगुणपर्ययाख्यैर्यदनेकं सद्विभिद्यते हेतोः।
तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥७५५॥

अर्थ—कारण वश जो सत् द्रव्यगुण पर्यायोंके द्वारा अनेक रूप भिन्न किया जाता है वही सत् अंश रहित होनेसे अभिन्न एक है। यह एक अनेकात्मक उभयरूप प्रमाणपक्ष है।

अस्ति नास्ति पक्ष—

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात्।
अविवक्षितो विपक्षो यावदनन्यः स तावदस्ति नयः ॥७५६॥

अर्थ—वस्तु सामान्यमात्रसे है, अथवा विशेषमात्रसे है। जब तक विपक्षनय अविवक्षित (गौण) रहता है तबतक अनन्यरूपसे एक अस्ति नय ही प्रधान रहता है।

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्याविवक्षितायां वा।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्ति नयः ॥७५७॥

अर्थ—वस्तु सामान्यकी अविवक्षामें विशेषरूपसे नहीं है, अथवा विशेषकी अविवक्षामें सामान्यरूपसे नहीं है यहां पर नास्ति नय ही प्रधान रहता है।

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोपि ततः ।
नच नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु ॥ ७५८॥

अर्थ—द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वस्तु स्वरूपसे भी अस्तिरूप नहीं है, क्योंकि सर्व विकल्पोंसे रहित ही वस्तुका स्वरूप है।

यदिदं नास्ति स्वरूपाभावादस्ति स्वरूपसद्भावात् ।
तद्वाच्यात्ययरचितं वाच्यं सर्वं प्रमाणपक्षस्य ॥७५९॥

अर्थ—जो वस्तु स्वरूपाभावसे नास्तिरूप है और जो स्वरूप सद्भावसे अस्तिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत (अवक्तव्य) है। यह सब प्रमाण पक्ष है, अर्थात् पर्यायार्थिक नयसे अस्तिरूप और द्रव्यार्थिक नयसे विकल्पातीत तथा प्रमाणसे उभयात्मक वस्तु है।

नित्य अनित्य पक्ष—

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत् ।
व्यवहार विशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्धः स्यात्॥ ७६० ॥

अर्थ—सत्—पदार्थ अपने आप प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है। यह प्रसिद्ध व्यवहार विशिष्ट अनित्य नय अर्थात् अनित्य व्यवहार (पर्यायार्थिक) नय है।

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्स्यादनन्यथावृत्तेः ।
व्यवहारन्तर्भूतो नयः स नित्योप्यनन्यशरणः स्यात् ॥ ७६१ ॥

अर्थ—सत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है, किन्तु अन्यथा भाव न होनेसे वह नित्य है। यह अनय शरण (स्वपक्ष नियत) नित्य व्यवहार नय है।

न विनश्यति वस्तु यथा वस्तु तथा नैव जायते नियमात् ।७६२।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षश्च ।

अर्थ—जिसप्रकार वस्तु नष्ट नहीं होता है, उस प्रकार वह नियमसे उत्पन्न भी नहीं होता है, तथा ध्रुव भी नहीं है। यह केवल निश्चय नयका पक्ष है। **भावार्थ**—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही एक समयमें होनेवाली सत्की पर्यायें हैं। इसलिये इन पर्यायोंको पर्यायार्थिक नय विषय करता है, परन्तु निश्चय नय सर्व विकल्पोंसे रहित वस्तुको विषय करता है।

यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्याविवक्षया तदिदम्
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणमविशेषात् ॥ ७६३ ॥

अर्थ—जो वस्तु सामान्यकी अविवक्षामें विशेषोंसे नहीं है, वही वस्तु सामान्यकी विवक्षासे है, वही सामान्य रीतिसे प्रमाण पक्ष है। **भावार्थ**—विशेष नाम पर्यायका है, पर्यायें

अनित्य होती हैं। इसलिये विशेषकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है, सामान्यकी अपेक्षा वह नित्य भी है। प्रमाणकी अपेक्षा वह नित्यानित्यात्मक है।

भाव अभाव पक्ष—

अभिनवभाव परिणतेर्योयं वस्तुन्यपूर्वसमयोयः।
इति यो वदति स कश्चित् पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ॥७६४॥

अर्थ—नवीन परिणाम धारण करनेसे वस्तुमें नवीन ही भाव होता है, ऐसा जो कोई कहता है वह पर्यायार्थिक नयोंमें अभाव नय है।

परिणममानेपि तथा भूतैर्भावैर्विनश्यमानेपि।
नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ॥७६५॥

अर्थ— वस्तुके परिणमन करनेपर भी तथा उसके पूर्व भावोंकेविनष्ट होनेपर भी वस्तुमें नवीन भाव नहीं होता है किन्तु जैसेका तैसा ही रहता है, वह पर्यायार्थिक भाव नय है।

शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि।
नाप्यनभिनवश्च यतः स्यादभूतपूर्वो न भूतपूर्वो वा ॥७६६॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुमें सर्वथा नवीन भाव भी नहीं होता है, तथा प्राचीन भाव भी नहीं रहता है, क्योंकि वस्तु न तो अभूतपूर्व है और न भूतपूर्व है। अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वस्तु न नवीन है और न पुरानी है किन्तु जैसी है वैसी ही है।

अभिनवभावैर्यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत्।
असदुत्पन्नं नहि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत् ॥७६७॥

अर्थ—जो सत् प्रतिक्षण नवीन २ भावोंसे परिणमन करता है वह न तो असत् उत्पन्न होता है और न सत् विनष्ट ही होता है यही प्रमाण पक्ष है।

इत्यादि यथासम्भवमुक्तमिवानुक्तमपि च नयचक्रम्।
योज्यं यथागमादिह प्रत्येकमनेकभावयुतम् ॥७६८॥

अर्थ— इत्यादि अनेक धर्मोको धारण करनेवाला और भी नयसमूह जो यहां पर नहीं कहा गया है, उसे भी कहे हुए के तुल्य ही समझना चाहिये, तथा हर एक नयको आगमके अनुसार यथायोग्य (जहां जैसी अपेक्षा हो) घटाना चाहिये।

समाप्त।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

सुबोधिनी हिंदी भाषाटीका सहित

पञ्चाध्यायी ।

उत्तरार्द्ध वा दूसरा अध्याय--

सामान्य सद्गुण द्रव्य पर्यय व्ययोत्पादन ध्रौव्यकी,
व्यवहार निश्चय नय कथनकी अनेकांत प्रमाणकी ।
अतिविशदव्याख्या हो चुकी पूर्वार्द्धमें अब ध्यानसे,
सम्यक्त्वकी व्याख्या पढ़ो भव हरो सम्यग्ज्ञानसे ॥

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा ।
नासिद्धो धातुसंज्ञोपि कश्चित् पीतः सितोऽपरः ॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार वस्तुका सामान्य धर्म स्वयं सिद्ध है उसी प्रकार वस्तुका विशेष धर्म भी स्वतः सिद्ध है । जिसमें सामान्य धर्म पाया जाता है उसीमें विशेष धर्म भी पाया जाता है यह बात असिद्ध नहीं हैं । जिस प्रकार किसी वस्तुकी "धातु" संज्ञा रखदी जाती है यह तो सामान्य है, चांदी भी धातु कहलाती है, सोना भी धातु कहलाता है इसलिये धातु शब्द तो सामान्य है परन्तु कोई धातु पीली है और कोई सफेद है । यह पीले और सफेदका जो कथन है वह विशेषकी अपेक्षासे है ।

भावार्थ—संसारमें जितने पदार्थ हैं सभीमें सामान्य धर्म भी पाया जाता है और विशेष धर्म भी पाया जाता है । वस्तुको केवल सामान्य धर्मवाली मानना अथवा केवल विशेष धर्मवाली मानना यह मिथ्यात्व है। यदि सामान्य तथा विशेष दोनों रूपोंसे भी वस्तुका स्वरूप माना जाय, परन्तु निरपेक्ष माना जाय, तो वह भी मिथ्या ही है। इसलिये परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा लिये हुए सामान्य विशेषात्मक उभयस्वरूप ही वस्तु है। इसी बातको प्रमाणका विषय बतलाते हुए स्वामी माणिक्यनंदि आचार्यने भी कहा है कि "सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः" इसका आशय यह है कि द्रव्य पर्याय स्वरूप उभयात्मक (सामान्य विशेषात्मक) ही वस्तु प्रमाणका विषय है केवल द्रव्य रूप या केवल पर्याय रूप नयका विषय है और वह नय वस्तुके एक देशको विषय करता है । प्रमाण सम्पूर्ण वस्तुको विषय करता है, इसलिये वस्तुका पूर्ण रूप द्रव्य पर्यायात्मक है । इसी कारण द्रव्य दृष्टिसे वस्तु सदा रहती है उसका कभी नाश नहीं होता

परन्तु पर्याय दृष्टिसे वस्तुका नाश हो जाता है क्योंकि पर्यायें सदा एकसी नहीं रहतीं उत्तरोत्तर बदलती रहती हैं। द्रव्यपर्यायकी अपेक्षासे ही वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है।

सामान्य विशेषमें अंतर—

बहुव्यापकमेवैतत् सामान्यं सदृशत्वतः
अस्त्यल्पव्यापको यस्तु विशेषः सदृशेतरः ॥ २ ॥

अर्थ—सामान्य बहुत वस्तुओंमें रहता है। क्योंकि अनेक वस्तुओंमें रहनेवाले समान धर्मको ही सामान्य कहते हैं। विशेष बहुत वस्तुओंमें नहीं रहता, किंतु खास२ वस्तुओंमें जुदा जुदा रहता है। जो बहुत देशमें रहे उसे व्यापक कहते हैं और जो थोड़े देशमें रहे उसे व्याप्य कहते हैं। सामान्य व्यापक है और विशेष व्याप्य है।

भावार्थ—सामान्य दो प्रकारका है। एक तिर्यक् सामान्य, दूसरा ऊर्ध्वता सामान्य। वस्तुओंके समान परिणाम (आकार) को ही तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जिस प्रकार काली, पीली, नीली, सफेद, चितकवरी, खण्डी, मुण्डी आदि सभी तरहकी गौओंमें सबका एकसा ही गौरूपी परिणमन है इसलिये सभीको गौ कहते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो काली गौका परिणमन कालीमें ही है। पीलीका पीलीमें ही है। इसीतरह सभी गौओंका परिणमन जुदा जुदा है। परन्तु जुदा जुदा होनेपर भी समान है इसलिये उस समानताके कारण सबोंको गौ शब्दसे पुकारते हैं। इसीका नाम गोत्व सामान्य है। समान परिणामको छोड़कर गोत्व जाति और कोई वस्तु नहीं है।

पूर्व और उत्तर पर्यायमें रहनेवाले द्रव्यको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जिस प्रकार कि एक मिट्टीके घड़ेको फोड़ देनेसे उसके दो टुकड़े हो जाते हैं। फिर छोटे छोटे अनेक टुकड़े हो जाते हैं ? उन टुकड़ोंकी धूलि हो जाती है। इसी प्रकार और भी कई अवस्थायें हो जाती हैं परन्तु मिट्टी सब अवस्थाओंमें पाई जाती है।

इस श्लोकमें " सदृशत्वतः " ऐसा जो सामान्यकी व्यापकतामें हेतु दिया है वह नैयायिक दर्शनमें मानी हुई सामान्य जातिका निराकरण करता है। नैयायिकोंने सामान्य जातिको एक स्वतंत्र पदार्थ माना है उसे नित्य और व्यापक भी माना है, वे लोग सामान्यको दो प्रकारसे मानते हैं। एक महासत्ता, दूसरी अवान्तर (अंतर्गत) सत्ता। महासत्ता द्रव्य गुण कर्म तीनोंमें रहती है अवान्तर सत्तायें बहुतसी हैं। संसारभरके सभी घटोंमें एक ही घटत्व जाति है और वह नित्य है ऐसा उनका सिद्धांत है परन्तु यह सिद्धांत युक्त नहीं है। यदि सभी घटोंमें एक ही घटत्व जाति मानी जाय तो वह रस्सीकी तरह एकरूपसे सर्वत्र फैलेगी, ऐसी अवस्थामें जहां घट नहीं है वहां भी वह पाई जायगी और उसके संबंधसे

घटसे भिन्न पदार्थ भी घट कहलाने लगेंगे इसी प्रकार उसके नित्य माननेमें घटका कभी नाश नहीं होना चाहिये। इसी तरह और भी अनेक दोष आते हैं इसलिये वस्तुके सदृश परिणमनको छोड़कर उससे भिन्न सामान्य नामक कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है।

बिना व्यक्तिके सामान्यसे कोई प्रयोजन भी तो नहीं निकलता है। गौसे ही दूध दुहा जाता है। गोत्वसे दूध कोई नहीं दुह सकता है। इसी बातको स्वामी विद्यानंदिने अष्टसहस्रीमें लिखा है कि " न खलु सर्वात्मना सामान्यं वाच्यं तत्प्रतिपत्तेरर्थक्रियां प्रत्यनुपयोगात् नहि गोत्वं वाहदोहादौ उपयुज्यते " इसलिये स्वतन्त्र गोत्व जाति कोई चीज नहीं हैं। केवल समान धर्मको ही सामान्य समझना चाहिये।

इसी प्रकार विशेष भी दो प्रकार है एक पर्याय दूसरा व्यतिरेक। एक द्रव्यमें क्रमसे होने वाले परिणामोंको पर्याय कहते हैं। जिस प्रकार आत्मामें कभी हर्ष होता है कभी विषाद होता है कभी दुःख होता है, कभी सुख होता है।

एक पदार्थकी अपेक्षा दूसरे पदार्थमें जो विलक्षण परिणाम है उसे व्यतिरेक कहते हैं। जिस प्रकार गौसे भिन्न परिणाम भैंसका होता है। पुस्तकसे भिन्न परिणाम चौकीका है, इसी लिये गौसे भैंस जुदी है तथा पुस्तकसे चौकी जुदी है

जिस प्रकार * सामान्य स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार विशेष भी वस्तुके परिणमन विशेषको छोड़ कर और कोई वस्तु नहीं है। जो लोग सर्वथा विशेषको द्रव्यसे भिन्न ही मानते हैं वे भी युक्ति और अनुभवसे शून्य हैं।

विशेष द्रव्योंका स्वरूप—

जीवाजीवविशेषोस्ति द्रव्याणां शब्दतोर्थतः।
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवोऽप्यचेतनः॥ ३॥

अर्थ—द्रव्यके मूलमें दो भेद हैं जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। ये दोनों भेद शब्दकी अपेक्षासे भी हैं और अर्थकी अपेक्षासे भी हैं। जीव और अजीव ये दो वाचक रूप शब्द हैं। इनके वाच्य भी दो प्रकार हैं एक जीव और दूसरा अजीव। इस प्रकार शब्दकी अपेक्षासे दो भेद हैं। अर्थकी अपेक्षासे भी दो भेद हैं। जिसमें ज्ञान दर्शनादिक गुण पाये जांय, वह जीव द्रव्य है और जिसमें ज्ञान दर्शन आदिक गुण न पाये जांय वह अजीव द्रव्य है।

भावार्थ—" जित्तियमित्ता सद्दा तित्तियमिताण होंति परमत्था " जितने शब्द होते हैं उतने ही उनके वाच्य रूप अर्थ भी होते हैं। जीव, अजीव ये दो शब्द हैं इसलिये जीव

* सामान्य और विशेषका विशेष कथन " अष्टसहस्री " में " सत्सामान्यात्तु सर्वैक्य पृथग्द्रव्यादि भेदतः। भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् " इस कारिकाकी व्याख्यामें विस्तारसे किया है।

अजीव रूप द्रव्य इनके अर्थ हैं। सामान्य रीतिसे दो ही द्रव्य हैं एक जीव और दूसरा अजीव, परन्तु विशेष रीतिसे अजीवके ही पांच भेद हैं—पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस प्रकार कुल छह द्रव्य हैं। इनमें जीव द्रव्य तो ज्ञान दर्शन वाला है बाकीके द्रव्य ज्ञान दर्शन रहित (जड़) हैं। इसीलिये जीवको छोड़कर सब अजीवमें ग्रहण कर लिये जाते हैं।

जीव अजीवकी सिद्धि—

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्ताच्चेतनाऽचेतनद्वयम् ।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥ ४ ॥

अर्थ—जीव और अजीव अथवा चेतन और अचेतन ये दो पदार्थ हैं यह बात असिद्ध नहीं है प्रसिद्ध दृष्टान्तसे जीव और अजीव दोनोंकी सिद्धि हो जाती है। यदि जीव और अजीव दोनोंको जुदे जुदे न मानकर एक रूप ही मान लिया जाय तो जीते हुए शरीरमें और घट वस्त्र आदिक जड़ पदार्थोंमें प्रत्यक्ष अन्तर दीखता है वह नहीं दीखना चाहिये इस प्रत्यक्ष भेदसे ही जीव और अजीवकी भिन्न भिन्न सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा अनन्त गुणात्मक अमूर्त पदार्थ है। इसलिये उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सक्ता है। तथापि अनादिकालसे मूर्त कर्मोंका सम्बन्ध होनेसे संसारी आत्मा शरीरमें अनुमान प्रमाण और स्वानुभवसे जाना जाता है। प्रत्येक संसारी आत्मा जैसा शरीर पाता है उसी प्रमाण रहता है। जिस शरीरमें आत्मा है वही शरीर जीवित शरीर कहलाता है। जीवित शरीरमें जो जो क्रियायें होती हैं वे ही क्रियायें आत्माकी सिद्धिमें प्रमाण हैं। किसी बातके विषयमें प्रश्न करनेपर ठीक ठीक उत्तर मिलनेसे तथा समझ पूर्वक काम करनेसे, चतुरता पूर्वक बोलनेसे आदि सभी बातोंसे भले प्रकार सिद्ध होता है कि शरीर विशिष्ट आत्मा जुदा पदार्थ है और घट पटादिक जड़ पदार्थ जुदे हैं।

जीव सिद्धिमें अनुमान—

अस्ति जीवः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
यो नैवं स न जीवोस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥ ५ ॥

अर्थ—जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है इस विषयमें सुखादिकोंका स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रमाण है जो सुखादिकका अनुभव नहीं करता है वह जीव भी नहीं है, जिस प्रकार कि एक घड़ा।

भावार्थ—मैं सुखी हूं अथवा मैं दुःखी हूं, इस प्रकार आत्मामें मानसिक स्वसंवेदन (ज्ञान) प्रत्यक्ष होता है। सुख दुःखका अनुभव ही आत्माको जड़से भिन्न सिद्ध करता है। घट वस्त्र आदिक जड़ पदार्थोंमें सुख दुःखकी प्रतीति नहीं होती है इसलिये वे जीव भी नहीं हैं। इस व्यतिरेक व्याप्तिसे सुख दुःखादिकका अनुभव करनेवाला जीव पदार्थ सिद्ध होता है।

इति हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः ।
साध्यो जीवस्स्वसिद्ध्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥ ६ ॥

अर्थ—जीवः अस्ति स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात्" पूर्वोक्त श्लोकके अनुसार इस अनुमानसे जीवकी सिद्धि होती है। ऊपरके अनुमान वाक्यमें स्वसंवेदन हेतु प्रत्यक्षरूप है। जीवका अस्तित्व (सत्ता) साध्य है। जिसमें पूर्वोक्त स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप हेतु नहीं है वह जीवसे भिन्न अजीव पदार्थ ह।

मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यका विवेचन–

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत् ॥ ७ ॥

अर्थ—छहों द्रव्योंमें कुछ द्रव्य तो मूर्त हैं और कुछ अमूर्त हैं द्रव्योंमें यह मूर्त और अमूर्तका भेद स्वभावसे ही है किसी निमित्तसे किया हुआ नहीं है। जो इन्द्रियोंसे जाना जाय उसे मूर्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके गोचर न हो उसे अमूर्त कहते हैं।

भावार्थ—द्रव्योंमें मूर्त और अमूर्त व्यवस्था स्वाभाविक है। जिसमें रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श पाया जावे उसे ही मूर्त कहते हैं। इसी लिये दूसरी रीतिसे मूर्तका लक्षण यह बतलाया है कि जो इन्द्रियोंसे ग्रहण हो सके वही मूर्त है मूर्तद्रव्यके उपर्युक्त दोनों लक्षण अविरुद्ध हैं। वास्तवमें वही इन्द्रियोंसे ग्रहण हो सकता है जिसमें कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाया जाता है। क्योंकि इन्द्रियोंके ही विषय, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पड़ते हैं। चक्षुका रूप विषय है, रसनाका रस विषय है, नाकका गन्ध विषय है, स्पर्शनेन्द्रियका स्पर्श विषय है। कर्णेन्द्रियका विषय शब्द भी रूप रस गन्ध स्पर्शात्मक ही है। इसलिये विषय विषयीकी अपेक्षासे ही मूर्तका लक्षण इन्द्रिय विषय कहा गया है। जो इन्द्रियगोचर है वह तो मूर्त अवश्य है परन्तु जो इंद्रियगोचर नहीं है वह भी मूर्त है जैसे कि पुद्गलका एक परमाणु। इंद्रियगोचर होनेमें स्थूलता कारण है परमाणु सूक्ष्म है इसलिये वह इंद्रियगोचर नहीं है। परंतु वही परमाणु स्थूल स्कंधमें मिल जानेसे स्थूल रूपमें परिणत होकर इंद्रियगोचर होने लगता है। हां स्पर्शनादि प्रत्यक्ष परमाणु अवस्थामें भी हो सकता है। इसलिये इंद्रियगोचरता मूर्तमात्रमें व्यापक है जो इंद्रियगोचर नहीं है वह अमूर्त है।

मूर्तकी तरह अमूर्त भी यथार्थ है–

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम् ।
सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति ॥ ८ ॥

अर्थ—मूर्त पदार्थ ही वास्तविक है अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं है यह बात भी नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे सब पदार्थोंकी शून्यताका प्रसंग आ जायगा।

भावार्थ—कितने ही पुरुष प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थोंको ही मानते हैं परोक्ष पदार्थोंको

नहीं मानते। परंतु परोक्ष पदार्थोंके स्वीकार किये विना पदार्थोंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती परोक्ष पदार्थोंकी सत्ता अनुमान और आगमसे मानी जाती है। अविनाभावी हेतुसे अनुमान प्रमाण माना जाता है और स्वानुभवन, अखंडयुक्ति तथा अवाधकपनेसे आगम प्रमाण माना जाता है।

मूर्तका लक्षण—

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः।
तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत्॥ ९॥

अर्थ—रूप, रस, गन्ध, वर्णका नाम ही मूर्ति है। जिसमें मूर्ति पाई जाय वही मूर्त द्रव्य कहलाता है और जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्णरूप मूर्ति नहीं पाई जाय वही अमूर्त द्रव्य कहलाता है।

भावार्थ—पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध वर्णरूप मूर्ति पाई जाती है इसलिये वह मूर्त कहलाता है। बाकी द्रव्योंमें उपर्युक्त मूर्ति नहीं पाई जाती इसलिये वे अमूर्त हैं।

मूर्तका ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है—

नासंभवं भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा।
सन्निकर्षोस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरैः॥ १०॥

अर्थ—इन्द्रियोंका *रूपादिकके साथ ही सम्बन्ध होता है और दूसरे पदार्थोंके साथ नहीं होता यह बात असंभव नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष और अनुभवसे सिद्ध है।

अमूर्त पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है?

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः।
यद्विनापीन्द्रियार्थानां सन्निकर्षात् खपुष्पवत्॥ ११॥

अर्थ—यहां पर शङ्काकार कहता है कि अमूर्त पदार्थ भी हैं इसमें क्या प्रमाण है-क्योंकि जितने पदार्थ हैं उन सबका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होता है। अमूर्त पदार्थका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता है इसलिये उसका मानना ऐसा ही है जिस प्रकार कि आकाशके फूलोंका मानना।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाशके फूल वास्तवमें कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये उनका इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी नहीं होता। इसी प्रकार जब अमूर्त पदार्थ भी कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है, यदि अमूर्त पदार्थ वास्तवमें होता तो घट पट आदि पदार्थोंकी तरह उसका भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता।

---

* मूर्तिमान पदार्थ।

यहांपर शङ्काकारका आशय यही है कि जिन पदार्थोंका इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है वे ही तो वास्तवमें हैं उनसे अलग कोई पदार्थ नहीं है ।

शङ्काकारका उत्तर—

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किंत्वसिद्धं रसादिमत् ॥ ११ ॥

अर्थ—अमूर्त पदार्थकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है ऐसा शङ्काकारका कहना ठीक नहीं है । क्योंकि सुख दुःखादिकका स्वसंवेदन होनेसे आत्मा भले प्रकार सिद्ध है सुख दुःखादिकका प्रत्यक्ष करनेवाला आत्मा असिद्ध नहीं है परन्तु उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श मानना असिद्ध है ।

वास्तवमें इन्द्रियज्ञान मलिन ज्ञान है और इसीलिये यथार्थ दृष्टिसे वह परोक्ष है । उसक विषय भी बहुत थोड़ा और मोटा है । सूक्ष्म पदार्थोंका विशद बोध अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही होता है । इसलिये जिनका इन्द्रिय ज्ञान होता है वे ही पदार्थ ठीक हैं बाकी कुछ नहीं, ऐसा मानना किसी तरह युक्ति सङ्गत नहीं है । *

आत्मा रसादिकसे भिन्न है—

तद्यथा तद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।
यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥ १२ ॥

अर्थ—ऊपरके श्लोकमें रसादिक आत्मासे भिन्न ही बतलाये हैं । उसी बातको यहाँपर खुलासा करते हैं । आत्मामें जो रसका ज्ञान होता है वह ज्ञान ही है । रस ज्ञान होनेसे ज्ञान रसवाला नहीं हो जाता है क्योंकि रस पुद्गलका गुण है वह जीवमें किस तरह आसकता है । यदि रस भी आत्मामें पाया जाता तो जिस प्रकार ज्ञान, सुख, दुःखका अनुभव होनेसे ज्ञानी सुखी दुःखी आत्मा बन जाता है उसी प्रकार रसमयी भी होजाता परन्तु ऐसा नहीं है ।

सुखदुःखादिक ज्ञानसे भिन्न नहीं है—

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः ।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥ १४ ॥

अर्थ—सुख दुःख आदिक जो भाव हैं वे ज्ञानसे अभिन्न हैं अर्थात् ज्ञान स्वरूप ही हैं । क्योंकि चेतन भावों में ही सुख दुःखका अनुभव होता है ज्ञानको छोड़कर अन्यत्र कहीं सुख दुःखादिकका अनुभव नहीं हो सक्ता ।

---

* जो लोग इन्द्रिय प्रत्यक्षको ही मानते हैं उनके परलोक गत जनकादिककी भी सिद्धि नहीं हो सक्ती है जनकादिककी असिद्धतामें जन्यजनक सम्बन्ध भी नहीं बनता ।

सुखादिक अजीवमें नहीं हैं—

न पुनः स्वैरसञ्चारि सुखं दुःखं चिदात्मनि।
आत्मेदन्यत्रापि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥ १५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि सुख दुःख भाव जीव और अजीव दोनोंमें ही स्वतन्त्रतासे व्याप्त रहें। किन्तु ये भाव जीवके ही हैं। वर्णादिकमें इन भावोंका होना असंभव है।

भावार्थ—द्रव्योंमें दो प्रकारके गुण होते हैं सामान्य और विशेष। सामान्य गुण समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं परन्तु विशेष गुणोंमें यह बात नहीं है। वे जिस द्रव्यके होते हैं उसीमें असाधारण रीतिसे रहते हैं दूसरेमें कदापि नहीं पाये जाते। सुख दुःखादिक जीव द्रव्यके ही असाधारण वैभाविक तथा स्वाभाविक भाव हैं। इसलिये वे जीव द्रव्यको छोड़ कर अन्य पुद्गल आदिक में नहीं पाये जा सकते।

सारांश—

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत्।
प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥ १६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि आत्मा आदि अमूर्त पदार्थ भी वास्तविक हैं इनको न माननेसे स्वानुभव सिद्ध सुखदुःख आदिकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

शङ्काकार—

नन्वसिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्वादमूर्तिमत्।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥ १७ ॥
तन्मूर्तत्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥ १८ ॥

अर्थ—सुख दुःख आदि मूर्त हैं इसलिये उनको अमूर्त मानना असिद्ध है। जैसे रसका ज्ञान होता है वह रस स्वरूप ही है क्योंकि वह ज्ञान रसवाला है इसी तरह सुखादिकमें मूर्तता सिद्ध हो जाने पर विना कारण उनमें अमूर्तता किस तरह आ सकती है? अविनाभावी साधनसे ही साध्यकी सिद्धि होती है ऐसा न्यायका सिद्धांत है।

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय है कि जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञान उसी रूप हो जाता है। जिस समय ज्ञान रूप, रस, गन्ध स्पर्शको जान रहा है उस समय ज्ञान रूप रस गन्ध स्पर्शात्मक ही है।

उत्तर—

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम्।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥ १९ ॥

अर्थ—ऊपर जो शङ्का उठाई गई है वह ठीक नहीं है। क्योंकि जो रसादि पदार्थोंका ज्ञान होता है वह स्वयं रस रूप नहीं हो जाता अर्थात् ज्ञान ज्ञान ही रहता है और वह अमूर्त ही है। यदि उस ज्ञानको मूर्त कहा जाता है तो उस समय केवल उपचारमात्र ही समझना चाहिये।

भावार्थ—यदि जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह स्वयं उसी रूप होजाय तो देव या मनुष्य जिस समय नारकियोंके स्वरूपका ज्ञान करते हैं तो क्या उस समय वे नारक स्वरूप हो जाते हैं? इसलिये ज्ञान परपदार्थको जानता है परन्तु उस पदार्थ रूप स्वयं नहीं होजाता। जो क्षयोपशम ज्ञान है वह भी वास्तव दृष्टिसे अमूर्त ही है। क्योंकि आत्माका गुण है। ज्ञान मूर्त पदार्थोंको विषय करता है इसलिये उसे मूर्त मानना यह केवल मूर्तका उपचार है। ज्ञानमें कोई मूर्तता नहीं आती है।

ज्ञानको मूर्त माननेमें दोष—

न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमन्मतः।
स्वसंवेद्याद्यभावः स्यात्तज्जडत्वानुषङ्गतः॥ २०॥

अर्थ—ज्ञान उपचार मात्रसे तो मूर्त है परन्तु वास्तवमें मूर्त नहीं है। वह वर्णादिकको विषय करनेवाला है इसीलिये उसमें उपचार है। यदि वास्तवमें ज्ञान मूर्त हो जाय तो पुद्गलकी तरह ज्ञानमें जड़पना भी आ जायगा, और ऐसी अवस्थामें स्वसंवेदन आदिकका अभाव ही हो जायगा।

भावार्थ—जहांपर मुख्य पदार्थ न हो परन्तु कुछ प्रयोजन या निमित्त हो वहांपर उस मुख्यका उपचार किया जाता है। जिसप्रकार लोग बिल्लीको सिंह कह देते हैं। बिल्ली यद्यपि सिंह नहीं है तथापि क्रूरता, आकृति आदि निमित्तवश बिल्लीमें सिंहका उपचार कर लिया जाता है। उसी प्रकार वर्णादिके आकार ज्ञान हो जाता है इसी लिये उस ज्ञानको उपचारसे मूर्त कह देते हैं, वास्तवमें ज्ञान मूर्त नहीं है अन्यथा वह जड़ हो जायगा।

निश्चित सिद्धान्त—

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोस्त्यमूर्तिमान्।
स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्यथागमात्॥ २१॥

अर्थ—इसलिये वर्णादिकसे रहित जीवादिक पदार्थ अमूर्त हैं ऐसा उपर्युक्त प्रमाणसे स्वीकार करना चाहिये अथवा स्वानुभवसे स्वीकार करना चाहिये। आगम भी इसी बातको बतलाता है कि वर्णादिक पुद्गलके गुण हैं और बाकी जीवादिक पांच द्रव्य अमूर्त हैं।

लोक और अलोकका भेद—

लोकालोकविशेषोस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा॥ २२॥

अर्थ—द्रव्योंके लक्षणकी अपेक्षासे ही लोक और अलोकका विभाग होता है। जहां पर छह द्रव्य पाये जाँय अथवा जो छह द्रव्य स्वरूप हो उसे लोक कहते हैं। और जहां छह द्रव्य नहीं पाये जाँय उसे अलोक कहते हैं।

भावार्थ—लोक शब्दका यही अर्थ है कि "लोक्यन्ते षट्पदार्था यत्र असौ लोकः" अर्थात् जहांपर छह पदार्थ पाये जाँय या देखे जायँ उसे लोक कहते हैं। जहांपर छह पदार्थ नहीं किन्तु केवल आकाश ही पाया जाय उसे अलोक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्योंका आश्रय आकाश द्रव्य है। जिस आकाशमें अन्य पांच द्रव्य हैं उसे लोकाकाश कहते हैं और जहां केवल आकाश ही है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। एक आकाशके ही उपाधिभेदसे (निमित्त भेदसे) दो भेद हो गये हैं।

अलोकका स्वरूप—

सोप्यलोको न शून्योस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः।
व्योममात्रावशेषत्वाद्व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो अलोक है वह भी छह द्रव्योंसे सर्वथा शून्य नहीं है। अलोकमें भी छह द्रव्योंमेंसे एक आकाश द्रव्य रहता है इसलिये अलोक केवल आकाशस्वरूप ही है।

भावार्थ—अलोक भी द्रव्य शून्य नहीं है किन्तु आकाश द्रव्यात्मक है।

पदार्थोंमें विशेषता—

क्रिया भावविशेषोस्ति तेषामन्वर्थतो यतः।
भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगताः परे ॥ २४ ॥

अर्थ—उन छहों द्रव्योंमें दो भेद हैं। कोई द्रव्य तो भावात्मक ही हैं और कोई भावात्मक भी हैं तथा क्रियात्मक भी हैं।

भावार्थ—जो पदार्थ सदा एकसे रहते हैं जिनमें हलन चलन क्रिया नहीं होती वे पदार्थ तो भावरूप हैं, और जो पदार्थ कभी स्थिर भी रहते हैं और कभी क्रिया भी करते हैं वे भावस्वरूप भी हैं और क्रिया स्वरूप भी हैं। तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति है उनमें क्रिया होती है, जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति नहीं है उनमें हलन चलन रूप क्रिया नहीं होती है। वे केवल भाववती शक्तिवाले कहलाते हैं।

कोई महाशय जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति नहीं है केवल भाववती शक्ति है उन्हें अपरिणामी न समझ लेवें। परिणमन तो सदा सभी पदार्थोंमें होता है परन्तु परिणमन दो तरहका होता है, जिसमें वस्तुके प्रदेशोंका एक देशसे दूसरा देश हो अर्थात् स्थानसे स्थानान्तर हो उसे तो क्रियारूप परिणमन कहते हैं और जिसमें प्रदेशोंका तो हलन चलन न हो परन्तु पहली अवस्थासे दूसरी अवस्था हो जाय उसे भाव परिणाम कहते हैं, दृष्टान्तके लिये

हमारी कलमको ले लीजिये, कलमका टूट जाना तो उसका क्रियारूप परिणमन है और विना किसी हरकतके रक्खी हुई नवीन कलमका पुराना हो जाना परिणाम है। निष्क्रिय-भावोंमें इसी प्रकारका परिणमन होता है।

भाववती और क्रियावती शक्तिवाले पदार्थोंके नाम—

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥ २५ ॥

अर्थ—जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य भाववाले भी हैं और क्रियावाले भी हैं। तथा जीव, पुद्गल और शेष चारों द्रव्य भाव सहित हैं।

भावार्थ—जीव और पुद्गलमें तो क्रिया और भाव दोनों शक्तियां हैं परन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य केवल भाव शक्ति वाले ही हैं। इन चारोंमें क्रिया नहीं होती, ये चारों ही निष्क्रिय हैं।

क्रिया और भावका लक्षण—

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः ।
भावस्तत्परिणामोस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥ २६ ॥

अर्थ—प्रदेशोंके हिलने चलनेको क्रिया कहते हैं और भाव परिणामको कहते हैं जो कि प्रत्येक वस्तु में धारावाही (बराबर) से होता रहता है।

भावार्थ—प्रदेशोंका एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना आना तो क्रिया कहलाती है और वस्तुमें जो निष्क्रिय भाव हैं उन्हें भाव कहते हैं। इसका खुलासा चोबीसवें श्लोकमें कर चुके हैं।

परिणमन सदा होता है—

नासंभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं ।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥ २७ ॥

अर्थ—यह बात असिद्ध नहीं है कि पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन करते रहते हैं। उसी परिणमनमें कभी २ किन्हीं किन्हीं पदार्थोंके प्रदेश भी हलन चलन करते हैं।

भावार्थ—सभी पदार्थ निरन्तर एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्था तो बदलते ही रहते हैं परन्तु कभी जीव और पुद्गलमें उनके प्रदेशोंकी हलन चलन रूप क्रिया भी होती है।

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा—

तद्यथाचाधिचिद्द्रव्यदेशना रम्यते मया ।
युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्यानतिक्रमात् ॥ २८ ॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि अब हम चेतन द्रव्यके विषयमें ही व्याख्यान करेंगे।

जो कुछ हम कहेंगे वह हमारी निजकी कल्पना नहीं समझना चाहिये, किन्तु युक्ति, आगम, अनुभव और पूर्वाचार्योंके कथनके अनुकूल ही हम कहेंगे। इनसे विरुद्ध नहीं।

भावार्थ—पदार्थकी सिद्धि कई प्रकारसे होती है। कोई पदार्थ युक्तिसे सिद्ध होते हैं, कोई अनुभवसे सिद्ध होते हैं, और कोई आगमसे सिद्ध होते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि जो हम चेतन पदार्थ (जीव) का स्वरूप कहेंगे उसमें युक्ति प्रमाण भी होगा, आगम प्रमाण भी होगा, और अनुभव प्रमाण भी होगा। साथ ही पूर्वके महर्षियोंकी विवेचना (कथन) से अविरुद्धता भी रहेगी। इसलिये जब हमारे कथनमें युक्ति, आगम, अनुभव और पूर्वाचार्योंके कथनसे अविरुद्धता है तो वह अग्राह्य किसी प्रकार नहीं हो सकता। इस कथनसे आचार्यने उत्सूत्रता और अयुक्तकथनका परिहार किया है।

सप्त तत्वोंमें जीवकी मुख्यता—

प्रागुद्देश्यः स जीवोस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात्।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमन्वयात्॥ २९॥

अर्थ—पहले जीवतत्त्वका निरूपण किया जाता है फिर अजीव तत्त्वका किया जायगा। उसके बाद क्रमसे आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्षका कथन किया जायगा। जीवका निरूपण सबसे प्रथम रखनेका कारण भी यही है कि सम्पूर्ण तत्वोंका आधार मुख्य रीतिसे जीव ही पड़ता है सातों तत्वोंमें जीवका ही सम्बन्ध चला जाता है।

भावार्थ—वास्तव दृष्टिसे विचार किया जाय तो सातों ही तत्व जीव द्रव्यकी ही अवस्था विशेष है। इस लिये सातों तत्वोंमें जीवतत्व ही मुख्यता रखता है इसलिये सबसे प्रथम उसीका कथन किया जाता है।

जीव निरूपण—

अस्ति जीवः स्वतस्सिद्धोऽनाद्यनन्तोप्यमूर्तिमान्।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादि रूढत्वाद्द्रव्यमव्ययम्॥ ३०॥

अर्थ—जीव द्रव्य स्वतः सिद्ध है। इसकी आदि नहीं है इसी प्रकार अन्त भी नहीं है। यह जीव अमूर्त है, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादिक अनन्त धर्मात्मक है इसी लिये यह नाशरहित द्रव्य है।

भावार्थ—चार्वाक या अन्य कोई नास्तिक कहते हैं कि जीव द्रव्य स्वतन्त्र कोई नहीं है किन्तु पंचभूतसे मिलकर बन जाता है। इसका खंडन करनेके लिये आचार्यने स्वतः सिद्ध पद दिया है। यह द्रव्य किसीसे किया हुआ नहीं है किन्तु अपने आप सिद्ध है, इसी लिये इसकी न आदि है और न अन्त है। पुद्गल द्रव्यकी तरह इसकी रूपादिक मूर्ति भी नहीं है। यह द्रव्य ज्ञानादिक अनन्त गुण स्वरूप है। गुण नित्य होते हैं इस लिये जीव द्रव्य भी नि-

त्य है इसका कभी भी नाश नहीं होता है केवल अवस्था भेद होता रहता है ।

फिर भी जीवका ही निरूपण—

साधारणगुणोपेतोप्यसाधारणधर्मभाक् ।
विश्वरूपोप्यविश्वस्थः सर्वोपेक्षोपि सर्ववित् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह जीव साधारण गुण सहित है और असाधारण गुण सहित भी है। विश्व (जगत्) रूप है परन्तु विश्वमें ठहरा नहीं है । सबसे उपेक्षा रखनेवाला है, तो भी सबका जाननेवाला है ।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने साहित्यकी छटा दिखाते हुए जीवका स्वरूप कहा है । विरोधालङ्कारमें एक बातको पहले दिखलाते हैं फिर उससे विपरीत ही कह देते हैं परन्तु वास्तवमें वह विपरीत नहीं होता । केवल विपरीत सरीखा दिखता है। जैसे यहांपर ही जीवका स्वरूप दिखाते हुए कहा है कि वह साधारण धर्मवाला है तो भी असाधारण धर्मवाला है, जो साधारण धर्मवाला होगा वह असाधारण धर्मवाला कैसे हो सक्ता है ऐसा विरोध सा दिखता है परन्तु वह विरोध नहीं है केवल अलंकारकी झलक है । यहां पर साहित्यकी न मुख्यता है और न आवश्यकता है इसलिये उसे छोड़कर श्लोकका आशय लिखा जाता है ।

प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त गुण होते हैं अथवा यों कहना चाहिये कि वह द्रव्य अनन्त गुण स्वरूप ही है । उन गुणोंमें कुछ साधारण गुण होते हैं और कुछ विशेष गुण होते हैं। जो समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जांय उन्हें साधारण गुण कहते हैं । इन्हींका दूसरा नाम सामान्य गुण भी है । और जो खास २ वस्तुमें ही पाये जांय उन्हें विशेष गुण कहते हैं । जीव द्रव्यमें सामान्य गुण भी हैं और विशेष गुण भी है । अस्तित्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदिक सामान्य गुण हैं । ये गुण समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं, और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदिक जीवके विशेष गुण हैं, ये जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं पाये जाते । इसलिये जीवमें साधारण गुण और विशेष गुण दोनों हैं । लोक असंख्यात प्रदेशी है और जीव भी लोकके बराबर असंख्यात प्रदेशी है इसलिये यह जीव विश्वरूप है । अर्थात् लोक स्वरूप है तथापि लोकभरमें ठहरा हुआ नहीं है किन्तु लोकके असंख्यातवें भाग स्थानमें है । अथवा ज्ञानकी अपेक्षा विश्वरूप है परन्तु विश्वसे जुदा है । यह जीव सर्व पदार्थोंसे उपेक्षित है अर्थात् किसी पदार्थसे इसका सम्बन्ध नहीं है तथापि यह जीव सब पदार्थोंको जाननेवाला है ।

फिर भी जीवका स्वरूप—

असंख्यातप्रदेशोपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोपि तन्मध्ये संस्थितोपि च ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह जीव असंख्यात प्रदेशवाला है। तथापि अखण्ड द्रव्य है अर्थात् इसके प्रदेश सब अभिन्न हैं तथा सम्पूर्ण द्रव्योंसे यह भिन्न है तथापि उनके बीचमें स्थित है।

फिर भी जीवका स्वरूप—

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोपि यः ।
स्याद्‌द्विधा सोपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः ॥ ३३ ॥

अर्थ—शुद्ध नयकी अपेक्षासे यह जीव द्रव्य शुद्धस्वरूप है, एक रूप है, उसमें भेद कल्पना नहीं है, तथापि पर्याय दृष्टिसे यह जीव दो प्रकार है एक मुक्त जीव दूसरा अमुक्त जीव।

भावार्थ—निश्चय नय उसे कहते हैं जो कि वस्तुके स्वाभाविक भावको ग्रहण करे और व्यवहार नय वस्तुकी अशुद्ध अवस्थाको ग्रहण करता है। जो भाव पर निमित्तसे होते हैं उन्हें ग्रहण करनेवाला ही व्यवहार नय है। निश्चय नयसे जीवमें किसी प्रकारका भेद नहीं है इसलिये उक्त नयसे जीव सदा शुद्ध स्वरूप है तथा एक रूप है, परन्तु कर्मजनित अवस्थाके भेदसे उसी जीवके दो भेद हैं। एक संसारी, दूसरा मुक्त। जो कर्मोपाधि सहित आत्मा है वह संसारी आत्मा है और जो उस कर्मोपाधिसे रहित है वही मुक्त अथवा सिद्ध आत्मा कहलाता है। ये दो भेद कर्मोपाधिसे हुए हैं। और कर्मोपाधि निश्चयनयसे जीवका स्वरूप नहीं है इसलिये जीवमें द्रव्य दृष्टिसे भेद नहीं किन्तु पर्याय दृष्टिसे भेद है।

संसारी जीवका स्वरूप—

बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
मूर्छितोनादितोष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृतिकर्मभिः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मोंसे बंधा हुआ है वही संसारी है। संसारी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपसे रहित है और अनादिकालसे ज्ञानावरणीय आदिक आठ कर्मोंसे मूर्छित हो रहा है।

भावार्थ—आत्माका स्वरूप शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध वीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंने उन गुणोंको ढक दिया है। इन्हीं आठों कर्मोंमें जो मोहनीय कर्म है उसने उन्हें विपरीत स्वाद बना दिया है। इसी लिये संसारी आत्मा असली स्वभावका अनुमान नहीं करता है। जब यह दोष और आवरण मल आत्मासे हट जाता है तब वही आत्मा निज शुद्धरूप अनुभव करने लगता है।

जीव कर्मका सम्बन्ध अनादिसे है—

यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः ।
द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः ॥ ३५ ॥

अर्थ—यह जीवात्मा भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है। इसलिये दोनोंका सम्बन्ध रूप बन्ध भी अनादि है।

भावार्थ—जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे है। यदि इनका सम्बन्ध सादि अर्थात् किसी काल विशेषसे हुआ माना जावे तो अनेक दोष आते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार स्वयं आगे दिखलाते हैं।

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः।
अन्यथा दोषएव स्यादितरेतरसंश्रयः॥ ३६॥

अर्थ—जीव और कर्म दोनोंका सम्बन्ध अनादि कालसे चला आरहा है। यह सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार कि कनकपाषाणका सम्बन्ध अनादिकालीन होता है। यदि जीव पुद्गलका सम्बन्ध अनादिसे न माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

भावार्थ—एक पत्थर ऐसा होता है जिसमें सोना मिला रहता है, उसीको कनकपाषाण कहते हैं। कनकपाषाण खानिसे मिला हुआ ही निकलता है। जिस प्रकार सोनेका और पत्थरका हमेशासे सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव और कर्मका भी हमेशासे सम्बन्धहै। यदि जीव कर्मका सम्बन्ध अनादिसे न माना जावे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। *

अन्योन्याश्रय दोष—

तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः।
बन्धाभावेथ शुद्धेपि बन्धश्चेन्निर्वृत्तिः कथम्॥ ३७॥

अर्थ—यदि जीव पहले कर्मरहित अर्थात् शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता, और यदि शुद्ध होनेपर भी उसके बन्ध मान लिया जाय तो फिर मोक्ष किस प्रकार हो सकती है?

भावार्थ—आत्माका कर्मके साथ जो बन्ध होता है वह अशुद्ध अवस्थामें होता है। यदि कर्मबन्धसे पहले आत्माको शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सक्ता? क्योंकि बन्ध अशुद्ध परिणामोंसे ही होता है। इसलिये बन्ध होनेमें तो अशुद्धताकी आवश्यकता पड़ती है और अशुद्धतामें बन्धकी आवश्यकता पड़ती है। विना पूर्वबन्धके शुद्ध आत्मामें अशुद्धता आ नहीं सक्ती। यदि बिना बन्धके शुद्ध आत्मामें भी अशुद्धता आने लगे तो जो आत्मायें मुक्त हो चुकीं हैं अर्थात् सिद्ध हैं वे भी फिर अशुद्ध हो जांयगीं और अशुद्ध होनेपर बन्ध भी करती रहेंगीं। फिर तो संसारी और मुक्त जीवमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसलिये बन्धरूप कार्यके लिये अशुद्धता रूप कारणकी आवश्यकता है और अशुद्धता रूप कार्यके लिये पूर्वबन्ध रूप कारणकी आवश्यकता है। विना पूर्व कर्मके बंधे हुए अशुद्धता किसी प्रकार नहीं आसकती

* दो पदार्थोंमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रहनेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। इस दोषकी सत्तामें एक पदार्थकी भी सिद्धि नहीं हो पाती।

है । इसलिये अशुद्धतामें बन्धकी और बन्धमें अशुद्धताकी अपेक्षा पड़नेसे एक भी सिद्ध नहीं होता, बस यही अन्योन्याश्रय दोष है । यदि जीव कर्मका सम्बन्ध अनादि माना जाय तो यह दोष सर्वथा नहीं आता ।

दूसरी बात यह है कि सादि सम्बन्ध माननेसे पहले तो शुद्ध आत्मामें बन्ध हो नहीं सक्ता क्योंकि विना कारणके कार्य होता ही नहीं । थोड़ी देरके लिये यह भी मान लिया जाय कि विना रागद्वेष रूप कारणके शुद्ध आत्मा भी बन्ध करता है तो फिर विना कारणसे होनेवाला वह बन्ध किस तरह छूट सक्ता है ? यदि रागद्वेषरूप कारणोंसे बन्ध माना जाय तब तो उन कारणोंके हटनेपर बन्धरूप कार्य भी हट जाता है । परन्तु बिना कारणसे होनेवाला बन्ध दूर हो सक्ता है या नहीं ऐसी अवस्थामें इसका कोई नियम नहीं है । इसलिये मोक्ष होनेका भी कोई निश्चय नहीं है । इस तरह सादि बन्ध माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं ।

पुद्गलको शुद्ध माननेमें दोष—

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः ।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि पुद्गल अनादिसे सदा शुद्ध ही रहता है, ऐसा कहने वालेके मतमें आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध भी नहीं बनेगा । फिर तो विना कारण जिस प्रकार आत्माका ज्ञान स्वाभाविक गुण है उसी प्रकार क्रोधादिक भी आत्माके स्वाभाविक गुण ही ठहरेंगे ।

भावार्थ—पुद्गलकी कर्म रूप अशुद्ध पर्यायके निमित्तसे ही आत्मामें क्रोधादिक होते हैं ऐसा माननेसे तो क्रोधादिक आत्माके स्वभाव नहीं ठहरते हैं । परन्तु पुद्गलको शुद्ध माननेसे आत्मामें विकार करने वाला फिर कोई पदार्थ नहीं ठहरता । ऐसी अवस्थामें क्रोधादिकका हेतु आत्मा ही पड़ेगा और क्रोध मान माया लोभ आदि आत्माके स्वभाव समझे जांयगे यह बात प्रमाण विरुद्ध है ।

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा ।
द्रव्याभावो गुणाभावे क्रोधादीनामदर्शनात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यदि पुद्गलको अनादिसे शुद्ध माना जाय और शुद्ध अवस्थामें भी उसका आत्मासे बन्ध माना जाय तो वह बन्ध सदा रहेगा, क्योंकि शुद्ध पुद्गल रूप हेतुके सद्भावको कौन हटानेवाला है ? पुद्गलकी शुद्धता स्वाभाविक है वह सदा भी रह सक्ती है, और हेतुकी सत्तामें कार्य भी रहेगा ही ।

यदि बन्ध ही न माना जाय तो "ज्ञानकी तरह क्रोधादिक भी आत्माके ही गुण ठहरेंगे" वही दोष जो कि पहले श्लोकमें कह चुके हैं फिर भी आता है और क्रोधादिकको

आत्माका गुण स्वीकार करनेमें दूसरा दोष यह आता है कि जिन २ आत्माओंमें क्रोधादिकका अभाव हो चुका हैं उन २ आत्माओंका भी अभाव हो जायगा। क्योंकि जब क्रोधादिकको गुण मान चुके हैं तो गुणके अभावमें गुणीका अभाव होना स्वतः सिद्ध है, और यह बात देखनेमें भी आती है कि किन्हीं २ शांत आत्माओंमें क्रोधादिक बहुत थोड़ा पाया जाता है। योगियोंमें अति मन्द पाया जाता है, और बारहवें गुणस्थानमें तो उसका सर्वथा अभाव है। इसलिये अशुद्ध पुद्गलका अशुद्ध आत्मासे बन्ध मानना ही न्याय संगत है।

सारांश—

ततसिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥ ४० ॥

अर्थ—इसलिये जीव और कर्मका सम्बन्ध प्रसिद्ध है और वह अनादिकालसे बन्ध रूप है यह बात सिद्ध हो चुकी। जो पहले शङ्काकारने जीव कर्मका सम्बन्ध सादि (किसी समय विशेषसे) सिद्ध किया था वह नहीं सिद्ध हो सका। सादि सम्बन्ध माननेसे इतरेतर (अन्योन्याश्रय) आदि अनेक दोष आते हैं तथा दृष्टान्त भी कोई ठीक नहीं मिलता।

भावार्थ—कनक पाषाण आदि दृष्टान्तोंसे जीव कर्मका अनादि सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। यहां पर यह शङ्का हो सकती है कि दो पदार्थोंका सम्बन्ध हमेशासे कैसा? वह तो किसी खास समयमें जब दो पदार्थ मिलें तभी हो सक्ता है? इस शङ्काका उत्तर यह है कि सम्बन्ध दो प्रकारका होता है, किन्हीं पदार्थोंका तो सादि सम्बन्ध होता है। जैसे कि मकान बनाते समय ईंटोंका सम्बन्ध सादि है। और किन्हीं पदार्थोंका अनादि सम्बन्ध होता है, जैसे कि कनक पाषाणका, अथवा जमीनमें मिली हुई अनेक चीजोंका, अथवा बीज और वृक्षका, अथवा जगद्व्यापी महास्कन्धका अथवा सुमेरु पर्वतका। इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादि है।

जीवकी अशुद्धताका कारण—

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणम्।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥ ४१ ॥

अर्थ—जीवके अशुद्ध रागादिक भावोंका कारण कर्म है, उस कर्मके कारण जीवके रागादि भाव हैं। यह परस्परका कार्यकारणपन ऐसा ही है जैसे कि कोई पुरुष किसी पुरुषका उपकार कर दे तो वह उपकृत पुरुष भी उसका बदला चुकानेके लिये उपकार करनेवालेका प्रत्युपकार करता है।

भावार्थ—यह संसारी आत्मा अनादि कालसे कर्मोंका बन्ध कर रहा है, उस कर्म बन्धमें कारण आत्माके रागद्वेष भाव हैं। रागद्वेषके निमित्तसे ही संसारमें भरी हुई कार्माण

वर्गणाओंको अथवा विस्रसोपचयोंको यह आत्मा *खींचकर अपना सम्बन्धी बना लेता है। जिस प्रकार कि अग्निसे तपा हुआ लोहेका गोला अपने आसपास भरे हुए जलको खींचकर अपनेमें प्रविष्ट कर लेता है। जिन पुद्गल वर्गणाओंको यह अशुद्ध जीवात्मा खींचता है वे ही वर्गणायें आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप (एकमएक) से बँध जाती हैं। बंध समयमें उन्हीं वर्गणाओंकी कर्मरूप पर्याय हो जाती है। फिर कालान्तरमें उन्हीं बांधे हुए कर्मोंके निमित्तसे चारित्रके विभाव भाव रागद्वेष बनते हैं फिर उन रागद्वेष भावोंसे नवीन कर्म बँधते हैं। उन कर्मोंके निमित्तसे फिर भी रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पहले कर्मोंसे रागद्वेष और रागद्वेषसे नवीन कर्म होते रहते हैं। यही परस्परमें कार्य कारण भाव अनादिसे चला आता है।

इसी बातको नीचेके श्लोकोंसे पुष्ट करते हैं—

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः॥ ४२॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना॥ ४३॥

अर्थ—पहले कर्मके उदयसे रागद्वेष—भाव पैदा होते हैं, उन्हीं रागद्वेष भावोंसे नवीन कर्मोंका संचय होता है, उन आये हुए कर्मोंके पाक (उदय) से फिर रागद्वेष भाव बनते हैं, उन भावोंसे फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है, इसी प्रकार प्रवाहकी अपेक्षासे जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादिसे चला आया है। इसी सम्बन्धका नाम संसार है, अर्थात जीवकी रागद्वेष रूप अशुद्ध अवस्थाका ही नाम संसार है। यह संसार विना सम्यग्दर्शन आदि भावोंके नहीं छूट सकता है।×

---

* कर्मके खींचनेमें योग कारण है और आये हुए कर्मोंके स्थिति अनुभाग बन्धमें कषाय कारण है।

×इसका अभिप्राय यह है कि जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता तबतक मिथ्यात्व कर्म आत्माके स्वाभाविक भावोंको ढके रहता है अथवा यों कहना चाहिये कि वह मिथ्यात्व उन भावोंको विपरीत रूपसे परिणमा देता है। उन भावोंके विपरीत होनेसे फिर नये कर्म आते हैं और उन कर्मोंके उदयसे फिर रागद्वेष रूप विपरीत भाव होते हैं परंतु जब वह मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब वे भाव विपरीत नहीं होते किंतु अपने स्वभावमें ही बने रहते हैं इसलिये फिर उनसे नये कर्मोंका आना भी बंद हो जाता है और संचय किये हुए कर्म भी धीरे धीरे नष्ट हो जाते हैं इस तरह सम्यग्दर्शन आदि भावोंसे ही संसार छूटता है।

भावार्थ—"संसरणं संसारः" परिभ्रमणका नाम संसार है। चारों गतियोंमें जीव उत्पन्न होता रहता है इसीको संसार कहते हैं। इस परिभ्रमणका कारण कर्म है। जैसा कर्मका उदय होता है उसीके अनुसार गति, आयु, शरीर आदि अवस्थायें मिल जाती हैं। उस कर्मका भी कारण आत्माके रागद्वेष भाव हैं। इसलिये संसारके कारणोंको ही आचार्यने संसार कहा है। यह संसार तभी छूट सक्ता है जब कि संसारके कारणोंको हटाया जाय। संसारके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच हैं। इन पांचोंके प्रतिपक्षी भाव भी पांच हैं। मिथ्यादर्शनका प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार अविरतिका विरतिभाव, प्रमादका अप्रमत्तभाव, कषायका अकषायभाव, और योगका अयोगभाव प्रतिपक्षी है। जब ये सम्यग्दर्शनादिक भाव आत्मामें प्रगट हो जाते हैं तो फिर इस जीवका संसार भी छूट जाता है।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः।
सोपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति ॥ ४४ ॥

अर्थ—आत्मा और कर्मका जो बन्ध होता है, वह केवल दोनोंके सम्बन्ध मात्रसे ही नहीं हो जाता है, किन्तु आत्माके अशुद्ध भावोंसे होता है और वह परस्पर दोनोंकी अपेक्षा भी रखता है।

भावार्थ—बन्ध दो प्रकारका होता है। एक तो दो वस्तुओंके मेल हो जाने मात्रसे ही होता है। जैसे कि सूखी ईंटोंको परस्पर मिलानेसे होता है। सूखी ईंटोंका सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। दूसरा ईंटोंका ही वह सम्बन्ध जो कि चूनेके लगानेसे वे सब ईंटें एकरूपमें हो जाती हैं। यद्यपि यह मोटा दृष्टान्त है तथापि एक देशमें घनिष्ट सम्बन्धमें घटता ही है। दूसरा दृष्टान्त जल और दूधका भी है। इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध जीव और कर्मके प्रदेशोंके एक रूप हो जाने पर ही होता है। इस सम्बन्धमें कारण आत्माके अशुद्ध भाव ही हैं। कर्म सम्बन्ध और अशुद्ध भाव—इन दोनोंमें परस्पर अपेक्षा है, अर्थात् एक दूसरेमें परस्पर कार्य कारण भाव है।

बन्धका मूल कारण—

अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थरमें सुईको खींचनेकी शक्ति है उसी प्रकार जीव और पुद्गल दोनोंमें वैभाविकी नामा एक शक्ति है जो कि दोनोंमें परस्पर बन्धका कारण है।

भावार्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थरमें खींचनेकी शक्ति है उसी प्रकार लोहेमें खींचे जानेकी शक्ति है। यदि दोनोंमें खींचने और खींचे जानेकी शक्ति न मानी जाय तो

चुम्बक पत्थरके सिवा पीतल चांदी आदिसे लकड़ी पत्थर भी खिचने चाहिये । इसलिये मानना पड़ता है कि दोनोंमें क्रमसे खींचने और खिचनेकी शक्ति है । उसी प्रकार जीवमें कर्मके बांधनेकी शक्ति है और कर्ममें जीवके साथ बंधनेकी शक्ति है । जब जीव और कर्म दोनोंमें क्रमसे बांधने और बंधनेकी शक्ति है तब दोनोंका आत्मक्षेत्रमें बंध हो जाता है। आत्मामें ही बांधनेकी शक्ति है इसलिये आत्मामें ही कर्म आकर बंध जाते हैं । जीव और पुद्गल ही अपनी शुद्ध अवस्थाको छोड़कर बन्ध रूप अशुद्ध अवस्थामें क्यों आते हैं ? धर्म अधर्म आदिक द्रव्य क्यों नहीं अशुद्ध होते । इसका यही कारण है कि वैभाविक नामा गुण इन दो (जीव, पुद्गल) द्रव्योंमें ही पाया जाता है इसलिये इन दोमें ही विकार होता है, शेष द्रव्योंमें नहीं होता ।

बन्ध तीन प्रकारका होता है—

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः ॥
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥

अर्थ—वास्तवमें बन्ध तीन प्रकारका है । भावबंध द्रव्यबंध और उभयबंध । उनमें भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध तो अलग अलग स्वतन्त्र हैं, परन्तु तीसरा जो उभयबन्ध है वह जीव आदि पुद्गल दोनोंके मेलसे होता है ।

भावार्थ—बन्धका लक्षण है कि "अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बन्धः" अर्थात् अनेक पदार्थोंमें एकत्व बुद्धिको उत्पन्न करनेवाले सम्बन्धका नाम बन्ध है । यहांपर बंध तीन प्रकारका बतलाया गया है उसमें उभय बन्ध तो जीवात्मा और पुद्गल-कर्म, इन दोनोंके सम्बन्ध होनेसे होता है । बाकीका जो दो प्रकारका बन्ध है वह द्वन्द्वज नहीं है किन्तु अलग अलग स्वतंत्र है। भावबन्ध तो आत्माका ही वैभाविक (अशुद्ध) भाव है और द्रव्य बन्ध पुद्गलका वह स्कन्ध है जिसमें कि बन्ध होनेकी शक्ति है। इन दोनों प्रकारके अलग अलग बन्धोंमें भी एकत्व बुद्धिको पैदा करनेवाला बन्धका लक्षण जाता ही है। क्योंकि रागात्मा जो भावबंध है वह भी वास्तवमें जीव और पुद्गलका ही विकार है यह राग पर्याय जीव और पुद्गल दोनोंके योगसे हुई है । आत्मांशकी अपेक्षासे राग पर्याय जीवकी बतलाई जाती है और पुद्गलांशकी अपेक्षासे वही पर्याय पुद्गलकी बतलाई जाती है। रागपर्याय दोनोंकी है इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव पुद्गलात्मक हो जाता है अथवा पुद्गल जीवात्मक हो जाता है किन्तु दोनोंके अंशोंके मेलसे रागपर्याय होती है । जो द्रव्य बन्ध है वह भी अनेक परमाणुओंका समुदाय है तथा उभय बन्धमें तो बन्धका लक्षण स्पष्ट ही है ।

ऊपर कहे तीनों प्रकारके बन्धोंका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं आगेके श्लोकोंसे प्रगट करते हैं—

भावबन्ध और द्रव्य बन्धका स्वरूप—

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः ।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो आत्माका रागद्वेष रूप परिणाम है वही भावबन्ध कहलाता है। उसीको जीवबन्ध भी कहते हैं। 'द्रव्यबन्ध' इस पदमें पड़ा हुआ जो द्रव्य शब्द है उसका अर्थ तो पुद्गल पिण्ड है। उस पुद्गल पिण्डमें जो आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति है वही बन्ध शब्दका अर्थ है।

भावार्थ—आत्माका रागद्वेष रूप जो परिणाम है वह तो भावबन्ध है। और संसारमें भरी हुई वे पुद्गल वर्गणायें जो कि आत्माके साथ बंध जानेकी शक्ति रखती हैं द्रव्य बन्ध कहलाती हैं। सभी पुद्गलोंमें आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति नहीं है। पुद्गलके तेईस भेद बतलाये गये हैं। उनमें पांच वर्गणायें ऐसी हैं जिनसे कि जीवका सम्बन्ध है बाकी पुद्गलसे नहीं। वे वर्गणायें आहार वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माण वर्गणा, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। ये ही पांचों आत्माके साथ बंध होनेकी शक्ति रखती हैं। रागद्वेष क्या वस्तु है इस विषयको स्वयं ग्रन्थकार आगे लिखेंगे।

उभय बन्ध—

इतरेतरबन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।
बन्ध्यबन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्ततः ॥ ४८ ॥

अर्थ—भावबन्धके निमित्तसे पुद्गल-कर्म और जीवके प्रदेशोंका जो परस्पर बन्ध्य-बन्धक भाव अर्थात् एक रूपसे मिल जाना है वही उभय बन्ध कहलाता है।

भावार्थ—जो बांधनेवाला है वह बन्धक कहलाता है। और जो बंधनेवाला है वह बन्ध्य कहलाता है। जब बांधनेवाला आत्मा और बंधनेवाला कर्म, दोनों मिल जाते हैं तभी बन्ध्य बन्धक भाव कहलाता है। इसीका नाम उभय बन्ध है। आत्माके प्रदेश और कर्मके प्रदेश, दोनों एक क्षेत्रावगाही अर्थात् एक रूपसे मिल जाते हैं उसीको उभय बन्ध कहते हैं। यह बन्ध भी राग द्वेष रूप भाव बन्धके निमित्तसे ही होता है।

जीव और कर्मकी सत्ता—

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः ।
स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा समक्षोपलब्धितः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जीव और कर्मकी सत्ता भी असिद्ध नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध है। जीव भी स्वतः सिद्ध है और कर्म भी स्वतः सिद्ध है। अथवा जीव और कर्मकी सत्तामें अनेक युक्तियां हैं जो कि अपने अनुभवमें आती हैं, अथवा जीव और कर्मकी सत्तामें प्रत्यक्ष प्रमाण भी है।

भावार्थ—ऊपरके श्लोक द्वारा जीव-कर्मका मिला हुआ उभय बन्ध बतलाया है, उसके विषयमें यदि कोई शंका करे कि उभय बन्ध किस तरह हो सक्ता है? इस शंकाके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि जीव और कर्म दोनों ही अनेक अनुभव पूर्ण युक्तियोंसे सिद्ध हैं। दोनोंकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। दोनों ही प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध हैं।

दोनोंकी सिद्धिमें प्रत्यक्ष प्रमाण—

अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥ ५० ॥

अर्थ—इस शरीरके भीतर "मैं हूं, मैं हूं" ऐसा जो एक प्रकारका ज्ञान होता रहता है उस ज्ञानसे जाना जाता है कि इस शरीरके भीतर जीवरूप एक वस्तु स्वतन्त्र है। अथवा मैं-मैं इस बोधसे ही जीवात्माका मानसिक प्रत्यक्ष स्वयं होता है। इसी प्रकार कोई दरिद्र है, कोई धनाढ्य है कोई अन्धा है कोई गूंगा है आदि अनेक प्रकारके जीवोंके देखनेसे कर्मका बोध होता है।

भावार्थ—यदि आत्मा शरीरसे भिन्न स्वतः सिद्ध–स्वतन्त्र पदार्थ न होता तो शरीरसे भिन्न "मैं–मैं" ऐसी अन्तर्मुखाकार (अभ्यन्तर वचन) प्रतीति कभी न होती। यदि कर्म न होता तो जीवोंमें "कोई सुखी कोई दुःखी" आदि भेद कभी न पाया जाता।

जीव कर्मका सम्बन्ध—

यथास्तित्वं स्वतः सिद्धं संयोगोपि तथानयोः ।
कर्तृभोक्त्रादिभावानामन्यथानुपपत्तितः ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जीव और कर्मका अस्तित्व (सत्ता) स्वतः सिद्ध है उसी प्रकार इन दोनोंका संयोग भी स्वतः सिद्ध है। यदि जीव कर्मका सम्बन्ध नहीं माना जाय तो जीवमें कर्तापना तथा भोक्तापना नहीं आ सक्ता।

भावार्थ—जीव और कर्मका कार्य हम प्रत्यक्ष देखते हैं इसलिये जीव कर्मके सम्बन्धमें हमको कोई शंका नहीं रहती, यदि जीव कर्मका अनादिकालीन घनिष्ट सम्बन्ध न होता तो जीव कर्म करनेवाला और कर्तव्यानुसार फल भोगने वाला कभी सिद्ध न होता।

शङ्काकार—

ननु मूर्तिमता मूर्तो बध्यते द्व्यणुकादिवत्
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः ॥ ५२ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि मूर्तिमान् पदार्थसे मूर्तिवाला पदार्थ ही बँध सक्ता है। जैसे कि द्व्यणुक, द्व्यणुक दो परमाणुओंके समूहको कहते हैं। दोनों ही परमाणु मूर्त

हैं इसी लिये उन दोनोंका मिलकर द्व्यणुक कहलाता है। परन्तु मूर्तिवाले कर्मसे अमूर्त-आत्माका बन्ध कभी नहीं हो सक्ता ?

उत्तर—

नैवं यतः स्वतः सिद्धः स्वभावोतर्कगोचरः ।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोर्हति ॥ ५३ ॥

अर्थ—कर्मका जीवात्माके साथ बन्ध नहीं हो सक्ता है ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है। क्योंकि जीव-कर्मका बंध अनादिसे स्वयं सिद्ध है यह एक स्वाभाविक बात है, और स्वभाव किसीका कैसा ही क्यों न हो, उसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती। जीव कर्मका बन्ध अनादिकालसे हो रहा है यह अशुद्ध जीवात्माका स्वभाव ही है और कर्मका भी यह स्वभाव है कि वह अशुद्ध जीवात्मामें संयुक्त हो जाता है तथा जीवकी अशुद्धता अनादि कालसे है, इसलिये इस स्वाभाविक विषयमें आक्षेप करना व्यर्थ है। यदि कोई इस बातकी (जीव-कर्मका बंध कैसे हुआ) परीक्षा ही करना चाहे तो उस अनादि-कालीन बंधरूप स्वभावकी परीक्षा भी हो सकती है।

स्वभावका उदाहरण—

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत् ।
एवं विधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निका उष्ण लक्षण है। वह किसीने कहींसे लाकर नहीं रक्खा है। इस प्रकारका अग्निका स्वभाव ही है कि वह गर्म रहती है। यदि कोई यह शंका करे कि अग्नि क्यों गर्म है? तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है। "ऐसा स्वभाव क्यों है" यदि ऐसी तर्कणा उठाई जाय तो यही कहना पड़ेगा कि नहीं मानते हो तो छूकर देखलो, स्पर्श करनेसे हाथ जलने लगता है इस लिये अग्नि गर्म है। यह निर्णीत अग्निका स्वभाव ही है।

दार्ष्टान्त—

तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः ।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोयं व्योमपुष्पवत् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निमें स्वयं सिद्ध उष्णता है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्मका भी अनादिसे स्वयं सिद्ध बन्ध हो रहा है। जिस प्रकार अग्निके उष्णपनेमें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सक्ती है उसी प्रकार जीव और कर्मके बन्धमें भी किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सक्ती है। फिर यह बन्ध कहांसे हुआ? किसने किया? कहां किया? आदि

प्रश्न आकाशके पुष्पकी तरह सर्वथा निष्फल है। जिस प्रकार आकाशके पुष्प नहीं ठहरते उसी प्रकार यह प्रश्न भी नहीं ठहरता।

चेद् विभुत्सास्तिचित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम्॥ ५६॥

अर्थ—कर्मोंका जीवके साथ बन्ध है अथवा नहीं है? है तो किस प्रकार है? इत्यादि जाननेकी यदि तुम्हारे हृदयमें आकांक्षा है तो स्वानुभूति प्रत्यक्षसे विचार लो।

भावार्थ—जिस समय आत्मामें स्वानुभव होने लगेगा, उस समय इन बातोंका स्वयं परिज्ञान हो जायगा।

अमूर्त आत्माका मूर्त पुद्गलके साथ किस प्रकार सम्बन्ध होता है इसीका खुलासा किया जाता है—

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः।
मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत्॥ ५७॥

अर्थ—वास्तवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान-दोनों ही ज्ञान अमूर्त हैं, परन्तु मूर्त मद्य आदि पदार्थोंके योगसे उन ज्ञानोंका परिणमन बदल जाता है।

भावार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही आत्माके ज्ञान गुणकी पर्यायरूप हैं। आत्मा अमूर्त है इसलिये ये दोनों भी अमूर्त ही हैं, परन्तु जब कोई आदमी मदिरा भंग आदि मादक पदार्थोंका पान कर लेता है तो उस आदमीका ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है, मदिरापान करनेवाला मनुष्य बेहोश हो जाता है। यह बेहोशी उसी मूर्त मदिराके निमित्तसे होती है। इस कथनसे आत्माका मूर्त कर्मसे किस तरह बंध हो जाता है? इस प्रश्नका अच्छी तरह निराकरण हो जाता है।

उसीका स्पष्टार्थ—

नासिद्धं तत्तथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः।
विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्द्वयम्॥ ५८॥

अर्थ—मदिराके निमित्तसे ज्ञान मंद हो जाता है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध है। क्योंकि मदिरा आदिके विना मतिज्ञान, श्रुतज्ञान मूर्छित नहीं होते।

भावार्थ—विना मदिराके ज्ञान निर्मल रहता है और मद्य पीनेसे मूर्छित हो जाता है इसलिये अमूर्त ज्ञानपर मूर्त मदिराका पूरा असर पड़ता है।

वास्तवमें ज्ञान अमूर्त है—

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत्।
न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात्॥ ५९॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कथंचित् मूर्त भी हैं, परन्तु उक्त दोनों ज्ञानोंमें मूर्त

आत्माका गुण स्वीकार करनेमें दूसरा दोष यह आता है कि जिन २ आत्माओंमें क्रोधादिकका अभाव हो चुका हैं उन २ आत्माओंका भी अभाव हो जायगा। क्योंकि जब क्रोधादिकको गुण मान चुके हैं तो गुणके अभावमें गुणीका अभाव होना स्वतः सिद्ध है, और यह बात देखनेमें भी आती है कि किन्हीं २ शांत आत्माओंमें क्रोधादिक बहुत थोड़ा पाया जाता है। योगियोंमें अति मन्द पाया जाता है, और बारहवें गुणस्थानमें तो उसका सर्वथा अभाव है। इसलिये अशुद्ध पुद्गलका अशुद्ध आत्मासे बन्ध मानना ही न्याय संगत है।

सारांश—

नतिसद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥ ४० ॥

अर्थ—इसलिये जीव और कर्मका सम्बन्ध प्रसिद्ध है और वह अनादिकालसे बन्ध रूप है यह बात सिद्ध हो चुकी। जो पहले शङ्काकारने जीव कर्मका सम्बन्ध सादि (किसी समय विशेषसे) सिद्ध किया था वह नहीं सिद्ध हो सका। सादि सम्बन्ध माननेमें इतरेतर (अन्योन्याश्रय) आदि अनेक दोष आते हैं तथा दृष्टान्त भी कोई ठीक नहीं मिलता।

भावार्थ—कनक पाषाण आदि दृष्टान्तोंसे जीव कर्मका अनादि सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। यहां पर यह शङ्का हो सकती है कि दो पदार्थोंका सम्बन्ध हमेशासे कैसा? वह तो किसी खास समयमें जब दो पदार्थ मिलें तभी हो सक्ता है? इस शङ्काका उत्तर यह है कि सम्बन्ध दो प्रकारका होता है, किन्हीं पदार्थोंका तो सादि सम्बन्ध होता है। जैसे कि मकान बनाते समय ईटोंका सम्बन्ध सादि है। और किन्ही पदार्थोंका अनादि सम्बन्ध होता है, जैसे कि कनक पाषाणका, अथवा जमीनमें मिली हुई अनेक चीजोंका, अथवा बीज और वृक्षका, अथवा जगद्व्यापी महास्कन्धका अथवा सुमेरु पर्वतका। इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादि है।

जीवकी अशुद्धताका कारण—

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणम्।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥ ४१ ॥

अर्थ—जीवके अशुद्ध रागादिक भावोंका कारण कर्म है, उस कर्मके कारण जीवके रागादि भाव हैं। यह परस्परका कार्यकारणपन ऐसा ही है जैसे कि कोई पुरुष किसी पुरुषका उपकार कर दे तो वह उपकृत पुरुष भी उसका बदला चुकानेके लिये उपकार करनेवालेका प्रत्युपकार करता है।

भावार्थ—यह संसारी आत्मा अनादि कालसे कर्मोंका बन्ध कर रहा है, उस कर्म बन्धमें कारण आत्माके रागद्वेष भाव हैं। रागद्वेषके निमित्तसे ही संसारमें भरी हुई कार्माण

वर्गणाओंको अथवा विस्रसोपचयोंको यह आत्मा *खींचकर अपना सम्बन्धी बना लेता है। जिस प्रकार कि अग्निसे तपा हुआ लोहेका गोला अपने आसपास भरे हुए जलको खींचकर अपनेमें प्रविष्ट कर लेता है। जिन पुद्गल वर्गणाओंको यह अशुद्ध जीवात्मा खींचता है वे ही वर्गणायें आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप (एकमएक) से बँध जाती हैं। बंध समयमें उन्हीं वर्गणाओंकी कर्मरूप पर्याय हो जाती है। फिर कालान्तरमें उन्हीं बांधे हुए कर्मोंके निमित्तसे चारित्रके विभाव भाव रागद्वेष बनते हैं फिर उन रागद्वेष भावोंसे नवीन कर्म बँधते हैं। उन कर्मोंके निमित्तसे फिर भी रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पहले कर्मोंसे रागद्वेष और रागद्वेषसे नवीन कर्म होते रहते हैं। यही परस्परमें कार्य कारण भाव अनादिसे चला आता है।

इसी बातको नीचेके श्लोकोंसे पुष्ट करते हैं—

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः॥ ४२॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना॥ ४३॥

अर्थ—पहले कर्मके उदयसे रागद्वेष-भाव पैदा होते हैं, उन्हीं रागद्वेष भावोंसे नवीन कर्मोंका संचय होता है, उन आये हुए कर्मोंके पाक (उदय) से फिर रागद्वेष भाव बनते हैं, उन भावोंसे फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है, इसी प्रकार प्रवाहकी अपेक्षासे जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादिसे चला आया है। इसी सम्बन्धका नाम संसार है, अर्थात् जीवकी रागद्वेष रूप अशुद्ध अवस्थाका ही नाम संसार है। यह संसार विना सम्यग्दर्शन आदि भावोंके नहीं छूट सकता है।×

---

* कर्मके खींचनेमें योग कारण है और आये हुए कर्मोंके स्थिति अनुभाग बन्धमें कषाय कारण है।

×इसका अभिप्राय यह है कि जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता तबतक मिथ्यात्व कर्म आत्माके स्वाभाविक भावोंको ढके रहता है अथवा यों कहना चाहिये कि वह मिथ्यात्व उन भावोंको विपरीत रूपसे परिणमा देता है। उन भावोंके विपरीत होनेसे फिर नये कर्म आते हैं और उन कर्मोंके उदयसे फिर रागद्वेष रूप विपरीत भाव होते हैं परंतु जब वह मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब वे भाव विपरीत नहीं होते किंतु अपने स्वभावमें ही बने रहते हैं इसलिये फिर उनसे नये कर्मोंका आना भी बंद हो जाता है और संचय किये हुए कर्म भी धीरे धीरे नष्ट हो जाते हैं इस तरह सम्यग्दर्शन आदि भावोंसे ही संसार छूटता है।

भावार्थ—"संसरणं संसारः" परिभ्रमणका नाम संसार है। चारों गतियोंमें जीव उत्पन्न होता रहता है इसीको संसार कहते हैं। इस परिभ्रमणका कारण कर्म है। जैसा कर्मका उदय होता है उसीके अनुसार गति, आयु, शरीर आदि अवस्थायें मिल जाती हैं। उस कर्मका भी कारण आत्माके रागद्वेष भाव हैं। इसलिये संसारके कारणोंको ही आचार्यने संसार कहा है। यह संसार तभी छूट सकता है जब कि संसारके कारणोंको हटाया जाय। संसारके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच हैं। इन पांचोंके प्रतिपक्षी भाव भी पांच हैं। मिथ्यादर्शनका प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार अविरतिका विरतिभाव, प्रमादका अप्रमत्तभाव, कषायका अकषायभाव, और योगका अयोगभाव प्रतिपक्षी है। जब ये सम्यग्दर्शनादिक भाव आत्मामें प्रगट हो जाते हैं तो फिर इस जीवका संसार भी छूट जाता है।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः।
सोपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति ॥ ४४ ॥

अर्थ—आत्मा और कर्मका जो बन्ध होता है, वह केवल दोनोंके सम्बन्ध मात्रसे ही नहीं हो जाता है, किन्तु आत्माके अशुद्ध भावोंसे होता है और वह परस्पर दोनोंकी अपेक्षा भी रखता है।

भावार्थ—बन्ध दो प्रकारका होता है। एक तो दो वस्तुओंके मेल हो जाने मात्रसे ही होता है। जैसे कि सूखी ईंटोंको परस्पर मिलानेसे होता है। सूखी ईंटोंका सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। दूसरा ईंटोंका ही वह सम्बन्ध जो कि चूनेके लगानेसे व सब ईंटें एकरूपमें हो जाती हैं। यद्यपि यह मोटा दृष्टान्त है तथापि एक देशमें घनिष्ट सम्बन्धमें घटता ही है। दूसरा दृष्टान्त जल और दूधका भी है। इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध जीव और कर्मके प्रदेशोंके एक रूप हो जाने पर ही होता है। इस सम्बन्धमें कारण आत्माके अशुद्ध भाव ही हैं। कर्म सम्बन्ध और अशुद्ध भाव—इन दोनोंमें परस्पर अपेक्षा है, अर्थात् एक दूसरेमें परस्पर कार्य कारण भाव है।

बन्धका मूल कारण—

अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थरमें सुईको खींचनेकी शक्ति है उसी प्रकार जीव और पुद्गल दोनोंमें वैभाविकी नामा एक शक्ति है जो कि दोनोंमें परस्पर बन्धका कारण है।

भावार्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थरमें खींचनेकी शक्ति है उसी प्रकार लोहेमें खींचे जानेकी शक्ति है। यदि दोनोंमें खींचने और खींचे जानेकी शक्ति न मानी जाय तो

चुम्बक पत्थरके सिवा पीतल चांदी आदिसे लकड़ी पत्थर भी खिंचने चाहिये। इसलिये मानना पड़ता है कि दोनोंमें क्रमसे खींचने और खिंचनेकी शक्ति है। उसी प्रकार जीवमें कर्मके बांधनेकी शक्ति है और कर्ममें जीवके साथ बंधनेकी शक्ति है। जब जीव और कर्म दोनोंमें क्रमसे बांधने और बंधनेकी शक्ति है तब दोनोंका आत्मक्षेत्रमें बंध हो जाता है। आत्मामें ही बांधनेकी शक्ति है इसलिये आत्मामें ही कर्म आकर बंध जाते हैं। जीव और पुद्गल ही अपनी शुद्ध अवस्थाको छोड़कर बन्ध रूप अशुद्ध अवस्थामें क्यों आते हैं? धर्म अधर्म आदिक द्रव्य क्यों नहीं अशुद्ध होते। इसका यही कारण है कि वैभाविक नामा गुण इन दो (जीव, पुद्गल) द्रव्योंमें ही पाया जाता है इसलिये इन दोमें ही विकार होता है, शेष द्रव्योंमें नहीं होता।

बन्ध तीन प्रकारका होता है—

अर्थतास्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः ॥
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥

अर्थ—वास्तवमें बन्ध तीन प्रकारका है। भावबंध द्रव्यबंध और उभयबंध। उनमें भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध तो अलग अलग स्वतन्त्र हैं, परन्तु तीसरा जो उभयबन्ध है वह जीव आदि पुद्गल दोनोंके मेलसे होता है।

भावार्थ—बन्धका लक्षण है कि "अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बन्धः" अर्थात् अनेक पदार्थोंमें एकत्व बुद्धिको उत्पन्न करनेवाले सम्बन्धका नाम बन्ध है। यहांपर बंध तीन प्रकारका बतलाया गया है उसमें उभय बन्ध तो जीवात्मा और पुद्गल-कर्म, इन दोनोंके सम्बन्ध होनेसे होता है। बाकीका जो दो प्रकारका बन्ध है वह द्वन्द्वज नहीं है किन्तु अलग अलग स्वतंत्र है। भावबन्ध तो आत्माका ही वैभाविक (अशुद्ध) भाव है और द्रव्य बन्ध पुद्गलका वह स्कन्ध है जिसमें कि बन्ध होनेकी शक्ति है। इन दोनों प्रकारके अलग अलग बन्धोंमें भी एकत्व बुद्धिको पैदा करनेवाला बन्धका लक्षण जाता ही है। क्योंकि रागात्मा जो भावबंध है वह भी वास्तवमें जीव और पुद्गलका ही विकार है यह राग पर्याय जीव और पुद्गल दोनोंके योगमें हुई है। आत्मांशकी अपेक्षासे राग पर्याय जीवकी बतलाई जाती है और पुद्गलांशकी अपेक्षासे वही पर्याय पुद्गलकी बतलाई जाती है। रागपर्याय दोनोंकी है इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव पुद्गलात्मक हो जाता है अथवा पुद्गल जीवात्मक हो जाता है किन्तु दोनोंके अंशोंके मेलसे रागपर्याय होती है। जो द्रव्य बन्ध है वह भी अनेक परमाणुओंका समुदाय है तथा उभय बन्धमें तो बन्धका लक्षण स्पष्ट ही है।

ऊपर कहे तीनों प्रकारके बन्धोंका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं आगेके श्लोकोंसे प्रगट करते हैं—

भावबन्ध और द्रव्य बन्धका स्वरूप—

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः ।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो आत्माका रागद्वेष रूप परिणाम है वही भावबन्ध कहलाता है। उसीको जीवबन्ध भी कहते हैं। 'द्रव्यबन्ध' इस पदमें पड़ा हुआ जो द्रव्य शब्द है उसका अर्थ तो पुद्गल पिण्ड है। उस पुद्गल पिण्डमें जो आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति है वही बन्ध शब्दका अर्थ है।

भावार्थ—आत्माका रागद्वेष रूप जो परिणाम है वह तो भावबन्ध है। और संसारमें भरी हुई वे पुद्गल वर्गणायें जो कि आत्माके साथ बंध जानेकी शक्ति रखती हैं द्रव्य बन्ध कहलाती हैं। सभी पुद्गलोंमें आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति नहीं है। पुद्गलके तेईस भेद बतलाये गये हैं। उनमें पांच वर्गणायें ऐसी हैं जिनमें कि जीवका सम्बन्ध है बाकी पुद्गलसे नहीं। वे वर्गणायें आहार वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माण वर्गणा, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। ये ही पांचों आत्माके साथ बँध होनेकी शक्ति रखती हैं। रागद्वेष क्या वस्तु है इस विषयको स्वयं ग्रन्थकार आगे लिखेंगे।

उभय बन्ध—

इतरेतरबन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।
बन्ध्यबन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्ततः ॥ ४८ ॥

अर्थ—भावबन्धके निमित्तसे पुद्गल-कर्म और जीवके प्रदेशोंका जो परस्पर बन्ध्य-बन्धक भाव अर्थात् एक रूपमें मिल जाना है वही उभय बन्ध कहलाता है।

भावार्थ—जो बांधनेवाला है वह बन्धक कहलाता है। और जो बंधनेवाला है वह बन्ध्य कहलाता है। जब बांधनेवाला आत्मा और बंधनेवाला कर्म, दोनों मिल जाते हैं तभी बन्ध्य बन्धक भाव कहलाता है। इसीका नाम उभय बन्ध है। आत्माके प्रदेश और कर्मके प्रदेश, दोनों एक क्षेत्रावगाही अर्थात् एक रूपसे मिल जाते हैं उसीको उभय बन्ध कहते हैं। यह बन्ध भी राग द्वेष रूप भाव बन्धके निमित्तसे ही होता है।

जीव और कर्मकी सत्ता—

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः ।
स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा समक्षोपलब्धितः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जीव और कर्मकी सत्ता भी असिद्ध नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध है। जीव भी स्वतः सिद्ध है और कर्म भी स्वतः सिद्ध है। अथवा जीव और कर्मकी सत्तामें अनेक युक्तियां हैं जो कि अपने अनुभवमें आती हैं, अथवा जीव और कर्मकी सत्तामें प्रत्यक्ष प्रमाण भी है।

भावार्थ—उपरके श्लोक द्वारा जीव-कर्मका मिला हुआ उभय बन्ध बतलाया है, उसके विषयमें यदि कोई शंका करे कि उभय बन्ध किस तरह हो सक्ता है ? इस शंकाके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि जीव और कर्म दोनों ही अनेक अनुभव पूर्ण युक्तियोंसे सिद्ध हैं। दोनोंकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। दोनों ही प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध हैं।

दोनोंकी सिद्धिमें प्रत्यक्ष प्रमाण—

अहम्प्रत्ययवेद्यत्त्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः॥ ५० ॥

अर्थ—इस शरीरके भीतर " मैं हूं, मैं हूं " ऐसा जो एक प्रकारका ज्ञान होता रहता है उस ज्ञानसे जाना जाता है कि इस शरीरके भीतर जीवरूप एक वस्तु स्वतन्त्र है। अथवा मैं-मैं इस बोधसे ही जीवात्माका मानसिक प्रत्यक्ष स्वयं होता है। इसी प्रकार कोई दरिद्र है, कोई धनाढ्य है कोई अन्धा है कोई गूंगा है आदि अनेक प्रकारके जीवोंके देखनेसे कर्मका बोध होता है।

भावार्थ—यदि आत्मा शरीरसे भिन्न स्वतः सिद्ध–स्वतन्त्र पदार्थ न होता तो शरीरसे भिन्न " मैं–मैं " ऐसी अन्तर्मुखाकार (अभ्यन्तर वचन) प्रतीति कभी न होती। यदि कर्म न होता तो जीवोंमें " कोई सुखी कोई दुःखी " आदि भेद कभी न पाया जाता।

जीव कर्मका सम्बन्ध—

यथास्तित्वं स्वतः सिद्धं संयोगोपि तथानयोः।
कर्तृभोक्त्रादिभावानामन्यथानुपपत्तितः॥ ५१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जीव और कर्मका अस्तित्व (सत्ता) स्वतः सिद्ध है उसी प्रकार इन दोनोंका संयोग भी स्वतः सिद्ध है। यदि जीव कर्मका सम्बन्ध नहीं माना जाय तो जीवमें कर्तापना तथा भोक्तापना नहीं आ सक्ता।

भावार्थ—जीव और कर्मका कार्य हम प्रत्यक्ष देखते हैं इसलिये जीव कर्मके सम्बन्धमें हमको कोई शंका नहीं रहती, यदि जीव कर्मका अनादिकालीन घनिष्ट सम्बन्ध न होता तो जीव कर्म करनेवाला और कर्तव्यानुसार फल भोगने वाला कभी सिद्ध न होता।

शङ्काकार—

ननु मूर्तिमता मूर्तो बध्यते द्व्यणुकादिवत्
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः॥ ५२ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि मूर्तिमान् पदार्थसे मूर्तिवाला पदार्थ ही बँध सक्ता है। जैसे कि द्व्यणुक, द्व्यणुक दो परमाणुओंके समूहको कहते हैं। दोनों ही परमाणु मूर्त

हैं इसी लिये उन दोनोंका मिलकर द्व्यणुक कहलाता है। परन्तु मूर्तिवाले कर्मसे अमूर्त–आत्माका बन्ध कभी नहीं हो सक्ता ?

उत्तर—

नैवं यतः स्वतः सिद्धः स्वभावोतर्कगोचरः ।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोर्हति ॥ ५३ ॥

अर्थ—कर्मका जीवात्माके साथ बन्ध नहीं हो सक्ता है ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है। क्योंकि जीव–कर्मका बंध अनादिसे स्वयं सिद्ध है यह एक स्वाभाविक बात है, और स्वभाव किसीका कैसा ही क्यों न हो, उसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती। जीव कर्मका बन्ध अनादिकालसे हो रहा है यह अशुद्ध जीवात्माका स्वभाव ही है और कर्मका भी यह स्वभाव है कि वह अशुद्ध जीवात्मासे संयुक्त हो जाता है तथा जीवकी अशुद्धता अनादि कालसे है, इसलिये इस स्वाभाविक विषयमें आक्षेप करना व्यर्थ है। यदि कोई इस बातकी (जीव–कर्मका बंध कैसे हुआ) परीक्षा ही करना चाहे तो उस अनादि-कालीन बंधरूप स्वभावकी परीक्षा भी हो सकती है।

स्वभावका उदाहरण—

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत् ।
एवं विधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निका उष्ण लक्षण है। वह किसीने कहींसे लाकर नहीं रक्खा है। इस प्रकारका अग्निका स्वभाव ही है कि वह गर्म रहती है। यदि कोई यह शंका करे कि अग्नि क्यों गर्म है ? तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है। "ऐसा स्वभाव क्यों है" यदि ऐसी तर्कणा उठाई जाय तो यही कहना पड़ेगा कि नहीं मानते हो तो छूकर देखलो, स्पर्श करनेसे हाथ जलने लगता है इस लिये अग्नि गर्म है। यह निर्णीत अग्निका स्वभाव ही है।

दार्ष्टान्त—

तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः ।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोयं व्योमपुष्पवत् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निमें स्वयं सिद्ध उष्णता है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्मका भी अनादिसे स्वयं सिद्ध बन्ध हो रहा है। जिस प्रकार अग्निके उष्णपनेमें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सक्ती है उसी प्रकार जीव और कर्मके बन्धमें भी किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सक्ती है। फिर यह बन्ध कहांसे हुआ ? किसने किया ? कहां किया ? आदि

प्रश्न आकाशके पुष्पकी तरह सर्वथा निष्फल है । जिस प्रकार आकाशके पुष्प नहीं ठहरते उसी प्रकार यह प्रश्न भी नहीं ठहरता ।

चेद् विभुत्सास्तिचित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा ।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—कर्मोका जीवके साथ बन्ध है अथवा नहीं है ? है तो किस प्रकार है ? इत्यादि जाननेकी यदि तुम्हारे हृदयमें आकांक्षा है तो स्वानुभूति प्रत्यक्षसे विचार लो ।

भावार्थ—जिस समय आत्मामें स्वानुभव होने लगेगा, उस समय इन बातोंका स्वयं परिज्ञान हो जायगा ।

अमूर्त आत्माका मूर्त पुद्गलके साथ किस प्रकार सम्बन्ध होता है इसीका खुलासा किया जाता है—

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः ।
मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—वास्तवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान-दोनों ही ज्ञान अमूर्त हैं, परन्तु मूर्त मद्य आदि पदार्थोंके योगसे उन ज्ञानोंका परिणमन बदल जाता है ।

भावार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही आत्माके ज्ञान गुणकी पर्यायरूप हैं । आत्मा अमूर्त है इसलिये ये दोनों भी अमूर्त ही हैं, परन्तु जब कोई आदमी मदिरा भंग आदि मादक पदार्थोंका पान कर लेता है तो उस आदमीका ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है, मदिरापान करनेवाला मनुष्य बेहोश हो जाता है । यह बेहोशी उसी मूर्त मदिराके निमित्तसे होती है। इस कथनसे आत्माका मूर्त कर्मसे किस तरह बंध हो जाता है ? इस प्रश्नका अच्छी तरह निराकरण हो जाता है ।

उसीका स्पष्टार्थ—

नासिद्धं तत्तथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः ।
विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्द्वयम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—मदिराके निमित्तसे ज्ञान मंद हो जाता है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध है । क्योंकि मदिरा आदिके विना मतिज्ञान, श्रुतज्ञान मूर्छित नहीं होते ।

भावार्थ—विना मदिराके ज्ञान निर्मल रहता है और मद्य पीनेसे मूर्छित हो जाता है इसलिये अमूर्त ज्ञानपर मूर्त मदिराका पूरा असर पड़ता है ।

वास्तवमें ज्ञान अमूर्त है—

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत् ।
न तत्तत्त्वात्तथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ५९ ॥

अर्थ— मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कथंचित् मूर्त भी हैं, परन्तु उक्त दोनों ज्ञानोंमें मूर्त

अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी ।
कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी ॥ ८६ ॥
दण्डयोगाद्यथा चक्रं बम्भ्रमत्यात्मनात्मनि ।
दण्डयोगाद्विना चक्रं चित्रं वा व्यवतिष्ठते ॥ ८७ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि ऊपरके कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि एक वैभाविकी नामा शक्ति है, उसी एक शक्तिकी दो प्रकारकी अवस्थायें होती हैं, एक स्वाभाविक अवस्था, दूसरी वैभाविक अवस्था। यदि ऐसा ही है अर्थात् पदार्थमें स्वभाव-विभाव दोनों प्रकारके परिणमन होते हैं तो फिर पदार्थमें दो शक्तियां ही क्यों न मान ली जावें, इसमें पदार्थकी क्या हानि होती है ? एक शक्ति मानकर उसकी दो अवस्थायें माननेकी अपेक्षा दो स्वतन्त्र शक्तियां मान लेना ही ठीक है। आत्माके स्वाभाविक भावोंसे होनेवाली स्वाभाविकी शक्ति और आत्माके वैभाविक भावोंसे होनेवाली वैभाविकी शक्ति। इस प्रकार दोनों सिद्ध होती हैं।

चाहे आत्मामें कर्मोंका सम्बन्ध हो चाहे न हो आत्माके शुद्ध भावोंमें परिणमन करनेवाली स्वाभाविकी शक्ति सदा रहती है। वह शक्ति उन्हीं आत्माके अंशोंमें काम करती है जो शुद्ध हैं। तथा कर्मोंका जब तक आत्मासे सम्बन्ध रहेगा तबतक वैभाविक शक्तिका परिणमन होता रहेगा, जब कर्मोंका उदय न रहेगा अर्थात् जब कर्म शान्त हो जांयगे उस समय उस वैभाविक शक्तिका परिणमन भी नहीं होगा, उस समय वह बेकार ही पड़ी रहेगी। दृष्टान्त—कुम्हारके चाकको जब तक दण्डका निमित्त रहता है तब तक वह चाक अपने आप घूमता है, परन्तु जब दण्डका सम्बन्ध नहीं रहता तब वह चाक भित्तिमें बनाये हुए चित्रकी तरह अपने स्थानमें ही ठहरा रहता है।

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय इतना ही है कि आत्मामें एक स्वाभाविक शक्ति और एक वैभाविक शक्ति ऐसी दो शक्तियां स्वतन्त्र मानो। ये दोनों शक्तियां नित्य हैं, परन्तु आत्माके स्वाभाविक गुणोंमें स्वाभाविकी शक्तिका परिणमन होता रहता है। कर्मोंके निमित्तसे जब आत्माके गुणोंका वैभाविक स्वरूप हो जाता है तब वैभाविकी शक्तिका परिणमन होता रहता है। परन्तु कर्मोंके दूर होनेपर या अनुदय होनेपर वैभाविक शक्तिका परिणमन नहीं होता है।

शङ्काकार दो शक्तियां मानकर उन्हें नित्य मानता है तथापि उनमें परिणमन वह सदा नहीं मानता। उसके सिद्धान्तानुसार अब दो शङ्कायें हो गईं। एक तो एक शक्तिके स्थानमें दो शक्तियां स्वीकार करना। दूसरे शक्तियोंको नित्य मानते हुए भी उनमें सदा परिणमन नहीं मानना। इन्हीं दोनों शङ्काओंका परिहार नीचे किया जाता है—

उत्तर—

नैवं यतोस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम् ।
कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वै पारिणामिकी ॥ ८८ ॥

अर्थ—शङ्काकारका यह कहना कि वैभाविक शक्ति विना कर्मोदयके चित्रकी तरह कूटस्थ–परिणाम शून्य रह जाती है, सर्वथा युक्ति–आगम शून्य है। क्योंकि जितना भी शक्ति समूह है सब परिणमन शील है। पदार्थमें ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो प्रतिक्षण अपनी अवस्थाको न बदलती हो। फिर वैभाविकी शक्ति परिणमन शील क्यों न होगी। जब वह परिणमन शील है तो "कर्मोंके अनुदयमें चित्रकी तरह परिणाम रहित हो जाती है" यह शङ्काकारकी शङ्का नितान्त व्यर्थ है।

और ऐसा भी नहीं है कि कोई शक्ति परिणमनवाली हो और कोई न हो, सभी शक्तियां परिणमन शील हैं, इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

शक्तिको परिणाम रहित माननेमें कोई प्रमाण नहीं है—

परिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चाऽपारिणामिकी ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात्संदृष्ट्यभावतः ॥ ८९ ॥

अर्थ—द्रव्यमें जितनी शक्तियां हैं सभी प्रतिक्षण परिणमन करती रहती हैं। किसी शक्तिको परिणमन शील माना जाय और किसीको नहीं माना जाय या कुछ कालके लिये परिणमन शील माना जाय, इसमें कोई प्रमाण नहीं है और न कोई दृष्टान्त ही है।

भावार्थ—वस्तुमें दो प्रकारकी पर्यायें होती हैं एक व्यञ्जन पर्याय, दूसरी अर्थ पर्याय। प्रदेशवत्त्व गुणके विकारको व्यञ्जन पर्याय कहते हैं, अर्थात् समग्र वस्तुके अवस्था भेदको व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। तथा उस द्रव्यमें रहनेवाले अनन्त गुणोंकी पर्यायको अर्थ पर्याय कहते हैं। उक्त दोनों प्रकारकी पर्यायें वस्तुमें प्रति समय हुआ करती हैं।

फलितार्थ—

तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत् ।
परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ॥ ९० ॥

अर्थ—जब उपर्युक्त कथनानुसार सभी शक्तियोंका परिणमन होता है। तब वैभाविकी शक्तिका भी प्रतिक्षण परिणमन सिद्ध हो चुका। इसलिये फलितार्थ यह हुआ कि वैभाविकी शक्तिही अवस्थाभेदसे स्वभाव विभावमें आया करती है। जब कर्मोंका सम्बन्ध रहता है तब तो उस वैभाविकी शक्तिका विभावरूप परिणमन होता है और जब सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव होता है तथा आत्मा अपने स्वाभाविक शुद्धभावोंका अधिकारी हो जाता है, उस

समय उस वैभाविकी शक्तिका परिणमन स्वभावरूप होता है । इस प्रकार केवल एक वैभाविक शक्तिके ही स्वाभाविक और वैभाविक ऐसे दो अवस्था भेद हैं ।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धं सतोऽवश्यं न्यायाच्छक्तिद्वयं यतः ।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः ॥ ९१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि पदार्थमें अवस्थाके भेदसे दो शक्तियां हैं । यह द्वैत अवस्था भेदसे ही है, स्वाभाविक और वैभाविक इन दो शक्तियोंकी अपेक्षासे युगपत् द्वैत नहीं है ।

भावार्थ—वस्तुमें एक समयमें एकही पर्याय होती है इस नियमसे वैभाविक शक्तिकी क्रमसे होनेवाली दोनों अवस्थायें वस्तुमें रहती हैं । परन्तु कोई कहे कि स्वाभाविक और वैभाविक दोनों एक साथ रह जांय यह कभी नहीं हो सक्ता । क्योंकि यदि एक साथ एक कालमें दोनों रह जांय तो वे दो गुण कहे जांयगे, पर्यायें नहीं कही जांयगी । पर्याय तो एक समयमें एक ही होती है । इसलिये अवस्थाभेदसे क्रमसे ही स्वाभाविक और वैभाविक दोनों अवस्थायें पायी जाती हैं । एक कालमें नहीं ।

दोनोंको एक समयमें माननेसे दोष—

यौगपद्ये महान् दोषस्तद्द्वैतस्य नयादपि ।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः ॥ ९२ ॥

अर्थ—यद्यपि वैभाविक शक्ति एक ही है और उसकी दो अवस्थायें क्रमसे होती हैं यह सिद्धान्त है । तथापि अवस्था भेदसे जो द्वैत है अर्थात् पर्यायकी अपेक्षासे जो स्वाभाविक और वैभाविक दो भेद हैं इन भेदोंको एक साथ ही कोई स्वीकार करे तो भी ठीक नहीं है । ऐसा माननेसे अनेक दोष आते हैं । एक तो कार्य कारण भाव इनमें नहीं रहेगा क्योंकि वैभाविक अवस्था पूर्वक ही स्वाभाविक अवस्था होती है । जिस प्रकार संसार पूर्वक ही मोक्ष होती है । इस लिये संसार मोक्ष प्राप्तिमें कारण है । इसी प्रकार वैभाविक अवस्थाके विना स्वाभाविक अवस्था भी नहीं हो सक्ती है । एक साथ माननेमें यह कार्यकारणभाव नहीं बनेगा । दूसरे बन्ध और मोक्षकी भी व्यवस्था नहीं बनेगी, क्योंकि वैभाविक अवस्थाको पहले माननेसे तो बन्धपूर्वक मोक्षका होना सिद्ध होता है । परन्तु एक साथ दोनों अवस्थाओंकी सत्ता स्वीकार करनेसे बन्ध और मोक्ष एक साथ ही प्राप्त होंगी । अथवा बन्धकी सत्ता होते हुए मोक्ष कभी हो नहीं सक्ती, इसलिये इस आत्माकी कभी भी मोक्ष नहीं होगी । इसी बातको नीचे भी दिखाते हैं—

नैकशक्ते र्द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गतः ।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्याद्बाधितम् ॥ ९३ ॥

अर्थ—यद्यपि एक शक्ति (वैभाविक) के ही दो भेद होते हैं अर्थात् एक ही शक्ति दो रूप धारण करती है। परन्तु एक साथ ही एक शक्तिके दो भेद नहीं हो सक्ते। यदि दोनों भेद बराबर एक साथ ही होने लगें तो वैभाविक अवस्था भी नियमसे सदा बनी रहेगी और वैभाविक अवस्थाकी नित्यतामें आत्माका मोक्ष-प्रयास व्यर्थ हो जायगा। इसलिये एक गुणकी वैभाविक और स्वाभाविक अवस्थायें क्रमसे ही होती हैं। एक कालमें नहीं होती।

शङ्काकार—

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम् ।
तथाजातं परं नाम स्वतः सिद्धमहेतुकम् ॥ ९४ ॥
तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः ।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥ ९५ ॥
ततः सिद्धं यथा वस्तु यत्किञ्चिच्चिज्जडात्मकम् ।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यैः स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ ९६ ॥
अयमर्थः कोपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् [illegible]तिक्रमात् ॥ ९७ ॥
व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेपि मूर्तिमत् ।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तत्किं तत्रापि चापरम् ॥ ९८ ॥
वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः ।
तत्रस्थोप्यपरो हेतु र्न स्यात्किंवा वदेति चेत् ॥ ९९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सभी पदार्थ अनादि सिद्ध हैं। पदार्थोंको पैदा करने-वाला कोई कारण नहीं है, वे सभी अपने आप ही अनादि सिद्ध हैं। उसी प्रकार उनके नाम भी अनादि सिद्ध हैं। यद्यपि एक वस्तुका पहले कुछ नाम और पीछे कुछ नाम भले ही हो जाय परन्तु वाच्यवाचक सम्बन्ध सदा ही रहता है। इसलिये जिस प्रकार पदार्थ अनादिसे हैं उसी प्रकार उनके वाचक नाम भी अनादिसे हैं। यह पदार्थों और उनके सङ्केतोंकी अना-दिता अवश्य अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। यदि ऐसा न माना जाय तो " सर्व सङ्कर " और " शून्यता " आदिक अनेक दोष आते हैं जो कि पदार्थोंके नाशके कारण हैं। इसलिये यह बात भलीभाँति सिद्ध है कि जो कोई भी चैतन्य या जड़ वस्तु है सभी अपने अपने स्वरूपको लिये हुए हैं। उसके स्वरूपका परिवर्तन (फेरफार) कभी नहीं हो सकता। उपर्युक्त कथनका सारांश यह निकला कि कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके एक देशमात्रको भी

नहीं बिगाड़ सकता है । सभी पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अपने २ स्वरूपमें ही स्थित हैं, यदि इन चारोंमेंसे किसी एककी अपेक्षासे भी पदार्थ दूसरे रूपमें आजाँय तो वह अपनी सीमासे बाहर हो जाँय। कोई भी पदार्थ क्यों न हो अपनी सीमाका उल्लङ्घन कभी किसी अंशमें नहीं कर सकता। जब ऐसा नियम है तो क्या कारण है कि जीव और पुद्गलमें व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध न होनेपर भी मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्य जीवके वैभाविक भावोंमें कारण हो जाता है । यदि विना किसी प्रकारके सम्बन्धके भी पुद्गलकर्म जीवके वैभाविक भावमें कारण हो जाता है तो उसी स्थलपर रहनेवाला धर्मादिक अपर द्रव्यभी जीवके विकारका कारण क्यों न माना जाय ? इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि सन्निकर्ष-सम्बन्ध विशेष होनेसे पुद्गलद्रव्य ही जीवके विभावका कारण होता है, धर्मादिक नहीं होते, तो भी यह दोष आता है कि उसी स्थानपर रहनेवाला सन्निकर्ष सम्बन्ध विशिष्ट विस्रसोपचयरूप पुद्गलपिण्ड जीवके विकारका कारण क्यों नहीं हो जाता है ?

उत्तर—

सत्यं बद्धमबद्धं स्याच्चिद्‌द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।
स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः ॥ १०० ॥
बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः ।
तयोर्जात्यन्तरत्वेपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥ १०१ ॥

अर्थ—आपने जो शंका उठाई है सो ठीक, परन्तु बात यह है कि सभी जीव पुद्गल बद्ध तथा अबद्ध नहीं होते किन्तु कोई बद्ध होते हैं और कोई अबद्ध होते हैं। संसारी जीव पुद्गल कर्मोंसे बँधे हुए हैं, मुक्त नहीं। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यमें भी ज्ञानावरणीय आदि कर्म परिणत पुद्गल द्रव्य ही जीवमें बँधे हुए हैं, अन्य (पांच प्रकारकी वर्गणाओंको छोड़कर) पुद्गल नहीं। और भी जो बन्ध योग्य जीव व पुद्गल द्रव्य हैं, उनमें भी सभी जीव संसारकी समस्त कर्मवर्गणाओंसे एक साथ नहीं बँध जाते, और न समस्त कर्मवर्गणायें ही प्रत्येक जीवके साथ प्रतिसमय बंध जाती हैं, किन्तु जिस समय जिस जीवके जैसी कषाय होती है उसीके योग्य कर्मोंसे जीव बँध जाता है अन्य प्रकारकी कषायसे बंधने योग्य कर्मोंके साथ नहीं बँधता । इसलिये कोई पुद्गलद्रव्य जीवमें विकार करता है कोई नहीं करता । ऐसा भी नहीं है कि सांख्यमतकी तरह पुरुष (जीवात्मा) को सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय और बन्धको केवल प्रकृति (कर्म)का ही धर्म मान लिया जाय तथा बद्धजीव और मुक्तजीवमें वास्तवमें कुछ अन्तर ही न माना जाय । और ऐसा भी नहीं है कि किसी द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके निमित्तसे विकार सर्वथा हो ही नहीं सकता । ऐसा माननेसे पदार्थोंका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ही उड़जाता है । और निमित्त नैमित्तिक संबंधके अभावमें किसी कार्यकी

सिद्धि नहीं हो सकती है । इस लिये बद्ध जीव और मुक्त जीवमें वास्तविक भेद है । तथा जीव और पुद्गलमें विजातीयपना होने पर भी परस्पर इस प्रकारका निमित्त नैमित्तिक भाव है जिससे कि संसारी जीवोंकी कषायका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म जीवोंके साथ बन्धको प्राप्त हो जाता है, और उन बंधे हुए कर्मोंके परिपाक कालमें जीवोंमें कषायादि रूप विकार उत्पन्न हो जाते हैं ।

बद्ध और मुक्तका स्वरूप—

बद्धःस्याद्बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोप्यबद्धयोः ।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः ॥ १०२ ॥

अर्थ—बँधे हुए दो पदार्थोंकी अवस्था विशेषको बद्ध कहते हैं । इसी प्रकार नहीं बँधे हुए दो पदार्थोंकी अवस्थाको अबद्ध कहते हैं । बन्ध वहीं होता है जहां पर कि अनुकूलता होती है । प्रतिकूल पदार्थोंका बन्ध नहीं होता है ।

भावार्थ—जहां अनुकूल योग्य सामग्री जुट जाती है वहीं पर बन्ध होता है, जहां योग्य सामग्री नहीं मिलती वहां बन्धकी योग्यता भी नहीं है ।

बन्ध-भेद—

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम् ।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयस्तूच्यतेऽधुना ॥ १०३ ॥

अर्थ—वास्तवमें बन्ध तीन प्रकारका होता है इसी लिये उन तीनोंके जुदे जुदे तीन लक्षण भी हैं । तीनों प्रकारोंके बन्धोंमें दो बंधोंका स्वरूप तो एक एक स्वतन्त्र है । परन्तु तीसरे बन्धका स्वरूप जो कि दो के मिलनेसे होता है कहा जाता है—

भावार्थ—पहले कहा जा चुका है कि भाव बन्ध, द्रव्य बन्ध और उभय बन्ध, इस प्रकार बन्धके तीन भेद हैं । उनमें भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध में तो मोटी रीतिसे एक एक ही पदार्थ पड़ता है । क्योंकि राग द्वेषादि भावही भाव बन्ध कहलाते हैं इन भावोंमें आत्माकी ही मुख्यता रहती है । कर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र गुणके विकारको राग द्वेष कहते हैं । द्रव्य बन्धमें केवल पुद्गल ही पड़ता है । इस लिये ये दोनों बन्ध तो प्रत्येक स्वतन्त्र हैं परन्तु तीसरा बन्ध जो उभय बन्ध है वह आत्मा और पुद्गल इन दो द्रव्योंके सम्बन्धसे होता है । इस लिये उसीका स्वरूप कहा जाता है ।

जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः ।
जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत् ॥ १०४ ॥

अर्थ—परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए जो जीव और कर्म दोनोंका सम्बन्ध है वही उभयबन्ध कहलाता है । जीव तो कर्मोंसे बंधा हुआ है और कर्म जीवसे बँधे हुए हैं ।

बन्धके कारणपर विचार—

तद्गुणाकारसंक्रान्ति भावो वै[illegible]श्रितः ।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—जीवके गुणोंका अपने स्वरूपसे बदलकर दूसरे रूपमें आ जाना, इसीका नाम वैभाविक भाव है । यही जीवका भाव कर्मके बन्ध करनेमें कारण है, और वैभाविक भावके निमित्तसे होनेवाला वही कर्म उसी वैभाविक भावके पैदा करनेकी सामर्थ्यका कारण है ।

भावार्थ—कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली रागद्वेष रूप आत्माकी अवस्थाका नाम ही वैभाविक है । वही अशुद्धभाव पुद्गलोंको कर्मरूप बनानेमें कारण है, और वह कर्म भी उस वैभाविक भावकी उत्पत्तिका कारण है इसलिये इन दोनोंमें परस्पर कारणता है । इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं—

अर्थोयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम् ।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोयं द्वन्द्वजः स्मृतः ॥ १०६ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यही आशय है कि जिस कर्मका यह वैभाविक भाव कार्य है, उसी कर्मका कारण भी है । इसलिये एक तो भाव और एक कर्म इन दोनोंसे ही उभय बन्ध होता है ।

भावार्थ—यहांपर यह शङ्का उपस्थित हो सक्ती है कि एक ही कर्मका वैभाविक भाव कार्य है और उसी एक कर्मका कारण भी है । उसीका कार्य और उसीका कारण यह बात एक अनबनसी प्रतीत होती है । परन्तु सजातीयताको ध्यानमें रखनेसे यह शङ्का सर्वथा निर्मूल हो जाती है । वैभाविक भावको जिस कर्मने पैदा किया है उसी कर्मका कारण वैभाविक भाव नहीं है किन्तु नवीन कर्मके लिये वह कारण है । अर्थात् वैभाविक भावसे नवीन कर्म बँधते हैं और उन कर्मोंसे नवीन २ भाव पैदा होते हैं । सजातीयकी अपेक्षासे ही " उसी कर्मका कारण उसीका कार्य " ऐसा कहा गया है ।

यदि कोई दूसरे सजातीय कर्मको भी कर्मत्व धर्मकी अपेक्षासे एक ही कर्म समझकर शङ्का उठावे कि कर्मही स्वयं कार्य और कर्मही स्वयं कारण कैसे हो सक्ता है ? इस शङ्काका उत्तर भी एक ही पदार्थमें कार्य कारण भाव दिखाने वाले दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं—

तथाऽऽदर्शो यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः ।
स्वाकाराकारसंक्रान्तं कार्यं हेतुः स्वयं च तत् ॥ १०७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्पणमें मुख देखनेसे चक्षुका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड़ता है । उस

अपने प्रतिबिम्बमें कारण स्वयं चक्षु है, प्रतिबिम्ब कार्य है । परन्तु वही चक्षुके आकारको धारण करनेवाला चक्षुका प्रतिबिम्ब अपने दिखानेमें कारण भी है ।

भावार्थ—जब चक्षुसे दर्पण देखते हैं तब चक्षुका आकार दर्पणमें पड़ता है । इसलिये तो वह आकार चक्षुका कार्य हुआ, क्योंकि चक्षुसे पैदा हुआ है । परन्तु उसी आकारको जब चक्षुसे देखते हैं तब अपने दिखानेमें वह आकार कारण भी होता है । इसलिये एकही पदार्थमें कार्य कारण भावभी उपर्युक्त दृष्टान्त द्वारा सुघटित हो जाता है ।

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा ।
*** .... ॥ १०८ ॥**
जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्द्रव्य कर्म तत् ।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥ १०९ ॥

अर्थ—अचेतन, पौद्गलिक, मूर्त द्रव्य कर्म तो जीवके भावोंके विकारका कारण है । और उस द्रव्य कर्मका कारण वह वैभाविक भाव है । यह परस्पर कारणपना इसी प्रकार है कि मानों एक दूसरेके उपकारका परस्पर बदला ही चुकाते हों ।

इन दोनोंमें क्यों कारणता हुई ?

[illegible]तेस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः ।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥ ११० ॥

अर्थ—जीवकी शुद्ध अवस्थासे बिगड़कर जो विकार अवस्था है वही जीवका वैभाविक भाव है उसी वैभाविक भावके निमित्तसे जीवसे सर्वथा भिन्न भी पुद्गल द्रव्य उस वैभाविक भावके लिये निमित्त कारण होता है ।

भावार्थ—यद्यपि पुद्गलकार्माण द्रव्य जीवसे सर्वथा भिन्न जड़ पदार्थ है, परन्तु जीवके अशुद्ध भावोंसे वह खिचकर कर्मरूप हो जाता है । फिर वही जड़कर्म चेतनके भावोंके बिगाड़नेमें कारण होता है । इसमें परस्परकी निमित्तता ही कारण है ।

ऐसा होनेमें भी उभयबन्ध ही कारण है—

नहि नोभयबन्धार्हे बहिर्बद्धाश्चिरादपि ।
न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्याप्यबद्धवत् ॥ १११ ॥

अर्थ—वह कर्म चेतन-भावोंके बिगाड़नेका कारण हो जाता है इसमें भी उभयबन्ध ही कारण है । क्योंकि जब तक वह पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणत न होगा तब तक वह आत्माके भावोंको विकारी बनानेमें कारण नहीं हो सकता है । यदि विना कर्मरूप अवस्थाको धारण किये ही पुद्गल द्रव्य जीवके विकार भावोंका कारण हो जाय तो जीवके साथ ही उसी क्षेत्रमें चिरकालसे लगे हुए विस्रसोपचय भी कारण हो जायगे, परन्तु विस्रसोपचय विकारमें कारण

* मूल पुस्तकमें भी इस श्लोकके दो चरण नहीं मिले ।

होते नहीं, किन्तु कर्म ही कारण हैं और कर्म-अवस्था पुद्गलकी तभी होती है जब कि वह उभयबन्ध रूपमें परिणत हो जाता है ।

भावार्थ—विस्रसोपचय उन्हें कहते हैं कि जो पुद्गल परमाणु (कार्माण स्कन्ध) कर्मरूप परिणत तो नहीं हुए हों किन्तु आत्माके आसपास ही कर्मरूप परिणत होनेके लिये सन्मुख हों। इन पुद्गल परमाणुओंकी बन्धरूप अवस्था नहीं है । जिस समय आत्मा रागद्वेषादि कषाय भावोंको धारण करता है उसी समय अन्य संसारमें भरी हुई कार्माण वर्गणायें अथवा ये विस्रसोपचय संज्ञा धारण करनेवाले परमाणु आ आत्माके साथ बंध जाते हैं । बंधनेपर ही उनकी कर्म संज्ञा हो जाती है । उससे पहले २ कार्माण (कर्म होनेके योग्य) संज्ञा है । ये विस्रसोपचय आत्मासे बंधे हुए कर्मोंसे भी अनन्त गुणे हैं और जीव राशिसे भी अनन्त गुणे हैं । क्योंकि पहले तो आत्माके साथ बंधे हुए कर्म परमाणु ही अनन्तानन्त हैं । उन कर्मरूप परमाणुओंमेंसे प्रत्येक परमाणुके साथ अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणु (विस्रसोपचय) लगे हुए हैं।

अशुद्धता—

तद्बद्धत्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात् ।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्यादद्वैतात्स्वतोन्यतः ॥ ११२ ॥

अर्थ—आत्माकी बद्धताकी अविनाभाविनी अशुद्धता भी उसी समय आ जाती है। उस अशुद्धताका यही लक्षण है कि स्वयं अद्वैत आत्मा अन्य पदार्थके निमित्तसे द्वैत हो जाता है ।

भावार्थ—जिस समय आत्मा कर्मोंसे बद्ध होता है उसी समय अशुद्ध भी है । बिना अशुद्धताके बद्धता आ ही नहीं सक्ती है । इसी प्रकार बिना बद्धताके अशुद्धता भी नहीं आ सक्ती। इसलिये बद्धता और अशुद्धता ये दोनों अविनाभाविनी हैं । एकके बिना दूसरा न होवे इसीका नाम अविनाभाव है। यद्यपि आत्मा स्वयं (अपने आप) अद्वैत अर्थात् अमिल-एक है । तथापि अशुद्धताको धारण करनेसे (पर पदार्थके निमित्तसे) वही आत्मा द्वैत अर्थात् दो रूपधारी (दुरंगा) बना हुआ है ।

आत्मामें द्विरूपता किस प्रकारकी है—

तत्राऽद्वैतेपि यद्द्वैतं तद्द्विधाप्यौपचारिकम् ।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम् ॥ ११३ ॥

अर्थ—आत्मा अशुद्ध अवस्थामें द्विरूपता धारण करता है अर्थात् उसमें दो प्रकारके अंशोंका मेल हो जाता है । यह दोनों ही प्रकारका मेल औपचारिक (उपचारसे) है । उन दोनों अंशोंमें एक अंश तो स्वयं आत्माका ही है, और दूसरा उपाधिसे होनेवाला अर्था परपदार्थका है ।

भावार्थ—आत्मा और कर्म, इन दोनोंके स्वरूपका जब विकाररूप परिणमन होता है, दोनों ही जब अपने स्वरूपको छोड़ देते हैं उसीका नाम अशुद्धता है। यह अशुद्धता व्यवहार दृष्टिसे है। वास्तव दृष्टिसे आत्मा अमूर्त है। अशुद्धता कर्म और आत्माका भाव दोनों हीके मेलसे होती है, इसलिये अशुद्धतामें दो भाग होते हैं। उन दोनों भागोंका यदि विचार करें तो एक भाग तो आत्माका है। क्योंकि अशुद्धता आत्माके ही गुणकी विकार अवस्था है परन्तु दूसरा भाग कर्मका है। इसी लिये रागद्वेषादि वैभाविक अवस्थायें जीवात्मा और पुद्गल कर्म दोनोंकी हैं।

शङ्काकार—

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः।
तद्विशेषेपि सोपाधि निरुपाधि कुतोर्थतः॥ ११४॥
अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः॥ ११५॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि हर एक पदार्थकी दो अवस्थायें होती हैं। एक सामान्य अवस्था, दूसरी विशेष अवस्था। सामान्य रीतिसे पदार्थ एक ही है, और विशेष रीतिसे दो प्रकार है। ऐसा विशेष खुलासा होने पर भी सोपाधि और निरुपाधि भेद कैसा? और ऐसा अनुभव भी होता है कि जो ज्ञान रस रूपको जानता है वह ज्ञान कहीं रूप, रस रूप स्वयं नहीं हो जाता है। वास्तवमें ज्ञान ज्ञान ही है और रूप, रस पुद्गल ही हैं।

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय यह है कि सामान्य और विशेषात्मक उभय रूप पदार्थ है। सामान्य दृष्टिसे एक है और विशेष दृष्टिसे उसमें द्विरूपता है, अर्थात् द्रव्यार्थिक-नयसे पदार्थ सदा एक है और पर्यायकी अपेक्षासे वही पदार्थ अनेक रूप है। जब ऐसा सिद्धान्त है तो फिर अशुद्ध-आत्मामें जो द्विरूपता है वह पर निमित्तसे क्यों मानी जावे? ऊपर जो यह कहा गया है कि एक अंश आत्माका है और दूसरा पुद्गलका है यह कहना व्यर्थ है। अशुद्ध आत्माकी जो द्विरूपता है वह आत्माकी ही विशेष अवस्था है। इस लिये आत्मामें सोपाधि और निरुपाधि, ऐसे दो भेद करना ठीक नहीं है। हम जानते भी हैं कि रूप रसादिको जाननेवाला ज्ञान उन रूपादि पदार्थोंसे सर्वथा जुदा है जाननेसे ज्ञानमें किसी प्रकारकी अशुद्धता नहीं आती है। शङ्काकारका अभिप्राय है कि अशुद्धता कोई चीज नहीं है?

उत्तर—

नैवं यतो विशेषोस्ति सद्विशेषेपि वस्तुतः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात्॥ ११६॥

अर्थ—शङ्काकारका यह कहना कि ज्ञानमें अज्ञानता आती ही नहीं है। अथवा अशुद्धता कोई चीज ही नहीं है सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि पदार्थके सामान्य और विशेष ये दो भेद होनेपर भी कुछ और भी विशेषता है। वह विशेषता अन्वय, व्यतिरेकके द्वारा सिद्ध होती है। किस प्रकार ? सो नीचे दिखाते हैं—

तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः।
अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वन्हियोगाद्धि वारिवत् ॥ ११७ ॥

अर्थ—" यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः " जिसके होनेपर जो हो इसीका नाम अन्वय है। पर पदार्थकी निमित्ततासे ज्ञान अज्ञान हो जाता है यह अन्वय यहां पर ठीक घटता है। जिस प्रकार ठण्डा जल अग्निके सम्बन्धसे गरम हो जाता है।

यह बात असिद्ध भी नहीं है—

नासिद्धोसौ हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः।
अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमात्त्वतः ॥ ११८ ॥

अर्थ—यह दृष्टान्त असिद्ध भी नहीं है। जिस समय ज्ञान अज्ञानरूपमें आता है उस समय पदार्थकी यथार्थ प्रमिति नहीं हो पाती है किन्तु अवस्थान्तर ही हो जाता है।

व्यतिरेक—

व्यतिरेकोस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्यात्तन्नैवं शुद्धमेव तत् ॥ ११९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञानमें अन्वय घटता है उसी प्रकार व्यतिरेक भी घटता है। व्यतिरेक उसे कहते हैं कि जिसके न होने पर जो न हो। जिस प्रकार आत्माका ज्ञान दूसरेके निमित्तसे मिथ्या-अवस्था सहित हो जाता है उसी प्रकार उस परहेतुके विना शुद्ध ही है। अर्थात् कर्मके निमित्तसे ज्ञान अज्ञानरूप, और कर्मके अभावमें ज्ञान शुद्ध ज्ञानरूप रहता है। इसीका नाम अन्वय व्यतिरेक है।

भावार्थ—इस अन्वय व्यतिरेकमें आत्मामें अशुद्धता पर निमित्तसे होती है यह बात अच्छी तरह बतला दी गई है। जो बात अन्वय व्यतिरेकसे सिद्ध होती है वह अवश्यंभावी अथवा नियमितरूपसे सिद्ध स्वीकार की जाती है। इस लिये आत्माकी अशुद्धता अवश्य माननी पड़ती है।

शुद्ध ज्ञानका स्वरूप—

तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम्।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वात् अबद्धं निरुपाधितः ॥ १२० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाला जो क्षायिक ज्ञान (केवलज्ञान) है वह

शुद्धज्ञान है। क्योंकि उसमें परनिमित्तता नहीं है। वह केवल स्वस्वरूप मात्र ही है। वही ज्ञान अबद्ध भी है। क्योंकि उसमें किसी पर पदार्थरूप उपाधिका सम्बन्ध नहीं है।

अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप—

क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम् ।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात् ॥ १२१ ॥

अर्थ—सर्व घाति कर्मोंका उदयाभावी क्षय होनेसे और उन्हीं सर्व घाति कर्मोंके उदय होनेसे क्षायोपशमिक कहलाता है। यह क्षायोपशमिक ज्ञान कर्म सहित है, क्योंकि सत्कर्मोंका अभी क्षय नहीं हुआ है। इसलिये यह ज्ञान अपने स्वरूपसे च्युत है अतएव बद्ध कहलाता है तथा अशुद्ध भी है।

शुद्धता तथा अशुद्धता दोनों ही ठीक हैं—

नस्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः ।
न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥ १२२ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि ज्ञान न तो शुद्ध ही है, और न अशुद्ध ही है, जैसा है वैसा ही है। तो उसके उत्तरमें यही कहा जा सक्ता है कि आत्मामें बन्ध भी नहीं है, औन न उसका फल ही है। क्योंकि बन्धका कारण ही कोई नहीं है।

भावार्थ—बन्धका कारण अशुद्धता है यह बात पहले अच्छी तरह कही जा चुकी है। यदि अशुद्धताको न माना जावे तो बन्ध भी नहीं ठहरता, और बन्धके अभावमें बन्धका फल भी नहीं बनता।

अथचेद्बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाऽबन्ध एव यः ।
न शेषश्चिद्विशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥ १२३ ॥

अर्थ—यदि अशुद्धताके विना ही बन्ध हो जाय तो फिर बन्ध ही रहेगा। बन्ध-अबन्ध अवस्थामें कभी नहीं आ सक्ता। ऐसी अवस्थामें कोई भी जीव सम्पूर्ण रीतिसे मुक्त नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—यदि बन्धका कारण अशुद्धता मानी जाय तब तो यह बात नहीं बनती कि बन्ध ही सदा रहेगा, अबन्ध हो ही नहीं सक्ता। क्योंकि कारणके सद्भावमें ही कार्य होता है। कारणके न रहने पर कार्य भी नहीं रह सक्ता। जब तक अशुद्धता है तभी तक बन्ध रहेगा। अशुद्धताके अभावमें बन्धका भी अभाव अवश्यंभावी है। इसलिये अशुद्धता माननी ही चाहिये।

यदि ऊपरके श्लोक द्वारा ही अशुद्धताकी सिद्धि हो चुकी ऐसा कहा जाय तो इस श्लोकका दूसरा अर्थ शुद्धता-साधक भी हो जाता है। वह इस प्रकार है कि यदि अशुद्धता

ही मानी जावे, शुद्धता नहीं मानी जावे, तो सदा बन्ध ही रहेगा, अबन्ध कभी होगा ही नहीं। ऐसी अवस्थामें सभी आत्मायें बद्ध ही रहेंगी। मुक्त कोई भी कभी न होगा। इस लिये शुद्धता भी माननी ही पड़ती है।

सारांश—शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही ठीक हैं। पहले आत्मा अशुद्ध रहता है। फिर तप आदि कारणों द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करने पर शुद्ध हो जाता है। इसी बातको नीचेके श्लोकसे बतलाते हैं—

माभूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः॥ १२४॥

अर्थ—न तो सब आत्माओंके सदा बन्ध ही रहता है, क्योंकि अबन्धकी भी प्रसिद्धि है अर्थात् मुक्त जीव भी प्रसिद्ध है, तथा न सर्वथा सदा अबन्ध ही मानना ठीक है क्योंकि बन्ध रूप कार्य अथवा बन्धका कार्य भी पाया जाता है।

अबद्धका दृष्टान्त—

अस्तिचित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक्।
अक्षय्यं क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात्॥ १२५॥

अर्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात् (प्रत्यक्ष) करनेवाला, सदा अविनश्वर, ऐसा जो क्षायिक ज्ञान–केवल ज्ञान है वह निर्विकार है, शुद्ध है, तथा बन्धका नाश होनेसे अबद्ध अर्थात् मुक्त है।

बद्धका दृष्टान्त—

बद्धः सर्वोपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः॥ १२६॥

अर्थ—संसारी जीवोंका ज्ञान बद्ध है, क्योंकि उसके कार्यमें विपरीतता पाई जाती है, इसलिये ज्ञान उपाधि सहित भी होता है यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है। उपाधि पदसे यहां कर्मोपाधिका ग्रहण करना चाहिये। यदि संसारियोंके ज्ञानको सोपाधि न माना जावे तो उसमें विपरीतता रूप हेतु नहीं बन सकता।

फलितार्थ—

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत्॥ १२७॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि ज्ञान दो प्रकारका है एक तो उपाधि सहित है और दूसरा उपाधि रहित है। कर्मोपाधि सहित ज्ञान अशुद्ध है। कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध है।

शङ्काकार—

ननु कश्चो विशेषोस्ति बद्धाबद्धत्वयोर्द्वयोः ।
अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थादैक्योपलब्धितः ॥ १२८ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि बद्धता और अबद्धतामें क्या विशेषता है ? क्योंकि हम दोनों अवस्थाओंमें कोई भी भेद नहीं पाते हैं अर्थात् दोनों अवस्थायें एक ही हैं ?

उत्तर—

नैवं यतो विशेषोस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।
कार्यकारणभेदाद्वा द्वयोस्तल्लक्षणं यथा ॥ १२९ ॥

अर्थ—बद्धता और अबद्धताको एक ही मानना सर्वथा मिथ्या है । इन दोनोंमें हेतु और हेतुमान् अथवा कार्यकारणके भेदमें विशेषता है ।

भावार्थ—मुक्त अवस्थाके लिये बद्ध अवस्था कारण है इसलिये बद्धता और अबद्धता दोनोंमें कार्य कारणका भेद है । अब उन दोनोंका लक्षण कहा जाता है ।

बन्धका लक्षण—

बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी ।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥१३०॥

अर्थ—जीव और पुद्गलके गुणोंका परगुणाकार परिणमन होनेका नाम ही बन्ध है । जिस समय जीव और पुद्गलमें पर गुणाकार परिणमन होता है उसी समय उनमें अशुद्धता आती है, अशुद्धतामें उन दोनोंके गुणोंकी च्युति हो जाती है अर्थात् दोनों ही अपने अपने स्वरूपको छोड़कर विकार अवस्थाको धारण कर लेते हैं ।

भावार्थ—जिस बन्धका स्वरूप यहां पर कहा गया है वह कर्मोंके रस दान कालमें होता है । जिस समय कर्मोंका विपाक काल आता है उस समय आत्माका चारित्र गुण अपने स्वरूपसे च्युत होता है और कर्म अपने स्वरूप* से च्युत हो जाते हैं । दोनोंकी मिली हुई रागद्वेषात्मक तीसरी ही अवस्था उस समय हो जाती है । रागद्वेष अवस्था न केवल आत्माकी है और न केवल कर्मोंकी है, किन्तु दोनोंकी है । जिस प्रकार चूना और हल्दीको साथ २ घिसनेसे चूना अपने स्वरूपको छोड़ देता है और हल्दी अपने स्वरूपको छोड़ देती है, दोनोंकी तीसरी लाल अवस्था हो जाती है । यह मोटा दृष्टान्त है, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जीव पुद्गलस्वरूप हो जाता हो अथवा पुद्गल जीवस्वरूप हो जाता

---

* पुद्गलमें अशुद्धता पुद्गलसे भी आती है और जीवके निमित्तसे भी आती है परन्तु जीवमें अशुद्धता पुद्गलके निमित्तसे ही आती है पुद्गलके स्वतन्त्र बन्धमें स्निग्धता और रूक्षता कारण है उसीसे पुद्गलमें परगुणाकारता आती है ।

हो, ऐसा होना तो असंभव ही है, और न उपर्युक्त कथनका ऐसा आशय ही है, उपर्युक्त कथनका आशय यही है कि रागद्वेष जीव और पुद्गल दोनोंकी वैभाविक अवस्था है। जिस समय रागद्वेष जीवका वैभाविक भाव कहा जाता है उस समय उक्त कथनमें जीवांश ही विवक्षित होता है, अर्थात् जीवके अंशोंकी अपेक्षासे रागद्वेषको जीवका ही भाव कह दिया जाता है। इसी प्रकार पुद्गलके अंशोंकी अपेक्षासे रागद्वेष कर्मोंका भी कहा जाता है, और इसलिये उसका सिद्धोंमें निषेध बतलाया जाता है, यदि रागद्वेष भाव जीवका ही होता तो सिद्धोंमें भी उसका होना अनिवार्य होता। यदि यह कहा जाय कि पुद्गलके निमित्तसे जीवका रागद्वेष भाव है तो यहांपर निमित्त कारणका ही विचार कर लेना चाहिये। निमित्तता दो प्रकारसे आती है, एक तो मूल पदार्थमें अपने गुण दोष न लाकर केवल सहायकपनसे आती है। जैसे—चकला बेलनके निमित्तसे आटेकी रोटी बनना। रोटीमें चकला बेलनका निमित्त अवश्य है परन्तु चकला बेलनके गुण रोटीमें नहीं आते हैं, केवल उनके निमित्तसे आटेमें एक आकारसे दूसरा आकार हो जाता है। दूसरी निमित्तता अपनेसे उपकृत पदार्थमें अपने गुण देनेसे आती है। जैसे--आटेमें नमक। नमकके निमित्तसे रोटीका स्वाद ही बदल जाता है। रागद्वेषमें पहले प्रकारकी निमित्तता तो कही नहीं जा सक्ती, क्योंकि वह तो गुण च्युतिमें कारण ही नहीं पड़ती है, इसलिये दूसरी ही माननी पड़ेगी, दूसरी निमित्तता स्वीकार करनेसे उक्त कथनमें विरोध भी नहीं आता है। रागद्वेषमें आटे और नमकका दृष्टान्त केवल घनिष्ट सम्बन्धमें ही घटित करना चाहिये विपरीत स्वादुके लिये कड़वी तूंबी और दूधका दृष्टान्त ठीक है कड़वी तूंबीके अंश मिलनेसे ही दूध विपरीत स्वादु होता है।

अशुद्धता बन्धका कार्य भी है और कारण भी है—

बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुमच्चेति निर्णयः।
यस्माद्बन्धं विना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन ॥ १३१ ॥

अर्थ—बन्धका कारण अशुद्धता है, और बन्धका कार्य भी है, क्योंकि बन्धके विना अशुद्धता कभी नहीं होती।

इस श्लोकमें बन्धकी कारणता ही मुख्य रीतिसे बतलाई है। नीचेके श्लोक द्वारा बन्धकी कार्यता बतलाते हैं—

कार्यरूपः स बन्धोस्ति कर्मणां पाकसंभवात्।
हेतुरूपमशुद्धत्वं तन्नवाकर्षणत्वतः ॥ १३२ ॥

अर्थ—बन्ध कार्य रूप भी है। क्योंकि कर्मोंके विपाक होनेसे होता है। अशुद्धता उसका कारण है। अशुद्धताके द्वारा ही नवीन २ कर्म खिंचकर आता है और फिर बन्धको प्राप्त होता है।

जीव शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है—

जीवः शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोपि तत्त्वतः ।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोपि बद्धाबद्धनयादिह ॥ १३३ ॥

अर्थ—शुद्धनय (निश्चयनय) से जीव वास्तवमें शुद्ध है परन्तु व्यवहार नयसे जीव अशुद्ध भी है। व्यवहारमें यह जीव कर्मोंसे बंधा हुआ भी है और मुक्त भी होता है इसलिये इसकी अशुद्धता भी असिद्ध नहीं है।

निश्चय नय और व्यवहार नयमें भेद—

एकः शुद्धनयः सर्वो निर्द्वन्द्वो निर्विकल्पकः ।
व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्द्वः सविकल्पकः ॥ १३४ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण शुद्धनय एक है वह निर्द्वन्द्व है, उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है, वह निर्विकल्प है अर्थात् वह शुद्धनय न तो किसी दूसरे पदार्थसे मिश्रित ही है और न इसमें किसी प्रकार भेदकल्पना है इसीलिये इसका स्वरूप वचनातीत है। क्योंकि वचनोंद्वारा जितना स्वरूप कहा जायगा वह सब खण्डशः होगा, इसलिये वह कथन शुद्ध नयसे गिर जाता है। परन्तु व्यवहार नय शुद्ध नयसे प्रतिकूल है। वह अनेक है, उसमें दूसरे पदार्थोंका मिश्रण है, उसके अनेक भेद हैं, वह सविकल्प है। इस नयके द्वारा वस्तुका असली रूप नहीं कहा जा सका। यह नय वस्तुको खण्डशः प्रतिपादन करता है और इस नयसे वस्तुके शुद्धांशका कथन नहीं होता।

शुद्ध और व्यवहारसे जीवस्वरूप—

वाच्यः शुद्धनयस्यास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः ।
शुद्धादन्यत्र जीवाद्याः पदार्थास्ते नव स्मृताः ॥ १३५ ॥

अर्थ—शुद्ध नयकी अपेक्षासे जीव सदा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, इस नयसे जीव सदा एक और अखण्ड द्रव्य है, परन्तु व्यवहार नयसे जीव अनेक स्वरूप है। व्यवहार नयकी अपेक्षासे ही जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ कहलाते हैं।

भावार्थ—ये नौ पदार्थ भी जीवकी ही अशुद्ध अवस्थाके भेद हैं। अशुद्ध जीव ही नौ अवस्थाओंको धारण करता है इसी लिये व्यवहार नयसे नौ पदार्थ कहे गये हैं।

शङ्काकार—

ननु शुद्धनयः साक्षादस्तिसम्यक्त्वगोचरः ।
एको वाच्यः किमन्येन व्यवहारनयेन चेत् ॥ १३६ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वगोचर एक शुद्ध नय ही है। इस लिये उसीका कथन करना चाहिये, बाकी व्यवहार नयसे क्या लाभ है?

भावार्थ—व्यवहार नय मिथ्या है। इसलिये उसके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। सम्यग्दर्शनका विषय साक्षात् शुद्ध नय ही है। इस लिये उसे ही मानना चाहिये?

उत्तर—

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नयः।
अपि न्यायबलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः॥ १३७॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि शुद्ध नय उत्तम है, उसीसे वास्तविक वस्तुबोध होता है और यह भी ठीक है कि व्यवहार नय वास्तविक नहीं है। परन्तु शुद्ध नयके समान अशुद्ध नय भी न्यायके बलसे मानना ही पड़ता है।

भावार्थ—शुद्ध और अशुद्ध ये दोनों ही प्रतिपक्षी हैं इसलिये शुद्ध कहनेसे ही अशुद्धका ग्रहण हो जाता है। अतः व्यवहार नय चाहे अयथार्थ और लाभकारी न भी हो तथापि न्यायदृष्टिसे मानना ही पड़ता है। दूसरी बात यह भी है कि व्यवहारके विना स्वीकार किये निश्चय भी नहीं बनता है। यही बात नीचे बतलाते हैं—

तद्यथानादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः।
एको विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी॥ १३८॥

अर्थ—एक ही जीव अनादि सन्तान रूपसे प्राप्त बन्धपर्यायकी अपेक्षासे जब कहा जाता है तब वही जीव नव पदार्थ रूपसे स्मरण किया जाता है।

भावार्थ—व्यवहार नयसे ही जीवका अनादि कालसे बन्ध हो रहा है और उसी बन्धकी अपेक्षासे इस एक जीवकी ही नौ अवस्थायें हो जाती हैं। उन अवस्था विशेषोंका नाम ही नौ पदार्थ है। इसीको नीचे पुनः दिखलाते हैं—

किञ्च पर्यायधर्माणो नवामी पद संज्ञकाः।
उपरक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्ययमात्रता॥ १३९॥

अर्थ—अथवा ये नौ पदार्थ जीवकी पर्यायें हैं। इतना विशेष है कि ये केवल जीवकी पर्यायें ही नहीं है किन्तु इन पर्यायोंमें उपराग (कर्ममल) रूप उपाधि लगी हुई है। उपरागोपाधि सहित पर्यायोंको ही नौ पदार्थ कहते हैं।

उपरागोपाधि असिद्ध नहीं है—

नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तथा स्वतः।
यतो नव पदव्याप्तमव्याप्तं पर्ययेषु तत्॥ १४०॥

अर्थ—संसारी जीवके उपराग रूप उपाधि असिद्ध नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध है।

इस उपाधिका सम्बन्ध इन नौ पदार्थों (अशुद्ध जीवकी पर्यायों) में ही है। जीवकी सभी पर्यायोंमें नहीं है। क्योंकि जीवकी शुद्ध पर्यायमें इसका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है।

उपाधि मानना आवश्यक है—

सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते।
क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोनुभूयते॥ १४१॥

अर्थ—व्यवहार दृष्टिसे जीव उपराग-उपाधिवाला है। यदि उपाधि होनेसे उसका अनादर किया जाय अर्थात् उसे न माना जाय, तो ये जीवकी नौ अवस्थायें भी नहीं हो सक्ती हैं। सदा शुद्ध जीवका ही अनुभव होना चाहिये। अथवा नौ पदार्थोंके असिद्ध होनेपर शुद्ध जीवका भी अनुभव नहीं हो सक्ता है।

भावार्थ—शुद्धता प्राप्त करनेके लिये अशुद्धता कारण है। यदि अशुद्धताको स्वीकार न किया जाय तो शुद्धता भी नहीं हो सक्ती। इसलिये व्यवहार नयको मानते हुए ही निश्चय-मार्गका बोध होता है। जिन्होंने व्यवहारको सर्वथा कुछ नहीं समझा है वास्तवमें वे निश्चय तक भी नहीं पहुंच सके हैं। व्यवहार और निश्चय नयके विषयमें पहले अध्यायमें इसी ग्रन्थमें बहुत खुलासा किया गया है। संक्षिप्त स्वरूप यही पड़ता है कि व्यवहार नयका जो विषय है उसमेंसे यदि सभी विकल्पजालोंको दूर कर दिया जाय तो वही निश्चय नयका विषय हो जाता है।

जिस प्रकार तृणकी अग्नि, कण्डेकी अग्नि, कोयलेकी अग्नि, पत्तोंकी अग्नि, ये अग्नि विकल्प व्यवहार नयका विषय है। इसमेंसे सभी विकल्पोंको दूर कर शुद्ध अग्नि स्वरूप लिया जाय तो निश्चयका विषय हो जाता है। इसलिये व्यवहारको सर्वथा मिथ्या समझना नितान्त भूल है। हां अन्तमें निश्चय ही उपादेय अवश्य है।

शङ्काकार—

ननूपरक्तिरस्तीति किंवा नास्तीति तत्त्वतः।
उभयं नोभयं किंवा तत्क्रमेणाक्रमेण किम्॥ १४२॥
अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः।
नास्तीति चेदसत्त्वेस्याः सिद्धो नानादरो नयात्॥ १४३॥
सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै।
शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानधिकारतः॥ १४४॥
असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च।
हेतुशून्याविनाभूतकार्यशून्यस्य दर्शनात्॥ १४५॥

उभयं चेत्क्रमेणेति सिद्धं न्यायादविवक्षितम् ।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥ १४६ ॥
यौगपद्येपि तद्‌द्वैतं न समीहितसिद्धये ।
केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः ॥ १४७ ॥
नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः ।
यौगपद्यमसिद्धं स्याद्‌द्वैताद्वैतस्य का कथा ॥ १४८ ॥
ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः ।
तद्वाचकश्च यः कोपि वाच्यः शुद्धनयोपि सः ॥ १४९ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि निश्चयनयसे (वास्तवमें) उपराग इस जीवात्मामें है या नहीं है ? अथवा उपराग और अनुपराग (शुद्धता) दोनों हैं ? अथवा क्या दोनों ही नहीं हैं ? दोनों हैं तो क्रमसे हैं या एक साथ ? यदि वास्तवमें उपराग है तो फिर उसमें अनादर (अग्राह्यता) क्यों किया जाता है ? यदि वास्तवमें व्यवहारनयका विषय भूत उपराग कोई वस्तु नहीं है, तो उसमें अनादर भी सिद्ध नहीं होता । क्योंकि अनादर उसीका किया जाता है जो कि कुछ चीज हो । जब निश्चय नयसे उपराग कोई चीज ही नहीं है तो अनादर किसका ? दूसरी बात यह है कि यदि उपराग माना भी जाय तो भी नौ पदार्थोंमें ग्राह्यता नहीं आती, क्योंकि शुद्ध पदार्थके सिवाय दूसरी जगह नयका अधिकार ही नहीं है ? (शङ्काकारकी यह शङ्का केवल शुद्ध नयको ध्यानमें रखकर ही की गई है) यदि उपराग नहीं माना जाय तब तो ये जीवके नौ स्थान किसी प्रकार भी नहीं बन सक्ते हैं क्योंकि जिसका कारण ही नहीं है उसका कार्य भी नहीं हो सक्ता है ।

यदि शुद्धता और अशुद्धता (उपराग) दोनोंहीको माना जावे, परन्तु क्रमसे माना जावे तो भी न्यायसे शुद्ध मात्र ही उपादेय (ग्राह्य) सिद्ध होगा, और शुद्धसे भिन्न अशुद्ध त्याज्य होगा ?

यदि शुद्धता और उपराग जन्य अशुद्धता, इन दोनोंको एक साथ ही माना जावे तो भी दोनोंसे हमारा अभीष्ट सिद्ध न होगा, उस समय भी शुद्ध ही ग्राह्य होगा और अशुद्ध अग्राह्य होगा ?

एक बात यह भी है कि एक पदार्थके एक स्थानमें दो क्रियायें अथवा दो कर्म रह भी नहीं सकते हैं इसलिये जीवमें एक साथ शुद्धता और अशुद्धता नहीं बन सक्ती, फिर " दोनोंमेंसे शुद्ध ही ग्राह्य होगा " इत्यादि द्वैताद्वैतकी कथा तो पीछे है ।

इसलिये अनन्य गति न्यायसे अर्थात् अन्यत्र गति न होनेसे अथवा घूम फिरकर वहीं

आजानेमें शुद्ध ही एक पदार्थ मानना चाहिये, वही सम्यग्दर्शनका विषय है। उसी पदार्थका कहनेवाला यदि कोई नय है तो केवल शुद्धनय (निश्चयनय) है?

भावार्थ—उपर्युक्त कथनमें शङ्काकारका अभिप्राय केवल शुद्धनयको मानकर शुद्ध जीवकी ग्राह्यतामें है। उसकी दृष्टिमें व्यवहार नय सर्वथा मिथ्या है, इसी लिये उसकी दृष्टिमें नव पदार्थ अर्थात् जीवकी अशुद्धता भी कोई वस्तु नहीं है। आचार्य इसका खण्डन नीचे करते हैं—

उत्तर—

नैवं त्वनन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः।
विरोधेप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः॥ १५० ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता इन दोनोंमेंसे किसी एकको न माना जाय अथवा इन दोनोंका कार्य कारण भाव न माना जाय तो काम नहीं चल सक्ता। ये दोनों ही अनन्यथा सिद्ध हैं अर्थात् दोनों ही आवश्यक हैं। दोनोंके माननेमें अशुद्धता पक्षमें जो शङ्काकारने विरोध बतलाया है सो भी अविरोध ही है पदार्थ परस्परकी अपेक्षाको लिये हुए हैं इसलिये विरोध नहीं रहता किन्तु अपेक्षाकृत भेदसे दोनों ही ठीक हैं।

नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्द्वयोरेकवस्तुतः।
यद्विशेषेपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते॥ १५१ ॥

अर्थ—शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों ही आवश्यक हैं यह बात भी असिद्ध नहीं है क्योंकि दोनों एक ही वस्तु तो पड़ती हैं। उक्त दोनों ही भेद जीवकी अवस्था विशेष ही तो हैं। इन भेदोंकी अपेक्षासे जीव अनेक होनेपर भी सामान्य रीतिसे केवल एक ही प्रतीत होता है।

इसीका खुलासा—

तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ।
स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः॥ १५२ ॥

अर्थ—वास्तवमें विचार किया जाय तो ये नौ भी पदार्थ (अशुद्ध-अवस्था) केवल जीव और पुद्गल दो द्रव्य रूप ही पड़ते हैं, और कर्ता तथा कर्म ये वास्तवमें अपने द्रव्यादिकसे अभिन्न होते हैं।

भावार्थ—पहले शङ्काकारने यह कहा था कि एक वस्तु ही कर्ता और कर्म कैसे हो सक्ती है? इसीका यह उत्तर है कि जीव कर्ता है और पुद्गल कर्म है। कर्तृत्व जीवसे अभिन्न है और कर्मत्व पुद्गलसे अभिन्न है। तथा इन दोनोंके मेलसे ही नौ पदार्थ होते हैं इसलिये दोनोंकी मिली हुई एक अवस्थामें कर्ता, कर्मके रहनेमें कोई विरोध नहीं रहता।

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किञ्चिद्द्रव्यान्तरं पृथक् ।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥ १५३ ॥

अर्थ—जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्योंको छोड़कर नव पदार्थ और कोई दूसरे द्रव्य नहीं है । अर्थात् नौ ही पदार्थ जीव, पुद्गलको अवस्था विशेष हैं इनमें अन्य किसी द्रव्यका मेल नहीं है । और ऐसा भी नहीं है कि ये नौ ही पदार्थ केवल शुद्ध जीवके ही हों अथवा केवल पुद्गलके ही हों । किन्तु दोनों ही के योगसे हुए हैं । इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

जीव और पुद्गल इन दोनोंके ही नौ पदार्थ हैं—

किन्तु सम्बद्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम् ।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥ १५४ ॥

अर्थ—नैमित्तिक जीव और निमित्तकारण पुद्गल, इन दोनोंके ही परस्पर सम्बन्धसे ये नौ पदार्थ हो गये हैं ।

जीवकी ही नौ अवस्थायें हैं—

अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते ।
तदात्वेपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ॥ १५५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश यही निकलता है कि यह जीव ही नौ पदार्थ रूप होकर ठहरा हुआ है । यद्यपि पहले श्लोकों द्वारा जीव और पुद्गल दोनों ही की अवस्था नौ पदार्थ रूप बतलाई है । परन्तु यहां पर जीवके ही अवस्था भेद नौ पदार्थोंको बतलाया है । इसका अभिप्राय यह है कि यहां पर निमित्तकारणको विवक्षित नहीं रक्खा है । पुद्गलके निमित्तसे जीवके ये नौ भेद होते हैं । अर्थात् अवस्था तो ये जीवकी हैं परन्तु पुद्गल निमित्तकारण है इस लिये यहांपर निमित्त कारणको अविवक्षित रखकर " जीव ही नौ पदार्थ रूप है " ऐसा कहा है ।

यद्यपि इन अवस्थाओंसे यह जीव अशुद्ध है तथापि इन अवस्थाओंसे रहित विचारनेसे केवल शुद्ध जीवका ही प्रतिभास होता है ।

भावार्थ—अशुद्धताके भीतर भी शुद्ध जीवका प्रतिभास होता ही है ।

नासंभवं भवेदेतत् तद्विधेरुपलब्धितः ।
सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥ १५६ ॥

अर्थ—अशुद्धताके भीतर शुद्ध जीवका प्रतिभास होता है यह बात असिद्ध नहीं है । किन्तु अनेक प्रकारसे सिद्ध है । परन्तु अयथार्थ उपाधिका सम्बन्ध हो जानेके कारण उस शुद्धताका दर्शन नहीं होता है ।

भावार्थ—पुद्गलके निमित्तसे जो आत्मामें अशुद्धता–मलिनता आ गई है इससे इस

आत्माका शुद्धरूप ढक गया है । तो भी उपाधि रहित अवस्थाका ध्यान करनेसे अशुद्धताके भीतर भी शुद्धात्माका अवलोकन होता ही है ।

दृष्टान्तमाला—

सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनलाः ।
आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः ॥ १५७ ॥

अर्थ—अशुद्धताके भीतर शुद्धताका ज्ञान होता है इस विषयमें अनेक उदाहरण हैं । उनमेंसे कितने ही दृष्टान्त तो ये हैं—सोना, कमल, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिक पत्थर, ज्ञान, समुद्र और नमक(लवण) ।

सोनेका दृष्टान्त—

एकं हेम यथानेकवर्णं स्यात्परयोगतः ।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—यद्यपि सोना दूसरे पदार्थके निमित्तसे अनेक रूपोंको धारण करता है । जैसे कभी चांदीमें मिला दिया जाता है तो दूसरे ही रूपको धारण करता है, कभी पीतलमें मिला दिया जाय तो दूसरे ही रूपको धारण करता है इसी प्रकार तांबा, लोहा, अल्मोनियम, रेडियम आदि पदार्थोंके सम्बन्धसे अनेक प्रकार दीखता है, तथापि उन पदार्थोंको नहीं सा समझ कर उनकी उपेक्षा कर दें तो केवल सोनेका स्वरूप ही दृष्टिगत होगा ।

भावार्थ—दूसरे पदार्थोंके मेलसे अनेक रूपमें परिणत होनेवाले भी सोनेमें अन्य पदार्थोंका ध्यान छोड़कर केवल सोनेका स्वरूप चिंतवन करनेमे पीतल आदिकसे भिन्न पीतादि गुण विशिष्ट सोनेमात्रका ही प्रतिभास होता है ।

शङ्का—

नचाशंक्यं सतस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात् ।
सिद्धं कुतः प्रमाणाद्वा तत्सत्त्वं न कुतोपिवा ॥ १५९ ॥

अर्थ—केवल सोनेके ग्रहण करनेमें दूसरे मिले हुए पदार्थकी शीघ्र ही कैसे उपेक्षा की जा सकती है ? अथवा उस सोनेमें दूसरे पदार्थकी सत्ता है या नहीं है ? है तो किस प्रमाणसे है ? अथवा किसी भी प्रमाणसे नहीं है ? इस प्रकारकी शंका करना ठीक नहीं है । क्यों ठीक नहीं है ? सो नीचे बतलाते हैं—

परिहार—

नानारूपं हि तद्धेम सोपरक्तेरुपाधिवत् ।
तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातनः ॥ १६० ॥

अर्थ—सोनेके साथ दूसरे पदार्थका मेल हो रहा है। मेल होनेसे सोना अग्राह्य नहीं है। यदि उपाधिविशिष्ट सोनेका ग्रहण न किया जाय तो सर्वशून्यता आदि अनेक दोषोंका समावेश होगा। क्योंकि विना अशुद्धताके स्वीकार किये शुद्धता भी नहीं ठहरती।

न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा ।
शुद्धस्यानुपलब्धौ स्याल्लब्धिहेतोरदर्शनम् ॥ १६१ ॥

अर्थ—यह कहना भी परीक्षाके योग्य नहीं है कि जिस समय सोना शुद्ध है उस समय वह शुद्ध ही है। ऐसा माननेमें शुद्ध सोनेका प्रतिभास भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि शुद्धतामें कारण अशुद्धता है। अशुद्धतामें ही शुद्धता का प्रतिभास होता है। अशुद्धताका अदर्शन (लोप) होनेसे शुद्धताका भी लोप हो जायगा।

यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम् ।
न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत् ॥ १६२ ॥

अर्थ—जिस समय अनेक रूपोंको लिये हुए उस मिले हुए सोनेमें केवल सोनेको हम देखते हैं तो उस समय दूसरे पदार्थोंकी उपाधिका प्रतिभास नहीं करते हैं। उस समय तो अपना इष्ट जो सोना है उसीका प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

भावार्थ—मिले हुए सोनेमेंसे सोनेका स्वरूप विचारने पर केवल सोनेका ही स्वरूप झलक जाता है। उस समय उस सोनेके साथ जो दूसरे पदार्थ मिले हुए हैं वे नहीं की तरह ठहर जाते हैं।

फलितार्थ—

ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृथक् ।
सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेपि वस्तुतः ॥ १६३ ॥
प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्वदृष्टान्तभूमिषु ।
साध्यार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु ॥ १६४ ॥

अर्थ—तावाँ, पीतल, चांदी आदिसे मिला हुआ भी सोना वास्तवदृष्टिसे विचार करनेपर दूसरे पदार्थोंके मेलसे रहित शुद्ध ही प्रतीत हो जाता है अर्थात् अनेक पदार्थोंका मेल होनेपर भी सोनेका स्वरूप भिन्न ही प्रतीत हो जाता है। उसी प्रकार पुद्गलके निमित्तसे नौ अवस्थाओंमें आया हुआ भी जीव, (उसका स्वरूप विचारने पर) शुद्ध ही प्रतीत हो जाता है।

जिस प्रकार सोनेका दृष्टान्त घटित किया गया है उसी प्रकार सब दृष्टान्तोंको घटित करना चाहिये। वे दृष्टान्त ही साध्यार्थके साथ अविरोध रीतिसे साधनको सजानेके लिये भूषण स्वरूप हैं अर्थात् साध्य साधनके ठीक ठीक परिज्ञानके लिये ये दृष्टान्त अत्युपयोगी हैं।

कमलका दृष्टान्त—

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत् ।
तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः ॥ १६५ ॥

अर्थ—यद्यपि कमल जलमें मग्न है तथापि वह जलमें नहीं है वास्तव दृष्टिसे जलमें कमल नहीं है । क्योंकि उसका जलसे भिन्न रहनेका स्वभाव है।

भावार्थ—उसी प्रकार जीवात्माका स्वभाव भी वास्तवमें पुद्गलसे भिन्न है जिस प्रकार कि जलमें डूबे रहने पर भी कमल जलसे भिन्न है ।

जलका दृष्टान्त—

सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम् ।
दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत् ॥ १६६ ॥

अर्थ—जो जल कीचड़में मिला हुआ है, उस जलमें भी यदि तुम जलका स्वरूप देखो, कीचड़का न देखो तो तुम्हें मिली हुई अवस्थामें भी कीचड़से भिन्न शुद्ध जलकी ही प्रतीति होगी । इसी प्रकार जीवात्मा भी पुद्गलसे भिन्न प्रतीत होता है ।

अग्निका दृष्टान्त ।

अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन् ।
नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम् ॥ १६७ ॥

अर्थ—जिस समय अग्नि तिनकेको जला रही है, उस समय उस अग्निको तिनकेके निमित्तसे—उपचारसे तिनकेकी अग्नि कह देते हैं । परन्तु वास्तवमें तिनकेकी अग्नि क्या है ? अग्नि ही अग्नि है । अग्नि तिनका नहीं है । और न तिनका अग्नि है । अग्नि, अग्नि ही है और तिनका, तिनका ही है ।

दर्पणका दृष्टान्त—

प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापिनः ।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥ १६८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्पणमें मयूरके सम्बन्धसे प्रतिबिम्ब (छाया) पड़ता है । परन्तु वास्तवमें छाया पड़ने पर भी वहां मयूर नहीं है । केवल दर्पण ही है । उसी प्रकार पुद्गलके निमित्तसे जीवात्मा अशुद्ध प्रतीत होता है वास्तवमें वह शुद्ध निराला ही है ।

स्फटिकका दृष्टान्त—

जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मनि ।
अर्थात्सोपि विकारश्चाऽवास्तवस्तत्र वस्तुतः ॥ १६९ ॥

अर्थ—जपापुष्प लाल फूल होता है, उस फूलको स्फटिक पत्थरके पीछे लगानेसे

स्फटिक पत्थरमें विकार हो जाता है अर्थात् वह स्फटिक भी लाल मालूम होने लगता है। परन्तु यथार्थ रीतिसे देखा जाय तो स्फटिकमें कोई प्रकारका लाली आदि विकार नहीं है।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलके निमित्तसे नौ प्रकार दीखने लगता है, परन्तु यथार्थमें वह ऐसा नहीं है।

ज्ञानका दृष्टान्त—

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम्।
नार्थाज्ज्ञानं घटोयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः॥ १७०॥

अर्थ—जिस समय ज्ञान घटको जानता है उस समय वह स्वयं घट ज्ञान कहलाता है। परन्त वास्तवमें ज्ञान घट रूप नहीं हो जाता है। किन्तु ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और घट, घट ही रहता है।

भावार्थ—ज्ञानका यह स्वभाव है कि जिस पदार्थको वह जानता है, उसी पदार्थके आकार हो जाता है। ऐसा होने पर भी वह ज्ञान पदार्थ रूप परिणत नहीं होता है, वास्तवमें वह तो ज्ञान ही है। इसी प्रकार जीवात्मा भी वास्तवमें रागद्वेषादि विकार मय नहीं है।

समुद्रका दृष्टान्त—

वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि वायुना प्रेरितो यथा।
नार्थादैक्यं तदात्वेऽपि पारावारसमीरयोः॥ १७१॥

अर्थ—वायुके निमित्तसे प्रेरित होता हुआ समुद्र ऊँची ऊँची तरङ्गोंको धारण करता है। परन्तु ऐसा होने पर भी समुद्र और वायुमें अभिन्नता नहीं है।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलके निमित्तसे नौ अवस्थाओंको धारण करता है, वास्तवमें वह पुद्गलसे अभिन्न नहीं है।

सैन्धवका दृष्टांत—

सर्वतः सैन्धवं खिल्यमर्थादेकरसं स्वयम्।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यन्नानेकरसं यतः॥ १७२॥

अर्थ—वास्तवमें नमकका खण्ड एक रस स्वरूप है, उसका स्वाद तो नमक रूप ही होता है। परन्तु भिन्न भिन्न प्रकारके व्यंजनोंमें पहुंचनेसे भिन्न भिन्न रीतिसे स्वाद आता है। लेकिन नमक तो नमक ही रहता है। वह किसी भी वस्तुमें क्यों न मिला दिया जाय, नमकका दूसरा स्वाद नहीं बदलेगा।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्माकी पुद्गल सम्बन्धसे अनेक अवस्थायें प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें आत्मा शुद्ध स्वरूप एक रसमें ही प्रतीत होता है।

फलितार्थ—

इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत्।
यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः ॥ १७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक दृष्टांतोंसे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हमारा अभीष्ट सिद्ध हो चुका। वह अभीष्ट यही है कि ये आत्माकी नौ अवस्थायें (नव पदार्थ) अवश्य कहनी चाहिये।

भावार्थ—अनेक लोगोंका इस विषयमें विवाद था कि नौ पदार्थ कहने चाहिये अथवा शुद्ध आत्माका ही सदा ग्रहण करना चाहिये। इस विषयमें उपर्युक्त दृष्टान्तोंद्वारा आचार्यने नौ पदार्थोंकी आवश्यकता भी बतला दी है। विना नौ पदार्थोंके स्वीकार किये शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नहीं होती है। इसलिये नव पदार्थ भी कहने योग्य हैं।

एकान्त कथन और उसका परिहार—

कैश्चित्तु कल्प्यते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः ॥ १७४ ॥
तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य, शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥ १७५ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मकी तीव्रतासे भूले हुए कोई तो कहते हैं कि ये नव पदार्थ नहीं कहना चाहिये। क्योंकि ये सर्वथा त्याज्य हैं। इन नवों पदार्थोंसे आत्माका शुद्ध निजरूप सर्वथा भिन्न ही है।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है। इन नव पदार्थोंको सर्वथा ही न कहा जाय अथवा ये सर्वथा ही त्यागने योग्य हैं यह बात किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती है। और उन नौ पदार्थोंके छोड़नेपर शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नहीं हो सकती है।

भावार्थ—अशुद्धताके माननेपर ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है अन्यथा नहीं, क्योंकि ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं। इसलिये व्यवहार नयसे ये नव पदार्थ भी ठीक हैं और निश्चय नयसे शुद्ध आत्मा ही उपादेय है।

नौ पदार्थोंके नहीं माननेमें और भी दोष—

नावश्यं वाच्यता सिद्ध्येत्सर्वतो हेयवस्तुनि।
नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक् ॥ १७६ ॥

अर्थ—इन नौ पदार्थोंको निन्द्य तथा त्यागने योग्य बतलाया है और शुद्धात्माको उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य बतलाया है। यदि इनको सर्वथा ही छोड़ दिया जाय तो इनमें त्याग करनेका उपदेश भी किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? और शुद्ध आत्मामें

ग्राह्यताका उपदेश भी कैसे हो सकता है ? जो पुरुष अन्धकारको अच्छी तरह पहचानता है वही तो प्रकाशका अनुभव करता है । जिसने कभी अन्धकारमें प्रवेश ही नहीं किया है वह प्रकाशका अनुभव भी क्या करेगा ?

आशङ्का—

नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिञ्चित्करत्वतः ।
सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥ १७७ ॥

अर्थ—यदि कोई कहे कि ये नौ पदार्थ अकिञ्चित्कर (कुछ प्रयोजनी भूत नहीं) है इसलिये इनको कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन नौ पदार्थोंका कहना अवश्य सार्थक (कुछ प्रयोजन रखता है) है इसलिये नौ पदार्थ अवश्य ही कहने योग्य हैं ।

नौ पदार्थोंके कहनेका प्रयोजन—

न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः ।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥ १७८ ॥

अर्थ—यदि नौ पदार्थोंको न माना जाय तो उनसे अतिरिक्त शुद्ध जीवका भी कभी अनुभव नहीं हो सकता अर्थात् शुद्ध जीव भी विना अशुद्धताके स्वीकार किये सिद्ध नहीं होता। क्योंकि कारणसामग्रीके अभावमें कार्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है । अशुद्धता पूर्वक ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है ।

शङ्काकार—

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ।
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योगं निरामयम् ॥ १७९ ॥
न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम् ।
अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात् ॥ १८० ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि उन नौ पदार्थोंसे जीवका निज रूप भिन्न ही है, वह शुद्ध है, नित्य उद्योगशील है, निरोग है, और वही शुद्ध रूप सम्यक्त्व गोचर है । परन्तु उस शुद्ध रूपको जगत् तब तक नहीं देख सकता है जब तक कि वह मिथ्यात्व रूपी अँधेरेसे व्याप्त (अन्धा) हो रहा है । जब इस जगत्का मिथ्यान्धकार नष्ट हो जाता है तभी यह जगत् बहुत ही शीघ्र उस शुद्ध जीवात्माको देखने लगता है ?

उत्तर—

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
नैकस्यैकपदे द्वेस्तः शुद्धाशुद्धे क्रियेऽर्थतः ॥ १८१ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों ही विरोधी धर्म हैं। और विरोधी पदार्थ एक स्थानमें रह नहीं सकते। इसलिये शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों एक स्थानमें कैसे रह सकती हैं? क्यों नहीं रह सकतीं? इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं—

अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः ।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥ १८२ ॥

अर्थ—यदि वास्तवमें जीवमें शुद्धता ही मानी जाय तो अशुद्धता किस प्रकार हो सकती है? यदि हो सकती है तो वह फिर नित्य क्यों नहीं?

अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभावो विरुद्धभाक् ।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसंभवः ॥ १८३ ॥

अर्थ—यदि जीवमें अशुद्धता ही मानी जाय तो बन्धका अभाव कभी नहीं हो सकता, यदि वह अशुद्धता नित्य है तो इस जीवात्माकी मुक्ति ही असंभव हो जायगी।

भावार्थ—आचार्यने सर्वथा शुद्ध तथा सर्वथा अशुद्ध पक्षमें दोष बतलाकर कथञ्चित् दोनोंको ही स्वीकार किया है। इससे शङ्काकारका जीवको सर्वथा शुद्ध मानना असत्य ठहरता है।

फलितार्थ—

ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः ।
तदाऽनन्यगतिस्तेन भावेनात्माऽस्ति तन्मयः ॥ १८४ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए तीनों श्लोकोंमे यह परिणाम निकालना चाहिये कि जिस समय आत्मा जिस भावसे सहित है उस समय वह उसी भावमें तल्लीन हो रहा है। उस समय उसकी और कोई गति नहीं है।

इसीका खुलासा—

तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन यः ।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ॥ १८५ ॥

अर्थ—जिस समय आत्मा शुभ भावोंको धारण करता है उस समय आत्मा शुभ है, जिस समय अशुभ भावोंको धारण करता है, उस समय आत्मा अशुभ है, जिस समय शुद्ध भावोंको धारण करता है, उस समय वही आत्मा शुद्ध है। ऐसा होनेका कारण भी यही है कि जिस समय यह आत्मा जैसे भावोंको धारण करता है उस समय उन्हीं भावोंमें तन्मय (तल्लीन) हो जाता है।

सारांश—

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम् ।
शुद्धं नव पदान्येव तद्विकारादृते परम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—इसलिये अशुद्धतासे विलक्षण जो शुद्ध जीव है वह उन नौ पदार्थोंसे कथंचित् अभिन्न है । सर्वथा भिन्न कहना मिथ्या है । ऐसा भी कह सकते हैं कि विकारके दूर हो जानेपर वे नौ पदार्थ ही शुद्ध स्वरूप हैं ।

भावार्थ—जीवकी ही नव रूप विकारावस्था है इस लिये उस विकारावस्थाके हटा देनेपर वही जीव शुद्ध हो जाता है ।

पहले शंकाकारने शुद्ध जीवको नव पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न बतलाया था, परन्तु इस कथनसे कथंचित् अभिन्नता सिद्ध की गई है ।

सूत्रका आशय—

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम् ।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥ १८७ ॥

अर्थ—श्रीमद्भवान् उमास्वामीने "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्रद्वारा तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया है, वही सूत्रका आशय उपर्युक्त कथनसे सिद्ध होता है । अब उन्ही जीवादिक नव तत्त्वों (पदार्थों) को क्रमसे बतलाते हैं—

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः ।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥ १८८ ॥
सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः ।
सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिताः ॥ १८९ ॥

अर्थ—वे नव पदार्थ इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व और पुण्य तथा पाप । ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शनके विषयभूत हैं अर्थात इन्हींका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टी है और ये पदार्थ वास्तविक हैं ।

आचार्यकी नयी प्रतिज्ञा—

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥ १९० ॥

अर्थ—पूर्वापर विचार करनेमें अति चतुर कविवर (आचार्य) अब जीवके विषयमें व्याख्यान करते हैं—

भावार्थ—आचार्यने इस श्लोक द्वारा कई बातोंको सिद्ध कर दिखाया है । प्रतिज्ञा तो इस बातकी की है कि अब वे जीवका निरूपण सबसे पहले करेंगे । अपनेको उन्होंने कवि

कहा है, इससे जाना जाता है कि वे कविता करनेमें भी धुरन्धर थे, वास्तवमें इतने गहन तत्त्वको पद्यों द्वारा प्रकट करना, सो भी अति स्पष्टतासे यह बात उनके महाकवि होनेमें पूर्ण प्रमाण है। साथमें उन्होंने पूर्वापर विचारक अपनेको बतलाया है। इससे उन्होंने अपने ग्रन्थमें निर्दोषता सिद्ध की है। वह दो तरह की है—एक तो अपने ही ग्रन्थमें पूर्वापर कहीं विरुद्धता न हो जाय, अथवा कथन, क्रम पद्धतिसे बाहर तो नहीं है इस दोषको उन्होंने हटाया है। दूसरे—पूर्वाचार्योंके कथनको पूर्वापर अवलोकन करके ही यह ग्रन्थ बनाया है, यह बात भी उन्होंने प्रकट की है। इन बातोंसे आचार्यने अपनी निजी कल्पना, ग्रन्थकी असंबद्धता और साहित्यदोष आदि सभी बातोंको हटा दिया है।

जीवका निरूपण—

जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये ॥ १०१ ॥

अर्थ—पहले जीवकी सिद्धि कह चुके हैं, इसलिये प्रसिद्ध है। उसीको पुनः साध्य बनाते हैं अर्थात् सिद्ध करते हैं। जीवके ठीक २ स्वरूपकी प्राप्ति हो जाय, इसलिये उसका सिद्ध (प्रसिद्ध) लक्षण कहते हैं।

अब जीवका स्वरूप बतलाते हैं—

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात्सदेकधा।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह ॥ १०२ ॥

अर्थ—जीवका स्वरूप चेतना है वह चेतना सामान्य रीतिसे एक प्रकार है क्योंकि सामान्य रीतिसे सत्ता एक ही प्रकार है। तथा सत् विशेषकी अपेक्षासे वह चेतना दो प्रकार है। परन्तु उसके दोनों भेद क्रमसे होते हैं एक साथ नहीं होते।

भावार्थ—जीव ज्ञान दर्शन मय है। सामान्य रीतिसे यही एक लक्षण जीव मात्रमें घटित होता है। शुद्ध-अशुद्ध विशेष भेद करनेसे लक्षण भी दो प्रकारका होजाता है। इतना विशेष है कि एक समयमें एक ही स्वरूप घटित होता ह।

उन्हीं भेदोंको बतलाते हैं—

एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धाऽऽत्मकर्मजा ॥ १०३ ॥

अर्थ—एक शुद्ध चेतना है दूसरी अशुद्ध चेतना है। शुद्ध चेतना आत्माका निजरूप है और अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्मके निमित्तसे होती है।

चेतनाके भेद—

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्त्वतः।
शुद्धाशुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥ १०४ ॥

अर्थ—शुद्ध चेतना एक प्रकार है क्योंकि शुद्ध एक प्रकार ही है। शुद्ध चेतनामें शुद्धताकी उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्ध है और वह शुद्धोपलब्धि ज्ञान रूप है इसलिये उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

भावार्थ—आत्मामें जो भेद होते हैं वे कर्मोंके निमित्तसे होते हैं आत्माका निज रूप एक ही प्रकार है, उसमें भेद नहीं है, इसी लिये कहा गया है कि शुद्ध एक ही प्रकार होता है। जो चेतना जीवके असली स्वरूपको लिये हुए है उसीका नाम शुद्ध चेतना है। और वह चेतना ज्ञान रूप है इस लिये उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

अशुद्ध चेतना—

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना ।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ॥ १९५ ॥

अर्थ—अशुद्ध चेतना दो प्रकार है। एक कर्म चेतना, दूसरी कर्मफल चेतना। कर्मफल चेतनामें फल भोगनेकी मुख्यता है।

भावार्थ—चेतनाके तीन भेद कहे गये हैं—१ ज्ञान चेतना, २ कर्म चेतना ३ कर्मफल चेतना। ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टिके ही होती है क्योंकि वहां पर शुद्ध—आत्मीक भावोंकी प्रधानता है। बाकीकी दोनों चेतनायें मिथ्यादृष्टिके होती हैं। इतना विशेष है कि कर्म चेतना संज्ञी मिथ्यादृष्टिके होती है और कर्मफल चेतना असंज्ञीके होती है। कर्म चेतनामें ज्ञानपूर्वक क्रियाओं द्वारा कर्म बन्ध करनेकी प्रधानता है और कर्म फल चेतनामें कर्म बन्ध करनेकी प्रधानता नहीं है किन्तु कर्मका फल भोगनेकी प्रधानता है।

ज्ञान चेतनाकी व्युत्पत्ति—

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम् ।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥ १९६ ॥

अर्थ—यहां पर ज्ञान शब्दसे आत्मा समझना चाहिये। क्योंकि आत्मा ज्ञान रूप ही स्वयं है। वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जानी जाव उसीका नाम ज्ञान चेतना है।

भावार्थ—जिस समय शुद्धात्माका अनुभवन होता है। उसी समय चेतना (ज्ञान) ज्ञान चेतना कहलाती है। उस समय बाह्योपाधिकी मुख्यता नहीं रहती है। जिस समय बाह्योपाधिकी मुख्यता होती है उस समय आत्माका ज्ञान गुण (चेतना) अशुद्धताको धारण करता है और उसके अभावमें ज्ञान मात्र ही रह जाता है। इसलिये उसे शुद्ध चेतना अथवा ज्ञान चेतना कहते हैं।

उसीका खुलासा—

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥ १९७ ॥

अर्थ—अर्थात् जिस समय आत्माका ज्ञानगुण सम्यक् अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, केवल शुद्धात्माका अनुभवन करता है उसी समय उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

ज्ञानचेतनाका स्वामी—

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात्‌ ॥ १९८ ॥

अर्थ—वह ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिके ही होती है। मिथ्यादृष्टिके कहीं भी नहीं हो सक्ती, क्योंकि मिथ्यादर्शनके होनेपर उसका होना असंभव ही है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके होनेपर ही मतिज्ञानावरणीयकर्मका विशेष क्षयोपशम होता है उसीका नाम ज्ञानचेतना है। मिथ्यादर्शनकी सत्ता रहते हुए उसका होना सर्वथा असंभव है।

मिथ्यादर्शनका माहात्म्य—

अस्ति चैकादशाङ्गानां ज्ञानं मिथ्यादृशोपि यत्‌।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम् ॥ १९९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिको ग्यारह अंग तकका ज्ञान हो जाता है, परन्तु आत्माका शुद्ध अनुभव उसको नहीं होता है यह केवल मिथ्यादर्शनके उदयका ही महात्म्य है।

भावार्थ—द्रव्यलिंग धारण करनेवाले मुनि यद्यपि ग्यारह अंग तक पढ़ जाते हैं परन्तु मिथ्यात्व पटलके उदय होनेसे वे शुद्धात्माका स्वाद नहीं ले सक्ते। आश्चर्य है कि उनके पढ़ाये हुए शिष्य भी जिनका कि मिथ्यात्वकर्म दूर हो गया है, शुद्धात्माका आनन्द ले लेते हैं परन्तु वे नहीं ले सक्ते।

शंकाकार—

ननूपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः।
तत् किं ज्ञानावृतेः स्वीयकर्मणोन्यत्र तत्क्षतिः ॥ २०० ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि आत्माकी उपलब्धि सम्यग्दृष्टिको होती है, यहांपर 'उपलब्धि' शब्दसे प्रत्यक्ष ज्ञान लेते हैं अर्थात् आत्माका प्रत्यक्ष होता है। यह अर्थ हुआ तो क्या आत्मीय ज्ञानावरण कर्मका वहां क्षय हो जाता है?

उत्तर—

सत्यं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा ॥ २०१ ॥

अर्थ—तुम्हारा कहना ठीक है। आत्माके प्रत्यक्ष न होनेमें मूल कारण आत्मीय ज्ञानावरण कर्मका उदय ही है। परन्तु साथ ही दूसरे कर्मका उदय भी उस प्रत्यक्षको रोक रहा है। एक गुणके घात करनेके लिये कर्मान्तर (दूसरे कर्म) के उदयकी अपेक्षा असिद्ध नहीं किन्तु कार्यकारी ही है।

विशेष खुलासा—

अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्त्युदयक्षतेः ।
तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि ॥ २०२ ॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि जितने भी ज्ञान हैं, वे सभी अपने २ ज्ञानावरणीय कर्मके उदयका क्षय होनेसे होते हैं। साथमें वीर्यान्तराय कर्मका अनुदय भी आवश्यक है।

भावार्थ—हरएक शक्तिके काम करनेमें बलकी आवश्यकता है। इसलिये ज्ञान भी जिसप्रकार अपना कार्य करनेके लिये अपने आवरणका नाश चाहता है, उसी प्रकार बल प्राप्तिके लिये वीर्यान्तराय कर्मका भी नाश चाहता है।

आत्मोपलब्धिमें हेतु—

मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा ।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ॥२०३॥

अर्थ—जिस प्रकार आत्मोपलब्धि (आत्म प्रत्यक्ष) मतिज्ञानावरणी और वीर्यान्तराय कर्मके अनुदयसे होती है, उसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्मके भी अनुदयसे होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानको ज्ञानावरण कर्म रोकता है, उसी प्रकार शुद्धताको दर्शनमोहनीय कर्म रोकता है। इसलिये शुद्ध-उपलब्धिके लिये ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय और दर्शनमोहनीय, इन तीनों कर्मोंके अभावकी आवश्यकता है। विना इन तीनोंके अनुदय हुए शुद्धात्माका अनुभवन कभी नहीं हो सक्ता।

किञ्चोपलब्धिशब्दोपि स्यादनेकार्थवाचकः ।
शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये ॥२०४॥

अर्थ—उपलब्धि शब्द भी अनेकार्थ वाचक है। यहां पर उपलब्धि शब्दका प्रयोजन शुद्धोपलब्धिसे है और वह अशुद्धताको दूर करनेके लिये है।

अशुद्धोपलब्धिका स्वामी—

अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम् ।
सुदृशां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन ॥२०५॥

अर्थ—अशुद्धोपलब्धि केवल मिथ्यादृष्टियोंके ही होती है। सम्यग्दृष्टियोंके नहीं होती, यदि कदाचित् हो भी तो गौण रूपसे होती है।

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

तद्यथा सुखदुःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः ।
तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत् ॥२०६॥
यद्वा क्रुद्धोयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद्द्विषम् ।
न हिनस्मि वयस्यं स्वं सिद्धं चेत्तत् सुखादिवत् ॥२०७॥

अर्थ—यह आत्मा सुख दुःख आदि विकारोंके होनेपर स्वयं तन्मय हो जाता है। सांसारिक सुख मिलनेपर समझता है कि मैं सुखी हूं, दुःख होनेपर समझता है कि मैं दुःखी हूं इस प्रकार सब वस्तुओंमें ऐसी ही बुद्धि इसकी हो रही है। कभी कभी ऐसे भाव भी करता है कि यह क्रोधी है मैं इस शत्रुको अवश्य ही मार डालूंगा तथा अपने मित्रको कभी नहीं मारूंगा। इन बातोंसे यह बात सिद्ध होती है कि यह जगत् सुख दुःखादिका वेदन करनेवाला है।

उपलब्धि प्रत्यक्षात्मक है—

बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्सवेदकः ।
स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥ २०८ ॥

अर्थ—यहां पर स्वयं जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष ही समझना चाहिये वही समझ सकता है कि यह सुख दुःखकी जो आत्मामें उपलब्धि होती है वह स्मृतिज्ञान नहीं है, किन्तु उससे भिन्न ही है।

उपलब्धिका अनुभव होता है—

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम् ।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥ २०९ ॥

अर्थ—आत्मामें सुख दुःखका अनुभव होता है इसलिये इसकी उपलब्धि असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है। क्योंकि यह आत्मा विना किसीके कहे हुए संस्कारके स्वयं ही कभी सुखका और कभी दुःखका अनुभव करता है यह सुप्रतीत है।

अतिव्याप्ति दोष नहीं है—

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः ।
तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमात्रतः ॥ २१० ॥

अर्थ—इस सुख दुःखके स्वादुसंवेदनकी तरह प्रत्यभिज्ञान अथवा केवलज्ञान भी हो ऐसा नहीं है। प्रत्यभिज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही वस्तुका ज्ञान मात्र तो करते हैं, परन्तु वस्तुके स्वादका अनुभव नहीं करते। इसलिये यह उपलब्धि उक्त दोनों ज्ञानोंसे भिन्न प्रकारकी ही है।

भावार्थ—वस्तुके स्वयं अनुभव करनेमें और दूसरेको उसका ज्ञान होनेमें प्रत्यक्ष ही अन्तर है। शास्त्रज्ञ नारकियोंके दुःखका केवल ज्ञान रखते हैं परन्तु नारकी उस दुःखका स्वयं अनुभव करते हैं। इसी प्रकार केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) भी वस्तुका ज्ञान मात्र करते हैं उसका स्वाद नहीं लेते।

क्योंकि—

***व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि ।**
व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु ॥ २११ ॥

अर्थ—जिसका जिसके साथ व्याप्य व्यापक भाव (सम्बन्धविशेष) होता है उसीका उसके साथ अनुभव घटता है। व्याप्य व्यापक भाव अपने सुख दुःखका अपने साथ है। दूसरेके साथ नहीं। क्योंकि व्याप्य व्यापकपना सर्वत्र वस्तुओंमें भिन्न २ हुआ करता है।

भावार्थ—हरएक आत्माके गुणका सम्बन्ध हरएक आत्माके साथ जुदा है। इसलिये एक आत्माके सुख दुःखका अनुभव दूसरा आत्मा कभी नहीं कर सकता है। हां उसका उसे ज्ञान हो सकता है। किसी बातके जाननेमें और स्वयं उसका स्वाद लेनेमें बहुत अन्तर है।

अशुद्धोपलब्धि बन्धका कारण है—

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी ।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥ २१२ ॥

अर्थ—यह जो सुख दुःखादिककी उपलब्धि होती है वह अशुद्ध-उपलब्धि है तथा क्रियारूप परिणामको लिये हुए है अर्थात् वह उपलब्धि कर्मोंके उदयसे होनेवाली है। इसलिये उसका बन्ध होना ही फल बतलाया गया है।

अशुद्धोपलब्धि ज्ञान चेतना नहीं है—

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाचिदन्वयात् ।
न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ॥ २१३ ॥

अर्थ—वह उपलब्धि, अशुद्ध-उपलब्धि कहलाती है। उस उपलब्धिमें यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु मिथ्या स्वादुसंवेदन रूप ज्ञानाभास होता है। इसलिये उसे ज्ञानचेतना नहीं कह सकते। किन्तु अशुद्ध ज्ञानका संस्कार लिये हुए ज्ञानपूर्वक कर्मबन्ध करनेकी और कर्मफलके भोगनेकी प्रधानता होनेसे उसे कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना कहते हैं।

भावार्थ—ज्ञान चेतनामें आत्मीय गुणका अनुभवन होता है। इसलिये वह बन्धका

---

* अल्प देशवृत्ति पदार्थ व्याप्य कहलाता है, अधिक देशवृत्ति व्यापक कहलाता है परन्तु यह भी स्थूल कथन है। समानतामें भी व्याप्य व्यापक भाव होता है। यह एक सम्बन्ध विशेष है। जैसे वृक्ष और शिंशुपाका होता है।

कारण नहीं है, और वही शुद्धोपलब्धि है। अशुद्धोपलब्धिमें कर्मजनित उपाधियोंकी तन्मयता है। उन्हींका स्वादुसंवेदन होता है। वहां ज्ञानपूर्वक कर्मबन्ध करनेकी अथवा अज्ञान अवस्थामें कर्मफल भोगनेकी प्रधानता है इसलिये उसे कर्मचेतना अथवा कर्मफलचेतना कहते हैं। ये ही दोनों कर्मबन्धकी मुख्यता रखती हैं। अब इन्ही दोनों चेतनाओंके स्वामियोंको बतलाते हैं।

इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः।
अस्ति साधारणीवृत्ति र्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ॥२१४॥

अर्थ—यह कर्मचेतना अथवा कर्मफलचेतना सामान्यरीतिसे सभी संसारी जीवोंके होती है। यह सम्यक्त्व पूर्वक नहीं होती है, किन्तु साधारण रीतिसे हरएक संसारी जीवात्मामें पाई जाती है।

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम्।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥२१५॥

अर्थ—यह भी नियम नहीं है कि आत्मोपलब्धि मात्र ही सम्यग्दर्शन सहित होती है, यदि वह उपलब्धि शुद्ध हो तबतो सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। यदि वह उपलब्धि अशुद्ध हो तो सम्यग्दर्शन भी नहीं समझना चाहिये।

भावार्थ—आत्मोपलब्धि शुद्ध भी होती है तथा अशुद्ध भी होती है। शुद्धोपलब्धिके साथ सम्यग्दर्शनकी व्याप्ति है, अशुद्धोपलब्धिके साथ नहीं है। इस कथनसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि सभी उपलब्धियां सम्यक्त्व सहित नहीं हैं।

शङ्काकार—

ननु चेयमशुद्धैव स्यादशुद्धा कथंचन।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित् ॥ २१६ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि पूर्वोक्त आत्मोपलब्धि अशुद्ध ही है? अथवा किसी समय अशुद्ध है? क्या सदा बन्ध करनेवाली है? अथवा कभी बन्धका कारण नहीं भी है?

उत्तर—

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना।
असत्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलाऽन्यथा ॥ २१७ ॥

अर्थ—हां ठीक है, सुनो! यदि वह उपलब्धि सम्यग्दर्शनके होनेपर हो, तब तो शुद्ध है और विना सम्यग्दर्शनके वही अशुद्ध है। सम्यग्दर्शनके होनेपर वह बन्धका कारण नहीं है और सम्यग्दर्शनके अभावमें बन्धका कारण है।

पुनः शङ्काकार—

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्धा मृषा रुचिः ।
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषभाक् ॥ २१८ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सम्यग्दर्शन तो शुद्ध है और मिथ्यादर्शन अशुद्ध है और दोनोंका विषय एक ही है । ऐसी अवस्थामें एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध कैसे हो सकता है ?

उसीकी दूसरी शङ्का—

यद्वा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै साचेच्छुद्धा कुतो नव ॥ २१९ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीकी नव तत्त्वों (नव पदार्थों) के विषयमें आत्मोपलब्धि होती है । यदि वह आत्मोपलब्धि शुद्ध है, तब नौ पदार्थ कहांसे हो सकते हैं ।

भावार्थ—शङ्काकारका आशय है कि सम्यग्दृष्टि नव तत्त्वोंका अनुभव करता है । यदि वह अनुभव शुद्ध है तो नौ तत्त्व कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि नौ तत्त्व तो कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले हैं, शुद्ध नहीं है ? इसलिये यातो वह उपलब्धि शुद्ध नहीं है, अथवा वह शुद्ध है तो नव तत्त्व नहीं ठहरते ?

उत्तर—

नैवं यतः स्वतः शश्वत् स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि ।
तत्राभिव्यञ्जकद्वैधाभावसद्भावतः पृथक् ॥२२०॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त दोनों शङ्कायें ठीक नहीं हैं क्योंकि वस्तु एक होनेपर भी उसमें किसी जतानेवाले अभिव्यञ्जक (सूचक) के द्विधाभाव होनेसे भिन्न २ निरन्तर स्वाद भेद हो जाता है ।

भावार्थ—जैसा सूचक होता है वैसी ही वस्तुकी प्रतीति होने लगती है, सूचक दो प्रकार है । इसलिये वस्तु एक होनेपर भी उसमें दो प्रकार ही स्वादुभेद होजाता है ।

इसी बातका स्पष्टीकरण—

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः ।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादु सद्विदाम् ॥२२१॥

अर्थ—सामान्यमात्र विषय होनेसे शुद्धता समझी जाती है और वस्तुकी विशेषतामें अशुद्धता समझी जाती है । सद्वस्तुका बोध करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंको वस्तुका सामान्यरूपसे स्वाद आता है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टीपुरुष, वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा ही सामान्यरीतिसे जानते हैं

किन्तु मिथ्यादृष्टिपुरुष कर्मोदयसे उसी वस्तुका विशेषरीतिसे (स्वरूपविहीन, और रागरञ्जित) स्वाद लेते हैं। इसलिये एक वस्तु होनेपर भी शुद्ध तथा अशुद्ध ये दो भेद हो जाते हैं।

मिथ्यादृष्टीका वस्तु स्वाद—

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेप्यनीदृशम्।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दृङ्मोहदोषतः ॥२२२॥

अर्थ—वस्तुकी विशेषतामें भी जिस प्रकार सम्यग्दृष्टी स्वाद लेता है वैसा मिथ्यादृष्टियोंको कभी नहीं आता। वे दूसरी तरहका ही वस्तुका विशेष स्वाद लेते हैं और उसमें भी दर्शनमोहनीय कर्मके दोषसे होनेवाली उनकी अज्ञानता ही कारण है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि मिथ्यादर्शनके उदयसे वस्तुका विपरीत–विशेष ही ग्रहण करता है।

और भी—

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम्।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ॥२२३॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टीयोंको वस्तुका विलक्षणरीतिसे ही स्वाद आता है अर्थात् उनकी चेतना (बोध) निश्चयसे कर्मफलमें अथवा कर्ममें ही लगी रहती है।

भावार्थ—उन्हें ज्ञान चेतना जोकि बन्धका हेतु नहीं है कभी नहीं होती।

मिथ्यादृष्टियोंके स्वादका दृष्टान्त—

दृष्टान्तः सैन्धवं खिल्यं व्यञ्जनेषु विमिश्रितम्।
व्यञ्जनं क्षारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम् ॥२२४॥

अर्थ—दृष्टान्त—नमकका टुकड़ा (डली) जिस भोजन सामग्रीमें मिला दिया जाता है उस भोजनको यदि अज्ञानी जीमता है, तो वह समझता है कि भोजन ही खारा है।

भावार्थ—आटेमें नमक मिलानेसे अज्ञानी समझता है कि यह खारापन आटेका ही है उसे नमकका नहीं समझता। इसीप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुष वस्तुकी यथार्थताको नहीं जानता।

सम्यग्दृष्टियोंके स्वादका दृष्टान्त—

क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यञ्जनेषु वा।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम् ॥२२५॥

अर्थ—चाहे नमक भोजनमें मिला हो चाहे न मिला हो ज्ञानीपुरुष खारापन नमकका ही समझते हैं।

भावार्थ—आटेमें नमक मिलनेसे जो खारापनका स्वाद आता है उसे ज्ञानी पुरुष आटेका नहीं समझते, किन्तु नमकका ही समझते हैं। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष वस्तुकी

यथार्थताको भलीभांति जानता है । इसलिये यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो गई कि वस्तुके एक होनेपर भी स्वादभेद होता है और उसमें व्यञ्जक मिथ्यादर्शनका उदय अनुदय ही है।

सारांश—

इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचेतना ।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात् ॥ २२६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि मिथ्यादृष्टियोंके एक ही अज्ञान चेतना है क्योंकि अज्ञानसे होनेवाले सभी भावोंका उनमें समावेश (सत्ता) है ।

दूसरा सारांश—

सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः ।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥ २२७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात भी सिद्ध हो चुकी कि जब तक आत्माकी शुद्ध उपलब्धि है तभी तक सम्यक्त्व है और तभी तक ज्ञानचेतना भी है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके अभावमें न शुद्धोपलब्धि है, और न ज्ञानचेतना ही है। सम्यग्दर्शनके होनेपर ही दोनों हो सकती हैं ।

ज्ञानी और अज्ञानी—

एकः सम्यग्दृगात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह ।
ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः ॥ २२८ ॥

अर्थ—इस संसारमें केवल एक ही सम्यग्दृष्टी ज्ञानवान् (सम्यग्ज्ञानी) है । बाकी सभी मिथ्यादृष्टी जीव सदा अज्ञानी (मिथ्याज्ञानी) कहे गये हैं ।

ज्ञानी और अज्ञानीका क्रियाफल—

क्रिया साधारणी वृत्ति र्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा ।
अज्ञानिनः क्रिया, बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥ २२९ ॥

अर्थ—ज्ञानी और अज्ञानी (सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी) दोनों ही की क्रिया यद्यपि समान है, तथापि अज्ञानीकी क्रिया बन्धका कारण है परन्तु ज्ञानीकी क्रिया कहीं भी बन्धका कारण नहीं है ।

ज्ञानीकी क्रियाका और भी विशेष फल—

आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया ।
चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम् ॥ २३० ॥

अर्थ—ज्ञानियोंके कर्मसे होनेवाली क्रिया बन्धका हेतु नहीं है, यह तो है ही परंतु आश्चर्य तो इस बातका है कि वह क्रिया केवल पूर्व बंधे हुए कर्मोंकी केवल निर्जराका कारण है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीकी क्रियामें बड़ा भारी अन्तर है। मिथ्यादृष्टीकी क्रिया तो बन्धका कारण है और सम्यग्दृष्टीकी क्रिया, बन्धका कारण तो दूर रहो, उलटी पूर्व बँधे हुए कर्मोंकी निर्जराका कारण है।

ऐसा होनेमें हेतु—

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः।
अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु ॥२३१॥

अर्थ—सम्यक्ज्ञानियोंके ज्ञानसे होनेवाले ज्ञानस्वरूप भाव ही सदा होते हैं तथा सम्यग्दृष्टियोंमें अज्ञानसे होनेवाले अज्ञानमय भावोंका स्थान नहीं है।

भावार्थ—बन्धके कारण अज्ञानमय भाव हैं। वे सम्यग्दृष्टियोंके होते नहीं है, इसलिये सम्यग्दृष्टीकी क्रिया बन्धका हेतु नहीं है किन्तु शुद्ध ज्ञानकी मात्रा होनेसे निर्जराका हेतु है।

ज्ञानीका चिह्न—

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्।
तद्द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥ २३२ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानी, वैराग्य परम उदासीनतारूप ज्ञान तथा अपनी आत्माका अनुभव स्वयं करता रहता है। वैराग्य परम उदासीनता और स्वानुभव ये ही दो चिन्ह सम्यग्ज्ञानीके हैं और वही ज्ञानी नियमसे जीवन्मुक्त है।

ज्ञानीका स्वरूप—

ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित्।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ॥ २३३ ॥

अर्थ—ज्ञानी, ज्ञानका ही अद्वितीयपात्र है। वही आत्माको जाननेवाला है, इसलिये अपनी आत्माको देखता है। वही ज्ञानी, कर्मोंसे बँधनेका तथा अन्य पदार्थोंसे मिलनेका स्थान नहीं है। क्योंकि कर्मोंसे बँधना और मिलना आदि भाव उसके स्वरूप नहीं है।

और भी—

ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम्।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम् ॥ २३४ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुष जैसा अपने आपको प्रत्यक्ष पाता है उसी प्रकारका स्वाद भी लेता है। अर्थात् वैसा ही अनुभव करता है। वह अपनेको सदा सबसे अमिल, असम्बन्धित और विलक्षण समझता है।

सम्यक्ज्ञानीका स्वात्मावलोकन—

अथाबद्धमथा स्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निःसङ्गं व्योमवत् सदा ॥ २३५ ॥
इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम् ।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ॥ २३६ ॥
पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान् ।
प्रसङ्गादपरं चेच्छेदर्थात्सार्थं कृतार्थवत् ॥ २३७ ॥

अर्थ—ज्ञानी सदा अपनी आत्माको इस प्रकार देखता है कि आत्मा कर्मोंसे नहीं बँधा है, वह किसीसे नहीं मिला है, शुद्ध है सिद्धोंकी उपमा धारण करता है, शुद्ध-स्फटिकके समान है, सदा आकाशकी तरह परिग्रह रहित है, अतीन्द्रिय-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्यकी मूर्ति है और अतीन्द्रिय सुख आदिक अनन्त स्वाभाविक गुणवाला है। इस प्रकार ज्ञानकी ही अद्वितीय मूर्ति-वह ज्ञानी अपने आपको देखता है। प्रसङ्गवश दूसरे पदार्थकी भले ही इच्छा करे, परन्तु वास्तवमें वह समस्त पदार्थोंसे कृतार्थसा हो चुका है। दूसरे सांसारिक पदार्थोंके विषयमें भी वह इस प्रकार चिन्तवन करता है—

सम्यग्ज्ञानीके विचार—

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम् ।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥ २३८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि जो सांसारिक (इस लोक सम्बन्धी) सुख है वह सब पञ्चेन्द्रिय सम्बंधी विषयोंसे होनेवाला है। वास्तवमें वह सुख नहीं है, किन्तु सुखका आभासमात्र है, निश्चयसे वह दुःख ही है।

तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥ २३९ ॥

अर्थ—इसलिये वह सुखाभास छोड़ने योग्य है। वह स्वयं दुःख स्वरूप है। और दुःखरूप फलको देनेवाला है, उस सदा अनिष्ट करनेवाले वैषयिक सुखका कारण कर्म है, इसलिये उस कर्मका ही नाश करना चाहिये।

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा ।
वैपरीत्यात्फलं तस्य सर्वं दुःखं विपच्यतः ॥ २४० ॥

अर्थ—वह सम्पूर्ण पौद्गलिक कर्म सर्वदा आठ प्रकारका है, उसी कर्मका *उलटा विपाक होनेसे सभी फल दुःखरूप ही होता है।

* कर्ममात्र आत्माके गुणोंका विघातक है इसलिये सभीका विपाक विपरीत ही है। जो शुभ कर्म है वह भी दुःखका ही कारण है।

चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके ।
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्मपदस्थितः ॥ २४१ ॥

अर्थ—सदा कर्मके ही निमित्तसे होनेवाले इस चतुर्गति संसाररूप चक्रमें घूमता हुआ कोई भी जीव स्वस्वरूपमें स्थित नहीं है, किन्तु कर्म स्वरूपमें स्थित है, अर्थात् कर्माधीन है।

स्वस्वरूपाच्च्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
नानादुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्निति ॥ २४२ ॥

अर्थ—यह जीव अनेक दुःखोंसे भरे हुए संसारमें घूमता हुआ अपने स्वरूपसे गिर गया है । इसने अपना स्वरूप नहीं पाया है ।

शङ्काकार—

ननु किञ्चिच्छुभं कर्म किंचित्कर्माशुभं ततः ।
क्वचित्सुखं क्वचिद्दुःखं तत्किं दुःखं परं नृणाम् ॥२४३॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि कोई कर्म शुभ होता है और कोई कर्म अशुभ होता है । इसलिये कहीं पर सुख और कहीं पर दुःख होना चाहिये, केवल मनुष्योंको दुःख ही क्यों बतलाते हो ?

उत्तर—

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम् ।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभम् ॥२४४॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जिसको वह सुख समझता है वह सुख नहीं है। वास्तवमें सुख वही है जहां पर कभी थोड़ा भी दुःख नहीं है, वही धर्म है जहां पर अधर्मका लेश नहीं है और वही शुभ है जहां पर अशुभ नहीं है ।

सांसारिक सुखका स्वरूप—

इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम् ।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः ॥२४५॥

अर्थ—यह इन्द्रियोंसे होनेवाला सुख पराधीन है, कर्मके परतन्त्र है, बाधापूर्वक है, इसमें अनेक विघ्न आते हैं, बीचबीचमें इसमें दुःख होता जाता है, यह सुख बन्धका कारण है, तथा विषम है । वास्तवमें इन्द्रियोंसे होनेवाला सुख दुःख रूप ही है इसी बातको दूसरे ग्रन्थकार भी कहते हैं—

ग्रन्थान्तर—

*** सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।**
जं इंदिएहि लद्धं तं सुक्खं दुःखमेव तहा ॥ १ ॥

* यह गाथा पञ्चाध्यायीमें ही क्षेपक रूपसे दी हुई है ।

अर्थ—जो सुख इन्द्रियोंसे मिलता है वह अपने और परको बाधा पहुंचानेवाला है। हमेशा ठहरता भी नहीं है, बीचबीचमें नष्ट भी हो जाता है, बन्धका कारण है, और विषम है इसलिये वह दुःख ही है।

कर्मकी विचित्रता—

भावार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात्।
वज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनष्टि वै ॥ २४६ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश यह है कि सम्पूर्ण कर्मोका उदय एक क्षण मात्रमें वज्रसे होनेवाले आघात (चोट) की तरह आत्माको पीस डालता है। यह कर्म बड़ी कठिनतासे दूर किया जाता है।

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद्ध्रुवम्।
वन्हियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोपलब्धितः ॥ २४७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निका स्पर्श होनेसे जल तपता है (खलबल खलबल करता है) उसी प्रकार यह जीव भी कर्मोके उदयसे सम्पूर्ण प्रदेशोंमें नियमसे व्याकुल हो रहा है।

साताऽसातोदयाद्दुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात्।
सर्वकर्मोदयाघात इवाघातश्चिदात्मनः ॥ २४८ ॥

अर्थ—साता वेदनीय और असाता वेदनीयके उदयसे दुःख होता है यह कथन तो मोटी रीतिसे है। वास्तवमें सम्पूर्ण कर्मोका ही उदय जीवात्माको उसी प्रकार आघात पहुंचा रहा है जिस प्रकार कि वज्रकी चोट होती है।

सम्यग्दृष्टी भी इससे नहीं बचा है।

आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरुपलब्धितः।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीड्यन्ते ननु सन्धयः ॥ २४९ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीके प्रदेशोंमें भी उस कर्मका आघात हो रहा है। जिस प्रकार वात व्याधि (वायु रोग)से घुटनों, कमर आदिकी मिली हुई हड्डियां दुखती रहती हैं उसी प्रकार कर्मका आघात भी दुःख पहुंचा रहा है।

कोई कर्म सुखदायी नहीं है—

नहि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥ २५० ॥

अर्थ—कोई भी ऐसा कर्मोदय नहीं है जो इस जीवको सुख पहुंचानेवाला हो, जीवके विषयमें तो सभी कर्मोका स्वरूप विलक्षण ही है। अर्थात् वहां तो सभी कर्म जड़ता ही करते हैं। कैसा ही शुभ अथवा अशुभ कर्म क्यों न हो जीवके लिये तो सभी दुःखदाई है।

तस्य मन्दोदयात् केचित् जीवाः समनस्काः क्वचित् ।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च ॥ २५१ ॥

अर्थ—उस कर्मके मन्द उदय होनेसे कोई कहीं संज्ञी जीव उस कर्मके वेगको नहीं सहन कर सके हैं और विषयोंमें रमने लग जाते हैं।

केचित्तीव्रोदयाः सन्तो मन्दाक्षाः खल्वसंज्ञिनः ।
केवलं दुःखवेगार्ता रन्तुं नार्थानपि क्षमाः ॥ २५२ ॥

अर्थ—कोई कोई मन्द इन्द्रियोंको धारण करनेवाले असंज्ञी जीव उस कर्मके तीव्रोदयसे सताये हुए केवल दुःखके वेगसे पीडित होते रहते हैं । वे पदार्थोंमें रमण करनेके लिये भी समर्थ नहीं हैं ।

सांसारिक सुख भी दुःख ही है ।

यद्दुःखं लौकिकी रूढिर्निर्णीतेस्तत्र का कथा ।
यत्सुखं लौकिकी रूढिस्तत्सुखं दुःखमर्थतः ॥ २५३ ॥

अर्थ—लोकमें जिसकी दुःखके नामसे प्रसिद्धि है, वह तो दुःख है ही यह बात तो निर्णीत हो ही चुकी है । उस विषयमें तो कहा ही क्या जाय, परन्तु लोकमें जो सुखके नामसे प्रसिद्ध है, वह भी वास्तवमें दुःख ही है ।

वह दुःख भी सदा रहने वाला है—

कादाचित्कं न तद्दुःखं प्रत्युताच्छिन्नधारया ।
सन्निकर्षेषु तेषूच्चैस्तृष्णातङ्कस्य दर्शनात् ॥ २५४ ॥

अर्थ—वह दुःख भी कभी कभी नहीं होनेवाला है किन्तु निरन्तर रहता है । उन इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इस जीवका तीव्र लालसा रूपी रोग लगा हुआ है, इसीसे इसके वह दुःख सदा बना रहता है ।

इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः ।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः ॥ २५५ ॥

अर्थ—इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें जो लोलुपी हो रहे हैं, उन पुरुषोंके अन्तरंगमें सदा अत्यन्त कठिन दाह (अग्नि समान) होता रहता है । क्योंकि विना अन्तर दाहके हुए उनकी विषयोंमें लीनता ही कैसे हो सक्ती है ।

भावार्थ—विषयसेवियोंके हृदयमें सदा तीव्र दाह उठा करता है, उसीके प्रतीकारके लिये वे विषय सेवन करते हैं, परन्तु उससे पुनः अग्निमें लकड़ी डालनेके समान दाह पैदा होने लगता है । इसीसे कहा जाता है कि विषयसेवी पुरुषको थोडा भी चैन नहीं है, वह सदा इसी प्रकार दुःख भाजन बना रहता है ।

दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात् ।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥ २५६ ॥

अर्थ—इन्द्रियार्थ सेवियोंकी विषय-रति देखनेमें भी आती है, वे लोग उन्ही पदार्थोंकी प्राप्तिसे सुहित सा मानने लगते हैं। जिस प्रकार खराब रक्त (लोहू) के पीनेमें ही जोंक (जलजन्तु) हित समझती है और उसीसे प्रेम करती है। उसी प्रकार इन्द्रियार्थ सेवियोंकी अवस्था समझनी चाहिये। यह उनका प्रेम तृष्णाका बीज है अर्थात् उस रीतिसे तृष्णाकी वृद्धि ही होती जाती है।

देवेन्द्र, नरेन्द्रोंको भी सुख नहीं है—

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥ २५७ ॥

अर्थ—केवल पुण्यको धारण करनेवाले जो इन्द्र और चक्रवर्ती आदिक बड़े पुरुष हैं उनके भी तृष्णाका बीजभूत विषय-लालसा है, इसलिये उनको भी सुखकी प्राप्ति कहां रक्खी है।

भावार्थ—संसारमें सर्वोपरि पुण्यशाली इन्द्र और चक्रवर्ती आदिक हैं वे भी इस विषय-रतिसे दुःखी हैं, इस लिये सच्चे सुखका स्वाद वे भी नहीं ले सक्ते।

ग्रन्थान्तर—

*** जेसिं विसये सुरदि तेसिं दुःखं च जाण साहावं ।**
जदि तं णत्थि सहावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ २ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंकी विषयोंमें तीव्र लालसा है, उन्हे स्वाभाविक दुःखी समझना चाहिये। क्योंकि विना उस दुख-स्वभावके विषयसेवनमें उनका व्यापार ही नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—पहले पीडा उत्पन्न होती है, उसीका प्रतीकार विषयसेवन है। परन्तु विषयसेवन स्वयं पीडाका उत्पादक है। इस लिये विषय सेवीकी दुःखधारा सदा प्रकटित ही रहती है।

सारांश—

सर्वं तात्पर्यमत्रैतद्दुःखं यत्सुखसंज्ञकम् ।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम् ॥ २५८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका समग्र सारांश यह निकला कि जिसकी संसारमें सुख संज्ञा है वह दुःख ही है और दुःख आत्माका धर्म नहीं है। इसी लिये सम्यग्दृष्टी पुरुषकी विषयोंमें अभिलाषा नहीं होती।

---

* यह भी क्षेपक गाथा है।

सम्यग्दृष्टिकी विरागता—

वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम्।
रागस्याज्ञानभावत्वात् अस्ति मिथ्यादृशः स्फूटम् ॥ २५९ ॥

अर्थ— सम्यग्दृष्टियोंका विषयजन्य सुखमें रागभाव नहीं है, क्योंकि राग अज्ञान-भाव है, और अज्ञानमय भाव सम्यग्दृष्टिके होते नहीं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है इस लिये वह रागभाव मिथ्यादृष्टिके ही नियमसे होता है।

सम्यग्दृष्टिको अभिलाषा नहीं है—

सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोऽस्य कर्मणि ॥ २६० ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिकी आत्मामें सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हो चुका है, इससे उसकी आत्मा अवस्थान्तर रूपमें आ चुकी है। इसीलिये सामान्य मनुष्योंकी तरह सम्यग्दृष्टिको क्रियाओंमें अभिलाषा नहीं होती है।

सांसारिक भोगोंमें सम्यग्दृष्टिकी उपेक्षा है—

उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत्।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥ २६१ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिको प्रत्यक्षमें देखे हुए रोगकी तरह सम्पूर्ण भोगोंमें उपेक्षा (वैराग्य) हो चुकी है और उस अवस्थामें ऐसा होना अवश्यंभावी तथा स्वाभाविक है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन गुणसे होनेवाले स्वानुभूति रूप सच्चे सुखास्वादके सामने सम्यग्दृष्टिको विषयसुखमें रोगकी तरह उपेक्षा होना स्वाभाविक ही है।

हेतुवाद—

अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथ मुञ्चति।
अत्रास्त्यावस्थिकः कश्चित् परिणामः सहेतुकः ॥ २६२ ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष सांसारिक पदार्थोंको हेय (त्याज्य) समझकर छोड़ देता है। यह बात प्रसिद्ध तो है ही परन्तु इस विषयमें अवस्थाजन्य कोई परिणाम हेतु भी है उसे ही बतलाते हैं—

अनुमान—

सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वतश्चितः।
देशतोप्यस्मदादीनां रागभावस्य दर्शनात् ॥ २६३ ॥

अर्थ—जब हम लोगोंके भी एक देश (किन्हीं अंशोंमें) राग भावका त्याग दिखता है तो किसी जीवात्माके सर्वथा त्याग भी सिद्ध होता है।

सम्यग्दृष्टिकी अभिलाषायें शान्त हो चुकी हैं—

तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः ।
परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नपि न तृप्यति ॥ २६४ ॥

अर्थ—हम लोगोंके भी एक देश रूपसे अभिलाषायें नहीं होती हैं, इसी बातको बतलाते हैं—

हम लोग अपने सम्बन्धियोंसे प्रेम करते हैं दूसरोंसे नहीं करते । जब हम यह जान लेते हैं कि यह हमारी वस्तु नहीं है यह तो दूसरोंकी है तब झट दूसरोंकी वस्तुओंके विषयमें सन्तोष धारण कर लेते हैं । फिर वहां पर अभिलाषा नहीं होती परन्तु अपनी वस्तुओंमें सन्तोष नहीं होता वहां तो अभिलाषा लगी ही रहती है । इससे सिद्ध होता है कि दूसरे पदार्थोंके विषयमें हमारी भी अभिलाषायें शान्त हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार हम अपनी वस्तुको अपनी समझ कर प्रेम करते हैं, उस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपनीको भी अपनी नहीं समझता, क्योंकि वास्तवमें जिसको हमने अपनी वस्तु समझ रक्खा है वह भी तो दूसरी ही है । इसलिये उसकी अभिलाषा उस अपनी मानी हुई वस्तुमें भी (जैसे कि हमको होती है) नहीं होती । इसीसे कहा जाता है कि उसकी सम्पूर्ण अभिलाषायें शान्त हो चुकी हैं ।

दृष्टान्त—

यथा कश्चित्परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम् ।
कर्ता तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान् ॥ २६५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई पराधीन पुरुष पराधीनता वश किसी अनुचित क्रिया (कार्य) को करता है तो भी उसका करनेवाला वह नहीं समझा जाता है । क्योंकि उसने अपनी अभिलाषासे उस कार्यको नहीं किया है किन्तु पर प्रेरणासे किया है ।

भावार्थ—इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि किसी कार्य (वैषयिक) को करता भी है, परन्तु उसकी अन्तरंग अभिलाषा उस कार्यमें नहीं होती है । कर्मके (चारित्र मोहनीय) तीव्रोदयसे ही वह अनुचित कार्यमें प्रवृत्त होता है । मिथ्यादृष्टि उसी कार्यमें रति पूर्वक लगता है इसलिये वह पापबन्धका भागी होता है । उसमें भी कारण मिथ्यात्व पटलसे होनेवाले उसके अज्ञान मयभाव (मूर्च्छित-परिणाम) ही हैं ।

शङ्काकार—

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकम् ।
तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलाषवान् ॥ २६६ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सम्यग्दृष्टी भी इन्द्रिय जन्य विषयोंका सेवन करता

है । वहां पर जो उसे इष्ट प्रतीत होता है उसीसे वह रुचि भी करता है । फिर उसकी अभिलाषायें शान्त हो चुकी हैं, ऐसा किस प्रकार कह सक्ते हैं ?

उत्तर—

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः ।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम् ॥ २६७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह बात ठीक है कि जब तक सम्यग्दृष्टी जघन्य श्रेणी (नीचे दरजे) में है, तब तक वह पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि करता है तथा उनसे रुचि भी करता है । उस जघन्य श्रेणीका कारण भी चारित्र मोहनीय कर्म है ।

भावार्थ—अन्तरात्माके तीन भेद शास्त्रकारोंने बतलाये हैं—जो महाव्रतको धारण करनेवाले मुनि हैं वे तो उत्कृष्ट, अन्तरात्मा हैं, देशव्रतको धारण करनेवाले पञ्चम गुणस्थान वर्ती जो श्रावक हैं वे मध्यम—अन्तरात्मा हैं, और जो व्रत विहीन (अव्रती) केवल सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष हैं वे जघन्य—अन्तरात्मा हैं ।

इस जघन्यतामें कारण चारित्र मोहनीयका प्रबल उदय है । उसीकी प्रबलतासे प्रेरित होकर वे विषयोंमें रुचि करते हैं और त्रस, स्थावर हिंसाके भी त्यागी नहीं हैं । इतना अवश्य है कि वे विषयोंकी निःसारताको अच्छी तरह समझे हुए हैं इसी लिये उनमें उनकी मिथ्यादृष्टियोंकी तरह गाढ़ता और हित रूपा बुद्धि नहीं होती है परन्तु सब कुछ ज्ञान रहने पर भी अव्रत सम्यग्दृष्टी पुरुष त्याग नहीं कर सक्ते । त्याग रूपा उनकी बुद्धि तभी हो सक्ती है जब कि चारित्र मोहनीयका उदय कुछ मन्द हो और वह मन्दता भी तभी आ सक्ती है जब कि अप्रत्याख्यानवरण कषायका उपशम होकर प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय हो । विना अप्रत्याख्यानावरण कषायके उपशम हुए नियमसे नहीं कहा जा सक्ता है, जहां नियमसे त्याग है उसीका नाम देशव्रत है । इस लिये पञ्चम गुणस्थानवर्तीको ही एक देश त्यागी कह सक्ते हैं ।

सम्यग्दृष्टि पुरुष सभी पदार्थोंमें आसक्त रहने पर भी एक सम्यग्दर्शन गुणके कारण ही सदा स्तुत्य और निर्मल है । उसीका बाह्यरूप—जिनोक्त पदार्थोंमें उसका अटल विश्वास है ।+

+ अव्रत सम्यग्दृष्टीका स्वरूप गोम्मटसारमें भी इसी प्रकार है—

गाथा—णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि। जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥३॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंके विषयोंसे भी विरक्त नहीं है। और स्थावर अथवा त्रस जीवोंकी हिंसासे भी विरक्त नहीं है परन्तु जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए पदार्थोंमें श्रद्धान करता है वही अविरत (चतुर्थ गुणस्थान वर्ती) सम्यग्दृष्टी है ।

चारित्रमोहनीय ही रतिका कारण है—

तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात् ।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतीन्द्रियः ॥ २६८ ॥

अर्थ—इष्ट पदार्थोंमें यह जीव चारित्रमोहनीयके उदयसे ही रत होता है, उस चारित्रमोहनीयके विना सर्वदा शुद्ध है, वीतराग है और अतीन्द्रिय है ।

भावार्थ—चारित्रमोहनीयके दूर होनेसे पहले ही पदार्थोंमें राग भाव है, इन्द्रिय जन्य पदार्थोंकी लालसा है, और उससे होनेवाली मलिनता भी है । सम्यग्दृष्टी इसी चारित्रमोहनीयसे बाध्य होकर विषयोंमें फंस जाता है ।

भोगोंमें प्रवृत्तिका कारण चारित्रमोहनीय है—

दृङ्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छतः ।
हेतुसद्भवनोऽवश्यमुपभोगक्रिया बलात् ॥ २६९ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीका दर्शनमोहनीय कर्मके नाश होनेसे भोगोंकी इच्छा नियमसे नहीं होती वह भोगोंको नहीं चाहता, परन्तु हेतुकी सत्तासे अवश्य ही प्रेरित होकर उसे उपभोग क्रिया करनी पड़ती है । हेतु, वही चारित्र मोहनीय है ।

फिर भी सम्यग्दृष्टी वीतरागी है—

नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात् ।
जगतोनिच्छितोप्यस्ति दारिद्र्यं मरणादि च ॥ २७० ॥

अर्थ—यद्यपि सम्यग्दृष्टी उपभोग क्रिया करता है अर्थात् भोग, उपभोगका सेवन करता है, तथापि वह वीतराग है । क्योंकि उसके भोगोपभोगकी क्रिया मात्र देखी जाती है, चाहना नहीं है, और चाहना नहीं होनेपर भी उसे ऐसा करना पड़ता है । संसारमें कोई नहीं चाहता कि मेरे पास दरिद्रता आजाय, अथवा मेरी मृत्यु होजाय । ऐसा न चाहनेपर भी पापके उदयसे दारिद्र्य आता ही है और आयुकी क्षीणतासे मृत्यु होती ही है । उसी प्रकार चारित्रमोहनीयके उदयसे सम्यग्दृष्टिको सांसारिक वासनाओंकी इच्छा न होनेपर भी उन्हें राग बुद्धिके लिये बाध्य होना पड़ता है । *

* सूरिकल्प आशाधरने भी सागारधर्मामृतमें कहा है—

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया, हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत् ।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणैवात्मनिन्दादिमान् शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोप्यघैः ॥ १ ॥

अर्थात्—जैसे कोतवाल द्वारा पकड़ा हुआ चोर जानता है कि काला मुंह करना, गधेपर चढ़ना आदि निन्द्य काम है, तथापि कोतवालकी आज्ञानुसार उसे सब काम करने पड़ते हैं । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष जानता है कि त्रस स्थावर जीवोंको दुःख पहुंचाना, इन्द्रियोंके सुख सेवन करना निन्द्य और

दृष्टान्त—

व्यापीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतिक्रियाम् ।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ॥ २७१ ॥

अर्थ—कोई आदमी जिसको कि रोग सता रहा है रोगका प्रतीकार (नाश) करता है । रोगका प्रतीकार करने पर भी वह रोगी रहना नहीं चाहता, तो क्या वह कभी चाहेगा कि मेरे फिरसे रोग हो जाय ।

भावार्थ—जिस आदमीको दाद हो गया हो वह उस दादका इलाज करता है । इलाज करनेसे उसका दाद चला जाता है, तो क्या दादके चलेजानेसे वह ऐसा भी कभी चाहेगा कि मेरे फिरसे दाद हो जावे ? कभी नहीं ।

दार्ष्टान्त—

कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम् ।
नेच्छेत् कर्मपदं किञ्चित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥ २७२ ॥

अर्थ—इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी भी चारित्रमोहनीय कर्मसे पीडित होकर उस कर्मके उदयसे होनेवाली क्रियाको करता है । परन्तु उस क्रियाको करता हुआ भी वह उस स्थानको (उसी क्रियाको) पसन्द नहीं करता है । तो फिर उसके अभिलाषा (चाहना) है, ऐसा किस नयसे कहा जा सकता है ?

अनिच्छा पूर्वक भी क्रिया है—

नासिद्धोऽनिच्छितस्तस्य कर्म तस्याऽऽमयात्मनः ।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्रोगादिहेतुकः ॥ २७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीके इच्छाके विना भी क्रिया होती है यह बात असिद्ध नहीं है । जो रोगी है वह वेदनाका प्रतीकार करता है, परन्तु वह उसका प्रतीकार करना रोगादिक होनेका कारण नहीं है ।

भावार्थ—जिस प्रकार रोगके दूर करनेका उद्योग रोगका कारण कभी नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टीकी विना इच्छाके होनेवाली क्रिया अभिलाषाको पैदा नहीं कर सक्ती ।

सम्यग्दृष्टी भोगी नहीं है—

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवकः ।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः ॥ २७४ ॥

अयोग्य कार्य है तथापि अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उसे ये सब काम करने पड़ते हैं । द्रव्यहिंसा भावहिंसा भी करनी पड़ती है परन्तु सम्यग्दर्शनके प्रगट होजानेसे वह पापोंसे अत्यन्त क्लेशित नहीं होता है ।

अर्थ—यह सम्यग्दृष्टि भोगोंका सेवन भी करता है, तो भी उनका सेवक नहीं समझा जाता क्योंकि राग विहीन पुरुषका इच्छाके बिना किया हुआ कर्म उसके रागके लिये नहीं कहा जा सकता ।

सम्यग्दृष्टीकी चेतना—

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना ।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥ २७५ ॥

अर्थ—किसी किसी सम्यग्दृष्टीके कर्मचेतना और कर्मफल चेतना भी होती है, परन्तु वास्तवमें वह ज्ञान चेतना ही है । (?) ×

ज्ञानचेतना क्यों है—

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि ।
रागाभावान्न बन्धोस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥२७६॥

अर्थ—चाहे कर्मचेतना हो अथवा कर्मफलचेतना हो, दोनोंका ही फल बन्ध है अर्थात् दोनों ही चेतनायें बन्ध करनेवाली हैं । सम्यग्दृष्टीके रागका (अज्ञानभावका) अभाव होचुका है, इस लिये उसके बन्ध नहीं होता, इसी लिये वास्तवमें उसके ज्ञानचेतना ही है ।

भावार्थ—कोई यह शङ्का कर सकते हैं कि बन्ध तो दशवें गुणस्थान तक होता है क्योंकि वहां भी सूक्ष्म लोभका उदय है, फिर सम्यग्दृष्टीके लिये रागके अभावसे बन्धका अभाव क्यों बतलाया गया है ?

उत्तर—यद्यपि सम्यग्दृष्टीके राग होनेसे बन्ध होता है, परन्तु जिन मोहित अज्ञान परिणामोंसे मिथ्यादृष्टीके बन्ध होता है वैसा सम्यग्दृष्टीके नहीं होता । सम्यग्दृष्टीका राग, मिथ्यात्वमिश्रित नहीं है इसी लिये उसके उसका अभाव बतलाया गया है ।

ग्राह्य और अग्राह्य—

अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम् ।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥ २७७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार इन्द्रियजन्य सुख और अतीन्द्रिय सुख होता है, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान भी होता है । इन दोनों ही प्रकारोंमें आदिके दो

× सम्यग्दृष्टिके पहले ज्ञान चेतना ही बतलाई है, परन्तु यहांपर उसके कर्मचेतना और कर्मफल चेतना भी बतलाई है । आगे भी कर्म और कर्मफलचेतना सम्यग्दृष्टीके बतलाई है । मालूम होता है कि उसके चारित्रमोहनीयकी अपेक्षासे ये दो चेतनायें कही गई हैं । वास्तवमें तो उसके आकांक्षा न होनेसे ज्ञानचेतना ही है । सम्यग्दृष्टिके मुख्यतासे ज्ञानचेतना ही कही गई है और बाकीकी दोनों चेतनाओंका अधिकारी मिथ्यादृष्टि कहागया है ।

अर्थात् इंद्रियजन्य सुख और ज्ञान ग्रहण करने योग्य नहीं हैं और पीछेके दो अर्थात् अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान अच्छी तरह ग्रहण करने योग्य हैं। इन्द्रियजन्य सुखके विषयमें तो पहले कह चुके हैं अब इन्द्रियजन्य ज्ञानमें दोष बतलाते हैं—

इन्द्रियज ज्ञान—

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत् ॥ २७८ ॥

अर्थ—जो ज्ञान पर (इन्द्रिय और मन) की सहायतासे होता है वह एक एक पदार्थमें क्रमसे परिगमन करता है। इसी लिये वह निश्चयसे व्याकुल है, मोहसे मिला हुआ है, दुःख स्वरूप है और अनर्थ करनेवाला है।

भावार्थ—इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा पदार्थका ग्रहण पूरी तौरसे नहीं होता है, किन्तु एक एक पदार्थका, सो भी स्थूलतासे पदार्थके एक देशांशका होता है। बाकी अंश और पदार्थान्तरोंके जाननेके लिये वह सदा व्याकुल (चञ्चल) रहता है। साथमें वह मोहनीय कर्मके साथ मिला हुआ है इसलिये पदार्थका यथार्थ स्वरूप नहीं जान सक्ता, इसलिये वह अनर्थकारी है। वास्तवमें वह दुःख देनेवाला ही है इससे दुःख स्वरूप है। उस ज्ञानसे आत्मा सन्तुष्ट (सुखी) नहीं होता।

दुःख रूप क्यों है ?

सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः।
ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात् ॥ २७९ ॥

अर्थ—जो पदार्थ ज्ञानका विषय नहीं होता है अथवा एक ही पदार्थका जो अंश नहीं जाना जाता है उसी सबके जाननेके लिये वह ज्ञान उत्कण्ठित, तथा अधीर रहता है, इसलिये वह व्याकुलता पूर्ण है। व्याकुलता होनेसे ही वह ज्ञान (इन्द्रियज) दुःखरूप हैं।

आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः।
उपयोगि सदर्थेषु ज्ञानं वाप्यसुखावहम् ॥ २८० ॥

अर्थ—शेष पदार्थोंके जाननेकी इच्छा रखनेवाला मन (इन्द्रियां भी) अज्ञानतासे व्याकुल है, यह तो है ही, परन्तु जिन यथार्थ पदार्थोंमें वह उपयुक्त (लगा हुआ) है। उनके विषयमें भी वह दुःखप्रद ही है। किस प्रकार ? सोई बतलाते हैं—

प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात्।
व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात् कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात् ॥ २८१ ॥

अर्थ—इन्द्रिय और मनसे होनेवाला ज्ञान, मोह सहित है इसलिये प्रमादी है, बिना हेतु वगैरह (प्रत्यक्ष) के होता नहीं इस लिये हेतु गौरव होनेसे निकृष्ट है, क्रम क्रमसे

होता है इस लिये बीच बीचमें रुक जाता है, और पहले दर्शन होता है, फिर अवग्रह होता है, फिर ईहा फिर अवाय, फिर धारणा, इस तरह बहुतसे ज्ञान होने पर तब कहीं पूरा ज्ञान होपाता है इसलिये कठिन साध्य है।

और भी दोष—

परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभवात् ॥ २८२ ॥

अर्थ—वह पराधीन होता है इसलिये परोक्ष है, इन्द्रियोंसे होता है इसलिये इन्द्रिय जन्य (एक देश) ज्ञान कहलाता है। फिर भी उसमें संशय विपर्ययादिक अनेक दोष आते हैं इसलिये वह ज्ञान सदोष है।

और भी दोष।

विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम् ।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः ॥ २८३ ॥

अर्थ—इन्द्रियज ज्ञान बन्धका कारण है इसलिये वह विरुद्ध है, वह बन्धका कार्य भी है इसलिये वह ज्ञान आत्मीय नहीं कहलाता, किन्तु कर्मसे होने वाला है, वह आत्माका धर्म नहीं है इसलिये आत्माको हानिकारक है और वह मलिन है इसलिये वह स्वयं अपवित्र है।

और भी दोष—

मूर्छितं यदपस्मारवेगवद्वर्धमानतः ।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात् ॥ २८४ ॥

अर्थ—वह ज्ञान मृगीरोगकी तरह कभी बढ़ जाता है और कभी घट जाता है, कभी दीखता है कभी नहीं दीखता इसलिये वह मूर्छित है।

और भी दोष—

अत्राणं प्रत्यनीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः ।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसंस्थितेः ॥ २८५ ॥

अर्थ—जो कर्म आत्माका शत्रु है, और जो क्षणमात्रके लिये शान्त भी हो जाता है, परन्तु अपनी सत्ता रखनेके कारण अवश्य ही अपने रसको देनेवाला है, ऐसे कर्मकी जीती हुई अवस्थासे वह ज्ञान रक्षा नहीं कर सक्ता।

इन्द्रियज ज्ञानकी अज्ञता—

दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात् ।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥ २८६ ॥

अर्थ—यह इन्द्रियजन्य ज्ञान छह द्रव्योंमें केवल मूर्त (पुद्गल) द्रव्यको ही दिङ् मात्र (थोड़ासा) जानता है। उस पुद्गल द्रव्यमें भी सूक्ष्म पदार्थोंको तो जानता ही नहीं, किन्तु स्थूलोंको जानता है, सो भी सबोंको नहीं, किन्तु किन्हीं किन्हीं पदार्थोंको ही जानता है।

सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन ।
तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥ २८७ ॥

अर्थ—उन किन्हीं किन्हीं स्थूल पदार्थोंमें भी जो ग्राह्य हैं अर्थात् इन्द्रियद्वारा ग्रहण करने योग्य हैं उन्हींको जानता है, जो अग्राह्य हैं उन्हें नहीं जानता। ग्राह्य पदार्थोंमें भी जो सामने मौजूद हैं उन्हींको जानता है, जो होचुके हैं अथवा जो होनेवाले हैं उन्हें वह नहीं जानता।

तत्रापि सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च ।
तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ॥ २८८ ॥

अर्थ—जो सामने मौजूद पदार्थ हैं उनमें भी जिन पदार्थोंका इन्द्रियोंके साथ सन्निधान (अत्यन्त निकटता) और सन्निकर्ष (संयोग) है उन्हींका ज्ञान होता है, उनमें भी अवग्रह, ईहा आदिकके होने पर ही ज्ञान होता है अन्यथा नहीं।

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि ।
कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥ २८९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कारणोंके मिलने पर भी समस्त पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, किन्तु भिन्न भिन्न पदार्थोंका होता है, वह भी तभी होता है जब कि ऊपर ऊपर कुछ शुद्धि बढ़ती जाती है, सो भी सदा नहीं होता किन्तु कभी कभी होता है।

ज्ञानोंमें शुद्धिका विचार—

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः ।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः ॥ २९० ॥

अर्थ—ऊपर ऊपर ज्ञानमें शुद्धता किस प्रकार आती है? इसी बातको बतलाते हैं। मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद हैं और उन भेदोंमें भी अनन्त शक्तियां भरी हुई हैं।

इतने भेदोंका कारण—

तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोऽथवा ।
प्रत्येकं सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ॥ २९१ ॥

अर्थ—जितने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके भेद हैं उतने ही उनके आवरण करने वाले

कर्मोंके भेद हैं उन आवरण करनेवाले कर्मोंकी भी सन्तान बराबर चलती रहती है।

भावार्थ—ज्ञानको ढकने वाले कर्मकी अपेक्षासे ही ज्ञानके भेद होते हैं। जितने भेद उस ढकनेवाले कर्मके हैं, उतने ही भेद ज्ञानमें हो जाते हैं। आवरण करनेवाले कर्मके असंख्यात भेद हैं। ये भेद स्कन्धकी अपेक्षासे हैं परन्तु प्रत्येक परमाणुमें ज्ञानको रोकनेकी शक्ति है इस लिये प्रत्येक परमाणुकी शक्तिकी अपेक्षासे उस कर्मके भी अनन्त भेद हैं। इसी प्रकार ज्ञानके भी असंख्यात और अनन्त भेद हैं। जैसा जैसा आवरण हटता जाता है वैसा वैसा ही ज्ञान प्रकट होता जाता है। इसी बातको नीचे बतलाते हैं—

तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ॥ २०२ ॥
अपि वीर्यान्तरायस्य लब्धिरित्यभिधीयते।
तदैवास्ति स आलापस्तावदंशश्च शक्तितः ॥ २०३ ॥

अर्थ—जिस आलाप (भेद—पटल) के जितने कर्मके अंशका क्षयोपशम होजाता है, उतनी ही ज्ञानकी अवस्था दूसरी होजाती है अर्थात् उतना ही ज्ञान प्रकट रूपमें आता है। जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्मका भी क्षयोपशम होना आवश्यक है। उक्त दोनों कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे जो ज्ञानमें विशुद्धि होती है वही एक आलाप (ज्ञान—भेद) कहलाता है और शक्तिकी अपेक्षा भी उतना ही अंश (ज्ञान विशुद्धि) कहलाता है। भावार्थ—इसी प्रकार जितना २ ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होता जाता है उतना २ ही ज्ञानांश प्रकट होता जाता है। आवरण क्रमसे हटते हैं इसीसे विशेष ज्ञान भी क्रमसे ही होता है। वे ही क्रमसे हटनेवाले आवरण और क्रमसे होनेवाले ज्ञान भिन्न भिन्न कहलाते हैं इसीका नाम आलाप है। यह ज्ञान लब्धि रूप है। अब उपयोगात्मक ज्ञानको बतलाते हैं—

उपयोगात्मक ज्ञान—

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा।
अस्ति पञ्चेन्द्रियं कर्म कर्मस्यान्मानसं तथा ॥ २०४ ॥

अर्थ—जितना२ आवरण हटता है उतना२ ज्ञान प्रकट होता है यह ऊपर कह चुके हैं, परन्तु इतना होनेपर भी वस्तुका ज्ञान नहीं होता, आत्माके परिणाम जिस तरफ उन्मुख—रिजु होते हैं उसीका ज्ञान होता है इसीका नाम उपयोग है। इसी उपयोगकी विवक्षामें पञ्चेन्द्रिय नाम कर्म और मानस कर्म, ये दोनों हेतु हैं।

पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्मका उदय होना चाहिये—

दैवात्तद्बन्धमायाति कथञ्चित्कस्यचित्कचित् ।
अस्ति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादि चेत् ॥ २९५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त दोनों प्रकारका कर्म (पञ्चेन्द्रिय, मानस) दैव योगसे कहीं किसीके किसी प्रकार बँधता है और बन्ध होनेपर भी उसका उदय तभी होता है जब कि संक्रमणादिक न हों।

भावार्थ—कर्म बंधने पर भी यह नियम नहीं है कि उसका उदय हो ही होय, क्योंकि कर्मोंमें फेरफार भी हुआ करते हैं। कोई कर्म भिन्न२ भावोंके अनुसार बदलता भी रहता है। एक कर्म दूसरे रूप होजाता है। जैसे कि अनन्तानुबन्धिकषाय द्वितीयोपशम सम्यक्त्ववाले के बदल कर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, इनमेंसे किसी रूप होजाती है। फिर जो उसका उदय होगा वह इन्हीं तीनमेंसे किसी रूप होगा। अनन्तानुबन्धि रूपमें नहीं होसक्ता। इसी प्रकार यहां बतलाते हैं कि जिस पुरुषके पञ्चेन्द्रिय कर्म और मानस कर्म बँध भी जाँय, फिर भी वे अपने रूपमें तभी उदय होंगे जब कि उनमें किसी प्रकार परिवर्तन न होगा। परिवर्तनका नाम ही संक्रमण है। संक्रमणके भी अनेक भेद हैं। कोई पूर्ण प्रकृतिका परिवर्तन करता है, कोई कुछ अंशोंका। इसीके अनुसार उसके उद्वेलन, संक्रमण, अधःप्रवृत्त, विध्यात आदि नाम भी हैं। यदि इसका खुलासा जानना हो तो गोम्मटसार कर्मकाण्डको देखिये।

पर्याप्त नाम कर्मका भी उदय होना चाहिये—

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा ।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं महोदयात् ॥ २९६ ॥

अर्थ—आगे उस पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्मके उदयमें दूसरा कारण भी बतलाते हैं। उपर्युक्त दोनों कर्मोंके साथ पर्याप्त नाम कर्मका भी उदय होना अत्यावश्यक है। विना पर्याप्तियोंके हुए शरीरादिक पूरे भी नहीं होपाते, बीचमें ही मृत्यु होजाती है। इस लिये पर्याप्त कर्मका उदय भी अवश्य होना चाहिये।

इन्द्रिय और मनकी रचना—

सति तत्रोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः ।
मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ॥ २९७ ॥

अर्थ—पर्याप्त कर्मके उदय होने पर नो कर्म वर्गणायें भी आने लगती हैं यह बात स्वतःसिद्ध है उन नोकर्म वर्गणाओंके निमित्तसे मन और शरीरमें इन्द्रियोंका आकार बनता है।

उपयोगमें द्रव्येन्द्रियां भी कारण हैं—

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः ।
लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु बाह्यं हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥२९८॥

अर्थ—उन इन्द्रियादिकोंकी रचनाकी भी दैवयोगसे समाप्ति हो जावे। फिर कहीं कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे स्वपर पदार्थका उपयोग हो। उसमें भी बाह्य हेतु द्रव्येन्द्रियां हैं।

उपयोगमें अन्यकारणकलाप—

अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारं पर्यावलोकनम् ॥ २९९ ॥

अर्थ—इतना सब कुछ होने पर भी यदि सूर्य और दीपकका प्रकाश न हो तो भी उपयोगात्मक ज्ञान नहीं हो सक्ता है। इसलिये प्रकाशका होना आवश्यक है। और भी-पहले किसी स्थानमें किये हुए ज्ञानके संस्कार भी कारण हैं। फिर भी परम्परासे अवलोकन (प्रत्यक्ष) होता है।

हेतुकी हीनतामें ज्ञान भी नहीं हो सक्ता है—

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्भानसंभवात्।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥ ३०० ॥

अर्थ—इन ऊपर कहे हुए पञ्चेन्द्रियकर्म, मानस कर्म, पर्याप्तकर्म, इन्द्रियादिककी रचना, सूर्यादिकका प्रकाश, अन्य देशस्थ संस्कार आदि समग्र हेतुओंके होने पर ही वस्तुका ठीक २ भान (ज्ञान--प्रत्यक्ष) होना संभव है। यदि इन कारणोंमेंसे कोई भी कम हो तो पदार्थका ज्ञान नहीं हो सक्ता।

अस्ति तत्र विशेषोयं विना बाह्येन हेतुना।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥ ३०१ ॥

अर्थ—यहां पर इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि क्षयोपशम (लब्धि) ज्ञानके होने पर भी विना बाह्य कारणके मिले पदार्थोंका ज्ञान (उपयोग रूप) नहीं हो सक्ता है।

क्षयोपशमका स्वरूप—

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात्।
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥ ३०२ ॥

अर्थ—देशघातिस्पर्धकोंका उदय होने पर सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयक्षय (उदयाभावी क्षय) होने पर क्षयोपशम होता है। ऐसी क्षयोपशम–अवस्था यदि न हो तो वह लब्धिरूप ज्ञान भी नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदिकमें क्षयोपशमका खुलासा लक्षण इस प्रकार है–" सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् देशघातिस्पर्धकानामुदयात् क्षायोपशमिकं जायते " जो कर्म आत्माके सम्पूर्ण रीतिसे गुणोंको रोके उन्हे सर्वघातिक कहते हैं, और जो गुणोंको एक देशसे घाते उन्हें देशघातिक कहते हैं। जहांपर

सर्वघाति स्पर्धकों (सर्वघाति परमाणुओं) का उदयाभावी क्षय (जो कर्म उदयमें आकर विना फल दिये खिर जांय उसे उदयाभावि क्षय कहते हैं) होजाता है। तथा उन्ही सर्वघाति स्पर्धकोंका सत्तामें उपशम होना है और देशघाति स्पर्धकोंका उदय होता है वहां क्षयोपशम कहलाता है। ऐसी अवस्थामें जो आत्मविशुद्धि होती है उसीका नाम लब्धि है। इसीका संक्षिप्त उपर्युक्त श्लोकमें कहा गया है।

प्रकृतार्थ—

ततः प्रकृतार्थमेवैतद्दिङ्मात्रं ज्ञानमैन्द्रियम्।
तदर्थार्थस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात्॥ ३०३॥

अर्थ—ऊपर कही हुई समस्त बातोंका प्रकरणमें यही प्रयोजन है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान दिङ्मात्र होता है। पूरे पदार्थके एक देश मात्रका इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है।

वह ज्ञान खण्डित है—

खण्डितं खण्डशस्तेषामेकैकार्थस्य कर्षणात्।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात्॥ ३०४॥

अर्थ—उन सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे एक एक पदार्थके खण्ड २ (अंशमात्र) को जानता है इस लिये वह इन्द्रियजन्य ज्ञान खण्डित-अधूरा भी है। तथा वह भिन्न २ होता है, किसी नियमित वस्तुको भिन्न २ अवस्थामें क्रमसे जानता है।

वह ज्ञान दुःखविशिष्ट भी है—

आस्तामित्यादि दोषाणां सन्निपातास्पदं पदम्।
ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम्॥ ३०५॥
निष्क्रियस्यात्मनः काचिद्यावदौदयिकी क्रिया।
अपि देशपरिस्पन्दो नोदयोपाधिना विना॥ ३०६॥

अर्थ—इन्द्रियजन्य ज्ञान उपर्युक्त अनेक दोषोंके समावेशका स्थान तो है ही, साथमें वह आत्मप्रदेशोंकी कंपता (चलपना) को लिये हुए है। और इस क्रियाविहीन आत्माकी जब तक कोई औदयिकी (कर्मोंके उदयसे होने वाली) क्रिया रहती है तभी तक आत्म-प्रदेशोंका हलन चलन होता है। कर्मोंके उदयके विना हलनचलन नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—इन्द्रियजन्य ज्ञान कर्मोदय-उपाधिको लिये हुए है और कर्मोदय-उपाधि दुःखरूप है तथा कर्मबन्धका कारण है इसलिये यह ज्ञान दुःखावह ही है।

कर्मोदय-उपाधि दुःखरूप है—

नासिद्धमुदयोपाधेर्दुःखत्वं कर्मणः फलात्।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात्॥ ३०७॥

अर्थ—उदयोपाधि दुःखरूप है, यह बात असिद्ध नहीं है । क्योंकि वह कर्मोंके ही फल स्वरूप है । जो कर्मोका फल होता है वह दुःख रूप होता ही है, यह बात परमागमसे प्रसिद्ध है ।

आत्मा महा दुखी है—

बुद्धिपूर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन ।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगोचरे ॥ ३०८ ॥

अर्थ—दुःख दो प्रकारका होता है–एक बुद्धिपूर्वक, दूसरा अबुद्धिपूर्वक । जो दुःख प्रत्यक्षमें ही मालूम होता है वह दुःख बुद्धिपूर्वक कहलाता है । ऐसे दुःखके अनेक दृष्टान्त हैं। जैसे फोडेकी तकलीफ होना, किसीका किसीको मारना, बीमारी होना आदि, परन्तु अबुद्धि पूर्वक दुःख ज्ञान मात्रके ही गोचर है, उसके दृष्टान्त भी नहीं मिलते ।

भावार्थ—अबुद्धिपूर्वक दुःख ऐसा दुःख नहीं है जैसा कि प्रत्यक्षमें दीखता है, वह एक प्रकारकी भीतरी गहरी चोट है जिसका विवेचन भी नहीं किया जासक्ता । वह ऐसा ही है जैसे कि किसी रोगीको बेहोशीकी दवा सुंघा कर तकलीफ पहुंचाना । बेहोश किये हुए रोगीको तकलीफ तो अवश्य है, परन्तु उसका ज्ञान उसे स्वयं भी नहीं है । इसीलिये इस अबुद्धिपूर्वक दुःखके सभी संसारी जीव दृष्टान्त होने पर भी व्यक्तताका अभाव होनेसे दृष्टान्ता-भाव ही बतलाया है । दोनों दुःखोंके विषयमें आचार्य नीचे कहते हैं—

बुद्धिपूर्वक दुःख—

अस्त्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य कर्मभिः ।
मनःपूर्वं कदाचिद्वै शश्वत्सर्वप्रदेशजम् ॥ ३०९ ॥

अर्थ—कर्मोंसे गाढ़ रीतिसे बंधे हुए इस आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें होने वाला मन पूर्वक दुःख कभी होता है । परंतु कर्मोंकी परतन्त्रतासे इस आत्माको महादुःख संसारी अवस्थामें सदा ही रहा करता है ।

बुद्धिपूर्वक दुःखको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है—

अस्ति स्वस्यानुमेयत्वाद् बुद्धिजं दुःखमात्मनः ।
सिद्धत्वात्साधनेनालं वर्जनीयो वृथा श्रमः ॥ ३१० ॥

अर्थ—आत्माका, जो दुःख बुद्धिपूर्वक होता है वह तो अपने आप ही अनुमान किया जासक्ता है । इसलिये वह सिद्ध ही है, उसके सिद्ध करनेके लिये हेतु देनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो बात सुसिद्ध है उसमें परिश्रम करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

अबुद्धि पूर्वक दुःख ही साध्य है—

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम्।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥ ३११ ॥

अर्थ—जो छिपा हुआ–अबुद्धिपूर्वक दुःख है वही सिद्ध करने योग्य है। उसकी सिद्धि दो ही प्रकारसे हो सक्ती है, यातो कार्यको देखकर हेतु कहना चाहिये, अथवा परमागमसे उसकी सिद्धि माननी चाहिये।

भावार्थ—किसी अप्रत्यक्ष वस्तुके जाननेके लिये दो ही उपाय हैं। यातो उसका कार्य देख कर उसका अनुमान करना, अथवा आगमप्रमाणसे उसे मानना।

अनुमानमें दृष्टान्त—

अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित्।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥ ३१२ ॥

अर्थ—कहीं पर कार्यको देखकर कारणका अनुमान होजाता है। जिस प्रकार किसी नाले (छोटी नदी) के बढ़े हुए प्रवाहको देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि ऊपरकी ओर मेघ बर्षा है। बिना मेघके बरसे नदका प्रवाह नहीं चल सक्ता। इसी प्रकार कार्यसे उसके कारणका अनुमान कर लिया जाता है।

अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्धिका अनुमान—

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतःसिद्धमनश्वरम्।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यतां गतम् ॥ ३१३ ॥
सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्गं लिङ्गमिवात्र तत्।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः ॥ ३१४ ॥

अर्थ—आत्माका सुख गुण स्वाभाविक है, वह स्वतः सिद्ध है और नित्य है, परन्तु घातिया कर्मोंके घातसे नष्टसा होगया है अर्थात् अदृश्य होगया है। वही सुखका अदर्शन (अभाव) कार्य रूप हेतु है। वह हेतु सुखके विपक्षी दुःखका (जो कि आत्मामें मौजूद है) अनुमान कराता है।

भावार्थ—आत्मामें कर्मोके निमित्तसे सुख गुणका अभाव दीखता है। उस सुख गुणके अभावसे ही अनुमान करलिया जाता है कि आत्मामें दुःख है। क्योंकि सुखका विपक्षी दुःख है। जब सुख नहीं है तब दुःखकी सत्ताका अनुमान कर लिया जाता है। यदि आत्मामें दुःख न होता तो आत्मीक सुख प्रकट होजाता। वह नहीं दीखता इसलिये दुःखका सद्भाव सिद्ध होता है बस यही कार्य–कारणभाव है। सुखका अदर्शन कार्य है उससे दुःखरूप कारणका बोध होता है।

उसीका खुलासा वाक्य—

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम् ।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥ ३१५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवोंके अबुद्धि पूर्वक दुःख है । क्योंकि सुखका अदर्शनरूप स्वाभाविक हेतु दीखता है ।

हेतुकी सिद्धता—

नासौ हेतुरसिद्धोस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात् ।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः ॥ ३१६ ॥

अर्थ—यह उपर्युक्त हेतु असिद्ध नहीं है । इस विषयमें बहुतसे प्रसिद्ध दृष्टान्त मौजूद हैं । सुखका जहां अभाव है वहां दुःख अवश्य है ऐसा फलितार्थ निकालनेमें व्यतिरेक व्याप्तिका सद्भाव है । जहां पर दुःख नहीं है वहां सुखका भी अदर्शन नहीं है जैसे कि अनन्तचतुष्टय धारी अर्हन् सर्वज्ञ । अरहन्त देवके दुःख नहीं है इसलिये अनन्त सुखकी उनके उद्भूति होगई है । यदि ऐसा कार्य–कारण भाव न माना जावे तो व्याप्ति भी नहीं बन सक्ती ।

व्याप्तिमें दृष्टान्त—

व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्छितस्येव कस्यचित् ।
अदृश्यमपि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम् ॥ ३१७ ॥

अर्थ—व्याप्ति इस प्रकार है—जैसे किसी मूर्छितकी तरह चेष्टा विहीन पुरुषको देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि इसने मदिरापान किया है । यद्यपि मदिरा–पान प्रत्यक्ष नहीं है तो भी उसका कार्य बेहोशी देखकर उस मदिरापान–कारणका अनुमान कर लिया जाता है । उसी प्रकार प्रकृतमें जानना ।

व्याप्तिका फल—

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम् ।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ॥ ३१८ ॥

अर्थ—संसारी जीवके निश्चयसे अबुद्धि पूर्वक दुःख है । यदि दुःख नहीं होता तो उसके (आत्मीक) सुखका सर्वथा अदर्शन कैसे होजाता ।

ततोनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम् ।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥ ३१९ ॥

अर्थ—इस कर्मसे बंधे हुए आत्माके निरन्तर कर्मोंका उदय, उदीरणा आदि होनेसे निश्चय पूर्वक अबुद्धि पूर्वक दुःख है ऐसा अनुमान होता है ।

अबुद्धि पूर्वक दुःख अवाच्य नहीं है—

नाऽवाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्य साधनं ।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ॥ ३२० ॥

अर्थ—ऊपर जो अबुद्धिमें होने वाला दुःखसमूह बतलाया गया है, उसके सिद्ध करनेमें अवाच्यता नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं है कि वह किसी प्रकार कहा ही न जासके। अबुद्धिपूर्वक दुःखका हेतु कर्मोंका उदय होना ही है। कर्मोंका उदय ही बतलाता है कि इस आत्मामें दुःख है।

शङ्काकार—

ननु यथा कश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम् ।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्छितं कर्मभिर्बलात् ॥ ३२१ ॥
अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छारीरं दुःखमात्मनः ।
ऐन्द्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥ ३२२ ॥
मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथग् दुःखं न बुद्धिजम् ।
यद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वाद् व्योमपुष्पवत् ॥ ३२३ ॥
साध्ये वाऽबुद्धिजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः ।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्वासिद्धो व्याप्तेरसंभवात् ॥ ३२४ ॥

अर्थ—कोई शङ्काकार कहता है कि जो सुख आत्मीक तत्त्व है वह सुख कर्मसे बँधे हुए आत्मामें नहीं है। कर्मोंने बलपूर्वक उसे मूर्छित किया है और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेसे आत्माको शारीरिक दुःख होता है। तथा इन्द्रियजन्य भी दुःख होता है। बस शारीरिक और ऐन्द्रियिक ये ही बुद्धिपूर्वक दुःख जगतमें प्रसिद्ध हैं। मन, देह, इन्द्रिय इनसे भिन्न और कोई बुद्धिपूर्वक दुःख नहीं है। इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं है कि और भी दुःख है। जैसे आकाशके पुष्प नहीं है वैसे ही अन्य दुःख नहीं हैं। आपने जो अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध करनेके लिये सुखाभाव हेतु दिया है, वह यथार्थ हेतु नहीं है किन्तु हेत्वाभास है। (हेत्वाभास झूंठे हेतुको कहते हैं जो साध्यको सिद्ध नहीं कर सके) यहां पर व्याप्यत्वासिद्ध नामका हेत्वाभास है। क्योंकि सुखाभावकी अबुद्धिपूर्वक दुःखके साथ व्याप्ति नहीं है। साध्य साधनमें व्याप्य व्यापक हुआ करता है। जिस हेतुमें साध्यकी व्याप्यता न होवै उसीका नाम व्याप्यत्वासिद्ध है। ऐसा हेतु साध्यको सिद्ध नहीं कर सक्ता है?

उत्तर—

नैवं यत्तद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने ।
कर्मणस्तद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात्कुतोऽन्यथा ॥ ३२५ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि दुःखके सिद्ध करनेमें सुखके विपक्षकी व्याप्ति है। जो सुखका विपक्षी है वही दुःखका साधक है और सुखका विपक्ष कर्म है। यह बात न्यायसे भली भांति सिद्ध है।

विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाऽविरुद्धयोः ।
शीतोष्णधर्मयोर्वैरं न तत्क्षारद्रवत्वयोः ॥ ३२६ ॥

अर्थ—जिनका विरोधी धर्म है उन्हींकी विपक्षता होती है, जो अविरोधी धर्म वाले हैं उनकी विपक्षता नहीं होती। शीत और उष्ण धर्मवालों (जल और अग्नि) का ही वैर है। खारापन और पतलापन, इनका परस्पर कोई वैर नहीं है। (क्योंकि समुद्रमें दोनों चीजें मौजूद हैं।)

सुखगुण क्या वस्तु है।

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योपजीविनी ।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः ॥ ३२७ ॥

अर्थ—आकुलता रहित जीवकी एक शक्तिका नाम सुख है वह सुख नामकी शक्ति द्रव्योपजीवी है। उसीकी विरोधिनी आकुलता है, और वह आकुलता घातिया कर्मोंकी शक्ति हैं।

भावार्थ—कोई कोई ऐसा भी समझे हुए हैं कि सुख और कोई चीज नहीं है, घातियां कर्मोंके अभावसे होने वाली जो निराकुलता है वही सुख है किन्तु ऐसा नहीं है। निराकुलता तो आकुलताके अभावको कहते हैं। अभाव कोई वस्तु नहीं है परन्तु सुख गुण आत्माकी एक भाव रूप शक्ति है। वह ऐसी ही है जैसी कि ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति आदि शक्तियां हैं। भावरूप शक्तिका नाम ही द्रव्योपजीविनी शक्ति है और अभावरूप धर्मको प्रतिजीवी गुण कहते हैं। सुख गुणके प्रगट होनेपर आकुलता नहीं रहती है, परन्तु आकुलताका न होना ही सुख गुण नहीं है। वह एक स्वतन्त्र गुण है। उस गुणका घातक कोई खास कर्म नहीं है। किन्तु चारों ही घातिया कर्म मिलकर उसका घात करते हैं, इसी लिये तेरहवें गुणस्थानके प्रारंभमें अथवा बारहवें गुणस्थानके अन्तमें जहां पर घातिया कर्मोंका सर्वथा नाश होजाता है वहीं अनन्त सुखगुण अनन्त चतुष्टयधारी श्री अरहन्त देवके प्रगट होजाता है। इस कथनसे यह बात भी सिद्ध होजाती है कि जिन२ गुणस्थानोंमें उन घातिया कर्मोंका जितना २ क्षय होता जाता है उन२ गुणस्थानोंमें उतना उतना ही सुख गुणका अंश प्रकट होता जाता है। अतएव चौथे गुणस्थानमें भी किञ्चिन्मात्र उस दिव्य–अलौकिक–परमस्वादु–अनुपम सुखकी झलक मिलजाती है।

घातिकर्मकी शक्ति—

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात्।
अन्यथाऽऽत्मतया शक्तेः बाधकं कर्म तत्कथम्॥ ३२८॥

अर्थ—सुख गुणके अभावमें होनेवाली जो आकुलता है, वह घातिया कर्मोंकी शक्ति है, यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि कर्मोंका फल दीखता है। यदि वह कर्म–शक्ति नहीं है तो आत्माकी शक्तिका बाधक कर्म कैसे होता है?

सारांश—

न्यायात्सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पवत्।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात्॥ ३२९॥

अर्थ—इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध होचुकी कि कर्मसे बँधे हुए आत्माके जब तक कर्मोंका उदय होरहा है तब तक उसके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें कम्प (कँपानेवाला) करनेवाला दुःख है।

दृष्टान्त—

देशतोऽस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थः स्वाधिकारप्रमत्तवान्॥ ३३०॥

अर्थ—यहां पर एक देश दृष्टान्त भी है—वायुसे ताडित (प्रेरित) समुद्र व्याकुल होता है। जब वायुसे रहित स्वाधिकारी समुद्र है तब व्याकुलता रहित है, स्वस्थ है।

यहां पर 'स्वाधिकारप्रमत्तवान्' यह समुद्रका विशेषण तीन प्रकारसे लगाया जासक्ता है। जिस समय समुद्रस्वाधिकारमें प्रमादी है उस समय वह व्याकुल है। ऐसा भी अर्थ होसक्ता है। दूसरा ऐसा भी अर्थ होसक्ता है कि स्वाधिकार अवस्थामें वह अव्याकुल है और प्रमत्त अवस्थामें व्याकुल है। तीसरा–स्वाधिकारमें ही जिस समय लीन है तब वह अव्याकुल है। तात्पर्य सबतरह स्पष्ट है।

शङ्काकार—

न च वाच्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति तत्।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रतः॥ ३३१॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि सुख सदा विद्यमान ही रहता है। चाहे आत्मा कर्मोंसे बँधा हो, चाहे न बँधा हो। क्योंकि सुख आत्माकी शक्तिका नाम है। शक्ति नित्य रहने वाला पदार्थ है। इस लिये सुख मौजूदकी तरह ही समझना चाहिये? शंकाकारका ऐसा कहना ठीक नहीं है इसमें अनेक दोष आते हैं, वे नीचे दिखाये जाते हैं—

अत्र दोषावतारस्य युक्तिः प्रागेव दर्शिता।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वं कुतोऽर्थतः॥ ३३२॥

अर्थ—यदि सुख गुण सदा विद्यमान ही माना जावे तो अवश्य दोष आते हैं । जो दोष आते हैं उनकी युक्ति पहले ही कही जाचुकी है । जो स्वस्थ जीव है उसके वास्तवमें व्याकुलता कहां हो सक्ती है ? और संसारी जीवके व्याकुलता है, इस लिये जाना जाता है कि सुखका अभाव है ।

उसीकी दूसरी शंका—

नचैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत् ।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनाम् ॥ ३३३ ॥

अर्थ—अनेकान्तवादी (जैन) एक पदार्थमें एक ही स्थानमें दो धर्म मान लेते हैं, इसलिये एक आत्मामें ही सुख व्यक्ति और उसीमें दुःख व्यक्ति मानलेना चाहिये अर्थात् एक ही आत्मामें एक समयमें सुख और दुःख दोनों मानना चाहिये । ऐसा माननेसे जैनियोंका अनेकान्तवाद भी घट जाता है ? सो यह कहना भी असमझका है ।

अनेकान्तका स्वरूप—

अनेकान्तः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि ।
गुणपर्याययोर्द्वैताद् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥ ३३४ ॥

अर्थ—एक वस्तुमें होनेवाला जो अनेकान्त है वह प्रमाण अवश्य है, परन्तु सब जगह नहीं । जहां पर गुण, पर्यायके कथनमें एकको मुख्य कर दिया जाता है और दूसरेको उस समय गौण कर दिया जाता है, वहीं पर अनेकान्त प्रमाण है और वहीं पर द्वैत घटता है ।

अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरूपा स्यात्सुखदुःखयोः ।
तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चेद्द्रव्यतः क्वचित् ॥ ३३५ ॥

अर्थ—परन्तु सुख, दुःखकी व्यक्ति (प्रगटता) तो पर्याय स्वरूप है । ऐसी अवस्थामें द्वैत नहीं घट सक्ता । द्वैत यदि कहीं पर होगा तो द्रव्यकी उपेक्षासे ही होगा ।

भावार्थ—ऊपर दो प्रकारकी शंकायें उठाई गई हैं, उनमें पहली तो यह थी कि सुख सदा ही रहता है ? इसका यह उत्तर दे दिया गया कि यदि सुख सदा ही रहता है तो जीव व्याकुल क्यों होता है ? सुख गुणकी प्रगटतामें व्याकुलता नहीं रह सक्ती । इसलिये सुख सदा प्रगट नहीं रहता ।

दूसरी शङ्का इस प्रकार थी की-एक आत्मामें सुख और दुःख थोडा २ दोनों ही साथ मानो ? और यही अनेकान्त है ? इसका यह उत्तर है कि एक पदार्थमें दो धर्म एक साथ अवश्य रहते हैं । परन्तु रहते वे ही हैं जिनमें एकके कथनमें मुख्यता पाई जाती है और दूसरेकेमें गौणता, तथा यह बात वहीं घट सक्ती हैं जहां कि एक ही द्रव्यमें गुण और पर्यायोंका कथन किया जाता हैं । सुख दुःख दोनों एक साथ कभी नहीं रह सक्ते । क्योंकि इनकी

प्रगटता पर्यायकी अपेक्षासे है । एक समयमें एक ही पर्याय होसक्ती है दो नहीं । ये दोनों ही एक (सुख) गुणकी पर्यायें हैं । दुःख वैभाविक पर्याय है और सुख स्वाभाविक हैं। स्वाभाविक और वैभाविक पर्यायें क्रमसे ही होती हैं । इस लिये एक समयमें सुख और दुःख बतलाना ठीक नहीं है ।

सारांश—

बहु प्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः ।
सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतः सिद्धो यथागमः ॥ ३३६ ॥

अर्थ—अब अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन ! हमारा साध्य " कर्मबद्ध आत्मा दुःखी है " अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हो चुका, और जैनागमसे भी आत्मामें दुःखकी सत्ता सिद्ध हो चुकी । तथा आगममें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है, आगम स्वयं प्रमाणरूप है ।

आगमकथन—

एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः ।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम् ॥ ३३७ ॥

अर्थ—सर्वज्ञदेवके वचनोंको आज्ञारूप समझना चाहिये, बस उसीका नाम आगम है। सर्वज्ञके ये वचन हैं कि पके हुए कर्मोंका उदयावस्थापन्न जो फल है वही दुःख है, अर्थात् जितना भी कर्मफल है वह सभी दुःख है ।

दृष्टान्त—

अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्मणकायकाः ।
आ एकाक्षादापञ्चाक्षा अप्यन्ये दुःखिनोमताः ॥ ३३८ ॥

अर्थ—जितने भी एकेन्द्रियसे आदि लेकर पञ्चेन्द्रिय तक जीव हैं वे सब कार्माण काय वाले हैं अर्थात सभी कर्म वाले हैं । इस लिये सभी दुःखी माने गये हैं तथा और भी जो (विग्रह गतिमें रहने वाले) कर्म बद्ध हैं वे सब दुःखी माने गये हैं ।

दुःख कारण—

तत्राभिव्यञ्जको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम् ।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ॥ ३३९ ॥

अर्थ—घातिया कर्मोंके उदयके आघातसे आत्माके प्रदेशोंका घात करनेवाला जो कर्म है वही दुःखका सूचक है, अर्थात् घाति कर्मका उदय ही दुःखावह है ।

अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः ।
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नाऽसंज्ञिनामिति ॥ ३४० ॥

अर्थ—यदि कर्मोंको दुःखका कारण न माना जाय तो दुःखोंके कारणोंका और कोई

उपाय ही नहीं है क्योंकि कर्मोंको दुःखका कारण न माननेसे अनेक दोष आते हैं, यदि केवल संज्ञी जीवोंके ही दुःख होता है, असंज्ञी जीवोंके नहीं ऐसा कहाजाय ?

और भी—

महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चाऽसंज्ञिनां न वा ।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥ ३४१ ॥

अर्थ—अथवा यह कहा जाय कि बहुत भारी दुःख संज्ञियोंके ही होता है और थोडा असंज्ञियोंके होता है ? तोभी यह सब कथन ठीक नहीं है । क्योंकि नीच स्थानसे उच्चस्थान सदा अच्छा माना गया है ।

भावार्थ—संज्ञी और असंज्ञी जीवोंमें संज्ञियोंका दर्जा कई गुणा उत्तम है । इसलिये एक प्रकारसे नीचे ही दुःख अधिक होना चाहिये । और प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि एकेन्द्रिय जीवोंमें ज्ञानकी कितनी हीनता है, उनको अपनी सत्ताका पता भी नहीं होपाता । क्या उन्हें अज्ञताजन्य कम दुःख है ? वही उनको अनन्त काल तक भटकानेवाले कर्मबन्धका कारण है ।

यदि यह कहाजाय—

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च ।
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम ॥ ३४२ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि एकेन्द्रियादिक सूक्ष्म जीवोंके भी शरीर और स्पर्शनादिक इन्द्रियां हैं । इसलिये उनको भी शारीरिक और ऐन्द्रियिक दुःख ही उठाना पड़ता है ? सो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि—

दोषापत्ति—

अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति ।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥ ३४३ ॥

अर्थ—यदि शारिरिक और इन्द्रियजन्य ही दुःख माना जावे, और कोई दुःख (कर्मजन्य) न माना जावे तो जो जीव विग्रहगतिमें हैं, जहां केवल कार्माण अवस्था है; शरीर, इन्द्रियादि (के कारण)नोकर्म नहीं है, वहां दुःख है या नहीं ?

भावार्थ—विग्रह गतिमें संसारावस्था होनेसे दुःख तो है परन्तु शरीर, इन्द्रियादिक नहीं है । जो लोग केवल शारीरिक और ऐन्द्रियिक (मानसिक) दुःख ही मानते हैं उनके कथनमें अव्याप्ति दोष दिया गया है ।

यदि यह कहा जाय—

अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः ।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥ ३४४ ॥

अर्थ—यदि यह कहाजाय कि विग्रहगतिमें भी कर्मका समूह रूप कार्माण शरीर है। इसलिये शरीरजन्य दुःख वहां भी है ? तो इस कथनसे कर्मजन्य दुःख ही सिद्ध हुआ । इसलिये कर्म ही दुःख देनेवाला है यह बात भली भांति सिद्ध हो गई ।

वास्तविक सुख कहांपर है ?

अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम् ।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तौ चिदात्मनः ॥ ३४५ ॥

अर्थ—तथा यह बात भी सिद्ध हो चुकी कि सुख वही है जो अनाकुल लक्षणवाला है, और वह निराकुल सुख इस जीवात्माके कर्म और नोकर्मके छूट जानेपर (सिद्धावस्थामें) होता है । (यहांपर नो-कर्म शब्दसे कर्म और नोकर्म दोनोंका ग्रहण है ।)

शङ्काकार—

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।
तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयते कथम् ॥ ३४६ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि परमात्मामें शरीर और इन्द्रियोंका अभाव है, यह बात प्रसिद्ध है । परन्तु बिना इन्द्रिय और शरीरके सुख और ज्ञान किस प्रकार भली भांति सिद्धिको प्राप्त होते हैं ?

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय शारीरिक और ऐन्द्रियिक सुख, ज्ञानसे है । उसकी दृष्टिमें शरीर और इन्द्रियोंके बिना सुख और ज्ञान होते ही नहीं ।

उत्तर—

न यतः प्रमाणं स्यात् साधने ज्ञानसौख्ययोः ।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम् ॥ ३४७ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान और सुखके सिद्ध करनेमें इन्द्रिय और शरीर प्रमाण नहीं है किन्तु प्रसिद्ध अतीन्द्रिय और अशरीर ही हेतु उनकी सिद्धिमें साधन है ।

सिद्धि प्रयोग

अस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा ।
देशतोप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं वत द्वयोः ॥ ३४८ ॥

अर्थ—शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुख (आत्मीक)का थोड़ासा स्वाद हमलोगोंमें भी किसी किसीके पाया जाता है, इससे जाना जाता है कि किसीके शुद्ध ज्ञान और सुख सम्पूर्णतासे भी है ।

ज्ञान और आनन्द आत्माके गुण हैं—

ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ ।
देहेन्द्रियाद्यभावेपि नाभावस्तद्द्वयोरिति ॥ ३४९ ॥

अर्थ—ज्ञान और आनन्द (सुख) ये दोनों ही आत्माके धर्म हैं, वे नित्य हैं और द्रव्योपजीवी (भावात्मक) गुण हैं। इसलिये शरीर और इन्द्रियोंके अभावमें भी उनका अभाव नहीं हो सक्ता (प्रत्युत वृद्धि होती है)

गुणपनेकी सिद्धि—

सिद्धं धर्मत्वमानन्दज्ञानयोर्गुणलक्षणात् ।
यतस्तत्राप्यवस्थायां किञ्चिद्देहेन्द्रियं विना ॥ ३५० ॥

अर्थ—ज्ञान और आनंद आत्माके धर्म हैं, यह बात सिद्ध है, क्योंकि गुणका लक्षण इनमें मौजूद है, तथा शरीर और इन्द्रियोंके बिना भी ये पाये जाते हैं।

भावार्थ—गुणका लक्षण यही है कि अनुवर्तिनो गुणाः, जो सदा साथ रहें वे गुण हैं। ज्ञान और आनन्द दोनों ही शरीर, इन्द्रिय रहित अवस्थामें भी आत्माके साथ पाये जाते हैं। इसलिये ये आत्माके ही धर्म हैं।

ज्ञानादिका उपादान आत्मा ही है—

मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम् ।
देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत् ॥ ३५१ ॥

अर्थ—मतिज्ञान आदिके समय जो शरीर, इन्द्रियां और उनके विषयभूत–पदार्थ कारण हैं वे केवल बाह्य हेतु हैं, इसलिये अहेतुके ही समान हैं। ज्ञानादिकमें अन्तरंग–उपादान हेतु तो आत्मा ही है, इसलिये आत्माके ही ज्ञान, सुख धर्म हैं।

आत्मा स्वयं ज्ञानादि स्वरूप है—

संसारे वा विमुक्तौ वा जीवो ज्ञानादिलक्षणः ।
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा ॥ ३५२ ॥

अर्थ—आत्मा चाहे संसारमें हो, चाहे मुक्तिमें हो, कहीं भी क्यों न हो, सदा ज्ञान, सुख, दर्शन, वीर्य आदि लक्षणोंवाला है। स्वयं आत्मा ही ज्ञानरूप होजाता है और स्वयं ही सुखमय होजाता है।

स्पर्शादिक केवल निमित्त मात्र है—

स्पर्शादीन् प्राप्य जीवश्च स्वयं ज्ञानं सुखं च तत् ।
अर्थाः स्पर्शादयस्तत्र किं करिष्यन्ति ते जडाः ॥ ३५३ ॥

अर्थ—स्पर्शादि विषयोंको प्राप्त होकर यह जीव ही स्वयं ज्ञान और सुख मय होजाता है। उस ज्ञान और सुखके विषयमें ये स्पर्शादिक पदार्थ—जड़ बिचारे क्या कर सक्ते हैं।

जड़ पदार्थ ज्ञानके उत्पादक नहीं हैं—

अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत् ।
घटादौ ज्ञानशून्ये च नत्किं नोत्पादयन्ति ते ॥ ३५४ ॥

अर्थ—यदि स्पर्शादिक अचेतन पदार्थ ही स्वयं ज्ञानको पैदा करदेवें तो ज्ञानशून्य घटादिक पदार्थोंमें क्यों नहीं उत्पन्न करते ? अर्थात् आत्मामें ही ज्ञान क्यों होता है ? *

अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित् ।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥ ३५५ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि स्पर्शादिक ज्ञानको पैदा करते हैं, परन्तु चेतन द्रव्यमें ही पैदा करते हैं ? तो चेतन द्रव्य तो स्वयं ज्ञान रूप है, वहां उन्होंने पैदा क्या किया ?

सारांश—

ततः सिद्धं शरीरस्य पञ्चाक्षाणां तदर्थसात् ।
अस्त्यकिञ्चित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखम्प्रति ॥ ३५६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध होगई कि शरीर और पांचों ही इन्द्रियां आत्माके ज्ञान और सुखके प्रति सर्वथा अकिञ्चित्कर हैं, अर्थात् कुछ नहीं कर सक्ते।

पुनः शङ्काकार—

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम् ।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिञ्चित्करं कथम् ॥ ३५७ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि मनुष्योंके शरीर इन्द्रिय और पदार्थके रहते हुए ही ज्ञान और सुख होता है। विना शरीरादिकके ज्ञान और सुख नहीं होता। फिर शरीर, इन्द्रिय और पदार्थ, ज्ञान और सुखके प्रति अकिञ्चित्कर (कुछ भी नहीं करने वाले) क्यों हैं ?

उत्तर—

नैवं यतोन्वयापेक्षे व्यञ्जके हेतुदर्शनात् ।
कार्याभिव्यञ्जकः कोपि साधनं न विनान्वयम् ॥ ३५८ ॥

शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि शरीरादिकको जो ज्ञानादिकके

---

* बौद्ध सिद्धान्त ज्ञानोत्पत्तिमें पदार्थको ही कारण मानता है, उसीका खण्डन इस श्लोकद्वारा किया गया है। कोई२ तो जड़ पदार्थोंको ही ज्ञानोत्पादक मानते हैं उनका भी खण्डन समझना चाहिये।

प्रति हेतु बतलाया जाता है वह अन्वयकी अपेक्षा रखने वाले व्यञ्जककी अपेक्षासे हैं। कार्यका जतलाने वाला कोई भी साधन विना अन्वयके नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—शरीरादिक ज्ञानसुखको जतलाते हैं इसलिये वे ज्ञान सुखके प्रति व्यञ्जक हेतु हैं। परन्तु वे तभी जतलासक्ते हैं जब कि मूलमें आत्माका अन्वय (सम्बन्ध) हो। विना आत्माके वे शरीरादिक ज्ञान सुखको कहीं घट पटमें तो जतलावें ? इस लिये शरीरादिक आत्मामें ही ज्ञान सुखको जतला सक्ते हैं क्योंकि ज्ञान सुख आत्माके ही गुण हैं। जिस प्रकार दीपक पदार्थोंका व्यञ्जक है परन्तु वह पदार्थोंको तभी जतला सकता है जबकि पदार्थ मौजूद हों, विना पदार्थोंके रहते हुए कोई भी दीपक पदार्थको नहीं दिखा सक्ता। इसलिये कार्यको बतलाने वाला कोई भी व्यञ्जक साधन बिना मूलके कुछ नहीं कर सक्ता।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोऽगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत्।
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः॥ ३५९॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये अग्नि है—अग्नि अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थोंकी व्यञ्जक (विदित करानेवाली) है। परन्तु वह सुगन्धित गन्ध, विना अगुरु द्रव्यके अग्निकी नहीं हो सक्ती। अगुरु द्रव्यके रहते हुए ही अग्नि उसकी सुगन्धिको विदित करा देती है।

दार्ष्टान्त—

तथा देहेन्द्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यञ्जकाः क्वचित्।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्मकाः॥ ३६०॥

अर्थ—इसी प्रकार (आत्माके रहते हुए ही) देह, इन्द्रिय और पदार्थ कहीं ज्ञान और सुखके व्यञ्जक (विदित करानेवाले) हैं। परन्तु देहादिक स्वयं ज्ञान, सुख स्वरूप नहीं हैं। ऐसा तो एक आत्मा ही है।

उपादानके अभावमें व्यञ्जक कुछ नहीं करसक्ता—

नाप्युपादानशून्येपि स्यादभिव्यञ्जकात्सुखम्।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुषङ्गतः॥ ३६१॥

अर्थ—उपादान शून्यतामें व्यञ्जक मात्रसे सुख अथवा ज्ञान नहीं होसक्ते। यदि बिना उपादानके भी सुख अथवा ज्ञान हो जायं तो सर्वत्र हेतुशून्यताका प्रसङ्ग होगा अर्थात् फिर हेतुके बिना भी कार्य होने लगेगा। बिना पदार्थके रहते हुए भी दीपक पदार्थका प्रकाश कर देगा। इसलिये उपादान कारण—आत्माके रहते हुए ही ज्ञान, सुख हो सक्ते हैं।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ॥ ३६२ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान और सुख जीवके ही गुण हैं। चाहे वह जीव संसारमें हो, चाहे मुक्तिमें हो, गुणोंका उल्लंघन कहीं नहीं होता।

ज्ञानसुखकी पूर्णता मुक्तिमें है—

किञ्च साधारणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥ ३६३ ॥

अर्थ—संसार पर्यायमें आत्माके साधारण ज्ञान और सुख होते हैं और मुक्ति होने पर उसी आत्माके निरावरण सुख और ज्ञान होते हैं।

कर्मोंका नाश होनेसे गुण निर्मल होते हैं—

कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥ ३६४ ॥

अर्थ—कर्मोंके नाश होने पर निश्चयसे आत्माके गुणोंकी क्षति (हानि) नहीं है। उल्टी निर्मलता आती है। जिस प्रकार कीचड़के दूर होने पर जल आदिकमें निर्मलता आजाती है। (कर्म आत्मामें कीचड़की तरह समझने चाहिये)।

कर्मके नाश होनेसे विकार भी दूर होजाता है—

अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः।
विकारः कर्मजो भावः कादाचित्कः सपर्ययः ॥ ३६५ ॥

अर्थ—कर्म रूपी मलके नाश होने पर आत्मामें होने वाले विकारका नाश हो जाता है। क्योंकि विकार कर्मसे होनेवाला परिणाम है। वह सदा नहीं रहता कदाचित होता है इसलिये वह गुण नहीं है पर्याय है।

गुणका नाश कभी नहीं होता—

नष्टे चाशुद्धपर्याये मा भूद्भ्रान्तिर्गुणव्यये।
ज्ञानानन्दत्वमस्योच्चैर्नित्यत्वात्परमात्मनि ॥ ३६६ ॥

अर्थ—आत्माकी अशुद्ध पर्यायके नाश होने पर उसके नाशका भ्रम नहीं करना चाहिये क्योंकि ज्ञान और सुख इस आत्माके नित्य गुण हैं, वे परमात्मामें पूर्णतासे रहते हैं।

दृष्टान्त—

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः।
पीतत्वादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोऽस्ति चेत् ॥ ३६७ ॥

अर्थ—यदि वह वास्तवमें सोना है तो अग्निके निमित्तसे पाषाण (किट्टिकालिमा) आदि मलके दूर होने पर सोनेके पीतत्वादि गुणोंका नाश कभी नहीं होता।

भावार्थ—सोनेका पीला गुण नित्य है उसका नाश कभी नहीं होता। परन्तु उस सोनेमें जो मल है वह उसका निजी गुण नहीं है इसलिये वह अग्नि द्वारा दूर किया जाता है। इसी प्रकार आत्माके ज्ञान, सुख गुण हैं। वे नित्य हैं, परन्तु कर्म मल उसके निजी नहीं हैं उनका नाश होजाता है।

नैयायिक मतके अनुसार मोक्षका स्वरूप—

एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः।
इत्येके तदसज्जीवगुणानां शून्यसाधनात् ॥ ३६८ ॥

अर्थ—"एकविंशतिदुःखध्वंसो मोक्षः" इस गौतमसूत्रके अनुसार नैयायिक लोग कहते हैं कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इक्कीस दुःखोंका नाश होना ही मोक्ष है। यह उनका कहना ठीक नहीं है ऐसे कथनसे जीवके गुणोंकी शून्यता सिद्ध होती है।

भावार्थ—नैयायिक दर्शनवाले मुक्तात्माको ज्ञान, सुखादिकसे रहित जड़वत् मानते हैं ऐसा उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। मोक्ष सुखका स्थान है या आत्माकी ज्ञानादिक निजी सम्पत्तिका अभाव होनेसे महा दुःखका स्थान है? जब मोक्षमें सुख गुण ही नष्ट हो जाता है तो फिर ऐसे मोक्षका प्रयत्न क्यों किया जाता है? इससे तो संसार ही अच्छा, जहां पर दुःख भले ही हो परन्तु निज गुणका नाश तो नहीं होता। इसलिये नैयायिक सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। कहीं आत्माके गुणोंका भी नाश होता है? वह वास्तवमें नैयायिक (न्याय जाननेवाला) ही नहीं है। क्योंकि वह स्वयं अपने दर्शनमें यह बात मानता है कि "समवाय सम्बन्ध गुण गुणीमें होता है और वह नित्य होता है।" जब वह नित्य है तब मोक्षमें गुण नाश कैसा? क्या नैयायिक दर्शन ऐसे स्थलमें स्वागम बाधित नहीं होता? इस लिये मोक्षका लक्षण जैनसिद्धान्तानुसार "कर्मोंके सर्वथा नाशसे आत्मीक गुणोंका प्रकट होना ही मोक्ष है" यही ठीक है।

निजगुणका विकाश दुःखका कारण नहीं है—

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम्।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुःखानुषङ्गतः ॥ ३६९ ॥

अर्थ—आत्मामें निज गुणोंका प्रकट होना दुःखका साधन कभी नहीं हो सक्ता। जहां पर सुखका जड़ मूलसे नाश माना जाता है, वहां अति दुःखका प्रसंग अवश्य होगा।

भावार्थ—सुख और दुःख दोनों प्रतिपक्षी हैं। एक समयमें सुख और दुःखमेंसे एक

कोई आत्मामें अवश्य रहेगा। जब मोक्षमें सुखका नाश होजाता है तो दुःखका सद्भाव अवश्यंभावी है। ऐसी अवस्थामें नैयायिककी मानी हुई मोक्ष दुःखोत्पादक ही होगी।

सारांश—

निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा पुनः ।
देहेन्द्रियैर्विनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः ॥ ३७० ॥

अर्थ—ज्ञान स्वरूप और सुखस्वरूप परमात्मा है उसके शरीर और इन्द्रियोंके विना भी ज्ञान और सुख हैं यह बात निश्चित हो चुकी। अथवा निश्चयसे परमात्माके ज्ञान और सुख दोनों हैं।

सम्यग्दृष्टिका स्वरूप—

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ॥ ३७१ ॥

अर्थ—इस प्रकार वस्तु स्वरूपको जाननेवाला यह सम्यग्दृष्टि अपनी आत्माका स्वरूप देखता हुआ विषयोंसे होने वाले सुख और ज्ञानमें राग द्वेष नहीं करता है।

भावार्थ—वह वैषयिक सुख और ज्ञानसे उदासीन होजाता है।

प्रश्न—

ननूल्लेखः किमेतावान् अस्ति किंवा परोप्यतः ।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनाश्चितः पुमान् ॥ ३७२ ॥

अर्थ—क्या सम्यग्दृष्टिके विषयमें इतना ही कथन है, या और भी है? ऐसा कोई लक्षण है जिससे कि सम्यग्दृष्टी जाना जासके?

उत्तर—

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैः संलक्ष्यते सुदृक् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके और भी बहुतसे लक्षण हैं, जो कि सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं। उन्हींसे सम्यग्दृष्टी जाना जाता है। (जो लक्षण सम्यग्दर्शनके विना हो नहीं सक्ते वे सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं।

सम्यग्दृष्टीका स्वरूप—

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्म सर्वं च तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥ ३७४ ॥

अर्थ—ऊपर जितना भी इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान बतलाया गया है, सम्यग्दृष्टिके लिये वह सभी हेय (त्याज्य) है तथा उसी प्रकार सम्पूर्ण कर्म भी त्याज्य हैं यह बात प्रत्यक्ष है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ३७५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन वास्तवमें आत्माका अति सूक्ष्म गुण है वह केवलज्ञानका विषय है । तथा परमावधि, सर्वावधि और मनःपर्यय ज्ञानका भी विषय है अर्थात् इन्हीं तीनों ज्ञानोंसे जाना जासक्ता है ।

किन्तु—

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥ ३७६ ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका किञ्चित् भी वह विषय नहीं है और न देशावधिका ही विषय है । इनके द्वारा उसका बोध नहीं होता है ।

सम्यक्त्वमें विपरीतता—

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः ॥ ३७७ ॥

अर्थ—आत्माका एक विलक्षण निर्विकल्पक गुण सम्यक्त्व है । वह सम्यग्दर्शन दर्शन-मोहनीय कर्मके उदयसे अनादिकालसे मिथ्या-स्वादुरूप हो रहा है ।

भावार्थ—मोहनीय कहते ही उसे हैं जो मूर्च्छित करदे । जिस प्रकार कड़वी तूंबीमें डाला हुआ मीठा दूध उस तूंबीके निमित्तसे कड़वा हो जाता है, उसी प्रकार दर्शन-मोहनीयके निमित्तसे वह सम्यक्त्व भी अपने स्वरूपको छोड़कर विपरीत स्वादवाला (मिथ्यात्व) हो जाता है । यह अवस्था उसकी अनादिकालसे हो रही है ।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिका उपाय—

दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ३७८ ॥

अर्थ—दैवयोगसे (विशेष पुण्योदयसे) कालादि लब्धियोंके प्राप्त होने पर तथा संसारसमुद्र निकट (थोड़ा) रह जाने पर और भव्य भावका विपाक होनेसे यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—"खयुवसम विसोही देसणपाउग्ग करण लद्धीए । चत्तारिवि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते" । इस गोम्मटसारके गाथाके अनुसार सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये कारणभूत पांच लब्धियां बतलाई गई हैं । क्षायोपशमिक लब्धि कर्मोंके क्षयोपशम होनेपर

होती है। कर्मोंके क्षयोपशम होनेपर आत्मामें जो विशुद्धता होती है, उसीका नाम विशुद्धि लब्धि है। किसी मुनि आदिकके उपदेशकी प्राप्तिको देशना लब्धि कहते हैं। कर्मोंकी स्थिति घट कर अंतः कोटा कोटि मात्र रह जाय इसीका नाम प्रायोगिकी लब्धि है। आत्माके परिणामोंमें जो कर्मोंकी स्थिति खण्डन और अनुभाग खण्डनकी शक्तिका पैदा होना है इसीका नाम करणलब्धि है। करणलब्धि तीन प्रकार है। अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

अधःकरणके असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं। एक समयमें रहने वाले अथवा भिन्न २ समयमें रहने वाले जीवोंके परिणामोंमें समानता भी हो सक्ती है अथवा असमानता भी हो सक्ती है परन्तु अपूर्वकरणमें एक समयमें रहनेवाले जीवोंमें तो समानता और असमानता हो सकती है, परंतु भिन्न २ समयोंमें रहनेवाले जीवोंमें समानता नहीं होसक्ती किन्तु नवीन २ ही परिणाम होते हैं। इस करणके परिणाम अधःकरणसे असंख्यात लोकगुणित हैं। अनिवृत्तिकरणमें एक समयमें एक ही परिणाम होता है। जितने भी जीव उस समयमें होंगे सबोंके एक ही परिणाम होगा। दूसरे समयमें दूसरा ही परिणाम सबोंके होगा इस करणके परिणाम उसके कालके समयोंके बराबर हैं। ये पांचो लब्धियां सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें कारण हैं। परन्तु इतना विशेष है कि पहली चारोंके होने पर सम्यग्दर्शनका होना जरूरी नहीं है लेकिन करणलब्धि तभी होती है जब कि सम्यग्दर्शन प्राप्तिमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहजाता है अर्थात् करणलब्धिके होनेपर अन्तर्मुहूर्त बाद अवश्य ही सम्यग्दर्शन होजाता है। और भी सामग्री काललब्धि आदिक सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारण हैं। इन सबोंके होनेपर फिर कहीं सम्यक्त्व प्रकट होता है।

यहां पर श्लोकके तीसरे चरणमें पड़े हुए "भव्यभावविपाकाद्वा" इस वाक्यका यह आशय है कि जिस समय आत्मामें मिथ्यात्व कर्मका उदय रहता है उस समय उस भव्यत्व गुणका अपक्वपरिणमन (अशुद्ध अवस्था) रहता है। सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय उस गुणका विपक्व परिणमन होजाता है अर्थात् वह अपने परिणाममें आजाता है इसी आशयसे स्वामी उमास्वामि आचार्यवर्यने "औपशमिकादि भव्यत्वानाञ्च" इस सूत्रद्वारा मुक्तावस्थामें भव्यत्वभावका नाश बतला दिया है। वास्तवमें भव्यत्वभाव पारिणामिक गुण है, उसका नाश हो नहीं सक्ता। परन्तु उसका आशय यही है कि भव्यभावका जो मिथ्यात्व अवस्थामें अपक्व परिणमन हो रहा था उसका नाश हो जाता है अर्थात् उस भव्यत्व गुणकी मलिन पर्यायका नाश होजाता है। उसकी निर्मल पर्याय सिद्धोंमें सदा रहती है। पर्याय नाशकी अपेक्षासे ही उक्त सूत्र कहा गया है।

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत्।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥ ३७९ ॥

अर्थ—फिर अन्तर्मुहूर्तमें ही विना किसी प्रयत्नके दर्शनमोहनीयका उपशम हो जाता है। उस अवस्थामें भी गुणश्रेणीके क्रमका उलङ्घन नहीं होता।

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा ।
पुंसोवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥ ३८० ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है। वह मिथ्यात्व अवस्थासे पुरुषकी दूसरी अवस्थाविशेष है। सम्यग्दर्शन आत्माका निर्विकल्पक-निराकार गुण है उसीका स्पष्ट कथन नीचे किया जाता है—

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
सत्तारूपं च परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥ ३८१ ॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे अथवा विशेष रीतिसे सम्यक्त्व निर्विकल्पक है, सत्वरूप है और आत्माके प्रदेशोंमें परिणमन करने वाला है।

उल्लेख—

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः ।
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥ ३८२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व आत्मामें किस प्रकार निर्मलता पैदा करता है, इस विषयमें सूर्यका उल्लेख है कि जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे अन्धकारका नाश होने पर सब जगह दिशायें निर्मलता धारण करती हुई प्रसन्नताको प्राप्त होती हैं।

उसी प्रकार—

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः ।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥ ३८३ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होने पर सम्यग्दृष्टिका भी वही उल्लेख है अर्थात् उसका आत्मा निर्मलता धारण करता हुआ प्रसन्नताको प्राप्त होजाता है। उस आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें शुद्धता होजाती है, और वह सम्यक्त्व तीन प्रकार (भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म) से होनेवाले बन्धका नाश करनेवाला है।

दूसरा उल्लेख—

यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥ ३८४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई आदमी मदिरा या धतूरा पी लेता है तो उसे मूर्छा आजाती है, परन्तु कुछ काल बाद उसका नशा उतर जाता है तब वह मूर्छित आदमी मूर्छा रहित नीरोग होजाता है।

उसी प्रकार—

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः॥ ३८५॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवको मूर्छा रहा करती है, तथा इसका चित्त ठिकाने नहीं रहता है और हरएक पदार्थमें भ्रम रहता है, परन्तु उस मोहनीयके शान्त (उपशमित) होनेपर मूर्छाका नाश होनेसे यह जीव नीरोग होजाता है।

सम्यग्दर्शनके लक्षणोंपर विचार—

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः॥ ३८६॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके जो श्रद्धान, आदि गुण बतलाये हैं वे सब बाह्य लक्षण हैं, क्योंकि श्रद्धानादिक सम्यक्त्वरूप नहीं हैं, किन्तु वे सब ज्ञानकी पर्याय हैं।

भावार्थ—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनका लक्षण जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान बतलाया है। परन्तु वास्तवमें ज्ञान भी यही है कि जैसेका तैसा जानना और सम्यक्त्व भी यही है कि जैसेका तैसा श्रद्धान करना। इसलिये उपर्युक्त लक्षण ज्ञानरूप ही पड़ता है। इसी प्रकार समन्तभद्रस्वामीने जो "श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्" इस श्लोकद्वारा देव शास्त्र गुरुका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यक्त्व बतलाया है वह भी ज्ञान ही की पर्याय है। इसलिये ये सब बाह्य लक्षण हैं।

और भी—

अपि चिन्मात्रानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम्॥ ३८७॥

अर्थ—और भी समयसारकारने सम्यक्त्वका लक्षण आत्मानुभूतिको बतलाया है। वह लक्षण ज्ञानरूप ही पड़ता है क्योंकि आत्माका अनुभव (प्रत्यक्ष) ज्ञानकी ही पर्याय विशेष है। इसलिये ज्ञानरूप होनेसे यह भी सम्यक्त्वका लक्षण नहीं होसक्ता, यदि माना जाय तो केवली इसे बाह्य लक्षण ही कह सक्ते हैं। *

* **नोट**—यहांपर यह कह देना आवश्यक है कि उपर्युक्त सम्यक्त्वके लक्षण भिन्न२ आचार्यों द्वारा भिन्न२ रीतिसे कहे गये हैं। इस विषयमें कोई२ महाशय सन्देह करेंगे कि आचार्योंके कथनमें यह विरोध कैसा? किसका लक्षण ठीक माना जावे और किसका अशुद्ध समझा जावे? तथा पञ्चाध्यायीकारने सभीके लक्षणोंको ज्ञानकी ही पर्याय बतला दिया है फिर सम्यक्त्वका स्वरूप कैसे जाना जा सक्ता है? ऐसे सन्देह करनेवाले सज्जनोंसे प्रार्थना है कि वे आगेका कथन पढ़ते जांय, उन्हें अपने आप ही मालूम होजायगा कि न तो किसी आचार्यका कथन मिथ्या है, और न किसीके कथनमें परस्पर

सम्यक्त्वकी दुर्लक्ष्यतामें दृष्टान्त—

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।
वा मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ३८८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी रोगीकी नीरोगताका जानना बहुत कठिन है, परन्तु मन और शरीरकी चेष्टाओंके उत्साहादिक स्थूल लक्षणोंसे उसकी नीरोगताका ज्ञान कर लिया जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन एक निर्विकल्पक सूक्ष्म गुण है । तथापि उपर्युक्त बाह्य लक्षणोंसे उसका ज्ञान कर लिया जाता है ।

शङ्काकार—

नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम् ।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥ ३८९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि वास्तवमें आत्मानुभव ही साक्षात् सम्यक्त्व है क्योंकि आत्मानुभव मिथ्यादृष्टिके कभी कहींभी नहीं हो सक्ता । मिथ्यादृष्टिके आत्मानुभवका होना असंभव है इसलिये आत्मानुभव ही स्वयं सम्यक्त्व है ?

उत्तर—

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥ ३९० ॥

अर्थ—शङ्काकारसे आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, तुम सामान्य और विशेषमें कुछ भेद ही नहीं समझते, और न अनाकार, साकारका ही तुम्हें ज्ञान है इस लिये तुम सुनो हम कहते हैं—

ज्ञानका लक्षण—

आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ३९१ ॥

अर्थ—आकार कहते हैं अर्थ विकल्पको । अर्थ नाम है स्वपर पदार्थका । विकल्प नाम है उपयोगावस्थाका । यह ज्ञानका लक्षण है ।

भावार्थ—आत्मा और इतर पदार्थोंका उपयोगात्मक भेद विज्ञान होना ही आकार कहलाता है । यही आकार ज्ञानका लक्षण है । पदार्थोंके भेदाभेदको लिये हुए निश्चयात्मक

विरुद्धता है तथा वास्तवमें भिन्नता भी नहीं है । यह जो आपको विरोधसा दीखता है वह केवल कथन शैली है, अपेक्षाका ध्यान रखने पर सभी कथन अविरोधी हो जाता है । जितना भी भिन्न२ कथन है वह अपेक्षा कृतभेदको लिये हुए है वह अपेक्षा कौनसी है और सम्यक्त्व कैसे जाना जासक्ता है, इन सब बातोंका विवेचन स्वयं आगे चल कर खुल जायगा ।

बोधको ही आकार कहते हैं अर्थात् पदार्थोंका जानना ही आकार कहलाता है । यह ज्ञानका ही स्वरूप है ।

अनाकारता—

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता ।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ३९२ ॥

अर्थ—आकारका स्वरूप ऊपर कह चुके हैं । उस आकारका न होना ही अनाकार कहलाता है । उसीका नाम वास्तवमें निर्विकल्पता है । वह निर्विकल्पता अथवा अनाकारता ज्ञानको छोड़ कर बाकी सभी अनन्तगुणोंका लक्षण है ।

भावार्थ—जिसके द्वारा पदार्थका विचार हो सकें, स्वरूप विज्ञान हो सके वह विकल्पात्मक कहलाता है । ऐसा ज्ञान ही है बाकीके सभी गुण न तो कथनमें ही आसक्ते हैं, और न स्पष्टतासे स्वरूप ही उनका कहा जा सक्ता है । इस लिये वे निर्विकल्पक हैं । ज्ञान स्वपर-स्वरूप निश्चायक है इस लिये वह विकल्पात्मक है और बाकीके गुण इससे उल्टे हैं ।

शङ्काकार—

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत् ।
तत्किं किञ्चिदनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ॥ ३९३ ॥

अर्थ—सत्सामान्य और सत् विशेष दोनों ही वास्तविक हैं तो फिर कोई अनाकार है और कोई साकार है ऐसा क्यों ?

उत्तर—

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् ।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ३९४ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि ज्ञान दोनों ही प्रकारका होता है । सामान्य रीतिसे और विशेष रीतिसे । उन दोनोंमें जो सामान्य है वह अनाकार है और जो विशेष है वह साकार है ।

भावार्थ—सबसे पहले इन्द्रिय और पदार्थका संयोग होनेपर जो वस्तुका सत्तामात्र बोध होता है उसीका नाम दर्शन है । उससे वस्तुका निर्णय नहीं होपाता । दर्शन ज्ञानके पूर्व होने वाली पर्याय है । उसके पीछे जो वस्तुका ज्ञान होता है कि यह अमुक वस्तु है इसीका नाम अवग्रहात्मक ज्ञान है । फिर उत्तरोत्तर विशेष बोध होता है उसको क्रमसे ईहा, अवाय, धारणा कहते हैं । जिस प्रकार दर्पणका स्वभाव है कि उसके भीतर पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानका स्वभाव है कि वह भी जिस पदार्थको विषय करता है उसी पदार्थके आकार होजाता है । पदार्थाकार होते ही उस

वस्तुका बोध कहलाता है। इसलिये ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञानमें वस्तुके विशेषण, विशेष्य सम्बन्धका निर्णय होता है इसलिये वह साकार है और इतर गुण निराकार हैं। तथा ज्ञान अपने स्वरूपका भी ज्ञान कराता है इसलिये साकार है, इतर गुण अपना भी स्वरूप नहीं प्रगट करसक्ते इसलिये निराकार हैं।

यहां पर दर्शन (यह दर्शन सम्यग्दर्शनसे सर्वथा भिन्न है) का एक दृष्टान्त मात्र दे दिया है। वास्तवमें ज्ञानको छोड़ कर सभी गुण अनाकार हैं।

ज्ञानको छोड़कर सभी गुण निराकार हैं---

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥ ३०५ ॥

अर्थ---ज्ञानको छोड़कर बाकीके सभी गुण सन्मात्र हैं। चाहे वे सामान्य गुण हों, चाहे विशेष गुण हों सभी आकार रहित हैं अर्थात् निर्विकल्पक हैं।

भावार्थ---ज्ञानके सिवा सभी गुण अपनी सत्ता मात्र रखते हैं, ज्ञान ही एक ऐसा है जो अपनी सत्तासे अपना और दूसरोंका बोध कराता है इस लिये यही साकार है।

अनाकारताका फल---

ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ३०६ ॥

अर्थ---इस लिये जो निर्विकल्पक वस्तु है, उसका कथन ही नहीं हो सक्ता है वह वचनके अगोचर है। इस लिये उसका उल्लेख ज्ञानद्वारा किया जाता है।

ज्ञानका स्वरूप---

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥ ३०७ ॥

अर्थ---निज और अनिश्चित पदार्थ, दोनोंके ही स्वरूपका ग्राहक ज्ञान है, वह दोनोंका ही एक समयमें निश्चय कराता है, परन्तु अनिश्चित पदार्थका निश्चय कराते समय ज्ञान स्वयं उस पदार्थरूप नहीं होजाता है। ज्ञान ज्ञान ही रहता है और पर पदार्थ पर ही रहता है।

भावार्थ---जिस प्रकार दीपक अपना स्वरूप भी स्वयं दिखलाता है और साथ ही इतर घटपटादि पदार्थोंको भी दिखलाता है। उसी प्रकार ज्ञान भी अपने स्वरूपका भी बोध कराता है साथ ही पर पदार्थोंका भी बोध कराता है। परन्तु पर पदार्थका बोध कराते समय वह ज्ञान स्वयं पर पदार्थ रूप नहीं है वह पदार्थाकार होते हुए भी अपने ही स्वरूपमें है। पदार्थाकार होना ज्ञानका निज स्वरूप है।

स्वार्थ, परार्थमें भेद—

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः ।
परार्थस्स्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥ ३९८ ॥

अर्थ—ज्ञान–स्वार्थ परार्थ दोनोंका निश्चय कराता है, यहां पर ज्ञानका स्वार्थ तो क्या है, और परार्थ क्या है ? इसे ही बतलाते हैं—अपने स्वरूप जो पदार्थ है वही स्वार्थ है। अपने स्वरूप पदार्थ ज्ञानका ज्ञान ही है। आत्माका ज्ञानरूप जो गुण है वही ज्ञान गुण, ज्ञानका स्वार्थ है। बाकी सब परार्थ हैं। पर स्वरूप जो पदार्थ है वह परार्थ है। पर स्वरूप पदार्थ ज्ञानसे पर ही होगा। परन्तु परार्थ भी स्वार्थ–ज्ञानसे सम्बन्ध रखने वाला है। इसलिये आत्मामें जितने भी सुखादिक अनन्त गुण हैं सभी ज्ञानके परार्थ हैं, परन्तु वे सब ज्ञानसे सम्बन्ध अवश्य रखते हैं।

भावार्थ—ज्ञान अपने स्वरूपका निश्चायक है और इतर जितने भी आत्मीक गुण हैं उनका भी निश्चायक है। इसलिये ज्ञान, स्वार्थ, परार्थ दोनोंका निश्चायक है। इतना विशेष है कि ज्ञान घटपटादि पर पदार्थोंका भी निश्चायक है परन्तु वह घटपटादिसे सर्वथा भिन्न है। किन्तु सुखादि गुणोंसे सर्वथा भिन्न नहीं है। सुखादिकके साथ ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है तो भी ज्ञान गुण भिन्न है और अन्य अनन्त गुण भिन्न हैं।

गुण सभी जुदे २ हैं

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥ ३९९ ॥

अर्थ—सुख दुःखादि भाव, जीवके ही गुण हैं, ज्ञान उन सबका जाननेवाला है। परन्तु वह सुखादि रूप स्वयं नहीं है।

भावार्थ—अनन्त गुणोंका तादात्म्य होते हुए भी भिन्न२ कार्योंकी अपेक्षासे सभी गुण भिन्न२ हैं, परन्तु इतर गुणोंमें ज्ञान गुण विशेष है। और गुण निर्विकल्पक (स्व-पराऽवेदक) हैं और ज्ञान गुण सविकल्पक (स्व-परवेदक) है।

सम्यग्दर्शन वचनके अगोचर है—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।
तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥ ४०० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन वास्तवमें आत्माका सूक्ष्म गुण है, वह वचनोंके गोचर नहीं है अर्थात् वचनों द्वारा हम उसे नहीं कह सक्ते। इसलिये उसके कहने सुननेके लिये विधिक्रमसे कोई अधिकारी नहीं होसक्ता।

फिर सम्यक्त्व कैसे जाना जाय?—

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः ।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम् ॥ ४०१ ॥

अर्थ—बस आत्माका एक ज्ञान गुण ही प्रसिद्ध है जो कि हरएक पदार्थकी सिद्धि कराता है । सम्यग्दर्शनके जाननेके लिये स्वानुभूति ही एक हेतु है, इसलिये वही सर्वोत्कृष्ट वस्तु है ।

स्वानुभूतिका स्वरूप—

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकतः ॥ ४०२ ॥

अर्थ—वह आत्मानुभूति आत्माका ज्ञानविशेष है, और वह ज्ञानविशेष, सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनोंमें अविनाभाव रखता है ।

भावार्थ—जो जिसके होने पर होता है उसे अन्वय कहते हैं और जो जिसके नहीं होने पर नहीं होता है उसे व्यतिरेक कहते हैं । सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर ही आत्मामें शुद्ध अनुभव (स्वानुभूति) होता है, बिना सम्यग्दर्शनके शुद्धानुभव नहीं होता । इसलिये स्वानुभूति (शुद्ध) का सम्यग्दर्शनके साथ सर्वथा अविनाभाव (सहभाव) है ।

सम्यक्त्वके कहनेकी योग्यता—

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्सा चेच्छुद्धनयात्मिका ॥ ४०३ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व और स्वानुभूतिकी जब साथ २ व्याप्ति (सहभावीपना) है तो फिर सम्यग्दर्शन भी रूपान्तरसे कहने योग्य हो जाता है । यह कहा जा सक्ता है कि स्वानुभूति ही सम्यक्त्व है, परन्तु वह स्वानुभूति शुद्ध नय स्वरूप हो तो ।

भावार्थ—जब आत्मामें शुद्ध स्वानुभूति हो जाती है तब उसके द्वारा उसके अविनाभावी सम्यग्दर्शनकी उद्भूतिका बोध हो जाता है । इसी लिये शुद्ध स्वानुभूतिको ही सम्यक्त्व कह दिया गया है ।

व्याप्तिभेद—

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥ ४०४ ॥

अर्थ—विशेष इतना है कि सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनोंमें विषम व्याप्ति है क्योंकि उपयोगावस्थामें समव्याप्ति नहीं हो सक्ती । परन्तु लब्धि रूप ज्ञानके साथ तो सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है ।

भावार्थ—जो व्याप्ति दोनों तरफसे होती है उसे समव्याप्ति कहते हैं । जैसे जहां २ अचेतनपना है वहां २ जड़पना है । और जहां २ जड़पना है वहां २ अचेतनपना है । तथा जो व्याप्ति एक तरफसे ही सम्बन्ध रखती है वह विषमव्याप्ति कहलाती है । जैसे—जहां २ धूंआ होता है वहां २ अग्नि होती है, और जहां २ अग्नि होती है वहां २ धूंआ होता भी है नहीं भी होता । जलते हुए कोयलोंमें अग्नि तो है परन्तु धूंआ नहीं है । इसलिये धूंआकी व्याप्ति तो अग्निके साथ है अर्थात् धूंआ तो अग्निके विना नहीं रहता । परन्तु अग्निकी धूंएके साथ व्याप्ति नहीं है । ऐसी व्याप्ति इक तरफा व्याप्ति (विषम) कहलाती है ।

प्रकृतमें स्वानुभूतिकी दो अवस्थायें हैं एक तो क्षयोपशम ज्ञान (लब्धि) रूप अवस्था दूसरी उपयोगात्मक ज्ञान रूप अवस्था । उपयोगात्मक ज्ञान कभी २ होता है । प्रत्येक समय उपयोग नहीं होता है परन्तु क्षयोपशम रूप ज्ञान सदा रहता है । इसलिये क्षयोपशमरूप स्वानुभवकी तो सम्यक्त्वके साथ समव्याप्ति है । सम्यक्त्वके होने पर क्षयोपशमरूप स्वानुभव होता है, और क्षयोपशमरूपस्वानुभवके होनेपर सम्यक्त्व होता है । सम्यक्त्वके होने पर उपयोगात्मक स्वानुभव हो भी जाय और नहीं भी हो, नियम नहीं । हां उपयोगात्मक स्वानुभवके होते हुए अवश्य ही सम्यग्दर्शनकी प्रकटता है इसलिये यह विषम व्याप्ति है ।

इसीका खुलासा—

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि ।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥ ४०५ ॥

अर्थ—जिस आत्मामें जिस कालमें स्वानुभूति है, उस आत्मामें उस समय अवश्य ही सम्यक्त्व है क्योंकि बिना सम्यक्त्वके स्वानुभूति हो नहीं सक्ती ।

यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान् ।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोस्ति वस्तुतः ॥ ४०६ ॥

अर्थ—अथवा सम्यग्दर्शनके होनेपर शुद्धात्माका उपयोगात्मक अनुभव हो भी, और नहीं भी हो । परन्तु सम्यक्त्वके होनेपर स्वानुभवाऽऽवरण कर्म (मतिज्ञानावरण)का क्षयोपशम रूप (लब्धि) ज्ञान अवश्य है ।

लब्धि रूप ज्ञानका कारण—

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेस्त्यवश्यतः ।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥ ४०७ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वके होनेपर लब्धि रूप स्वानुभूति अवश्य होजाती है ऐसा होनेमें कारण भी यही है कि जिस समय सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है, उसी समय स्वानुभूत्यावरण कर्म (मतिज्ञानावरण विशेष)की अवस्था पलट जाती है अर्थात् क्षयोपशम होजाता है ।

छद्मस्थके उपयोग सदा नहीं रहता किन्तु लब्धि रहित है—

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत् ।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥ ४०८ ॥

अर्थ—छद्मस्थ (अल्पज्ञ) पुरुषका उपयोग एकसा नहीं रहता, कभी किसी पदार्थ विषयक होता है और कभी किसी पदार्थ विषयक होता है, तथा कभी कभी निद्रादि अवस्थाओंमें अनुपयोगी ज्ञान भी रहता है । इसलिये छद्मस्थोंका उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है । परन्तु सर्वज्ञका उपयोगात्मक ज्ञान सदा नित्य रहता है । छद्मस्थोंका क्षयोपशम (लब्धि) रूप ज्ञान नित्य रहता है ।

सारांश—

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः ।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥ ४०९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन भी सामान्यरीतिसे नित्य ही है इसलिये सम्यक्त्व और अनुभव दोनोंमें विषम व्याप्ति है ।

भावार्थ—सम्यक्त्व नित्य है इसका आशय यही है कि उपयोगकी तरह वह बराबर बदलता नहीं है तथा लब्धिरूप अनुभव भी नित्य है । इसलिये सम्यक्त्व और लब्धि रूप–अनुभवकी तो सम व्याप्ति है । परन्तु सम्यक्त्व और उपयोगात्मक–अनुभवकी विषम ही व्याप्ति है क्योंकि उपयोगात्मक ज्ञान सदा नहीं रहता है ।

प्रतिज्ञा—

अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादि विकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ४१० ॥

अर्थ—स्वानुभूतिके साथ२ होनेवाले सम्यक्श्रद्धान आदि और भी बहुतसे गुण हैं । ग्रन्थकार कहते हैं, कि अब उनका उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा बतलाते हैं ।

उद्देश्य—

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।
चरणं च यथाम्नायमर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥ ४११ ॥

अर्थ—आम्नाय (शास्त्र–पद्धति)के अनुसार अर्थात् जीवादि तत्त्वोंके विषयमें श्रद्धा करना, रुचि करना, प्रतीति करना, आचरण करना, यह सब कथन उद्देश्य कहलाता है ।

लक्षण—

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ४१२ ॥

अर्थ—तत्त्वार्थ (जीवादि तत्त्व)के सन्मुख बुद्धिका होना अर्थात् तत्त्वार्थके जाननेके लिये उद्यत बुद्धिका होना श्रद्धा कहलाती है । और तत्त्वार्थमें आत्मीक भावका होना रुचि कहलाती है । "वह उसी प्रकार है" ऐसा स्वीकार करना प्रतीति कहलाती है और उसके अनुकूल क्रिया करना चरण—आचरण कहलाता है ।

भावार्थ—श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, और आचारण (चारित्र) ये चारों ही क्रमसे होते हैं। "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम" इस सूत्रमें जो श्रद्धानका लक्षण है, वह इस श्लोकमें कही हुई श्रद्धासे सर्वथा भिन्न है । परन्तु वास्तवमें अपेक्षाकृत ही भेद है । तत्त्वार्थ श्रद्धान और प्रतीति, दोनों एक ही बात हैं । प्रतीतिमें तत्त्वार्थकी स्वीकारता है और श्रद्धान भी इसीका नाम है कि वस्तुको जान कर उसे उसी रूपमें स्वीकार करना । श्रद्धानकी श्रद्धा पूर्व पर्याय है । यही अपेक्षाकृत भेद है ।

श्रद्धादिके कहनेका प्रयोजन—

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र पर्ययात् ।
चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥ ४१३ ॥

अर्थ—श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, ये तीनों ही ज्ञान स्वरूप हैं क्योंकि तीनों ही ज्ञानकी पर्याय हैं । तथा आचरण—चारित्र—मन, वचन, कायका शुभ कार्योंमें होनेवाला व्यापार है ।

श्रद्धादिक सम्यग्दर्शनके बिना भी होसक्ते हैं—

व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा ।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ४१४ ॥

अर्थ—श्रद्धा, रुचि आदि चारों ही सम्यग्दृष्टिके लक्षण हो भी सक्ते हैं और नहीं भी होसक्ते । यदि ये सम्यग्दृष्टिके लक्षण हों तो भिन्न भिन्न अवस्थामें भी होसक्ते हैं, और समुदाय अवस्थामें भी होसक्ते हैं । चाहे ये सम्यग्दृष्टिके सपक्षमें हों चाहे विपक्षमें हों, अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ२ हों अथवा मिथ्या दर्शनके साथ२ हों कुछ नियम नहीं है । अथवा श्रद्धादिक सम्यग्दृष्टिके हों या न भी हों, ऐसा भी कुछ नियम नहीं है ।

भावार्थ—श्रद्धादिक सम्यग्दृष्टिके भी होसक्ते हैं और मिथ्यादृष्टिके भी हो सक्ते हैं । भिन्न २ भी हो सक्ते हैं और समस्त भी हो सक्ते हैं । सम्यग्दर्शनके होने पर हो भी जावें और न भी हों, ऐसा कुछ भी नियम नहीं है ।

सम्यग्दर्शनके बिना श्रद्धादिक गुण नहीं हैं—

स्वानुभूतिसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः ।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ४१५ ॥

अर्थ—यदि श्रद्धादिक गुण स्वानुभूतिके साथ हों तो वे गुण (सम्यग्दर्शनके लक्षण)

समझे जाते हैं और विना स्वानुभूतिके गुणाभास समझे जाते हैं। अर्थात् स्वानुभूतिके अभावमें श्रद्धाआदिक गुण नहीं समझे जाते ।

सारांश—

तत्स्याच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥ ४१६ ॥

अर्थ—इसलिये ऊपर कहनेका यही सारांश है कि श्रद्धा आदिक चारों ही यदि स्वानुभूतिके साथ हों तो वे ही श्रद्धा आदिक सम्यग्दर्शन समझे जाते हैं और यदि श्रद्धा आदि मिथ्यारूप हों मिथ्या श्रद्धा आदि हों तो सम्यक्त्व नहीं समझे जाते किन्तु श्रद्धाभास और रुच्याभास आदि समझे जाते हैं।

भवार्थ—स्वानुभूति सम्यक्त्वका अविनाभाविगुण है। जिस प्रकार अविनाभावी होनेसे स्वानुभूतिको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं, उसी प्रकार स्वानुभूतिके साथ यदि श्रद्धा आदिक हों तो उन्हें भी सम्यग्दर्शन कहना चाहिये परन्तु यदि श्रद्धा आदिक मिथ्यात्वके साथ हों तो उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं कहना चाहिये किन्तु श्रद्धाभास रुच्याभास एवं सम्यक्त्वाभास समझना चाहिये।

सामान्य श्रद्धादिक भी सम्यक्त्वके गुण नहीं हैं—

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद्व्यभिचारिणः ॥ ४१७ ॥

अर्थ—जो श्रद्धा आदि न तो सम्यक् विशेषण रखते हों, और न मिथ्या विशेषण ही रखते हों तो वे सपक्षकी तरह विपक्षमें भी रह सकते हैं, इसलिये व्यभिचारी हैं।

भावार्थ—सामान्य श्रद्धा आदिकको न तो सम्यग्दर्शन सहित ही कह सकते हैं और न मिथ्यादर्शन सहित ही कह सकते हैं। ऐसी सन्दिग्ध अवस्थामें वे सम्यक् मिथ्या विशेषण रहित सामान्य श्रद्धादिक भी सदोषी हैं।

इसीका स्पष्ट कथन—

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिः श्रद्धादयो यतः ।
मिथ्या श्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥ ४१८ ॥

अर्थ—अर्थात् श्रद्धादिक यदि सम्यक् (यथार्थ) हों तब तो वे श्रद्धादिक कहलाते हैं परन्तु यदि श्रद्धादिक मिथ्या (अयथार्थ) हों तब वे श्रद्धादिक नहीं कहे जाते किन्तु मिथ्या समझे जाते हैं।

भावार्थ—श्रद्धादिक कहनेसे सम्यक् श्रद्धा आदिका ही बोध होता है। यदि सम्यक न हों तो उन्हें श्रद्धादिक न कह कर मिथ्या श्रद्धादि कहना चाहिये।

शङ्काकार—

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात्।
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोर्थतः॥ ४१९॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि तत्त्वरुचिका नाम ही श्रद्धा है क्योंकि श्रद्धाका लक्षण श्रद्धामात्र ही है। फिर वह श्रद्धा, सम्यक् श्रद्धा और मिथ्या श्रद्धा ऐसे दो भेद वाली वास्तवमें कैसे हो जाती है?

उत्तर—

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः।
नूनं नानुपलब्धेर्थे श्रद्धा खरविषाणवत्॥ ४२०॥

अर्थ—शङ्काकारका उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभूति, इन दोनोंमें समव्याप्ति है। अर्थात् दोनों ही साथ होनेवाली हैं इसलिये अनुपलब्ध पदार्थमें गधेके सींगकी तरह श्रद्धा निश्चयसे नहीं होसक्ती।

विना स्वार्थानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः॥ ४२१॥

अर्थ—बिना स्वार्थानुभवके जो श्रद्धा केवल सुननेसे अथवा शास्त्रज्ञानसे ही है वह तत्त्वार्थके अनुकूल होने पर भी पदार्थकी उपलब्धि न होनेसे श्रद्धा नहीं कहलाती।

भावार्थ—बिना स्वार्थानुभूतिके होनेवाली श्रद्धा, वास्तवमें श्रद्धा नहीं है और न उसे सम्यग्दर्शन ही कह सक्ते क्योंकि उसमें आत्मतत्त्व विषय नहीं पड़ता है।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत्।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा तच्छेषानुपलब्धिवत्॥ ४२२॥

अर्थ—उन्मत्त पुरुषकी तरह सत् पदार्थ और असत् पदार्थ (यथार्थ अयथार्थ)में सामान्य रीतिसे होनेवाली लब्धि वास्तवमें उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं है। किन्तु अनुपलब्धिकी तरह (ठीक पदार्थको विषय न करनेसे) वह भी अनुपलब्धि ही है।

निष्कर्ष—

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम्।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत्॥ ४२३॥

अर्थ—इसलिये यौगिक रीतिसे भी श्रद्धा सम्यक्त्वका लक्षण है और रूढिसे भी सम्यक्त्वका लक्षण है। पहलेका यह कथन कि जो स्वानुभूति सहित है वही श्रद्धा कहलाती है, सर्वथा ठीक और अविरोधी है।

सम्यग्दृष्टिके और भी गुण—

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः ।
वहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥ ४२४ ॥

अर्थ—और भी प्रशमादिक जो सम्यग्दृष्टिके प्रसिद्ध गुण हैं, वे सब बाह्य दृष्टिसे ही सम्यक्त्वके लक्षण हैं। यदि वे सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं तो लक्षण हैं, अन्यथा नहीं।

सम्यग्दृष्टिके गुणोंके नाम—

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणक्रमात् ।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ४२५ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका पहला गुण प्रशम है दूसरा संवेग है, तीसरा अनुकम्पा है और चौथा आस्तिक्य है। इन चारोंका क्रमसे लक्षण कहते हैं।

प्रशमका लक्षण—

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च ।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ४२६ ॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावोंमें स्वभावसे ही मनकी शिथिलताका होना प्रशम (शान्ति) कहलाता है **भावार्थ**—विषय क्रोधादिकमें मनकी प्रवृत्तिका न होना ही प्रशम है।

प्रशमका दूसरा लक्षण—

सद्यः कृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।
तद्वाधादि विकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥ ४२७ ॥

अर्थ—जिन जीवोंने अपने साथमें कोई नवीन अपराध किया हो उन जीवोंके विषयमें कभी भी मारने आदि विकारकी बुद्धिका न होना भी प्रशम है। भावार्थ—अपराधी जीवों पर क्षमाभाव रखना भी प्रशम है।

प्रशम होनेका कारण—

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् ।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः ॥ ४२८ ॥

अर्थ—अपराधी जीवों पर भी क्षमाभाव करनेकी बुद्धि क्यों होती है? इसका कारण अनन्तानुबन्धि कषायका उदय न होना और अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायोंका कुछ मन्दोदय होना ही है।

और भी—

आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः ।
अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥ ४२९ ॥

अर्थ—दैवयोगसे (चारित्र मोहनीयके उदयसे) यदि सम्यग्दृष्टी विना इच्छाके आरम्भ आदि क्रिया भी करे तो भी अन्तरंगमें शुद्धता होनेसे वह क्रिया उसके प्रशम गुणके नाशका कारण नहीं हो सक्ती ।

प्रशम और प्रशमाभास—

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमम्मन्योऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥ ४३० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके साथ यदि प्रशम हो तब तो वह उत्कृष्ट गुण समझा जाता है और यदि सम्यग्दर्शनके विना ही प्रशम हो, तो वह प्रशम नहीं है, किन्तु प्रशमाऽऽभास और प्रशम मानना मात्र है । सम्यग्दर्शनके अभावमें प्रशम गुण कभी नहीं कहलाता ।

संवेगका लक्षण—

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ४३१ ॥

अर्थ—आत्माके धर्म और धर्मके फलमें पूरा उत्साह होना संवेग कहलाता है । अथवा समान धर्मियोंमें अनुराग करना अथवा पांचों परमेष्ठियोंमें प्रेम करना भी संवेग कहलाता है ।

धर्म और धर्मका फल—

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥ ४३२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वस्वरूप—आत्मा ही धर्म कहलाता है अथवा शुद्धात्माका अनुभव होना ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही धर्मका फल कहलाता है ।

समान धर्मियोंमें अनुराग—

इतरत्र पुना रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणेऽनुरागोपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥ ४३३ ॥

अर्थ—समान धर्मियोंमें जो प्रेम बतलाया है वह केवल उनके गुणोंमें अनुराग-बुद्धिसे होना चाहिये । जिनमें गुण नहीं है, उनमें फलकी इच्छा न रखते हुए भी अनुराग नहीं होना चाहिये ।

अनुरागका शब्दार्थ—

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ४३४ ॥

अर्थ—यहां पर अनुराग शब्दसे अभिलाषा अर्थ नहीं लेना चाहिये किन्तु दूसरा ही अर्थ लेना चाहिये अर्थात् गुणप्रेम अनुराग शब्दका अर्थ है अथवा अधर्म और अधर्मके फलसे निवृत्ति होना भी अनुराग शब्दका अर्थ है ।

और भी—

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः ।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४३५ ॥

अर्थ—जिस समय अनुराग शब्दका विधिरूप अर्थ करना हो, तब प्राप्ति, उपलब्धि ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक होते हैं । भावार्थ—विधिरूप अर्थ करने पर अनुरागका अर्थ, गुणोंकी प्राप्ति और गुणोंकी उपलब्धि समझना चाहिये ।

आशङ्का—

नचाऽऽशङ्क्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् ।
शुद्धोपलब्धिमात्रेऽपि हि यो भोगाभिलाषवान् ॥ ४३६ ॥

अर्थ—ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये कि अभिलाषाका निषेध केवल भोगोंके विषयमें ही कहागया है । शुद्धोपलब्धि होने पर भी जो भोगोंमें अभिलाषा रखता हो उसीकी अभिलाषाका निषेध किया गया है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिये ।

अभिलाषामात्र निषिद्ध है—

अर्थात्सर्वोऽभिलाषः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात् ।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥ ४३७ ॥

अर्थ—सभी अभिलाषायें अज्ञानरूप (बुरी) हैं क्योंकि सभी मिथ्यात्वसे होती हैं । न्यायसे यह बात सिद्ध है कि जिसने तत्त्वार्थको नहीं जाना है उसे चाहनेकी इच्छा होने पर भी पदार्थ नहीं मिलता है ।

और भी—

मिथ्या सर्वोऽभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम् ।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्ध्यै नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ४३८ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अभिलाषायें मिथ्या हैं । क्योंकि सभी मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाली हैं । तथा कोई भी अभिलाषा अपने अभीष्ट क्रियाकी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष है ।

अभिलाषामें अभीष्टकी सिद्धिका अभाव—

क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः ।
अभिलाषस्याप्यसद्भावे स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥ ४३९ ॥

अर्थ—कहीं पर अभिलाषाके होने पर भी विना कारण इष्ट सिद्धि नहीं होती है । और कहीं पर अभिलाषाके न होने पर भी, कारण मिलने पर अपने अभीष्टकी सिद्धि होजाती है ।

दृष्टान्त—

यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलाषेपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ४४० ॥

अर्थ—यश, लक्ष्मी, पुत्र, मित्र आदिकको सभी जगत् चाहता है परन्तु उसकी अभिलाषा होने पर भी विना पुण्योदयके कोई वस्तु नहीं मिल सक्ती ।

और भी—

जरामृत्युदरिद्रादि नहि कामयते जगत् ।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राऽशुभोदयात् ॥ ४४१ ॥

अर्थ—बुढ़ापा, मृत्यु, दरिद्रता आदिको कोई भी आदमी नहीं चाहता है परन्तु विना चाहने पर भी अशुभ कर्मके उदयसे बुढ़ापा आदिका संयोग अवश्य हो ही जाता है ।

विधि और निषेध—

संवेगो विधिरूपः स्यान्निषेधश्च निषेधनात् ।
स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥ ४४२ ॥

अर्थ—संवेग कहीं विधिरूप भी होता है और निषेध करनेसे निषेधरूप भी होता है। जैसी विवक्षा (वक्ताके कहनेकी इच्छा) होती है, वैसा ही विधि या निषेधरूप अर्थ ले लिया जाता है । विधि और निषेध, दोनोंमें भेद नहीं है, दोनोंका प्रयोजन एक ही है ।

संवेगका लक्षण—

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।
स संवेगोथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥ ४४३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अभिलाषाओंका त्याग करना अथवा वैराग्य (संसारसे) धारण करना संवेग है और उसीका नाम धर्म है । क्योंकि जिसके अभिलाषा पाई जाती है वह धर्मधारी कभी नहीं होसक्ता ।

किन्तु—

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताऽधर्म एव सः ॥ ४४४ ॥

अर्थ—क्रियामात्रको धर्म नहीं कहते हैं । मिथ्यादृष्टि पुरुषके सदा रागादिभावोंका सद्भाव होनेसे उसकी क्रियाको वास्तवमें अधर्म ही कहना चाहिये ।

रागी और वैरागी—

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्क्वचिदरागवान् ।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥ ४४५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि पुरुष सदा रागी है, वह कहीं भी राग रहित नहीं होता परन्तु सम्यग्दृष्टिका राग नष्ट होजाता है । वह रागी नहीं है, किन्तु वैरागी है ।

अनुकम्पाका लक्षण—

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ४४६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियोंमें उपकार बुद्धि रखना अनुकम्पा (दया) कहलाती है अथवा सम्पूर्ण जीवोंमें मैत्री भाव रखना भी अनुकम्पा है । अथवा द्वेषबुद्धिको छोड़कर मध्यमवृत्ति धारण करना भी अनुकम्पा है । अथवा शत्रुता छोड़ देनेसे सम्पूर्ण जीवोंमें शल्य रहित (निष्कषाय) हो जाना भी अनुकम्पा है ।

अनुकम्पाके होनेका कारण—

दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् ।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः ॥ ४४७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवोंमें दयारूप परिणाम होनेमें कारण केवल दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका न होना ही है । क्योंकि मिथ्या ज्ञानको छोड़कर कहीं भी वैरभाव नहीं होसक्ता है ।

भावार्थ—ज्ञान, दर्शनका अविनाभावी है । जैसा दर्शन होता है, वैसा ही ज्ञान होजाता है । दर्शनमें सम्यक् विशेषण लगनेसे ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान होजाता है, और दर्शनमें मिथ्या विशेषण लगनेसे ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान होजाता है । दर्शनमोहनीय, सम्यग्दर्शनको नष्ट कर मिथ्यादर्शन बना देता है । उस समय ज्ञान भी उल्टा ही विषय करने लगता है । जिस समय आत्मामें मिथ्या ज्ञान होता है, उसी समय जीवोंमें वैरभाव होने लगता है, ऐसा वैरभाव मिथ्यादृष्टिमें ही पाया जाता है ।

मिथ्या ज्ञान—

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ ४४८ ॥

अर्थात्—दूसरे जीवोंमें सुखदुःखादिक अथवा जीना मरना देख कर, उनसे अपनेमें

उन बातोंकी चाहना करना अथवा अपनेमें इन बातोंको होती हुई देख कर, अपनेसे पर पुरुषोंके लिये इच्छा करना, यह सब मिथ्या है।

भावार्थ—इस श्लोकका ऐसा भी आशय है कि जब दूसरोंसे अपनेमें और अपनेसे दूसरोंमें सुख दुःखादि होनेकी इच्छा करता है तब अपनेमें दुःखादिकके होने पर, उनके होनेमें परको कारण समझता है, इसलिये उसमें वैरभाव करने लगता है। इसी कारण शत्रु मित्रकी कल्पना भी अन्य जीवोंमें करने लगता है परन्तु यह इसकी अज्ञता है। संसारमें कोई किसीका शत्रु मित्र नहीं है। यदि वास्तवमें कोई जीवका शत्रु है तो कर्म है, मित्र है तो धर्म है, अन्य सब कल्पना मात्र है।

मिथ्यादृष्टिके विचार—

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान्।
अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं न चाऽपरम् ॥ ४४९ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके ऊपर कहा हुआ अज्ञान है, वही मिथ्यादृष्टि है और वही शल्यवाला है। अज्ञानसे वह दूसरेको मारना चाहता है, परन्तु वह उसे मारनेमें समर्थ नहीं है।

अनुकम्पाके भेद—

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्य वर्जनात् ॥ ४५० ॥

अर्थ—अनुकम्पा दो प्रकारकी है। एक पराऽनुकम्पा, दूसरी स्वानुकम्पा। समग्र जीवोंमें समताभाव धारण करना परमें अनुकम्पा कहलाती है और कांटेकी तरह चुभनेवाली शल्यका त्याग करदेना स्वाऽनुकम्पा कहलाती है। वास्तवमें स्वानुकम्पा ही प्रधान है।

प्रधानतामें कारण—

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपाऽऽत्मनि ॥ ४५१ ॥

अर्थ—रागादिक अशुद्ध भावोंके रहते हुए बन्ध ही निश्चयसे होता है और उनके नहीं होने पर बन्ध नहीं होता। इसलिये (जिससे वैर भावका कारण बन्ध ही न होवे) ऐसी कृपा आत्मामें अवश्य करनी चाहिये।

आस्तिक्यका लक्षण—

आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः। / विनिश्चितः
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चाऽऽत्मादि धर्मवत् ॥ ४५२ ॥ / वि

अर्थ—स्वतःसिद्ध (अपने आप सिद्ध) तत्त्वोंके सद्भावमें, धर्ममें, धर्मके कारणमें,

धर्मके फलमें, निश्चयबुद्धि विश्वासबुद्धि रखना, इसीका नाम आस्तिक्य है। जिस प्रकार आत्मा आदि पदार्थोंके धर्म हैं उसी प्रकार उनमें यथार्थ विश्वस्तबुद्धि रखना ही आस्तिक्य है।

जीवमें अस्तिक्य—

अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतः सिद्धोप्यमूर्तिमान् ।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥ ४५३ ॥

अर्थ—जिसकी जीव संज्ञा है वही आत्मा है, आत्मा स्वतःसिद्ध है अमूर्त है और चेतन है तथा जितना भी अजीव है वह सब अचेतन है।

आत्मा ही कर्त्ता, भोक्ता और मोक्षाधिकारी है—

अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः ।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥ ४५४ ॥

अर्थ—कार्माणवर्गणासे बने हुए कर्मोंसे यह आत्मा अनादिकालसे बंधा हुआ है और उन्हीं कर्मोंका कर्ता है तथा उन्हींका भोक्ता है और उन्हीं कर्मोंके क्षय होनेसे मोक्षका अधिकारी हो जाता है।

अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै ।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ ४५५ ॥

अर्थ—उस संसारी जीवके उन कर्मोंके निमित्तसे निरन्तर पुण्य और पाप तथा उनका फल होता रहता है। उसी प्रकार आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा भी होते हैं।

अप्येवं पर्ययादेशाद्बन्धो मोक्षश्च तत्फलम् ।
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धः सर्वोपि सर्वदा ॥ ४५६ ॥

अर्थ—यह आत्मा पर्यायदृष्टिसे बंधा हुआ है और उसी पर्यायदृष्टिसे मुक्त भी होता है, तथा उनके फलोंका भोक्ता भी है, परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सभी आत्माएं सदा शुद्ध हैं अर्थात् न बन्ध है और न मोक्ष है।

जीवका स्वरूप—

तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः ।
सोहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥ ४५७॥

अर्थ—जो यह जीवसंज्ञाधारी आत्मा है वह स्वसंवेद्य (अपने आपको आप ही जाननेवाला) है, ज्ञानवान है और वही " सोहं " है अर्थात् उसी ज्ञानधारी जीवात्मामें "वह मैं हूं" ऐसी बुद्धि होती है। बाकी जितने भी रागादिक पुद्गल हैं वे सभी त्यागने योग्य हैं।

सारांश—

इत्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यां आस्तिक्यं तत्तथामतिः ॥ ४५८ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनादि कालसे चला आया जितना भी जीवादिक वस्तु समूह है, सभी निश्चय और व्यवहारसे भिन्न भिन्न स्वरूपको लिये हुए है। उसमें वैसी ही बुद्धि रखना जैसा कि वह है, इसीका नाम आस्तिक्य है।

सम्यक और मिथ्या आस्तिक्य—

सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥४५९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी अविनाभाविनी स्वानुभूतिके साथ होनेवाला जो आस्तिक्य है वही सम्यक आस्तिक्य है अथवा सम्यक्त्व है। उससे विपरीत (स्वानुभूतिके अभावमें होनेवाला) जो आस्तिक्य है वह मिथ्या-आस्तिक्य है अथवा मिथ्यात्व है।

शङ्काकार—

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ ४६० ॥
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥ ४६१ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि वास्तवमें एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है बाकीके चारों ही ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हैं। वे सदा परोक्ष ही रहते हैं? अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान भी यदि एक देश प्रत्यक्ष है, जिस प्रकार कि सुखका मानसिक प्रत्यक्ष होता है। तो वास्तवमें आस्तिक्य स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे हो सक्ता है?

उत्तर—

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥ ४६२ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि आदिके दोनों ज्ञान (मति-श्रुत) परोक्ष हैं परन्तु वे पर-पदार्थका ज्ञान करनेमें ही परोक्ष हैं, स्वात्मानुभव करनेमें वे भी प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि स्वात्मानुभव दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे होता है। दर्शनमोहनीय कर्म ही स्वानुभूतिके प्रत्यक्ष होनेमें बाधक है और उसका अभाव ही साधक है।

स्वानुभव रूप आस्तिक्य परम गुण है—

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वतः ॥ ४६३ ॥

अर्थ—स्वात्मानुभव स्वरूप जो आस्तिक्य है वही परम गुण है। वह आस्तिक्य पर द्रव्यमें हो, चाहे न हो। पर पदार्थ, पर है, इसलिये उसका प्रत्यक्ष न होकर केवल, ज्ञानमात्र ही होता है।

अपि तत्र परोक्षत्वं जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्याऽस्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥ ४६४ ॥

अर्थ—यद्यपि स्वानुभव आस्तिक्यवाले पुरुषके जीवादिक पर पदार्थ परोक्ष हैं। तथापि उसके उन पदार्थोंमें गाढ़ प्रतीति है। जिस प्रकार—सम्यग्दृष्टिकी अपनी आत्मामें गाढ़ प्रतीति है, उसी प्रकार अन्य परोक्ष पदार्थोंमें भी गाढ़ प्रतीति है।

परन्तु—

न तथास्ति प्रतीतिर्वा चास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेर्दृङ्मोहतोऽनिशम् ॥ ४६५ ॥

अर्थ—परन्तु वैसी प्रतीति मिथ्यादृष्टिके कभी नहीं होती। क्योंकि उसके दर्शनमोहनीयका उदय है। दर्शनमोहनीयके निमित्तसे निरन्तर मिथ्यादृष्टिको पदार्थोंमें भ्रम—बुद्धि रहा करती है।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाऽविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥ ४६६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात—युक्ति, स्वानुभव और आगमसे भली भांति सिद्ध होचुकी कि सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाला जो आस्तिक्य है वही महान् गुण है।

ग्रन्थान्तरमें सम्यक्त्वके आठ गुण भी बतलाये हैं। वे नीचे लिखे जाते हैं—

ग्रन्थान्तर—

***संवेओ णिव्वेओ णिंदणगरुहा य उवसमो भत्ती ।**
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥ ४ ॥

अर्थ—संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा ये आठ गुण सम्यक्त्व होने पर होते हैं।

*यह गाथा पञ्चाध्यायीमें क्षेपक रूपसे आई है।

ये उपलक्षण हैं —

उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ४६७ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए गाथा-सूत्रमें भी प्रशम, संवेगादिक चारों ही आगये हैं। ये सभी पञ्चाध्यायीमें कहे हुए प्रशमादिक चारोंसे भिन्न नहीं हैं। किन्तु कोई लक्षण रूपसे कहे गये हैं, और कोई उपलक्षण (लक्षणका लक्षण) रूपसे कहे गये हैं अर्थात् ग्रन्थान्तरमें और इस कथनमें कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही बातको कहने वाले हैं।

उपलक्षणका लक्षण—

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तत्तथाऽस्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥ ४६८ ॥

अर्थ—लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते हैं अर्थात किसी वस्तुका एक लक्षण कहाजाय, फिर उस लक्षणका लक्षण कहाजाय, इसीका नाम (जो दुबारा कहा गया है) उपलक्षण है। जो पहले लक्ष्य (जिसका लक्षण कियाजाय उसे लक्ष्य कहते हैं) का लक्षण है वही आगे वालेका उपलक्षण है।

प्रकृतमें—

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
स चोऽपलक्ष्यते भक्तिर्वात्सल्येनाऽथवार्हताम् ॥ ४६९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सम्यग्दर्शनका संवेग गुण लक्षण है, वही संवेगगुण अरहन्तोंकी भक्ति अथवा वात्सल्यका उपलक्षण हो जाता है।

भक्ति और वात्सल्यका स्वरूप—

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ ४७० ॥

अर्थ—मन, वचन, कायकी शान्तिसे उद्धत्ताका नहीं होना ही भक्ति है। अर्थात किसीके प्रति मन, वचन, काय द्वारा किसी प्रकारकी उद्धत्ता प्रगट नहीं करना ही उसीकी भक्ति है और किसीके गुणोत्कर्षकी प्राप्तिके लिये मनमें उल्लास होना ही उसके प्रति वात्सल्य कहलाता है।

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥ ४७१ ॥

अर्थ—भक्ति अथवा वात्सल्य संवेगके विना नहीं हो सक्ते, वह संवेग सम्यग्दर्शनका लक्षण है और ये दोनों (भक्ति वात्सल्य) उपलक्षण हैं।

प्रशम—

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ४७२ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे प्रशम गुण होता है यह प्रसिद्ध है। उसी प्रशम गुणका बाह्य-व्यंजक (बतानेवाला) निंदन है, और उसीका गर्हण है अर्थात् निन्दन और गर्हणसे प्रशम गुण जाना जाता है।

निन्दन—

निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो नाऽपेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥ ४७३ ॥

अर्थ—कठिनतासे दूर करने योग्य जो रागादि दुष्ट कर्म हैं उनके विषयमें ऐसा विचार करना कि इनके होनेपर पश्चात्तापकारी बन्ध होता है। वह न तो अपेक्षणीय है और न उपेक्षणीय है अर्थात् रागादिको बन्धका कारण समझकर उनके विषयमें रागबुद्धिको दूर कर उन्हें हटानेका प्रयत्न करना चाहिये इसीका नाम निंदन है।

गर्हण—

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः ।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ४७४ ॥

अर्थ—पञ्चगुरुओंकी साक्षीसे कर्मोंका नाश करनेके लिये शक्तिपूर्वक प्रमाद रहित होकर उस रागका त्याग करना—गर्हण कहलाता है।

अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् ।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाऽविशेषतः ॥ ४७५ ॥

अर्थ—कषायोंके अनुदयसे होनेवाले प्रशम गुण—लक्षणका धारी जो सम्यक्त्व है उसके ये दोनों उपलक्षण हैं। इन दोनों (निन्दन-गर्हण)का स्वरूप ऊपर अच्छी तरह कहा जाचुका है।

ग्रन्थकारकी लघुता—

शेषमुक्तं यथाम्नायात् ज्ञातव्यं परमागमात् ।
आगमाब्धेः परं पारं मादृग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥ ४७६ ॥

अर्थ—बाकीका जो कथन है, वह निर्दिष्ट पद्धतिके अनुसार अर्थात् परम्परासे आये हुए परमागम (शास्त्र)से जानना चाहिये। आगम रूपी समुद्रका पार बहुत लम्बा है, इसलिये उसके पार जानेके लिये हम सरीखे कैसे तयार होसक्ते हैं?

शङ्काकार—

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्यस्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ ४७७ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण लक्षण इतना ही है कि और भी कोई लक्षण है ? यदि है तो आज हमसे कहिये ?

उत्तर—

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४७८ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके सब जगह आठ अंग प्रसिद्ध हैं । तथा लक्षण, गुण, अंग ये सभी शब्द एक अर्थके ही कहने वाले हैं ।

आठों अङ्गोंके नाम—

निःशङ्कितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढता ॥ ४७९ ॥
उपबृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोऽप्यस्ति प्रभावना ॥ ४८० ॥

अर्थ—निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग क्रमसे परम्परा—आगत हैं ।

निःशंकित गुणका लक्षण—

शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्य निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥ ४८१ ॥

अर्थ—शंका, भी, साध्वस, भीति, भय ये सभी शब्द एक अर्थके वाचक हैं । उस शंका अथवा भयसे रहित जो आत्माका परिणाम है, वही वास्तवमें निःशंकित भाव कहलाता है।

निःशंकित भाव—

अर्थवशादत्र सूत्रे शंका न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युरुस्तदास्तिक्यगोचराः ॥ ४८२ ॥

अर्थ—जैन सिद्धान्तमें (किसी सूत्रमें) प्रयोजन वश बुद्धिमानोंको शंका नहीं करना चाहिये । जो पदार्थ सूक्ष्म हैं, जो अन्तरवाले हैं, अर्थात् जो बीचमें अनेक व्यवधान होनेसे दृष्टिगत नहीं है और जो कालकी अपेक्षा बहुत दूर हैं, वे सब निःशङ्करीतिसे आस्तिक्य गोचर (दृढ़—बुद्धिगत) होने चाहिये ।

भावार्थ—जो २ पदार्थ हमारे सामने नहीं हैं, उन पदार्थोंमें अपनी अल्पज्ञताके कारण हम शंका करने लगते हैं और इसी लिये सर्वज्ञकथित--आगममें अश्रद्धा कर बैठते हैं। परन्तु ऐसा करना नितान्त भूल है। ऐसा करनेसे हम स्वयं आत्माको ठगते हैं तथा दूसरोंको हानि पहुंचाते हैं। यह क्या नासमझी नहीं है कि जो पदार्थ हमारे दृष्टिगत नहीं हैं, अथवा जो हमारी बुद्धिसे बाहर हैं वे हैं ही नहीं। यदि विशेष बुद्धिमान हैं तो हमें निर्णय करनेका प्रयत्न करना चाहिये अन्यथा आज्ञा प्रमाण ही ग्रहण करना चाहिये। यथा—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञा सिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानसे कहा हुआ पदार्थ सूक्ष्म है उस तत्त्वका हेतुओंद्वारा खण्डन नहीं हो सक्ता, इस लिये आज्ञा प्रमाण ही उसे ग्रहण करना चाहिये। जिनेन्द्र देव (सर्वज्ञ वीतरागी) अन्यथावादी नहीं हैं। उपर्युक्त कथनानुसार दृढ़प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शनका चिन्ह है।

सूक्ष्म पदार्थ—

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥ ४८३ ॥

अर्थ—धर्म द्रव्य, आदिक पदार्थ सूक्ष्म हैं, कालाणु भी सूक्ष्म हैं और पुद्गल-परमाणु भी सूक्ष्म हैं। इनका हेतु [जतलानेवाला कोई चिन्ह (हेतु)] इन्द्रियोंसे नहीं दीखता इसलिये ये सूक्ष्म हैं।

अन्तरित और दूरार्थ—

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः ।
दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥ ४८४ ॥

अर्थ—द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि पदार्थ अंतरित हैं क्योंकि इनके बीचमें बहुतसी चीजें आगई हैं इसलिये ये दीख नहीं सकते। तथा राम, रावण, चक्रवर्ती (बलभद्र अर्ध-चक्री चक्री) जो हो गये हैं और जो होने वाले हैं वे दूरार्थ (दूरवर्ती पदार्थ) कहलाते हैं।

मिथ्यादृष्टि सदा संदिग्ध ही रहता है—

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां काप्यसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात्सतः ॥ ४८५ ॥

अर्थ—इन सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थोंका संशय रहित ज्ञान मिथ्यादृष्टिको कभी नहीं होसक्ता क्योंकि संशयका मूल कारण दर्शनमोहनीयका उदय है और वह उसके मौजूद है।

आशङ्का—

नचाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षिकस्याप्यसंभवात् ॥ ४८६ ॥

अर्थ—ये परोक्ष पदार्थ सम्यग्दृष्टिके विषय कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि उनके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध ही असंभव है ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये ।

क्योंकि—

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं दृश्यते महत् ।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ४८७ ॥

अर्थ—परोक्ष पदार्थोंके बोध करनेमें भी सम्यग्दर्शनका बड़ा भारी माहात्म्य है । सम्यग्दृष्टिको इस जगत्का ज्ञान आस्तिक्य—बुद्धि पूर्वक होजाता है ।

स्वभाव—

नासंभवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योगशक्तिवत् ॥ ४८८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि आस्तिक्य बुद्धिपूर्वक जगतभरका ज्ञान कर लेता है, यह बात असंभव नहीं है । क्योंकि सम्यग्दर्शनका स्वभाव ही ऐसा है । स्वभावमें तर्कणा हो नहीं सक्ती, योगियोंकी योगशक्तिकी तरह यह सब अतिशय वचनोंसे बाहर है ।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्निकी उष्णतामें तर्कणा करना "अग्नि गरम क्यों है" व्यर्थ है, क्योंकि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है । किसीके स्वभावमें क्या तर्क वितर्क की जाय, यह एक स्वाभाविक बात है । इसी प्रकार सम्यग्दर्शनका स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी बुद्धिमें यथार्थ पदार्थ, आस्तिक्य पुरस्सर ही स्थान पाजाते हैं । जिस प्रकार योगियोंकी योगशक्तिका दूसरोंको पता नहीं चलता कि उसका कहां तक माहात्म्य है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनका माहात्म्य भी मिथ्यादृष्टिकी समझमें नहीं आसक्ता ।

सम्यग्दृष्टिका अनुभव—

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥ ४८९ ॥

अर्थ—आत्माका अनुभव करानेवाला ज्ञान सम्यग्दृष्टिको है । सम्यग्दृष्टिका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष शुद्ध है और सिद्धोंकी उपमावाला है ।

अनुभवकी योग्यता—

यत्रानुभूयमानेपि सर्वैराबालमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥ ४९० ॥

अर्थ—बालकसे लेकर सभीको उस शुद्धात्माका अनुभव होसक्ता है। परन्तु मिथ्या कर्मके उदयसे जीवोंको अनुभव नहीं होता है।

भावार्थ—शुद्धात्मवेदन शक्ति सभी आत्माओंमें अनुभूयमान (अनुभव होने योग्य) है। परन्तु मिथ्यात्वके उदयमें जीवोंमें उसका अनुभव नहीं होता। क्योंकि मिथ्यात्वका उदय उसका बाधक है।

शक्तिकी अपेक्षा भेद नहीं है—

सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि ।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ४०१ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीको वस्तुमें स्वादुभेद होता है परन्तु दोनोंमें वास्तविक भेद कुछ नहीं है। क्योंकि आत्मायें दोनोंकी समान हैं। वस्तु सीमाका उल्लंघन कभी नहीं होता।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी वस्तुका स्वरूप जानता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि उस वस्तुको जानकर मिथ्यादर्शनके उदयमें उसमें इष्ट—अनिष्ट बुद्धि रखता है। इतना ही नहीं किन्तु मिथ्यात्व वश वस्तुका उलटा ही बोध करता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीके वस्तु स्वादमें भेद है। परन्तु वास्तवमें उन दोनोंमें कोई भेद नहीं। दोनोंकी आत्मायें समान हैं और दोनों ही अनन्त गुणोंको धारण करनेवाले हैं। केवल पर–निमित्तसे भेद होगया है।

अत्र तात्पर्यमेवैतत्तत्त्वैकत्वेपि यो भ्रमः ।
शङ्कायाः सोऽपराधोऽस्ति सातु मिथ्योपजीविनी ॥ ४०२ ॥

अर्थ—यहां पर तात्पर्य इतना ही है कि तत्त्व (सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी) दोनोंकी आत्माओंके समान होने पर तथा विषयभूत पदार्थके भी एक होने पर जो मिथ्यादृष्टीको भ्रम होता है वह शंकाका अपराध है, और वह शंका मिथ्यात्वसे होनेवाली है।

शङ्काकार—

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् ।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ ४०३ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जो मनुष्योंको मिथ्या अनुभव होता है वह शंकासे होने वाला दोष है। वह शङ्का भी किस न्यायसे मिथ्यात्वसे होनेवाली है ?

उत्तर—

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः ।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥ ४०४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंकाका उत्तर यह है कि जो मिथ्यादृष्टी है उसीको ही सात प्रकारके भय हुआ करते हैं। जो सम्यग्दृष्टी है उसे कोई भी भय थोड़ासा भी नहीं छूपाता।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टीको ही भय लगे रहते हैं। इसलिये उसे ही भयोंके निमित्तसे शङ्का पैदा होती है। इसलिये मिथ्यात्वमें ही शंका होती है यह बात सिद्ध हुई।

भय कब होता है—

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम्॥ ४९५॥

अर्थ—पर पदार्थोंमें आत्माका अनुभव होनेसे भय होता है विना पर पदार्थमें आपा समझे भय किसी प्रकार नहीं हो सकता इसलिये जो वैभाविक पर्यायमें ही मूढ़ हो रहे हैं उन्हींको भय लगता है। जिन्होंने आत्मतत्त्वको अच्छी तरह समझ लिया है उन्हें कभी भय नहीं लगता।

भावार्थ—कर्मके निमित्तसे होनेवाली शारीरादिक पर्यायोंको ही जिन्होंने आत्म तत्त्व समझ लिया है, उन्हें ही मरने, जीने आदिके अनेक भय होते हैं, परन्तु जो आत्मतत्त्वकी यथार्थताको जानते हैं उन्हें पर-शरीरादिमें बाधा होनेपर भी उससे भय नहीं होता।

ततो भीत्यानुमेयोऽस्ति मिथ्याभावो जिनागमात्।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः॥ ४९६॥

अर्थ—इसलिये भय होनेसे ही मिथ्या-भावका अनुमान किया जाता है। वह भय आत्मानुभवके क्षयका कारण है। यह बात जिनागममें प्रसिद्ध है।

भवार्थ—विना स्वात्मानुभवके क्षय हुए भय होता नहीं। इसलिये भयसे स्वात्मानुभूतिके नाशका अनुमान करलिया जाता है। जिनके स्वानुभव है उन्हें भय नहीं लगता।

निष्कर्ष—

अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसंभवात्॥ ४९७॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जो भय सहित है और पराधीन है, वह आत्मानुभवसे गिरा हुआ है। परन्तु जो स्वस्थ है वह आत्मानुभवशील है, उसको भीति (भय) का होना असंभव ही है।

भावार्थ—इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दृष्टीको भय लगता ही नहीं। क्या सम्यग्दृष्टी शेरसे नहीं डरेगा? क्या सर्पसे नहीं डरेगा? अवश्य डरेगा। परन्तु जिन भीतियोंके कारण मिथ्यादृष्टी सदा व्याकुल रहता है, उनसे सम्यग्दृष्टी सर्वथा दूर है। उन भीतियोंके नाम आगे आयगे।

शङ्काकार—

ननु सन्ति चतस्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् ।
अर्वाक् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसंभवात् ॥ ४९८ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि किसी२ सम्यग्दृष्टीके भी चारों (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह) ही संज्ञायें होती हैं। जहां पर उन संज्ञाओंकी समाप्ति बतलाई गई है उससे पहले२ उनका अस्तित्व होना संभव ही है ?

पुनः शङ्काकार—

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जब सम्यग्दृष्टीके चारों संज्ञायें पाई जाती हैं तो फिर वह सम्यग्दर्शनका धारी होने पर भी सर्वदा निर्भीक किस प्रकार कहा जा सक्ता है और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होने पर वह उनसे बचनेके लिये प्रयत्न भी करता है। यह बात प्रत्यक्ष देखते ही हैं ?

उत्तर—

सत्यं भीकोपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥ ५०० ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि सम्यग्दृष्टीके चारों संज्ञायें हैं और वह भयभीत भी है। परन्तु वह उन संज्ञाओंका अपनेको स्वामी नहीं समझता है, किन्तु उन्हें कर्मजन्य उपाधि समझता है। जिस प्रकार द्रव्यचक्षु (द्रव्येन्द्रिय) रूपी द्रव्यको देखता हुआ भी वास्तवमें नहीं देखता है।

भावार्थ—जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि चारों संज्ञाओंमें तल्लीन होकर अपनेको उनका स्वामी समझता है, अर्थात् आहारादिको अपना ही समझता है उस प्रकार सम्यग्दृष्टि नहीं समझता, किन्तु उन्हें कर्मका फल समझता है। लोकमें द्रव्यचक्षु पुद्गलको देखनेवाला दीखता है परन्तु वास्तवमें देखनेवाली भावेन्द्रिय है।

कर्मका प्रकोप—

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषँस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥ ५०१ ॥

अर्थ—संसारि जीवोंके कर्म–परमाणु उदयमें आते रहते हैं। उनके फलमें यह जीव मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है और तल्लीन होजाता है।

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनात् ।
देशतोप्यत्र मूर्च्छायाः शङ्काहेतोरसंभवात् ॥ ५०२ ॥

अर्थ—इसी कारण सम्यग्ज्ञानी निःशंक है। यह बात न्यायसे सिद्ध है। सम्यग्ज्ञानीमें एक देश भी मूर्छा (ममता—अपनापन) नहीं है इसलिये शंकाका कारण ही वहां असंभव है।

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥ ५०३ ॥

अर्थ—उस सम्यग्ज्ञानीकी स्वात्मचेतना (स्वात्मविचार—ज्ञानचेतना) कैसी विचित्र है, अब उसीका विचार किया जाता है। उसी चेतनाके कारण वह कर्म (कार्य) करता भी है, तो भी उसमें तल्लीन नहीं होता।

सात भयोंके नाम—

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥ ५०४ ॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ ५०५ ॥

अर्थ—पहला—इस लोकका भय, दूसरा—परलोकका भय, तीसरा—वेदना भय, चौथा—अरक्षा भय, पांचवां—अगुप्ति भय, छठवां—मरण भय और सातवां—आकस्मिक भय। ये क्रमसे सात—भीति बतलाई हैं।

इस लोककी भीति—

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः ॥ ५०६ ॥

अर्थ—उन सातों भीतियोंमें "मेरे इष्ट पदार्थका तो नाश न हो और मुझे अनिष्ट पदार्थका समागम भी न हो ऐसा इस जन्ममें विलाप करना" इस लोक संबंधी पहिली भीति है।

और भी—

स्थास्यतीदं धनं नोवा दैवान्माभूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिन्ता दग्धुं ज्वलितेवाऽदृगात्मनः ॥ ५०७ ॥

अर्थ—यह धन ठहरेगा या नहीं, दैवयोगसे दरिद्रता कभी नहीं हो। इत्यादि व्याधि-चिता मिथ्यादृष्टीको जलानेके लिये जलती ही रहती है।

निष्कर्ष—

अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥ ५०८ ॥

अर्थ—अर्थात् अज्ञानी पुरुषको ही भय लगता है। ज्ञानी पुरुषको थोड़ा भी भय

नहीं लगता । पारिशेषानुमानसे (फलवत्तात्) यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञानी और अज्ञानी में बड़ा भारी अन्तर है । इसका कारण वही मोहनीय कर्म है ।

अज्ञानीके विचार—

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत् ।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥ ५०९ ॥

अर्थ—अज्ञानी जीव, द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म सभीको मोहसे अद्वैतवादकी तरह अर्थात् आत्मामें अभिन्न ही समझता है ।

और भी—

विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा ।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ ५१० ॥

अर्थ—आत्माका नाश करनेवाला--अज्ञानी जीव यद्यपि जगसे भिन्न है, तो भी जगत्को अपना ही बनाता है और विश्वमय बनकर लोकमें कभी भी भयको नहीं छोड़ता, वह सदा भयभीत ही बना रहता है ।

सारांश—

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसंभवात् ।
नित्यबुद्ध्या शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥ ५११ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश इतना ही है कि अज्ञानी पुरुष कर्मके उदय वश सर्वथा अनित्य शरीर--आदि पदार्थोमें नित्यबुद्धि रखकर भ्रम करता हुआ भय करने लगता है।

ज्ञानीके विचार—

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव ।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥ ५१२ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुष सदा अपनेको अकेला ही समझता है और जितना भी कर्मका विकार है, उससे अपनी आत्माको भिन्न, शुद्ध और चैतन्यस्वरूप समझता है ।

और भी—

शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥ ५१३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी समझता है कि शरीर, सुख, दुःख आदिक पदार्थ और पुत्र, पौत्र आदिक पदार्थ अनित्य हैं, ये सब कर्मके निमित्तसे हुए हैं, और इसीलिये ये आत्म स्वरूप नहीं हैं ।

और भी—

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोऽर्थतः ।
नाऽपरोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥ ५१४ ॥

अर्थ—वह समझता है कि लोक यह है ? मेरा तो निश्चयसे आत्मा ही लोक है और वह मेरा आत्मा—लोक वास्तवमें नित्य है। तथा मेरा कोई और अलौकिक लोक नहीं है इसलिये मुझे किससे भय होसक्ता है ?

निष्कर्ष—

स्वात्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः ।
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥ ५१५ ॥

अर्थ—ज्ञानमें ही तल्लीन होनेसे ज्ञान चेतना द्वारा ही सम्यग्ज्ञानी इसलोक सम्बन्धी भयसे रहित है और इसीलिये वह कर्म बन्धनसे भी रहित है।

परलोकका भय—

परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् ।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा ॥ ५१६ ॥

अर्थ—आगामी जन्मान्तरको प्राप्त होनेवाले—परभव सम्बन्धी आत्माका नाम ही परलोक है। उस परलोकसे—कपाने वाला दुःख होता है और वही परलोक—भीति कहलाती है।

परलोक भय—

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥ ५१७ ॥

अर्थ—यदि स्वर्ग—लोकमें जन्म हो तो अच्छा है, बुरी गतिमें मेरा जन्म न हो। इत्यादि रीतिसे जो चित्तकी व्याकुलता है उसीका नाम पारलौकिक भय है।

परलोक भयका स्वामी—

मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् ।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्राव्यत्ययात् ॥ ५१८ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टीके मिथ्या भावोंसे परलोक सम्बन्धी भय होता रहता है, परन्तु सम्यग्दृष्टिके ऐसा भय नहीं होता क्योंकि उसके मिथ्यात्व कर्मका उदय नहीं है। कारणके अभावमें कार्य भी नहीं होसक्ता।

मिथ्यादृष्टि—

बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः ।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥ ५१९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी अपने आत्माको नहीं पहचानता है क्योंकि मिथ्यात्व ही उसका एक क्षेत्र है। वह मूर्ख, कर्म और कर्मके फल स्वरूप ही अपनेको समझता है।

ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव ।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥ ५२० ॥

अर्थ—इसलिये वह सदा भयभीत रहता है सदा भ्रान्तसा रहता है और वह कुबुद्धि मिथ्यादृष्टी पुरुष मृगतृष्णामें (सफेद रेतीली जमीनमें) ही जल समझता है।

सम्यग्दृष्टी—

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः ।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसंभवात् ॥ ५२१ ॥

अर्थ—अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टी) तो सदा निर्भय रहता है, क्योंकि वह निर्भय स्थान (आत्मतत्त्व) पर पहुंच चुका है। इसीलिये भयका कारण—भ्रान्ति भी उसके असंभव है अर्थात् सम्यग्दृष्टीको भ्रमबुद्धि भी नहीं होती।

मिथ्यादृष्टी—

मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद्द्रवत्यधीः ॥ ५२२ ॥

अर्थ—जो मिथ्या—भ्रम होता है और जो अयथार्थ (अन्य वस्तुका) श्रद्धान होता है वह मिथ्यादृष्टीके ही होता है। जिस प्रकार अन्धकारके कारण रस्सीमें सर्पका निश्चय होनेसे डर लग जाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी सदा मोहान्धकारके कारण डरता ही रहता है।

सम्यग्दृष्टी—

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् ।
स बिभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ॥ ५२३ ॥

अर्थ—जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप ज्योतिको अपनेसे अभिन्न समझता है, वह (सम्यग्दृष्टी) किस न्यायसे डरेगा। उसे निश्चय है कि अन्यथा कुछ नहीं होसकता, अर्थात् वह आत्माको सदा अविनश्वर समझता है इसलिये किसीसे नहीं डरता।

वेदना—भय—

वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥ ५२४ ॥

अर्थ—शरीरमें वात, पित्त, कफ, इन तीन मलोंका कोप होनेसे आनेवाली जो बाधा

है, उसीका नाम वेदना है । उस आनेवाली वेदनासे पहले ही कंप होने लगता है वही वेदना–भय है अथवा मोहबुद्धिसे विलापका होना भी वेदना भय है ।

उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥ ५२५ ॥

अर्थ—मैं नीरोग होजाऊं, मुझे वेदना कभी भी नहीं हो इस प्रकार बार बार चिंतवन करना ही वेदना--भय है, अथवा मूर्छा (मोह बुद्धि) ही वेदना भय है ।

वेदना भयका स्वामी—

अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥ ५२६ ॥

अर्थ—यह वेदना भय मिथ्यादर्शनके कारण नियमसे मिथ्यादृष्टीके ही होता है । अज्ञानसे होने वाला वह वेदना--भय सदा नीरोगी ज्ञानीके कभी नहीं होता ।

सम्यग्दृष्टिके विचार—

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नाऽमूर्तस्येति चिन्तनम् ॥ ५२७ ॥

अर्थ—मेरा ज्ञानमय--आत्मा ही स्थान है और वह पुद्गलसे सर्वथा भिन्न है । इसलिये मुझे कोई व्याधि (रोग) नहीं होसकती । फिर मुझे भय किसका ? जितनी भी व्याधियां हैं सभी शरीरको ही होती हैं, अमूर्त–आत्माको एक भी व्याधि नहीं होसकती । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सदा चिन्तवन करता रहता है ।

और भी—

यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ॥ ५२८ ॥

अर्थ—जैसे बहुत जोरसे जलती हुई अग्नि मकानको जला देती है, परन्तु मकानके आकारमें आया हुआ जो आकाश है उसे नहीं जला सकती, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश अमूर्त पदार्थ है वह किसी प्रकार जल नहीं सक्ता, उसी प्रकार आत्मा भी अमूर्त पदार्थ है उसका भी नाश नहीं होसक्ता । यह सम्यग्दृष्टीका विचार है ।

और भी—

स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोऽस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥ ५२९ ॥

अर्थ—वर्तमानमें प्राप्त जो स्पर्शनादि इन्द्रियोंके विषय हैं अथवा जो आगामी मिलने वाले हैं, उनमें जिसका आदर नहीं है, वही (सम्यग्दृष्टी) वास्तवमें वेदना-भयसे निडर है।

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नासिद्धोऽनादरो मनाक्।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामाभयस्याविशेषतः ॥ ५३० ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषय, व्याधियोंके मुख्य स्थान हैं क्योंकि वे बाधाके कारण हैं। इसलिये उनमें रोगसे कोई विशेषता नहीं है अर्थात आत्माको दुःख देनेवाले रोग इन्द्रियोंके विषय हैं।

अत्राण (अरक्षण) भय—

अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत्।
नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमताऽऽत्मनः ॥ ५३१ ॥

अर्थ—सर्वथा क्षणिक मानने वाला बौद्ध दर्शन है वह चित्तका क्षणमात्रमें नाश मानता है। चित्त पदसे आत्मा समझना चाहिये। जिसप्रकार वह आत्माको क्षण नाशी मानता है उसी प्रकार अन्यान्य सभी पदार्थोंको भी क्षण-विनाशी मानता है। साथमें चित्त-सन्तति मानता है। आत्मा नाशवाला है परन्तु उसकी सन्तान बराबर चलती रहती है। ऐसा बौद्ध सिद्धान्त है परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा सर्वथा नहीं मानता वह पर्यायकी अपेक्षा आत्मा तथा इतर पदार्थोंका नाश मानता है किंतु द्रव्यकी अपेक्षासे सभीको नित्य मानता है। परन्तु मिथ्यादृष्टी इससे उल्टा ही समझता है। जिस समय मनुष्य पर्यायका नाश तो नहीं हुआ है, परन्तु धीरे २ आयु कम हो रही है ऐसी अवस्थामें वह (मिथ्यादृष्टी) उसकी रक्षा तो कर नहीं सकता, परन्तु नाशका भय उसे बराबर लगा रहता है। उसीका नाम अत्राण-भय (अरक्षा-भय) है।

मिथ्यादृष्टिका विचार—

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात्।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥ ५३२ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी समझता है कि धीरे २ आत्माकी पर्यायोंका नाश होनेसे संभव है कि कभी सम्पूर्ण आत्माका ही नाश हो जाय। क्योंकि सन्तानके नाशमें सन्तानीके नाशका भी डर है। इस प्रकारका भय मिथ्यादृष्टीको पहलेसे ही हुआ करता है। इसमें कारण केवल मिथ्यात्वकर्मका उदय ही है ऐसा भय नियमसे मिथ्यादृष्टीको ही होता है सम्यग्दृष्टीको कभी नहीं होता।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिने आत्माका स्वरूप अच्छी तरह समझ लिया है, इतना ही नहीं किन्तु स्वात्मसंवेदन जनित सुखका भी वह स्वाद लेचुका है इसलिये उसे ऐसी मिथ्या भ्रान्ति कि आत्मा भी कभी नष्ट होजायगा कभी नहीं हो सक्ती।

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोऽस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥ ५३३ ॥

अर्थ—वास्तवमें पर्यायका नाश होनेपर भी आत्मसत्ताकी शृंखला सदा रहेगी और वह आत्मसत्ता ही शरण है परन्तु मूर्ख- मिथ्यादृष्टि इस बातको नहीं मानता हुआ अत्राण भय (आत्माकी रक्षा कैसे हो इस भयसे) सदा दुःखी रहता है।

सम्यग्दृष्टी—

सदृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं नष्टे चिदात्मनि ।
पश्यन्नष्टमिवात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः ॥ ५३४ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी तो आत्माको पर्यायकी अपेक्षासे नाश मानता हुआ भी अत्राण भयसे सदा निडर रहता है। वह आत्माको नाश होती हुई सी देखता है तथापि वह निडर है।

सिद्धान्त कथन—

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।
नाऽत्राणमंशतोऽप्यत्र कुतस्तद्धि महात्मनः ॥ ५३५ ॥

अर्थ—इस आत्माका अथवा इस संसारमें किसी भी पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे अंशमात्र भी अरक्षण (नाश) नहीं होता है तो फिर महान् पदार्थ आत्मा--महात्माका नाश कैसे हो सक्ता है?

अगुप्ति भय—

दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिः यस्यचैकान्तवादिनी ।
तस्यैवागुप्ति भीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥ ५३६ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयके उदयसे जिसकी बुद्धि एकान्तकी तरफ झुक गई है उसीके अगुप्ति--भय होता है। जिसके दर्शनमोहनीयका उदय नहीं है उसके कभी भी ऐसी बुद्धि नहीं होती।

मिथ्यादृष्टी—

असज्जन्म सतोनाशं मन्यमानस्य देहिनः ।
कोवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥ ५३७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य असत् पदार्थकी उत्पत्ति मानता है और सत् पदार्थका नाश मानता है तथा फिर अगुप्ति–भयसे छूटना चाहता है वह ऐसा मानने वाला अगुप्ति भयसे कहां छुटकारा पा सक्ता है?

सम्यग्दृष्टी—

सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् ।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेः भीतिहेतोरसंभवात् ॥ ५३८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि तो वस्तुके स्वरूपको निश्चयरीतिसे रक्षित ही मानता है, वह भयके कारणको ही असंभव मानता है इसलिये वह अगुप्ति–भीतिसे निर्भय रहता है।

मृत्यु भय—

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियं मनः ।
निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥ ५३९ ॥

अर्थ—प्राणोंका नाश होना ही मृत्यु है। काय, वचन, पांच इन्द्रिय, मन, निःश्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण हैं। ये दश प्राण विस्तार रूप हैं। यदि इन्हींको संक्षेपमें कहा जाय तो बल (काय, वचन, मन) इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयु, ऐसे चार प्राण हैं।

तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित् ।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये ॥ ५४० ॥

अर्थ—मृत्यु-भय इस प्रकार होता रहता है कि मैं जीता रहूं, मैं कभी नहीं मरूं, अथवा दैवयोगसे कभी मर न जाऊं, इत्यादि पीडा अपने शरीरके नष्ट होनेके भयसे होती रहती है।

मृत्यु भयका स्वामी—

नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् ।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ ५४१ ॥

अर्थ—निश्चयसे मृत्यु भय तत्त्वको नहीं पहचानने वाले मिथ्यादृष्टियोंको ही सदा बना रहता है। जिन्होंने आत्माके स्वरूपमें ही अपनी वृत्तियोंको लगा रक्खा है ऐसे सम्यग्ज्ञानियोंको मृत्यु भय कहांसे होसकता है?

सम्यग्दृष्टीको मृत्यु भय क्यों नहीं?

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सात्मोपजीविनी ।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥ ५४२ ॥

अर्थ—जीवके चेतना ही प्राण हैं। वह चेतना निश्चयसे आत्मोपजीविनी (आत्माका उपजीवी गुण) है। ऐसा देखनेवाला मृत्यु होना ही नहीं समझता, फिर मृत्यु–भय उसे कहांसे हो सकता है?

आकस्मिक-भय—

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥ ५४३ ॥

अर्थ—जो भय अकस्मात् (अचानक) होजाता है उसे आकस्मिक भय कहते हैं। वह बिजली आदिके गिरनेसे प्राणियोंका नाश होना आदि रूपमें होता है।

भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे ।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥ ५४४ ॥

अर्थ—आकस्मिक भय इस प्रकार होता है कि सदा मैं स्वस्थ बना रहूं, मुझे अस्वस्थता कभी न हो। इस प्रकार आकुल चित्तवाला मानसिक चिन्तासे पीडित रहता है।

इसका स्वामी—

अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।
कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ ५४५ ॥

अर्थ—आकस्मिक भय मिथ्यादृष्टीको ही होता है क्योंकि वह निर्भीक स्थानसे गिरा हुआ है और सदा भयभीत रहता है। फिर भला उसे मोक्ष कहांसे होसक्ती है।

निर्भीकैकपदो जीवः स्यादनन्तोप्यनादिसात् ।
नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥ ५४६ ॥

अर्थ—जीव सदा निर्भीक स्थानवाला है, अनन्त है, और अनादि भी है। उस निर्भीकस्थानको चाहनेवाले जीवको आकस्मिक भय कभी नहीं होता ? क्योंकि अनादि अनन्त जीवमें आकस्मिक घटना हो ही क्या सकती है ?

निःकांक्षित अंग—

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा ।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥ ५४७ ॥

अर्थ—जो काम किये जाते हैं उनसे पर लोकके लिये भोगोंकी चाहना करना इसीका नाम कांक्षा है। अथवा कर्म और कर्मके फलमें आत्मीय-भाव रखना अथवा मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा करना आदि सब कांक्षा कहलाती है।

कांक्षाका चिन्ह—

हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः ।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिंगं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥ ५४८ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंको रुचिकर विषय नहीं हैं, उनमें बहुत दुःख करना, बस यही

भोगोंकी अभिलाषाका चिन्ह है । क्योंकि इन्द्रियोंके अरुचिकर विषयोंमें दुःख प्रकट करनेसे अपने अभीष्ट पदार्थोंमें राग अवश्य होगा ।

रागद्वेष दोनों सापेक्ष हैं—

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥ ५४९ ॥

अर्थ—विपक्षमें विना द्वेष हुए स्व-पक्षमें राग नहीं होता है और विपक्षमें विना राग हुए स्वपक्षमें द्वेष नहीं होता है ।

भावार्थ—राग और द्वेष, दोनों ही सापेक्ष हैं । एक वस्तुमें जब राग है तो दूसरीमें द्वेष अवश्य होगा अथवा दूसरीमें जब राग है तब पहलीमें द्वेष अवश्य होगा । रागद्वेष दोनों ही सहभावी हैं । इसी प्रकार इन्द्रियोंके किसी विषयमें द्वेष करनेसे किसीमें राग अवश्य होगा ।

सहयोगिताका दृष्टान्त—

शीतद्वेषी यथा कश्चित् उष्णस्पर्शं समीहते ।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥ ५५० ॥

अर्थ—जैसे कोई शीतसे द्वेष करनेवाला है तो वह उष्णस्पर्शको चाहता है । जो उष्णस्पर्शकी अभिलाषा रखता है वह शीतस्पर्शको नहीं चाहता ।

कांक्षाका स्वामी—

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ५५१ ॥

अर्थ—जिसके कांक्षित (भोगाभिलाषा) भाव है वह नियमसे मिथ्यादृष्टी है । जिसके वह भाव नहीं है वह सम्यग्दृष्टी है । यह बात स्वानुभव, युक्ति और आगम तीनोंसे सिद्ध है ।

मिथ्यादृष्टीकी भावना—

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः ।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धि र्न स्यान्नामैहिकात्परम् ॥ ५५२ ॥

अर्थ—परलोकमें भोगोंकी अभिलाषासे इष्ट पदार्थोंका संयोग मिले यह भावना तो मिथ्यादृष्टिके लगी ही रहती है परंतु वह यह भी समझता है कि अपने समग्र अभीष्टोंकी सिद्धि इसलोकके सिवा कहीं नहीं है अर्थात् जो कुछ सुख सामग्री है वह यहीं (सांसारिक) है, इससे बढ़कर और कहीं नहीं है ।

निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धनीवान्तरङ्गवत् ॥ ५५३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टीको ऐसी ऐसी (जो कुछ है सो इसी संसारमें है) निस्सार भावनायें मिथ्या कर्मके उदयसे आया करती हैं। वे ऐसी ही हैं जैसे कि किसी उन्मत्त (पागल) आदमी-को हुआ करती हैं। वायुसे हिलोरा हुआ समुद्र जिस प्रकार तरंगोंसे उछलने लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टी अज्ञानभावोंसे उछलने लगता है।

शङ्काकार—

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥ ५५४ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि बिना किसी कार्यको लक्ष्य किये मन्द पुरुष भी किसी काममें नहीं लगता है तो फिर विशेष ज्ञानी–सम्यग्ज्ञानी बिना भोगोंकी चाहनाके कैसे व्रतोंको धारण करता है?

फिर भी शङ्काकार—

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाऽशुभावहम् ॥ ५५५ ॥
नचाऽऽशङ्क्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत् ॥ ५५६ ॥
यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै नूनं बन्धफला क्रिया ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसंभवात् ॥ ५५७ ॥
सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलाऽवश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥ ५५८ ॥
न वाच्यं स्यादात्मदृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः ।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ॥ ५५९ ॥
यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् ।
तस्याश्चाऽभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥ ५६० ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जितनी भी क्रियायें की जाती हैं सबोंका एक बन्ध होना ही फल है। यह बात भली भांति सिद्ध है। यदि वह शुभ क्रिया है तो उसका फल शुभरूप होगा और यदि वह अशुभ है तो उसका फल भी अशुभ ही होगा। परन्तु कोई सी क्रिया क्यों न हो वह बन्ध अवश्य करेगी। ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि यह क्रिया कहीं पर बन्ध न करे। जिस प्रकार वीतरागी पुरुषमें क्रिया बन्धरूप फलको नहीं पैदा करती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके अतिशयके कारण सरागीमें भी बन्धफला क्रिया नहीं

होगी ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह बात प्रमाण सिद्ध है कि सभी क्रियायें बन्धरूप फलको पैदा करने वाली हैं । क्षीणकषाय (बारहवां गुणस्थान) से पहले२ अवश्य ही बन्धका कारण संभव है ।

चाहे सरागी हो चाहे वीतरागी (क्षीणकषायसे पहले) हो दोनोंमें ही औदयिकी (उदयसे होनेवाली) क्रिया होती है और वह क्रिया अवश्य ही बन्धरूप फलको पैदा करनेवाली हैं, क्योंकि मोहनीय प्रकृतियोंमेंसे किसी एकका उदय मौजूद है इसलिये बुद्धिके दोषसे किसीको स्वानुभूतिवाला मत कहो और मत बन्ध-जनक क्रिया करनेवालेकी क्रियाको अबन्ध फला क्रिया बतलाओ । क्योंकि बुद्धिका अविनाभावी सम्यक् विशेषण है । उस सम्यक् विशेषणवाली बुद्धि (सम्यग्ज्ञान) का अभाव होनेसे दर्शनको दिव्यता-उत्कृष्टता (सम्यग्दर्शनता) कैसे आसक्ती है ?

उत्तर--

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया ।
शुभायाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ॥ ५६१ ॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका व्यर्थ है, क्योंकि पहले यह बात अच्छी तरह सिद्ध होचुकी है कि बिना इच्छाके भी क्रिया होती है । फिर शुभ क्रिया और अशुभ क्रियाकी क्या विशेषता बाकी रह गई ?

भावार्थ—जिस पुरुषको किसी वस्तुकी चाहना नहीं है उसके भी क्रिया होती है । तो ऐसी क्रिया शुभ-अशुभ क्रिया नहीं कहला सक्ती । क्योंकि जो शुभ परिणामोंसे की जाय वह शुभ क्रिया कहलाती है और जो अशुभ-परिणामोंसे की जाय वह अशुभ क्रिया कहलाती हैं । जहां पर क्रिया करनेकी इच्छा ही नहीं है वहां शुभ अथवा अशुभ परिणाम ही नहीं बन सक्ते ।

शंकाकार—

नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः क्रिया ।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम् ॥ ५६२ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि जो क्रिया अनिष्ट पदार्थोंकी संयोगरूपा है वह तो नहीं चाहने वालेके ही होजाती है । परन्तु विशेष विशेष इष्ट पदार्थोंके संयोग करानेवाली जो क्रिया है वह नहीं चाहने वाले पुरुषके कैसे हो सक्ती है ?

पुनः शंकाकार—

सुक्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात् सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥ ५६३ ॥

अर्थ—व्रत-स्वरूप जो अच्छी क्रिया है वह विना व्रत चाहने वालेके कैसे हो सक्ती है ? अर्थात् नहीं होसक्ती। व्रत रूपा क्रिया इच्छानुसार की जाती है इसलिये व्रत करनेवाला व्रत क्रियाका कर्ता है यह बात सिद्ध हुई। **भावार्थ**—श्रेष्ठ क्रियायें विना इच्छा किये नहीं होसक्तीं ऐसा शंकाकारका अभिप्राय है।

उत्तर—

नैवं यतोस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम्॥ ५६४॥

अर्थ—उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जितना भी कुछ कर्मके उदय-स्वरूप है सब अनिष्ट-अर्थ है। इसलिये जितना भी कर्म और उसका फल है उसे ज्ञानी पुरुष नहीं चाहता है।

दृष्टिदोष—

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात्।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकवत्॥ ५६५॥

अर्थ—और जो प्रयोजन वश कोई पदार्थ इष्ट मान लिया जाता है अथवा कोई पदार्थ अनिष्ट मान लिया जाता है वह सब मानना दृष्टि (दर्शन) दोषसे है। जिसप्रकार दृष्टि (नेत्र) दोषसे सफेद शंख भी पीला ही दीखता है उसी प्रकार मोह बुद्धिसे कर्मोदय प्राप्त पदार्थोंमें यह मोही जीव इष्टानिष्ट बुद्धि करता है। वास्तवमें कर्मोदयसे होनेवाला सभी अनिष्ट ही है।

सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि—

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शिनी।
तस्याऽनिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके॥ ५६६॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके नाश हो जाने पर साक्षात् सूक्ष्मपदार्थोंको देखनेवाली दृष्टि (दर्शन) होजाती है। फिर सम्यग्दृष्टिकी, कर्मके फल स्वरूप अनिष्ट पदार्थोंमें अनिष्ट पदार्थ रूपा ही बुद्धि होती है। **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टि कर्मके उदयमात्रको ही अनिष्ट समझता है। कर्मोदयसे प्राप्त सभी पदार्थ उसकी दृष्टिमें अनिष्ट रूप ही भासते हैं।

कर्म और कर्मका फल अनिष्ट क्यों है ?

नचाऽसिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात्॥ ५६७॥

अर्थ—कर्म और कर्मका फल अनिष्ट है, यह बात असिद्ध नहीं है क्योंकि जितना भी कर्म और कर्मका फल है सभी सर्वदा दुःखका ही कारण है। यह बात युक्ति, स्वानुभव और आगमसे प्रसिद्ध है।

सभी क्रियायें अनिष्ट ही हैं—

अनिष्टफलवत्त्वात् स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ५६८ ॥

अर्थ—जितनी भी व्रत-क्रिया हैं सब अनिष्टार्थ हैं क्योंकि अनिष्ट फल वाली हैं। जिस प्रकार दुष्ट पुरुषका उपदेश दुष्ट-कार्यको पैदा करता है, उसी प्रकार यह भी दुष्ट-कार्यको उत्पन्न करने वाली हैं।

व्रत क्रिया स्वतन्त्र नहीं है—

अथाऽसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् ।
कृते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चाऽसंभवो यतः ॥ ५६९ ॥

अर्थ—पहले यह शंका की गई थी कि क्रिया स्वतन्त्र होती है, उसका कर्ता सम्यग्दृष्टि है। सो वास्तवमें ठीक नहीं है। क्रिया कर्मके फलमें होती है अथवा कर्मका फल है। इसलिये क्रियाको स्वतन्त्र बतलाना असिद्ध है क्योंकि कर्मोदयरूप हेतुके बिना क्रियाका होना ही असंभव है।

क्रिया—औदयिकी है—

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चाऽऽत्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥ ५७० ॥

अर्थ—जिस आत्माका मोह क्षीण होगया है अथवा जिसका क्षीण नहीं हुआ है, दोनों ही की जितनी भी क्रिया हैं सभी औदयिकी अर्थात् कर्मके उदयसे होनेवाली हैं।

पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति ।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥ ५७१ ॥

अर्थ—पुरुषका पुरुषार्थ कर्मोदयके प्रति भर सक उपयुक्त नहीं होता, और पुरुषार्थ केवल पुरुषार्थसे भी नहीं होता किन्तु दैव (कर्म) से होता है। **भावार्थ**—पुरुषार्थ कर्मसे होता है इसलिये क्रिया औदयिकी है।

निष्कर्ष—

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोऽप्युदितां क्रियाम् ।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥ ५७२ ॥

अर्थ—यह बात सिद्ध हुई कि सम्यग्ज्ञानी उदयरूपा क्रियाको करता हुआ भी निःकांक्षित है अर्थात् आकांक्षा रहित है। विरागियोंका बिना इच्छाके किया हुआ कर्म रागके लिये नहीं होता है।

आशंका—

नाशंक्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योपि जनः क्वचित्।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ५७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके अतिशय रूप हेतुको छोड़ कर कहीं दूसरी जगह सामान्य आदमी भी आकांक्षा रहित हो जाता है ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये।

क्योंकि—

यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ५७४ ॥

अर्थ—क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके हुए निष्कांक्षता हो ही नहीं सकती है, यह न्याय सिद्ध है क्योंकि जो अतीन्द्रिय सुखको नहीं चाहता है उसकी इन्द्रियजन्य सुखमें अनिच्छा भी नहीं होती है।

मिथ्यादृष्टी—

तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति।
दृङ्मोहस्य तथा पाकः शक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ ५७५ ॥

अर्थ—उस अतीन्द्रिय सुखको मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि नहीं चाहता है क्योंकि शक्तिका सद्भाव होनेसे दर्शन मोहनीयका निरन्तर पाक ही वैसा होता रहता है।

उक्तो निष्कांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै।
अस्तु का नः क्षतिः प्राक्चेत्परीक्षा क्षमता मता ॥ ५७६ ॥

अर्थ—निष्कांक्षित भाव कहा जाचुका, यह सम्यग्दृष्टिका ही गुण है ऐसा कहनेमें हमारी कोई हानि नहीं है यह परीक्षा सिद्ध बात है।

भावार्थ—परीक्षक स्वयं निश्चय कर सक्ता है कि निष्कांक्षित भाव विना सम्यग्दर्शनके नहीं हो सक्ता इस लिये यह सम्यग्दृष्टिका ही गुण है।

निर्विचिकित्सा—

अथ निर्विकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ ५७७ ॥

अर्थ—अब निर्विकित्सा नामक गुण कहा जाता है। जो कि युक्ति द्वारा भी सम्यग्दृष्टिका ही एक उन्नत गुण समझा गया है।

विचिकित्सा—

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात्।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥ ५७८ ॥

अर्थ—अपनेमें अधिक गुण समझकर अपनी प्रशंसा करना और दूसरोंको हीनता सिद्ध करनेकी बुद्धि रखना विचिकित्सा मानी गई है ।

निर्विचिकित्सा—

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ५७९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कही हुई विचिकित्सासे रहित जो भाव है वही निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है । वह सम्यग्दृष्टिका उत्तम गुण है, उसका लक्षण कहा जाता है—

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्राऽसाताघृणास्पदे ।
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥ ५८० ॥

अर्थ—जो पुरुष खोटे कर्मके उदयसे दुखी हो रहा है, और तीव्र असातावेदनीयके जो निन्द्यस्थान बन रहा है ऐसे पुरुषके विषयमें चित्तमें अदयाबुद्धि नहीं होना वही निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है ।

विचार परम्परा—

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् ।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ ५८१ ॥

अर्थ—इस प्रकारका मनमें अज्ञान नहीं होना चाहिये कि मैं सम्पत्तियोंका घर हूं और यह बिचारा दीन विपत्तियोंका घर है, यह मेरे समान नहीं हो सकता ।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।
प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ ५८२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त अज्ञान न होकर ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि कर्मके उदयसे सभी त्रस, स्थावर योनिवाले प्राणी समान हैं ।

दृष्टान्त—

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥ ५८३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार शूद्रीके गर्भसे दो बालक पैदा हुए । वास्तवमें वे दोनों ही निर्भ्रान्तरीतिसे शूद्र हैं, परन्तु भ्रमात्मा उनमें भेद समझने लगता है । **भावार्थ**-ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि शूद्रीके दो बालक हुए थे । उन्होंने भिन्न २ कार्य करना शुरू किया था । एकने उच्च वर्णका कार्य प्रारम्भ किया था और दूसरेने शूद्रका ही कार्य प्रारम्भ किया था । बहुतसे मनुष्य भ्रमसे उन्हें भिन्न २ समझने लगे थे । परन्तु वास्तवमें वे दोनों ही एक मासे

पैदा हुए थे। इसी प्रकार कर्मकृत भेदसे जीवोंमें कुछ भ्रमशील भेद ही समझने लगते हैं। परन्तु वास्तवमें सभी आत्मायें समान हैं।

जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम्।
अहंता चाऽविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसः॥ ५८४॥

अर्थ—जलमें काईकी तरह इस जीवमें जब तक अपवित्र कर्मका सम्बन्ध है, तब तक इस कर्म–मलीन आत्माके सामान्य रीतिसे अहं बुद्धि लगी हुई है। अर्थात् इतर पदार्थोंमें इसने आपा मान रक्खा है।

निष्कर्ष—

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित्॥ ५८५॥

अर्थ—यह निर्विचिकित्सा–गुण सम्यग्दृष्टिका ही गुण है। क्योंकि सम्यग्दृष्टिमें वह अवश्य है। सम्यग्दृष्टिसे अतिरिक्त कहीं नहीं पाया जाता है।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः।
सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद्द्वयोरैक्योपलब्धितः॥ ५८६॥

अर्थ—जड़ और चैतन्यमें परस्पर विशेषता होनेपर भी मोहसे दोनोंको एक समझने वाला–कर्मकी पर्यायमात्रमें जो रागी होरहा है, उसके वह निर्विचिकित्सा गुण कहांसे हो सक्ता है?

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये॥ ५८७॥

अर्थ—इस प्रकार युक्तिपूर्वक निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टिका कहा गया है। यदि यह गुण न कहा जाय तो कोई दोष नहीं होसक्ता, और कहनेपर कोई विशेष लाभ नहीं है। **भावार्थ**—यह एक सामान्य कथन है। निर्विचिकित्सा गुणके कहने और न कहने पर कोई गुण दोष नहीं होता, इसका यही आशय है कि सम्यग्दर्शनके साथ इसका होना अवश्यंभावी नहीं है। हो तो भी अच्छा और न हो तो कोई हानि भी नहीं है।

अमूढदृष्टि—

अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि॥ ५८८॥

अर्थ—अमूढदृष्टि गुण भी सम्यग्दर्शन सहित ही होता है। अमूढदृष्टि गुणसे विभूषित आत्मामें यह सम्यग्दर्शन शोभायमान होता है।

अमूढदृष्टिका लक्षण—

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोस्त्यमूढदृक् ॥ ५८९ ॥

अर्थ—अतत्त्वमें तत्त्व-श्रद्धान करना, मूढदृष्टि कहलाती है। मूढ़ जो दृष्टि वह मूढ़दृष्टि, ऐसा मूढ़दृष्टि शब्दसे ही स्पष्टार्थ है । जिस जीवके ऐसी मूढ़-दृष्टि नहीं है वह अमूढ़दृष्टि प्रसिद्ध है ।

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्याऽर्थः साधितोऽपरैः ।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षतेः ॥ ५९० ॥

अर्थ—दूसरे मतवालोंसे मिथ्या हेतु और दृष्टांतों द्वारा मिथ्या (विपरीत) पदार्थ सिद्ध किया है । वह मिथ्यापदार्थ, मोहनीय कर्मके क्षय होनेसे सम्यग्दृष्टिमें मोह (विपरीतता) पैदा करनेके लिये समर्थ नहीं है ।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥ ५९१ ॥

अर्थ—सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थोंको मिथ्यादृष्टि पुरुष यदि विपरीत रीतिसे दिखाने लगें तो जो थोड़े शास्त्रका जाननेवाला है वह भी मोहित नहीं होता है । यदि बहुत शास्त्रोंका पाठी हो तो फिर क्या है ? अर्थात् बहुश्रुत किसी प्रकार धोखेमें नहीं आ सक्ता है।

अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता ।
सूक्ष्मानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थस्य कुतो भ्रमः ॥ ५९२ ॥

अर्थ—जहां कहीं अर्थ-आभास भी हो वहां भी सम्यग्दृष्टि मूढ़ नहीं होता है । तो फिर आगम प्रसिद्ध सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ मिथ्या बतलाये हुए पदार्थोंमें सम्यग्दृष्टिको कैसे भ्रम हो सक्ता है ?

सम्यग्दृष्टिके विचार—

तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नाना विकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथाऽनिष्टफलप्रदा ॥ ५९३ ॥

अर्थ—लौकिकी रूढि नाना विकल्पोंसे होती है अर्थात् अनेक मिथ्या विचारोंसे की जाती है । निस्सार पुरुष उसे करते रहते हैं । लोकरूढि सदा अनिष्ट फलको ही देती है ।

अफलाऽनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढिः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥ ५९४ ॥

अर्थ—लोकमें प्रचलित रूढ़ि फल शून्य है, अथवा अनिष्ट फलवाली है, हेतु शून्य

है और योगका नाश करनेवाली है। खोटे कर्मके उदयसे कोई २ पुरुष इस लोकरूढ़िको छोड़ भी नहीं सकते हैं।

देवमूढ़ता—

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता॥ ५९५॥

अर्थ—अदेवमें देवबुद्धिका होना, अधर्ममें धर्मबुद्धिका होना, अगुरुमें गुरुबुद्धिका होना ही देवमूढ़ता कही गई है।

लोकमूढ़ता—

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता॥ ५९६॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि सांसारिक सुखके लिये कुदेवोंका आराधन-पूजन करता है। ऐसा करना मिथ्या लोकाचार है, इसीका नाम लोकमूढ़ता है, लोकमूढ़ता महा-अहितकर है।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढवशादिह।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका॥ ५९७॥

अर्थ—लोकमूढ़तावश किन्हीं २ पुरुषोंको ऐसा श्रद्धान हो रहा है कि भले प्रकार आराधना की हुई अम्बिका देवी (चण्डी-मुण्डी आदि) निश्चयसे धन धान्य-सम्पत्तियोंको देवेगी।

अपरेऽपि यथाकामं देवमिच्छन्ति दुर्धियः।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञाऽपराधतः॥ ५९८॥

अर्थ—और भी बहुतसे मिथ्या-बुद्धिवाले पुरुष इच्छानुसार देवोंको मानते हैं। वे बुद्धिके दोष (अज्ञानता)से सदोषियोंको भी निर्दोषोंकी तरह मान बैठते हैं।

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम्॥ ५९९॥

अर्थ—उन मिथ्या-विचारवालोंका विशेष उद्देश्य (अधिक वर्णन) प्रसंगवश भी विस्तारभयसे नहीं कहा है क्योंकि जिसको बहुतसे शब्द मिल भी जावें वह भी व्यर्थ ग्रन्थ-विस्तारको नहीं करेगा, अर्थात् कुदेवके स्वरूपके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

अधर्म—

अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम्॥ ६००॥

अर्थ—कुदेवोंकी आराधना करनेका जितना भी उद्यम है, तथा उनके द्वारा कहे हुए धर्मोंमें मन, वचन, कायका जो व्यापार है वह सभी अधर्म कहलाता है।

कुगुरु और सुगुरु—

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ ६०१ ॥

अर्थ—जिसका निन्द्य (मलीन) आचरण है, जिसके माया, मिथ्या, निदान-शल्य लगी हुई हैं, और जो परिग्रह सहित है वह कुगुरु है, तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत सहित है वह सद्गुरु है ।

अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोनुक्त एव सः ॥ ६०२ ॥

अर्थ—कुधर्म और कुगुरुके विषयमें भी अधिक लिखना लाभकारी नहीं है । क्योंकि इनका पूरा स्वरूप लिखनेसे अत्यन्त ग्रन्थ-विस्तार होनेका डर है । इसलिये इस ग्रन्थमें जो विधि कही गई है, वही ग्रहण करने योग्य है, और जो यहां नहीं कही गई है वह त्यागने योग्य समझना चाहिये । **भावार्थ**-जो विधि उपादेय है, उसीका यहां वर्णन किया गया है और जो अनुपादेय है उसका यहां वर्णन भी नहीं किया गया है ।

सच्चे देवका स्वरूप—

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणकर्म तत् ।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ ६०३ ॥

अर्थ—रागादिक वैकारिक भाव और ज्ञानावरणादिक कर्म, दोष कहलाते हैं । उनका जिस आत्मामें सम्पूर्णतासे अभाव हो चुका है, वही देव कहा जाता है ।

अनन्तचतुष्टय—

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ ६०४ ॥

अर्थ—उस देवमें केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिकवीर्य यह प्रसिद्ध अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाता है ।

देवके भेद—

एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्था विशेषतः ।
संख्येया नाम सन्दर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥ ६०५ ॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे देव एक प्रकार है, अवस्था विशेषसे दो प्रकार है, विशेष रचना (कथन) की अपेक्षासे संख्यात प्रकार है, और गुणोंकी अपेक्षासे अनन्त प्रकार है ।

अरहन्त और सिद्ध—

एको यथा सद्द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धात्मलब्धितः ।
अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः ॥ ६०६ ॥

अर्थ—सत् द्रव्यार्थ नयकी अपेक्षासे एक प्रकार ही देव है क्योंकि शुद्धात्माकी उपलब्धि (प्राप्ति) एक ही प्रकार है। पर्यायार्थिकनयसे अरहन्त और सिद्ध, ऐसे देवके दो भेद हैं।

अरहन्त और सिद्धका स्वरूप—

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः॥ ६०७॥
मूर्त्तिमद्देहनिर्मुक्तो मुक्तो लोकाग्रसंस्थितः।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः॥ ६०८॥
अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात्।
महादेवोधिदेवत्वाच्छङ्करोपि सुखावहात्॥ ६०९॥
विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृत्वात्कथञ्चन।
ब्रह्म ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात्॥ ६१०॥
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात्।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात्॥ ६११॥
चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमकल्पना।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः॥ ६१२॥

अर्थ—जो दिव्य-औदारिक शरीरमें स्थित है, घाति कर्म चतुष्टयको धो चुका है, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखसे परिपूर्ण है और धर्मका उपदेश देनेवाला है, वह अरहन्त देव है।

जो मूर्तिमान् शरीरसे मुक्त हो चुका है, सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट चुका है, लोकके अग्रभाग (सिद्धालय) में स्थित है, ज्ञानादिक आठ गुण सहित है और कर्ममलकलंकसे रहित है वह सिद्ध देव है।

वह देव जगत्पूज्य है इसलिये अरहन्त कहलाता है, कर्म रूपी शत्रुको जीतनेवाला है इसलिये जिन कहलाता है, सम्पूर्ण देवोंका स्वामी है इसलिये महादेव कहलाता है, सुख देनेवाला है, इसलिये शंकर कहलाता है, ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंमें फैला हुआ है इसलिये कथंचित् विष्णु (व्यापक) कहलाता है, आत्माको पहचाननेवाला है इसलिये ब्रह्मा कहलाता है, और दुःखको दूर करनेवाला है इसलिये हरि कहलाता है। इत्यादि रीतिसे वह देव अनेक नामोंवाला है। तथापि अपने देवत्व लक्षणकी अपेक्षासे वह एक ही है। अनेक नहीं है। क्योंकि अनन्तगुणात्मक एक ही (समान) आत्मद्रव्य प्रसिद्ध है।

और भी चौबीस तीर्थंकर आदि अनेक भेद हैं तथा गुणोंकी अपेक्षा अनन्त भेद हैं। ये सब भेद (बहुपना) किसी प्रकार दोषोत्पादक नहीं हैं क्योंकि सभी देवभेदोंमें देवत्वगुण एक प्रकार ही है।

दृष्टान्त—

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ॥ ६१३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दीपकोंकी अनेक संख्या भी दीपत्व बुद्धिको दूर नहीं करसक्ती है ? उसी प्रकार देवोंकी अनेक संख्या भी देवत्व बुद्धिको दूर नहीं कर सक्ती है । क्योंकि सभी दीपोंमें और सभी देवोंमें दीपत्व गुण और देवत्व गुण एकसा ही है । वास्तवमें अनेक प्रकारता नहीं है । अर्थात् वास्तवमें भेद नहीं है,

न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽस्यास्त्यनंतधा ।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥ ६१४ ॥

अर्थ—क्रमसे उसके अनन्त नाम हैं ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये क्योंकि वास्तवमें एक गुणकी अपेक्षा एक नाम कहा जाता है ।

नयतः सर्वतो मुख्यसंख्या तस्यैव संभवात् ।
अधिकस्य ततो वाच्यं व्यवहारस्य दर्शनात् ॥ ६१५ ॥

अर्थ—सबसे अधिक संख्या गुणकी अपेक्षासे ही होसक्ती है । परन्तु यह सब कथन नयकी अपेक्षासे है । इसलिये जैसा जैसा अधिक व्यवहार दीखता जाय उसी २ तरहसे नाम लेना चाहिये ।

वृद्धैः प्रोक्तमतःसूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम ॥ ६१६ ॥

अर्थ—इसीलिये वृद्ध (ज्ञानवृद्ध—आचार्य) पुरुषोंने सूत्रद्वारा तत्त्वको वचनके अगम्य बतलाया है । जो द्वादशाङ्ग अथवा अंगबाह्य श्रुतज्ञान है, वह केवल स्थूल—पदार्थको विषय करनेवाला है ।

सिद्धोंके आठ गुण—

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यञ्चेति चतुष्टयम् ॥ ६१७ ॥
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः ।
अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धेचाष्टगुणाः स्मृताः ॥ ६१८ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय होनेसे क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, अतीन्द्रिय सुख, आत्मासे उत्पन्न वीर्य, इस प्रकार चतुष्टय तो यह, और सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्त्व, अव्याबाधगुण, तथा अगुरुलघुत्त्व, ये आठ स्वाभाविक गुण सिद्धदेवके हैं ।

इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥ ६१९ ॥

अर्थ—इत्यादि अनन्त धर्मोंको धारण करनेवाला आठों कर्मोंसे रहित अठारह दोषोंसे रहित, देव पूजने योग्य है। जिनमें उपर्युक्त गुण नहीं पाये जाते वह नहीं पूजने योग्य है।

अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयो मार्गोपदेशकः
आप्तश्चैव स्वतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥ ६२० ॥

अर्थ—अर्थात् वही देव सच्चा गुरु है, वही मोक्ष मार्गका उपदेश देनेवाला है वही आप्त है, और वही मोक्ष मार्गका साक्षात् नेता (प्राप्त करानेवाला) है।

गुरुका स्वरूप—

तेभ्योर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः।
गुरवःस्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्था विशेषभाक् ॥ ६२१ ॥

अर्थ—उन गुरुओंसे नीचे भी जो अल्पज्ञ हैं, परन्तु उसी वेशको लिये हुए हैं; वे भी गुरु हैं। गुरुका लक्षण उनमें भी वैसा ही है, और कोई अवस्थाविशेषवाला नहीं है।

अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात्।
शेषः संसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—गुरुओंमें संसारीजीवोंसे कोई अवस्था-विशेष है यह बात युक्ति अनुभव और आगमसे प्रसिद्ध है। उनमें संसारियोंसे विशेष अतिशय है।

भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात् सिद्धसाधनम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—भावि नैगम नयकी अपेक्षासे जो होनेवाला है, वह हुआ सा ही समझा जाता है। भाव (गुण) की व्याप्तिका सद्भाव होनेसे यह बात सिद्ध हो जाती है, अर्थात् जो गुण अरहन्तमें हैं वे ही गुण एक देशसे (अंशरूपसे) छद्मस्थ गुरुओंमें भी मौजूद हैं।

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः।
चारित्रं देशतः सम्यक्चारित्रावरणक्षतेः ॥ ६२४ ॥

अर्थ—उन छद्मस्थ गुरुओंमें भी मिथ्यात्व कर्मके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हो चुका है और चारित्र मोहनीय कर्मका (अनन्तानुबंधि, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन कषायोंका) क्षय होनेसे एकदेश सम्यक्चारित्र भी प्रकट हो चुका है।

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात्।
मोहकर्मोदयाभावात्तत्कार्यस्याप्यसंभवात् ॥ ६२५ ॥

अर्थ—इसलिये स्वभावसे ही उन गुरुओंमें शुद्धता पाई जाती है यह बात हेतुद्वारा सिद्ध हो चुकी क्योंकि मोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे उसका कार्य भी असंभव है।

भावार्थ—मलिनता करनेवाला मोहनीयका उदय है। जब मोहनीयका उदय नहीं है तो उससे होनेवाली मलिनता भी नहीं हो सक्ती है।

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥ ६२६ ॥

अर्थ—वह शुद्धता निर्जराका समर्थ कारण है यह बात सुप्रसिद्ध है तथा संवरका भी कारण है और क्रमसे मोक्ष–प्राप्त करानेवाली भी है।

शुद्धता ही निर्जरा, संवर और मोक्ष है—

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥ ६२७ ॥

अर्थ—अथवा वह शुद्धता ही स्वयं निर्जरा, संवर और मोक्ष है। क्योंकि शुद्ध भावोंका अविनाभावी जो आत्मद्रव्य है वही निर्जरा, संवर और मोक्ष है।

भावार्थ—आत्मिक शुद्धभावोंका नाम ही निर्जरादित्रय है इसलिये निश्चय नयसे शुद्ध–आत्मा ही निर्जरादि त्रय है।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥ ६२८ ॥

अर्थ—जो निर्जरादिकका कारण आत्माका शुद्ध भाव है वही परम पूज्य है और उस शुद्ध भावको धारण करनेवाला आत्मा ही परम गुरु है।

गुरुपनेमेंहेतु—

न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोषसंक्षयः।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥ ६२९ ॥

अर्थ—न्याय रीतिसे गुरुत्व (गुरुपने) का कारण केवल दोषोंका भले प्रकार क्षय होना है, निर्दोष ही जगत्का जाननेवाला (सर्वज्ञ) है और वही मार्ग (मोक्षमार्ग) का नेता अर्थात् प्राप्त करानेवाला है। जो निर्दोष नहीं है वह न सर्वज्ञ हो सक्ता है, और न मोक्षको प्राप्त करनेवाला तथा करानेवाला ही हो सक्ता है।

अल्पज्ञता गुरुपनेके नाशका कारण नहीं है—

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥ ६३० ॥

अर्थ—यह मुनि (गुरु) की अल्पज्ञता भी गुरुपनेको दूर करनेके लिये समर्थ नहीं है क्योंकि गुरुताको दूर करनेवाले रागादिक अशुद्ध भाव हैं, और उनका एक मात्र हेतु मोहनीय कर्म है।

भावार्थ—निर्मल चारित्रकी अपेक्षासे ही गुरुता आती है। ज्ञानकी हीनता गुरुताका विघातक नहीं है किन्तु मोहनीय कर्म है।

शङ्काकार—

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥ ६३१ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यको नाश करनेवाला अन्तराय कर्म, अभी छद्मस्थ गुरुओंमें मौजूद है, इसलिये उनमें शुद्धता कहांसे आई ?

उत्तर—

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥ ६३२ ॥ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि अभी ज्ञानावरण आदि तीन घातिया कर्म छद्मस्थ गुरुओंमें मौजूद हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि ज्ञानावरण आदि कहे हुए तीनों कर्मोंका बन्ध, सत्व, उदय और क्षय, मोहनीय कर्मके साथ अविनाभावी है।

खुलासा—

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्बन्धो मोहबन्धसात्।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः। ६३३ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके बन्ध होने पर ही उसीके आधीन ज्ञानावरणादि बन्धयोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है, मोहनीय कर्मके सत्त्व रहने पर ही ज्ञानावणादि कर्मोंका सत्त्व रहता है, मोहनीय कर्मके पकने पर ही ज्ञानावरणादि पकते हैं और मोहनीय कर्मके क्षय होने पर ही ज्ञानावरणादि नष्ट हो जाते हैं।

आशङ्का—

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥ ६३४ ॥

अर्थ—छद्मस्थ अवस्थामें, मोहनीय कर्मका ज्ञानावरणादिसे पहले ही क्षय होजाता है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अंशरूपसे मोहनीयका क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका अंश रूपसे क्षय हो जाता है, और मोहनीयका सर्वथा क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका भी सर्वथा क्षय होजाता है।

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम्।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥ ६३५ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके सम्पूर्ण कर्मोंकी निर्जरा होना असिद्ध नहीं है किन्तु दर्शन मोहनीय कर्मका उदयाभाव होनेसे वह क्रमसे असंख्यात गुणी २ होती चली जाती है।

निष्कर्ष—

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥ ६३६ ॥

अर्थ—इसलिये छद्मस्थ गुरुओंमें यद्यपि अभी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म मौजूद हैं तथापि राग, द्वेष, मोहका अभाव होनेसे गुरूपना माना ही जाता है।

गुरु-भेद—

यथास्त्येकः स सामान्यात्तद्विशेषात्त्रिधा गुरुः ।
एकोप्यग्निर्यथा तार्णः पार्णो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥ ६३७ ॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे एक ही गुरु है और विशेष रीतिसे तीन प्रकार गुरु हैं। जैसे—अग्नि यद्यपि सामान्य रीतिसे एक ही है तथापि तिनकेकी अग्नि, पत्तेकी अग्नि और लकड़ीकी अग्नि, इस प्रकार एक ही अग्निके तीन भेद होजाते हैं।

तीन प्रकार गुरुओंके नाम—

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः ।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोपि मुनिकुञ्जराः ॥ ६३८ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधु (मुनि) इस प्रकार तीन भेद हैं। ये तीनों ही मुनिवर विशेष विशेष पदों पर नियुक्त हैं अर्थात् विशेष २ पदोंके अनुसार ही आचार्य, उपाध्याय और साधु संज्ञा है।

मुनिपना तीनोंमें समान है—

एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको बहिः समः ।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥ ६३९ ॥
त्रयोदश विधं चापि चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोप्येकधा मतः ॥ ६४० ॥
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥ ६४१ ॥
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः ।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिस्स्थितम् ॥ ६४२ ॥
ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुना ॥ ६४३ ॥

किंवात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते।
विशेषाच्छेदनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ ६४४ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु तीनोंका ही समान कारण है अर्थात् तीनों ही निष्परिग्रहता और कषायत्रयके जीतनेसे मुनि हुए हैं। क्रिया (आचरण) भी तीनोंकी समान है, बाह्य भेष भी (निर्ग्रन्थ—नग्न) समान है, बारह प्रकारका तप भी सबके समान है, पांच प्रकारका महाव्रत भी समान है, तेरह प्रकारका चारित्र भी समान है, समता भी समान है, अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तरगुण भी समान ही हैं, चारित्र भी समान है, परीषह और उपसर्गोंका सहन करना भी समान है, आहारादिक विधि भी सभीकी समान है। चर्या विधि भी समान है। स्थान आसन आदि भी समान हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो आत्मिक गुण तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है वह भी अन्तरंग और बाहरमें समान ही है, और भी ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार आराधनायें (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप) क्रोधादि कषायोंका जीतना आदि सभी बातें एकसी हैं। इस विषयमें अधिक क्या कहा जाय, इतना ही कहना बस होगा कि वही विशेष रह जाता है जोकि विशेषतासे दूर हो चुका है। अर्थात् न्यायानुसार तीनोंमें सर्वथा समानता है, कोई विशेषता नहीं है। अब तीनोंका भिन्न २ स्वरूप कहते हैं—

आचार्यका स्वरूप—

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचरयति संयमी ॥ ६४५ ॥

अर्थ—आचार्य संज्ञा अनादिकालसे नियत है। पंच परमेष्ठियोंकी सत्ता अनादिकालीन है। यौगिक दृष्टिसे भी आचार्य उसे कहते हैं जो कि दूसरों (मुनियों) को पांच प्रकारका आचार ग्रहण करावे अर्थात् जो दीक्षा देवे वही आचार्य है।

और भी—

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥ ॥ ६४६ ॥

अर्थ—और जिस किसी साधुका व्रत भंग हो जाय, और व्रत भंग होने पर वह साधु फिरसे उसको प्राप्त करना चाहे तो आचार्य उस व्रतको फिरसे धारण कराते हुए उस साधुको प्रायश्चित देते हैं, अर्थात् दीक्षाके अतिरिक्त प्रायश्चित देना भी आचार्योंका कर्तव्य है।

आदेश और उपदेशमें भेद—

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक्।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ ६४७ ॥

अर्थ—उपदेशोंसे आदेशमें यही विशेष भेद है कि उपदेशमें जो बात कही जाती है वह आज्ञारूप ग्राह्य नहीं होती। मानना न मानना शिष्यकी इच्छापर निर्भर है परन्तु आदेश में यह बात नहीं है, वहां तो जो बात गुरुने बताई वह आज्ञारूपसे ग्रहण ही करनी पड़ती है "गुरुके दिये हुए व्रतको मैं ग्रहण करता हूं" यह आदेश लेनेवालेकी प्रतिज्ञा है।

भावार्थ—आचार्यको आदेश (आज्ञा) देनेका अधिकार है वे जिस बातको आदेश-रूपसे कहेंगे वह आज्ञा प्रधान रूपसे माननी ही पड़ेगी। परन्तु उपदेशमें आज्ञा प्रधान नहीं होती है।

गृहस्थाचार्य भी आदेश देनेका अधिकारी है—

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ ६४८ ॥

अर्थ—व्रत धारण करनेवाले जो गृहस्थ हैं उनको भी आदेश निषिद्ध नहीं है। जिस प्रकार दीक्षाचार्य दीक्षा देता है उसी प्रकार गृहस्थ भी आदेश किया करता है।

भावार्थ—आचार्यकी तरह व्रती गृहस्थाचार्य भी गृहस्थोंको आदेश देनेका अधिकारी है।*

आदेशका अधिकारी अव्रती नहीं हो सक्ता है—

स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिना मनागपि ।
हिंसकश्चोपदेशोपि नोपयुज्योत्र कारणात् ॥ ६४९ ॥

अर्थ—शास्त्रानुसार अव्रती पुरुष आदेश देनेका सर्वथा अधिकारी नहीं है, और किसी भी कारणसे वह हिंसक उपदेश भी नहीं दे सकता।

भावार्थ—अव्रती पुरुष आदेश देनेका अधिकारी तो है ही नहीं, हिंसक उपदेशक देना भी उसके लिये वर्जित है।

वधाश्रित आदेश और उपदेश देनेका निषेध—

मुनिव्रतधराणां हि गृहस्थव्रतधारिणाम् ।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥ ६५० ॥

अर्थ—मुनिव्रत धारण करनेवाले आचार्योंको और गृहस्थव्रत धारण करनेवाले गृहस्था-चार्योंको वधाश्रित आदेश व उपदेश (जिस आदेश तथा उपदेशसे जीवोंका वध होता हो) नहीं करना चाहिये।

---

* पहले यह प्रथा थी कि गृहस्थ लोगोंको गृहस्थाचार्य हरएक कार्यमें सावधान किया करते थे, गृहस्थाचार्यका आदेश हर एक गृहस्थको मान्य था, इसीलिये धार्मिक कार्योंमें शिथि-लता नहीं होने पाती थी, आजकल वह मार्ग सर्वथा उठ गया है, इसीलिये धार्मिक शैथिल्य, अनर्गलभाषण, एवं निरङ्कुशप्रवृत्ति आदि अनर्थोंने पूर्णतासे स्थान पा लिया है।

ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये—

नचाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥ ६५१ ॥

अर्थ—ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये कि मुनिगण व्रतधारण करनेवाले हैं और उन्होंने मूर्तिमान् पदार्थोंकी सम्पूर्ण शक्तियोंको हस्तरेखाके समान जान लिया है।

भावार्थ—व्रतधारी मुनि मूर्त पदार्थोंकी समस्त शक्तियोंका परिज्ञान स्वयं रखते हैं उन्हें सम्पूर्ण जीवोंके स्थान, शरीरादिका परिज्ञान है, वे सदा त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षामें सावधान स्वयं रहते हैं इसलिये उनके प्रति बधकारी आदेश व उपदेशका निषेध कथन ही निरर्थक है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये।

क्योंकि—

नूनं प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम्। सम्यक्विनिः
रागिणामेव रागाय ततोवश्यं निषेधितः ॥ ६५२ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि जो वीतरागी हैं उनके प्रति बधकारी उपदेश भी रागका कारण नहीं होसक्ता है, वह रागियोंके लिये ही रागका कारण होसक्ता है। इसलिये अर्थात् रागियोंके लिये ही उसका निषेध किया गया है।

भावार्थ—उपदेश सदा उन्नत करनेके लिये दिया जाता है; मुनियोंका राग घट गया है, वे निवृत्ति मार्गके अनुगामी हो चुके हैं इसलिये उन्हें सदा विशुद्धमार्गका ही उपदेश देना ठीक है, यदि उनको बधाश्रित अर्थात् जिनपूजन आदि शुभ प्रवृत्तिमय उपदेश दिया जाय तो वह उपदेश उनकी निम्नताका ही कारण होगा, इसलिये उन्हें बधाश्रित अर्थात् शुभ प्रवृत्तिमय उपदेश न देकर निवृत्तिमार्गमय उपदेश ही देना चाहिये। परन्तु बधाश्रित उपदेश व आदेशका निषेध गृहस्थोंके लिये दूसरे प्रकारसे है। गृहस्थोंमें अशुभ प्रवृत्ति भी पाई जाती है इसलिये उस अशुभ प्रवृत्तिका निषेध कर शुभ प्रवृत्तिका उनके लिये आदेश व उपदेश दिया जाता है। गृहस्थ एकदम शुद्ध मार्गमें नहीं जा सकते हैं अतः उनके लिये पहले शुभ मार्ग पर लानेके लिये शुभ मार्गका आदेश तथा उपदेश देना ही ठीक है इसी बातको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते हैं—

गृहस्थोंके लिये दानपूजनका विधान—

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ ६५३ ॥

अर्थ—सत्पात्रोंके लिये दान देनेके विषयमें और अरहन्तोंकी पूजाके विषयमें न तो आदेश ही निषिद्ध है और न उपदेश ही निषिद्ध है।

भावार्थ—दान देना और जिन पूजन करना दोनों ही यद्यपि आरंभजनित कार्य हैं, और जहां आरंभ है वहां हिंसाका होना अवश्यंभावी है इसलिये उक्त दोनों कार्योंका आदेश तथा उपदेश बंधका कारण है। दूसरे—दान देनेमें और जिनपूजन करनेमें शुभ राग होता है और रागभाव हिंसात्मक है तथापि गृहस्थोंके लिये पात्रदान जिनपूजनादि शुभ प्रवृत्तिमय कार्योंकी आज्ञा और उपदेश दोनों ही निषिद्ध नहीं किन्तु विहित हैं।

मुनियोंके लिये सावद्य कर्मका निषेध—

***यद्वादेशोपदेशौ स्तो निरवद्यकर्मणि ।**
यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥ ६५४ ॥

अर्थ—अथवा मुनियोंके लिये, सर्वथा निर्दोष कार्यके विषयमें ही आदेश व उपदेश होसक्ता है। जहां पापका लेश भी हो वहां उनके लिये आदेश तो कभी हो ही नहीं सक्ता।

भावार्थ—जिस कार्यमें पापका थोड़ा भी लेश हो उसके विषयमें मुनियोंके लिये आदेशका सर्वथा निषेध है।

आशङ्का—

महासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् ।
कुर्याद्वाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥ ६५५ ॥

अर्थ—असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध, भाषण और प्रेम भी आचार्य करै, ऐसा भी कोई कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि जो असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्धादिक रखता है वह आचार्य नहीं कहा जासकता, और न वह जिनमतका अनुयायी है।

भावार्थ—आचार्यका सम्बन्ध केवल मुनियोंके साथ होता है। भाषण भी उन्हींके साथ होता है, सत्यधर्मके लक्षणमें भी यही कहा गया है कि सत्यधर्मका भाषी साधु पुरुषोंमें ही हित मित वचन बोलता है असाधुओंसे नहीं। आचार्यका मुनियोंके साथ भी केवल धार्मिक सम्बन्ध है, रागांश वहां भी नहीं है। इसलिये आचार्यका असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध और रागादिक जो कहा गया है वह अयुक्त है।

अन्य दर्शन—

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ ६५६ ॥

अर्थ—कोई दर्शनवाले आचार्यका स्वरूप ऐसा भी कहते हैं कि जो संघका पालन-

* **इस** श्लोकमें और ऊपरके श्लोकमें यद्यपि गृहस्थ और मुनिपद नहीं आया है **तथापि "यद्वा" कहनेसे** सिद्ध होता है कि उपर्युक्त कथन गृहस्थोंके लिये है और **यह कथन मुनियोंके लिये है**। तथा यही संगत प्रतीत होता है।

पोषण करता है वह आचार्य है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी कहना अयुक्त है । धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देना ही आचार्यका उपकार है । इसको छोड़कर मुनियोंका पालन पोषण करना आदिक आचार्योंका उपकार नहीं है ।

भावार्थ—मुनियोंका पालनपोषण करना आचार्यका कर्तव्य बतलाना दोनोंका ही स्वरूप बिगाड़ना है । पहले तो मुनिगण ही पालन पोषण किसीसे नहीं चाहते हैं और न उन्हें अपने पोषणका कभी विचार ही होता है । उनका मुख्य कर्तव्य ध्यानस्थ होना है । केवल शरीरकी परिस्थिति ठीक रखनेके लिये वे आहारार्थ नगरमें जाते हैं वहां नवधाभक्ति पूर्वक किसी श्रावकने उनका पड़गाहन किया तो बत्तीस अन्तरायोंको टालकर आहार उसके यहां ले लेते हैं, यदि किसीने पड़गाहन नहीं किया तो वे खेद नहीं करते हैं, सीधे वनको चले जाते हैं, यद्यपि मुनियोंकी वृत्ति भिक्षा है तथापि वह वृत्ति याचना नहीं कही जा सक्ती है । उन्हें आहारमें सर्वथा राग नहीं है परन्तु बिना आहारके शरीर अधिक दिन तक तप करनेमें सहायक नहीं हो सक्ता है इसीलिये आहारके लिये उन्हें बाध्य होना पड़ता है । जिस पुरुषको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है वही याचक बनता है। मुनियोंने आवश्यकताओंको दूर करनेके लिये ही तो अखिल राज्य सम्पत्तिका त्याग कर यह निरीहवृत्ति–सिंहवृत्ति अङ्गीकार की है, फिर भी उन्हें याचक समझना नितान्त भूल है । श्रावक भी अपने आत्म-हितके लिये मुनियोंको आहार देता है न कि मुनियोंको पोष्य समझकर आहार देता है । इसलिये मुनियोंको स्वयं अपने पोषणकी इच्छा नहीं है और न आवश्यकता ही है फिर आचार्य उनका पोषक कैसे कहा जा सक्ता है । दूसरे–आचार्यका मुनियोंके साथ केवल धार्मिक सम्बन्ध है–मुनियोंको दीक्षा देना, उन्हें निज व्रतमें शिथिल देखकर सावधान करना, अथवा धर्मसे च्युत होनेपर उन्हें प्रायश्चित देकर पुनः तद्वस्थ करना, धर्मका उन्हें उपदेश देना, तथा धर्मका आदेश देना, तपश्चर्यामें उन्हें सदा दृढ़ बनाना, मरणासन्न मुनिका समाधिमरण कराना इत्यादि कर्तव्य आचार्योंका है धार्मिक कर्तव्य होनेसे ही आचार्योंको रागरहित शासक कहा गया है । शासन करते हुए भी आचार्य प्रमादी नहीं हैं, किन्तु शुद्धान्तःकरण विशिष्ट आत्मध्यानमें तत्पर हैं इसलिये आचार्योंको संघका पालक और पोषक कहना सर्वथा अयुक्त है ।

अथवा—

यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।
तावत्कालं स नाऽऽचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥ ६६७ ॥

अर्थ—अथवा मोहके वशीभूत होकर अथवा प्रमादसे जो लौकिक क्रियाको करता है उस कालमें वह आचार्य नहीं कहा जा सक्ता है, इतना ही नहीं किन्तु अन्तरंग व्रतसे च्युत (पतित) समझा जाता है ।

भावार्थ—इस श्लोकसे भलीभांति सिद्ध होता है कि आचार्य केवल धार्मिक क्रियाओंको करता है, और मुनियोंकी धार्मिक वृत्तियोंका ही वह शासक है । यदि मोहके उद्रेकसे कदाचित वह किसी लौकिक क्रियाको भी कर डाले तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस कालमें वह आचार्य ही नहीं कहा जा सकता है उस समय वह आचार्यपदसे गिर चुका है, अन्तरंग व्रतोंसे विहीन हो चुका है ।

उपसंहार—

उक्तव्रततपः शीलसंयमादिधरो गणी ।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥ ६५८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनके अनुसार जो व्रत, तप, शील, संयमादिकका धारण करनेवाला है वही गणका स्वामी आचार्य कहा जाता है, वही साक्षात् गुरु है, वही नमस्कार करने योग्य है । उससे भिन्न स्वरूपका धारण करनेवाला गणका स्वामी आचार्य नहीं कहा जा सकता ।

उपाध्यायका स्वरूप—

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ ६५९ ॥
कविर्व्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ ६६० ॥
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासो हि कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥ ६६१ ॥
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित् ॥ ६६२ ॥
तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः ।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥ ६६३ ॥
मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्वशी ॥ ६६४ ॥
अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गुणाग्रणी ॥ ६६५ ॥

अर्थ—प्रत्येक प्रश्नका समाधान करनेवाला, वाद करनेवाला, स्याद्वादके रहस्यका जानकार, वचन बोलनेमें चतुर, वचन ब्रह्मका सर्वज्ञ, सिद्धान्त शास्त्रका पारगामी, वृत्ति और प्रधान सूत्रोंका विद्वान, उन वृत्ति और सूत्रोंको शब्द तथा अर्थके द्वारा सिद्ध करनेवाला, अर्थमें मधुरता लानेवाला, बोलनेवाले व्याख्याताओंके मार्गमें अग्रगामी इत्यादि गुणोंका धारी

उपाध्याय होता है। उपाध्याय होनेमें मुख्य कारण शास्त्रोंका अभ्यास है, जो गुरू स्वयं उन शास्त्रोंका अध्ययन करता है तथा जो शिष्योंको अध्ययन कराता (पढ़ाता) है वही उपाध्याय कहलाता है। उपाध्यायमें पढ़ने पढ़ानेके सिवा बाकी व्रतादिकोंका पालन आदि विधि मुनियोंके समान साधारण है। उपाध्याय धर्मका उपदेश कर सक्ता है, परन्तु आचार्यके समान धर्मका आदेश (आज्ञा) कभी नहीं कर सक्ता। बाकी आचार्योंके ही सहवासमें वह रहता है, उसी प्रकार निर्ग्रन्थ अवस्था रखता है, आचार्यके समान ही संयम, तप, शुद्ध चारित्र, और पांच आचारों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक चारित्र, तप, वीर्य)को वह शुद्धबुद्धि उपाध्याय पालता है। मुनियोंके जो अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तर गुण बतलाये गये हैं उन्हें भी वह पालता है, परीषह तथा उपसर्गोंको भी वह जितेन्द्रिय उपाध्याय जीतता है। यहां पर बहुत विस्तार न कर संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि निश्चयसे उपाध्याय मुनिके समान ही अन्तरंग और बाह्यमें शुद्ध रूपका धारण करनेवाला है, बुद्धिमान् है, निष्परिग्रह नग्न दिगम्बर है, और गुणोंमें सर्व श्रेष्ठ है।

नयी प्रतिज्ञा—

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥ ६६६ ॥

अर्थ—उपाध्याय अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध है, उसका स्वरूप तो कहा जाचुका, अब साधुका लक्षण कहा जाता है जो कि आगमसे भलीभांति सिद्ध है।

साधुका स्वरूप—

मार्गो मोक्षस्य चारित्रं तत्सद्भक्तिपुरःसरम्।*
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥ ६६७ ॥
नोच्याचायं यमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया।
न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ६६८ ॥
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम्।
स्तिमितान्तर्बहिस्तुल्यो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥ ६६९ ॥
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥ ६७० ॥
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोधिकप्रभः।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ ६७१ ॥

---

* संशोधित पुस्तकमें "सद्दृग् भक्ति पुरःसरम्" ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है।

निर्ग्रन्थोन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभिः ॥ ६७२ ॥
परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ ६७३ ॥
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ ६७४ ॥

अर्थ—मोक्षका मार्ग चारित्र है उस चारित्रको जो शुद्धक्ति पूर्वक आत्मसिद्धिके लिये सिद्ध करता है उसे साधु कहते हैं। यह साधु न तो कुछ कहता ही है और न हाथ पैर आदिसे किसी प्रकारका इशारा ही करता है तथा मनसे भी किसीका चिन्तवन नहीं करता, किन्तु एकाग्रचित्त होकर केवल अपने शुद्धात्माका ध्यान करता है जिसकी अन्तरंग और बाह्य वृत्तियां बिल्कुल शान्त हो चुकी हैं वह तरंगरहित समुद्रके समान मुनि कहलाता है। वह मुनि न तो सर्वथा आदेश ही करता है और न उपदेश ही करता है, आदेश और उपदेश वह स्वर्ग और मोक्षमार्गके विषयमें भी नहीं करता है विपक्षकी तो बात ही क्या है, अर्थात् विपक्ष संसारके विषयमें तो वह बिल्कुल ही नहीं बोलता है। ऐसा मुनि वैराग्यकी उत्कृष्ट कोटि तक पहुंच जाता है। अथवा मुनिका स्वरूप ही यह है कि वह वैराग्यकी चरमसीमा तक पहुंच जाता है। और वह मुनि अधिक प्रभावशाली, दिगम्बर दिशारूपी वस्त्रोंका धारण करनेवाला, बालकके समान निर्विकार रूपका धारी, दयामें सदा तत्पर, निष्परिग्रह नग्न, अन्तरंग तथा वहिरंग मोहरूमी ग्रन्थियों (गाँठों)को खोलनेवाला, सदाकालीन नियमोंको पालनेवाला, तपकी किरणोंके द्वारा श्रेणीके क्रमसे कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला, तपस्वी, परीषह तथा उपसर्गादिकोंसे अजेय, कामदेवका जीतनेवाला, एषणाशुद्धिसे परम शुद्ध, चारित्रमें सदा तत्पर इत्यादि अनेक प्रकारके अनेक उत्तम गुणोंको धारण करनेवाला होता है। ऐसा ही साधु कल्याणके लिये नमस्कार करने योग्य है। और कोई विद्वानोंमें श्रेष्ठ भी हो तो भी नमस्कार करने योग्य नहीं है।

भावार्थ—मुनिके लिये ध्यानकी प्रधानता बतलाई गई है, इसी लिये मुनिको आदेश और उपदेश देनेका निषेध किया गया है। आदेश तो सिवा आचार्यके और कोई दे ही नहीं सक्ता है परन्तु मुनिके लिये जो उपदेश देनेका भी निषेध किया गया है वह केवल ध्यानकी मुख्यतासे प्रतीत होता है। सामान्य रीतिसे मुनि मोक्षादिके विषयमें उपदेश कर ही सकता है। यहांपर पदस्थके कर्तव्यका विचार है इसलिये साधुके कर्तव्यमें ध्यानमें तल्लीनता ही कही गई है। उपदेश क्रिया साधु पदके लिये ही वर्जित है। क्योंकि वह मुख्यतया उपाध्यायका काम है।

एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ ६७५ ॥

अर्थ—महान् पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ यह मुनित्रयी (आचार्य, उपाध्याय, साधु) प्रसिद्ध है। तथापि उसमें क्रमसे तरतम रूपसे विशेषता भी है।

भावार्थ—सामान्य रीतिसे आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों ही मूलगुण, उत्तरगुणोंके धारक समान हैं तथापि विशेष कार्योंकी अपेक्षासे उन तीनोंमें विशेषता भी है।

आचार्यमें विशेषता—

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः।
न्यायाद्वाऽऽदेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः ॥ ६७६ ॥

अर्थ—दीक्षा देनेसे, आदेश करनेसे गणका स्वामी आचार्य प्रसिद्ध है। तथा युक्ति आगम, अनुभवसे वह अपने आत्मामें तल्लीन है यह बात भी प्रसिद्ध है।

इसीका खुलासा—

अर्थान्नातत्परोप्येष दृङ्मोहानुदयात्मनः।
अस्ति तेनाविनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ ६७७ ॥

अर्थ—अर्थात् वह आचार्य दर्शन मोहनीयका अनुदय होनेसे अपने आत्मामें तल्लीन ही है। उसे उस विषयमें तल्लीनता रहित नहीं कहा जा सक्ता है क्योंकि दर्शन मोहनीयके अनुदयका अविनाभावी निश्चयसे शुद्धात्माका अनुभव है। इसलिये दर्शन मोहनीयका अनुदय होनेसे आचार्य शुद्धात्माका अनुभव करता ही है।

और भी विशेषता—

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः।
बाह्यार्थात्केवलं न स्यात् क्षतिर्वा च तदक्षतिः ॥ ६७८ ॥

अर्थ—आचार्यके शुद्धात्माके अनुभवका अविनाभावी दर्शन मोहनीय कर्मका तो अनुदय है ही, साथमें एक देश चारित्रमोहनीय कर्मका भी उसके क्षय हो चुका है। चारित्रके क्षय अथवा अक्षयमें बाह्यपदार्थ केवल कारण नहीं हैं।

किन्तु—

अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः।
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥ ६७९ ॥

अर्थ—उपादान कारण मिलने पर चारित्रकी हानि अथवा उसका लाभ होसक्ता है। चारित्रकी क्षति अथवा अक्षतिमें बाह्य वस्तु हेतु नहीं है। क्योंकि बाह्य वस्तु उसमें कारण नहीं पड़ती है।

चारित्रकी क्षति और अक्षतिमें कारण—

सन्ति संज्वलने नोच्चैः स्पर्धका देशघातिनः ।
तद्विपाकोस्त्यमन्दो वा मन्दोहेतुः क्रमाद्द्वयोः ॥ ६८० ॥
संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः ।
सोऽपि तरतमांशांशैः सोप्यनेकैरनेकधा ॥ ६८१ ॥
अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥ ६८२ ॥
तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिति ।
संक्लेशांशोथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥ ६८३ ॥
किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोथवा क्वचित् ।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः ॥ ६८४ ॥
तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः ।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोपरोस्त्यतः ॥ ६८५ ॥
तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।
कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ ६८६ ॥

अर्थ—आचार्य परमेष्ठीके अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायका तो अनुदय ही है, केवल संज्वलन कषायका उनके उदय है। संज्वलन कषाय देशघाती है। उसके स्पर्धक सर्वघाती नहीं हैं। उस एकदेश घात करनेवाली संज्वलन कषायका विपाक यदि तीव्र हो तो चारित्रकी क्षति है, यदि उसका विपाक मन्द हो तो चारित्रकी कोई क्षति नहीं है। संज्वलन कषायकी तीव्रता चारित्रकी क्षतिका कारण है और उसकी मंदता चारित्रकी क्षतिका कारण नहीं है। इसका कारण यह है कि संज्वलन कषायकी तीव्रतासे आत्मामें संक्लेश होता है और संक्लेश चारित्रके क्षयका कारण है। संज्वलन कषायकी मन्दतासे आत्मा विशुद्ध होता है। और विशुद्धि चारित्रके क्षयका कारण नहीं है किन्तु उसकी वृद्धिका कारण है। यह संक्लेश और विशुद्धि उसी प्रकारसे कम बढ़ होती रहती है जिस प्रकारसे कि संज्वलन कषायके विपाकमें तीव्रता और मन्दताके अंशोंमें तरतमता होती रहती है। यह तरतमता अनेक भेदोंमें विभाजित की जाती है। यह चारित्रकी क्षति और अक्षतिका कारण कहा गया है परन्तु आचार्यके किसी कारणवश शिथिलता नहीं आती है, और यदि उनके संज्वलन कषायकी तीव्रतासे थोड़े अंशोंमें चारित्रकी क्षति भी हो जाय तो भी आचार्य स्वात्मामें अतत्पर (असावधान) नहीं सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु अपने आत्मामें सदा तत्पर ही हैं। संज्वलन कषायके मन्द होनेसे आचार्यके विशुद्धिके अंश

बढ़ जाते हैं अथवा उक्त कषायके तीव्रोदयसे संक्लेशके अंश बढ़ जाते हैं, यह समग्र विधान शुद्धात्माके अनुभवमें कुछ कार्यकारी नहीं है, चाहे दैववश उनके विशुद्धिके अंश बढ़ जांय चाहे संक्लेशके अंश बढ़ जांय परन्तु आचार्यके शुद्धात्मानुभवमें बाधा नहीं आती है। संज्वलन कषायकी मन्दतासे चारित्रमें विशुद्धयंश प्रकट हो जाता है और संज्वलन कषायकी तीव्रतासे चारित्रमें संक्लेशांश प्रकट हो जाता है बस इतनी ही बाधा समझनी चाहिये। यदि संज्वलन कषायकी आचार्यके तीव्रता हो तो वह तीव्रता कुछ प्रकोप (प्रमाद) लाती है बाकी और कोई अपराध (शुद्धात्माकी च्युतिका कारण) नहीं कर सकती है। इसलिये उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि संज्वलन कषायकी तीव्रता अथवा चारित्रकी कुछ अंशोंमें क्षति आचार्यके शुद्धात्मानुभवका नाश नहीं कर सकती। क्योंकि शुद्धात्मानुभवके नाशका कारण और ही है।

शुद्धात्माके अनुभवमें कारण—

हेतुःशुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तत्र व्यत्ययात् ॥ ६८७ ॥

अर्थ—शुद्धात्माके ज्ञानमें कारण मिथ्यात्व कर्मका उपशम है। इसका उल्टा मिथ्यात्व कर्मका उदय है, मिथ्यात्व कर्मके उदय होनेसे शुद्धात्माका अनुभव नहीं हो सक्ता है।

इसीका स्पष्ट अर्थ—

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ ६८८ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मका अनुदय होनेपर आत्माके शुद्धानुभव होता है। उसमें चारित्रमोहनीयका उदय विघ्न नहीं कर सकता है।

भावार्थ—शुद्धात्मानुभवकी सम्यग्दर्शनके साथ व्याप्ति (सहकारिता) है। सम्यग्दर्शनके होनेमें दर्शनमोहनीयका अनुदय मूल कारण है। इसलिये दर्शनमोहनीयका अनुदय होने पर शुद्धात्माका अनुभव नियमसे होता है, उस शुद्धात्माके अनुभवमें चारित्र मोहनीयका उदय बाधक नहीं हो सकता है। क्योंकि चारित्र मोहनीयका उदय चारित्रके रोकनेमें कारण है, शुद्धात्माके अनुभवसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव आचार्यके यदि संज्वलन कषायका तीव्रोदय भी हो जाय तो भी उनके शुद्धात्मानुभवनमें वह बाधक नहीं हो सक्ता हां उनके चारित्रांशमें कुछ प्रमाद अवश्य करेगा। इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

न चाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः।
दृङ्मोहस्य कृते नालं अलं स्वस्यकृते च तत् ॥ ६८९ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयका उदय कुछ करता ही न हो ऐसा भी नहीं है। यद्यपि वह दर्शन मोहनीयके कार्यके लिये असमर्थ है तथापि अपने कार्यके लिये अवश्य समर्थ है।

चारित्र मोहनीयका कार्य—

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥ ६९० ॥

अर्थ—आत्माके चारित्र गुणकी क्षति करना ही चारित्र मोहनीयका कार्य है। चारित्र मोहनीयका कार्य आत्माके दर्शन गुणकी क्षति करना नहीं हो सक्ता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन गुण जुदा ही है इसलिये उसका घातक भी जुदा ही कर्म है। जिसप्रकार दूसरेके दर्शनमें दूसरा बाधा नहीं पहुंचा सक्ता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन गुणमें चारित्र मोहनीय बाधा नहीं पहुंचा सक्ता है। उसका काम केवल चारित्र गुणको घात करनेका है।

दृष्टान्त—

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः।
इतरत्राक्षतायेपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ ६९१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसीका चक्षु रोग रहित है और दैवयोगसे दूसरे किसीके चक्षुमें किसी प्रकारकी पीड़ा है तो उस पीड़ासे निर्मल चक्षुवालेकी कोई हानि नहीं हो सक्ती है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है।

कषायोंका कार्य—

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ ६९२ ॥

अर्थ—जबतक कषायोंका अनुदय रहता है तभी तक चारित्र है। जब कषायोंका उदय हो जाता है तभी आत्माके चारित्र गुणकी क्षति हो जाती है।

सारांश—

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते ॥ ६९३ ॥

अर्थ—इसलिये कषायोंका अनुदय हो अथवा उदय हो शुद्धात्मानुभवकी किसी प्रकार क्षति नहीं हो सक्ती है जबतक कि दर्शन मोहनीयका उदय न हो।

भावार्थ—दर्शनमोहनीयका उदय ही शुद्धात्माके अनुभवका बाधक है। कषायों (चारित्र मोहनीय) का उदय चारित्रमें बाधक है।

आचार्य, उपाध्यायमें साधुकी समानता—

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ।

साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ ६०४ ॥
नापि कश्चिद्विशेषोस्ति तयोस्तरतमो मिथः।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥ ६०५ ॥
लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिःकृतः।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्वतः ॥ ६०६ ॥
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात्।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ ६०७ ॥

अर्थ—आचार्य और उपाध्याय दोनों ही समान हैं। जो कारण आचार्यके हैं वे ही उपाध्यायके हैं। दोनों ही साधु हैं अर्थात् साधुकी सम्पूर्ण क्रियायें—अट्ठाईस मूल गुण और चौरासी लाख उत्तर गुण वे दोनों पालते हैं। साधुके समान ही आत्मानुभव करनेवाले हैं। दोनों ही शुद्ध हैं, शुद्ध-उपयोग सहित हैं। आचार्य और उपाध्यायमें परस्पर भी कोई तरतम रूपसे विशेषता नहीं पाई जाती है, और न इन दोनोंमें कोई विशेष अतिशय साधुमें ही पाया जाता है। ऐसा नहीं है कि साधुमें कोई अन्तरंग विशेष उत्कर्ष हो वह उत्कर्ष (उन्नतता) इनमें न हो, किन्तु तीनों ही समान हैं। यदि लेशमात्र विशेषता है तो उन तीनोंमें बाह्य क्रियाकी अपेक्षासे ही है अन्तरंग तीनोंका समान है, इसलिये बाह्य क्रियाओंमें भेद होनेपर भी अन्तःशुद्धि तीनोंमें समान होनेसे कोई हानि नहीं है, क्योंकि मूल कारण अन्तःशुद्धि है वह तीनोंमें समान है। आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनोंमें ही संज्वलनका मन्द, मध्यम, तीव्र उदय कोई नियमित नहीं है, कैसे भी अंशोंका उदय हो यह बात युक्ति, स्वानुभव और आगमसे सिद्ध है।

प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैककशः पृथक् ॥ ६०८ ॥

अर्थ—आचार्य उपाध्याय और साधु तीनोंके ही अनेक भेद हैं, वे भेद जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भावोंकी अपेक्षासे हो जाते हैं।

यथा—

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥ ६०९ ॥

अर्थ—कोई आचार्य कभी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त हो जाता है, फिर वही कभी मध्यम अथवा जघन्य विशुद्धिको प्राप्त हो जाता है।

इसमें हेतु—

हेतुस्तत्रोदिता नाना भावांशैः स्पर्धकाः क्षणम् ।
धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ ७०० ॥

अर्थ—ऊपर कही हुई विशुद्धि कभी उत्कृष्टतासे मध्यम अथवा जघन्य क्यों हो जाती है ? इसका कारण यही है कि वहां पर अनेक प्रकार भावोंमें तरतमता करनेवाले कषायके स्पर्धक प्रतिक्षण उदित होते रहते हैं, विशुद्धिकी तरतमतामें धर्मका उपदेश तथा धर्मका आदेश—बाह्य कारण—हेतु नहीं कहा जा सक्ता है । **भावार्थ**—आचार्य जो धर्मका उपदेश और आदेश करते हैं वह उनकी विशुद्धिमें हीनताका कारण नहीं है। क्योंकि उसके करनेमें आचार्यके थोड़ा भी प्रमाद नहीं है, विशुद्धिमें हीनताका कारण केवल संज्वलन कषायके स्पर्धकोंका उदय है जो लोग यह समझते हैं कि मुनियोंका शासन करनेमें आचार्यके चारित्रमें अवश्य शिथिलता आ जाती है, ऐसा समझना केवल भूल भरा है। आचार्योंका शासन सकषाय नहीं है, किन्तु निष्कषाय धार्मिक शासन है इसलिये वह कभी दोषोत्पादक नहीं कहा जा सक्ता है ।

परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषोऽविशेषभाक् ॥ ७०१ ॥

अर्थ—इसी ऊपर कही हुई परिपाटी (पद्धति—क्रम) से उपाध्याय और साधुओंकी व्यवस्थाका परिज्ञान करना चाहिये । क्योंकि उनमें भी आचार्यसे कोई विशेषता नहीं रह जाती है । तीनों ही समान हैं ।

बाह्य कारण पर विचार ।—

ननु) **नोह्यं धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः ।**
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥ ७०२ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहै कि आचार्यकी विशेषतामें बाह्य क्रियायें—धर्मका उपदेश तथा आदेश भी कारण हैं, क्योंकि अभ्यन्तर हेतुका भी कहीं पर बाह्य कर्म बाह्य हेतु होता ही है ? अर्थात् कर्मोदयरूप अभ्यन्तर कारणमें धर्मोपदेशादि क्रियाको भी कारण मानना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि ऐसी तर्कणा नहीं करना चाहिये ।

क्योंकि ।—

नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिञ्चित्करं बहिः ।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽर्थान्तरं परम् ॥ ७०३ ॥ त्या

अर्थ—ऊपर जो तर्कणा की गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि बाह्य जितनी भी वस्तु है सभी अकिंचित्कर (कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं) है, हां यदि कोई मोहके वशीभूत होकर

बाह्य आचार्यादि पदको चाहे तो अवश्य उसके लिये वह बाह्य पद फल सहित है अर्थात् उसका फिर सांसारिक फल होगा।

आचार्यकी निरीहता।—

किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो बहिः।
धर्मादेशोपदेशादि स्वपदं तत्फलं च यत् ॥ ७०४ ॥

अर्थ—धर्मका उपदेश, धर्मका आदेश, अपना पदस्थ और उसका फल आदि सम्पूर्ण बाह्य बातोंको सर्वथा नहीं चाहनेवाले आचार्यकी तो बात ही निराली है। **भावार्थ**—धर्मादेश, धर्मोपदेश आदि कार्योंको आचार्य चाहनापूर्वक नहीं करता है, किन्तु केवल धार्मिक बुद्धिसे करता है इसलिये बाह्यकारण उसकी विशुद्धिका विघातक नहीं है।

यहांपर कोई शंका कर सकता है कि जब आचार्य मुनियोंपर पूर्ण रीतिसे धर्मादेशादि शासन करते हैं तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उनके इच्छा नहीं है, विना इच्छाके तो वे शासन ही नहीं कर सकते हैं? इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है—

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादि कर्मणि।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ ७०५ ॥

अर्थ—धर्मादेशादि कार्य करते हुए भी आचार्य इच्छाविहीन हैं यह बात असिद्ध नहीं है। जो इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इच्छा की जाती है वास्तवमें उसीका नाम इच्छा है, जहांपर धार्मिक कार्योंमें इच्छा की जाती है उसे इच्छा ही नहीं कहते हैं। **भावार्थ**—जिस प्रकार सांसारिक वासनाओंके लिये जो निदान किया जाता है उसीको निदानबन्ध कहा जाता है जो पुरुष मोक्षके लिये इच्छा रखता है उसको निदान बन्धवाला नहीं कहा जाता है, उसी प्रकार जो इच्छा सांसारिक वासनाओंके लिये की जाती है वास्तवमें वही इच्छा कहलाती है, जो धार्मिक कार्योंमें मनकी वृत्ति लगाई जाती है उसे इच्छा, शब्दसे भले ही कहा जाय परन्तु वास्तवमें वह इच्छा नहीं है क्योंकि इच्छा वहीं कही जाती है जहांपर किसी वस्तुकी चाहना होती है, आचार्यके धर्मादेशादि कार्योंसे किसी वस्तुकी चाहना नहीं है। वह सदा निस्पृह आत्मध्यानमें मुनिवत् लीन है।

शङ्काकार—

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित्।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥ ७०६ ॥

अर्थ—विना क्रियाके इच्छा नहीं हो सकती है और विना इच्छाके क्रिया नहीं हो सकती है यह सर्वत्र नियम है। इसलिये विना इच्छाके कोई क्रिया नहीं हो सकती है, चाहे

वह इन्द्रिय सम्बन्धी विषय हो अथवा नहीं हो। भावार्थ—चाहे संसारके विषयमें क्रिया हो चाहे धर्मके विषयमें हो, कैसी भी क्रिया हो, बिना इच्छाके कोई क्रिया नहीं हो सकती है, इसलिये आचार्यकी धर्मादेशादिक क्रियायें भी इच्छापूर्वक ही हैं, इसलिये आचार्य भी इच्छा सहित ही हैं न कि इच्छा रहित?

उत्तर—

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादक्षीणमोहिषु
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसंभवः ॥ ७०७ ॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि 'इच्छाके बिना क्रिया नहीं होती है' इस लक्षणकी क्षीणकषाय वालोंमें अतिव्याप्ति है, बारहवें गुणस्थानमें क्रिया तो होती है परन्तु वहां इच्छा नहीं है यदि बारहवें गुणस्थानमें भी क्रियाके सद्भावसे इच्छा, मानी जाय तो बन्ध सदा ही होता रहेगा। और बन्धकी नित्यतामें मुक्ति ही असंभव हो जायगी। भावार्थ—ऐसा नियम नहीं है कि बिना इच्छाके क्रिया हो ही नहीं सक्ती है, दशवें गुणस्थानके अन्तमें और बारहवें गुणस्थानमें क्रिया तो है परन्तु इच्छा नहीं है क्योंकि इच्छा लोभकी पर्याय है, और लोभ कषाय वहां पर नष्ट हो चुकी है यदि दशवें गुणस्थानके अन्तमें और बारहवें गुणस्थानमें भी इच्छाका सद्भाव माना जाय तो आत्मामें कर्मबन्धका कभी अन्त नहीं हो सकेगा सदा बन्ध ही होता रहेगा। क्योंकि बन्ध कषायसे होता है, कारणके सद्भावमें कार्यका होना अवश्यंभावी है, बन्धकी नित्यतामें आत्मा कभी भी मुक्त नहीं हो सक्ता है, इसलिये मोक्षका होना ही असम्भव हो जायगा। मोक्षकी असंभवतामें आत्मा सदा संसारावस्थामें दुःखी ही रहेगा। उसके आत्मिक सुख गुणका कभी भी विकाश न हो सकेगा। इसलिये बिना इच्छाके कर्म नहीं हो सक्ता है, यह शंकाकारकी शंका निर्मूल है।

सारांश—

ततोस्त्यन्तः कृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतस्त्रिषु । । शु० = त्रो
निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥ ७०८ ॥

अर्थ—इसलिये आचार्य, उपाध्याय, साधु, इन तीनोंमें विशुद्धिके नाना अंशोंकी अपेक्षासे अन्तरंग कृत भेद है, सामान्य रीतिसे तीनोंमें ही समानता है। उन तीनोंमें बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासे भेद बतलाना यह पक्ष ठीक नहीं है।

आगमका आशय—

किञ्चास्ति यौगिकीरूढिः प्रसिद्धा परमागमे ।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरञ्जसा ॥ ७०९ ॥

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा। / दर्शि
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—यौगिकरीति और रूढ़िसे यह बात परमागममें प्रसिद्ध है कि विना साधु पद प्राप्त किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वहीं पर सर्वज्ञ देवने यह बात भी भले प्रकार प्रकट कर दी है कि श्रेणी चढ़नेवालेको क्षणमात्रमें साधुपद स्वयं प्राप्त हो जाता है।

उसीका स्पष्ट कथन—

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—क्योंकि श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण चिन्ता निरोधात्मक लक्षणवाले ध्यानको करता है।

अतएव—

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह।) तत्र यत्(
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति यत्र तत् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—इस लिये आचार्य और उपाध्यायको साधुपना अनायास (विना किसी विशेषताके) ही सिद्ध है। वहां पर बाह्य उपयोगका अवकाश नहीं है।

नपुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत्।
प्रागादायक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करके पीछे साधुपदको धारण करता है। भावार्थ—यदि कोई ऐसी आशंका करे कि आचार्य शासन क्रियाके पीछे प्रायश्चित्त लेता है फिर साधुपदको पाता है, यह आशंका ठीक नहीं है क्योंकि यह बात पहले अच्छी तरह कही जाचुकी है कि आचार्यकी क्रियायें दोषाधायक नहीं हैं जिससे कि वह छेदोपस्थापना चारित्रको पहिले ग्रहणकर पीछे साधुपदको प्राप्त करे किन्तु उसका अन्तरंग साधुके ही समान है, साधुकीसी ही सम्पूर्ण क्रियायें हैं केवल बाह्य क्रियाओंमें भेद है वह भेद बुद्धिका कारण नहीं है।

ग्रन्थकारका आशय—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ ७१४ ॥

अर्थ—प्रसङ्ग पाकर यहांपर गुरुका लक्षण दिङ्मात्र कहा गया है, बाकीका उनका विशेष स्वरूप जिनेन्द्रकथित आगमके अनुसार कहेंगे।

यौगिक रीतिसे धर्मका स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ ७१५ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः । / त्रंधर्मोरत्नत्र
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। *

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।
सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रूढ़िसे धर्मका स्वरूप—

रूढ़ितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

अर्थ—शरीर और वचनोंकी शुभ क्रिया रूढ़िसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः ।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—घर सहित–गृहस्थ और घर रहित–मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अणुव्रतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् ।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ ७२० ॥

---

* देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणं संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।

\+ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।

अर्थ—हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और सम्पूर्ण परिग्रहका एकदेश त्याग करना गृहस्थोंका अणुव्रत कहा गया है।

महाव्रतका स्वरूप—

सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत्।
नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम्॥ ७२१॥

अर्थ—उन्हीं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और सम्पूर्ण परिग्रहका सर्वथा (मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनापूर्वक) त्याग करना महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत गृहस्थोंसे नहीं किया जा सकता है, किन्तु पूज्य-मुनियोंका यह चिन्ह (स्वरूप) है।

गृहस्थ और मुनियोंमें भेद—

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्त्तिनाम्।
तथाऽनगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽप्यतः॥ ७२२॥

अर्थ—मूलगुण और उत्तरगुणोंको गृहस्थ एकदेशरूपसे पालन करते हैं, मुनि वैसा नहीं करते हैं किन्तु वे उनको सम्पूर्णतासे पालन करते हैं। मुनियोंके उत्तरगुणोंका पालन भी सम्पूर्णतासे होता है।

गृहस्थोंके मूलगुण—

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां साक्षात् सर्वसाधारणा इमे॥ ७२३॥

अर्थ—व्रत धारण करनेवाले गृहस्थियोंके आठ मूलगुण कहे गये हैं। ये आठ मूलगुण अव्रतियोंके भी पाये जाते हैं, ये मूलगुण सबोंके साधारण रीतिसे पाये जाते हैं। **भावार्थ**—सबसे जघन्य पाक्षिक श्रावक होता है उसके भी इन अष्ट मूलगुणोंका होना आवश्यक है, विना इनके पालन किये श्रावक संज्ञा ही नहीं कही जा सकती, इसीलिये इनको सर्वसाधारण गुण कहा गया है। इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि व्रतीश्रावकोंके निरतिचार मूलगुण होते हैं और अव्रतीके सातिचार होते हैं। इसी आशयसे व्रती अव्रतीका भेद किया गया है। इसीका स्पष्ट विवेचन नीचे किया जाता है—

अष्ट मूलगुणोंका प्रवाह—

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम्॥ ७२४॥

अर्थ—ये अष्ट मूल या तो कुल परम्परासे ही पलते चले आते हैं, या स्वभावसे ही नियमसे पलते चले आते हैं। विना अष्टमूल गुणोंके पालन किये कोई व्रत नहीं हो सकता है और न जीवोंके सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। भावार्थ—व्रतोंका पालन करनेके लिये तो नियम मर्यादा आदिका प्रारंभ

किया जाता है । परन्तु अष्ट मूलगुणोंको पालन करनेके कई प्रकार देखे जाते हैं। किन्हीं २ के यहां तो स्वभावसे ही मांसादिकका सेवन नहीं होता है, अर्थात् कोई २ मांसादिकके सेवनसे स्वभावसे ही घृणा प्रकट करते हैं और किन्हीं २ के यहां कुलपरम्परासे मांसादिकका ग्रहण नहीं किया जाता है, ऐसे घरानोंमें अष्ट मूलगुणोंका नियम बड़ी सुगमतासे कराया जा सकता है, परन्तु जिनके यहां कुलाम्नाय अथवा स्वभावसे मांसादिकका त्याग नहीं है उनको सम्यक्त्व प्राप्तिके समय मांसादिकके छोड़नेके लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है परन्तु यह बात जैनेतर पुरुषोंमें ही पाई जाती है, जैन कहलानेवाले पुरुषोंके तो नियमसे स्वभाव और कुलाम्नायसे अष्ट मूल गुणोंका पालन होता ही चला आता है । उनके पालनेके लिये उन्हें किसी प्रकारका यत्न नहीं करना पड़ता है, विना अष्ट मूल गुणोंके पालन किये पाक्षिक जैन भी नहीं कहा जा सकता है । और न उसके सम्यक्त्व तथा व्रत ही हो सकता है ।

अष्ट मूल गुणोंका पालन जैन मात्रके लिये आवश्यक है—

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः ।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोथवा ॥ ७२५ ॥

अर्थ—इतना किये विना अर्थात् अष्ट मूल गुण धारण किये विना नाम मात्र भी श्रावक नहीं कहा जाता है, फिर पाक्षिक, गूढ, नैष्ठिक, अथवा साधककी तो बात ही क्या है ?

अष्टमूल गुण—

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः ।
नामतः श्रावकः क्षान्तो नान्यथापि तथा गृही ॥ ७२६ ॥

अर्थ—मदिरा, मांस, मधु (शहत) का त्याग करनेवाला तथा पांच उदुम्बर फलोंका त्याग करनेवाला नाम मात्रका श्रावक कहा जाता है, वही क्षमा धर्मका पालक है अन्यथा वह श्रावक नहीं कहा जासकता है । भावार्थ—जो केवल श्रावक संज्ञाको धारण करता है उसे भी तीन मकार और पांच फलोंका त्यागी होना चाहिये, जो इनका भी त्यागी नहीं है उसे जैन ही नहीं कहना चाहिये । इन्हीं आठोंके त्यागको अष्ट मूल गुण कहते हैं ।

सप्तव्यसनके त्यागका उपदेश—

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥ ७२७ ॥

अर्थ—गृहस्थों (अव्रती) को यथाशक्ति सप्तव्यसनका त्याग करना चाहिये और जो व्रतोंका पालन करते हैं तथा शुभ क्रियाओंको चाहते हैं उन गृहस्थोंको तो अवश्य ही ÷सप्तव्यसनका त्याग करना चाहिये । भावार्थ—यहांपर सप्त व्यसनके आवश्यक त्यागका उपदेश

÷ द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः महापापानि सप्तैतद्व्यसनानि त्यजेद्बुधः । अर्थात् जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्याके यहां जाना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्रीके यहां जाना इन सात व्यसनोंको बुद्धिमान् छोड़ दे ।

उस श्रावकके लिये दिया गया है जो व्रतोंको पालता है, नियम पूर्वक त्याग व्रती श्रावक ही कर सकता है, अव्रती नियमपूर्वक इनका त्याग नहीं कर सकता है, परन्तु अष्टमूल गुणोंका धारण अव्रती श्रावकके लिये भी आवश्यक कहा गया है।

अतीचारोंके त्यागका उपदेश—

त्यजेद्दोषाँस्तु तत्रोक्तान् सूत्रोतीचारसंज्ञकान्।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥ ७२८ ॥

अर्थ—व्रतोंके पालनेमें जो अतीचार * नामक दोष सूत्रोंमें कहे गये हैं उन्हें भी छोड़ना चाहिये। मद्य मांसादिकोंका तो कौन श्रावक सेवन करेगा? अर्थात् मद्यादिक तो प्रथमसे ही सर्वथा त्याज्य हैं।

दान देनेका उपदेश—

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ ७२९ ॥

अर्थ—उत्तम श्रावकोंको जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रोंके लिये पात्रबुद्धि तथा श्रद्धापूर्वक चार प्रकारका दान देना चाहिये। **भावार्थ**—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि उत्तम पात्र कहे जाते हैं, एक देशव्रतके धारक पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक मध्यम पात्र कहे जाते हैं, और व्रतरहित चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि पुरुष जघन्य पात्र कहे जाते हैं। जैसा पात्र होता है उसी प्रकारका दानके फलमें भेद हो जाता है। जिस प्रकार क्षेत्रकी विशेषतासे वनस्पतिके फलोंमें विशेषता देखी जाती है उसी प्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है। जिस प्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है उसी प्रकार दाताकी श्रद्धा, पात्रबुद्धि, भक्ति, निस्पृहता आदि गुणोंसे भी दानके फलमें विशेषता होती है। दानका फल भोगभूमि आदि उत्तम सुखस्थान कहे गये हैं। धनोपार्जनसे रात दिन आरम्भजनित पापबन्ध करनेवाले श्रावकोंको पात्रदान ही पुण्यबन्धका मूल कारण है। इसलिये प्रतिदिन यथाशक्ति चार प्रकारका दान करना चाहिये। यद्यपि वर्तमान समयमें उत्तम पात्रोंका अभावसा हो गया है तथापि उनका सर्वथा अभाव नहीं है। मुनिके न मिलनेपर उत्तम श्रावक, ब्रह्मचारी, उदासीन, सहधर्मी जनोंको दान देना चाहिये। दान चार प्रकार है—आहारदान, औषधदान, अभयदान और ज्ञानदान। यद्यपि सामान्य दृष्टिसे चारों ही दान विशेष पुण्यके कारण हैं तथापि इन चारोंमें उत्तरोत्तर विशेषता है। आहारदान एकबारकी क्षुधाको निवृत्त करता है; औषधदान अनेक दिनोंके लिये शारीरिक रोगोंको दूर कर देता, है अभयदान एक जन्मभरके लिये निर्भय बना

* "अतीचारोंशभञ्जनम्" किसी व्रतके एक अंशमें दोष लगनेको अतीचार कहते हैं। (सागारधर्मामृत।)

देता है। और ज्ञानदान सदाके लिये अजर, अमर, क्षुधादि दोषरहित और निर्भय बना देता है। ज्ञानदानका अतुल माहात्म्य है। पहलेके तीनों दान तो शारीरिक बाधाओंको ही दूर करते हैं परन्तु ज्ञान दान आत्माके निज गुणका विकाश करता है। पहलेके तीन दान तो एक भवके लिये अथवा उसमें भी कुछ समयके लिये ही इस जीवके सहायक हैं परन्तु ज्ञान दान इस जीवका सदाके लिये परम सहायक है। ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो इस जीवात्माको सांसारिक वासनाओंसे हटाकर त्याग मार्ग पर ले जाता है इसलिये श्रावकोंको चारों ही दान और विशेषतासे ज्ञान दान यथाशक्ति अवश्य करना चाहिये। छात्रोंकी सहायता करना, विद्यालयोंका खोलना, शास्त्रोंका वितरण करना, सदुपदेश देना, और स्वयं पढ़ाना ये सम्पूर्ण बातें ज्ञान दानमें गर्भित हैं।

कुपात्र और अपात्रको भी दान देनेका उपदेश—

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया॥ ७३०॥

अर्थ—* कुपात्र और अपात्रके लिये भी यथोचित दान देना चाहिये। इतना विशेष है कि कुपात्र और अपात्रके लिये पात्र बुद्धिसे दान देना निषिद्ध (वर्जित) कहा गया है, परंतु वह कृपाबुद्धिसे निषिद्ध नहीं है। **भावार्थ**—कुपात्र और अपात्रके लिये पात्र बुद्धिसे जो दान दिन दिया जाता है वह मिथ्यात्वमें शामिल किया गया है, क्योंकि पात्र सम्यग्दृष्टि ही होसक्ता है। पात्रके लिये जो दान दिया जाता है वह भक्ति पूर्वक दिया जाता है, परन्तु कुपात्र अथवा अपात्रके लिये जो दान दिया जाता है वह भक्ति पूर्वक नहीं दिया जाता किन्तु करुणा बुद्धिसे दिया जाता है।

दानका सामान्य उपदेश—

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्यो दयादानादि दातव्यं करुणार्णवैः॥ ७३१॥

अर्थ—और भी जो अशुभकर्मोदयसे क्षुधा, प्यास आदि बाधाओंसे पीड़ित दीन पुरुष हैं उनके लिये भी करुणा सिन्धुओं (दयालुओं)को करुणादान आदि करना चाहिये।

---

* उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन सहित महाव्रती दिगम्बर मुनि उत्तम पात्र हैं, अणुव्रती सम्यग्दृष्टि मध्यम पात्र हैं। व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। ये तीनों ही सत्पात्र गिने जाते हैं। सम्यग्दर्शन रहित व्रती जीव कुपात्र है तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत दोनोंसे रहित है वह अपात्र है।

(सागारधर्मामृत)

जिनेन्द्र पूजनका उपदेश—

पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा प्रतिमासु तद्धिया।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः॥ ७३२॥

अर्थ—सद्बुद्धि गृहस्थको तेरहवें गुणस्थानवर्ती, वीतराग, सर्वज्ञ अरहन्त भगवानकी पूजन करना चाहिये अथवा उन अरहन्तोंकी प्रतिमाओंमें अरहन्तकी बुद्धि रख कर स्वर व्यञ्जनोंकी स्थापना करके उनकी पूजा करना चाहिये अथवा स्वर व्यञ्जनोंकी स्थापना करके सिद्ध भगवानकी भी पूजन करना चाहिये।

आचार्य, उपाध्याय, साधुओंकी पूजाका उपदेश—

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोःस्तुतिम्।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात् स त्रिशुद्धितः॥ ७३३॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके चरणोंकी पहले स्तुति करके फिर मन, वचन, कायकी शुद्धतासे श्रावकको उन तीनों परमेष्ठियोंकी अष्ट द्रव्यसे पूजा करना चाहिये।

सहधर्मी और ब्रह्मचारियोंकी विनय करनेका उपदेश—

सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम्।
व्रतिनां चेतरेषांम्वा विशेषाद्ब्रह्मचारिणाम्॥ ७३४॥

अर्थ—जो अपने समान धर्मसेवी (अपने समान श्रावक) हैं उनका यथाशक्ति आदर सत्कार करना चाहिये, तथा जो व्रती श्रावक हैं अथवा सम्यग्दृष्टि हैं उनका भी यथाशक्ति आदर सत्कार करना चाहिये, और विशेष रीतिसे ब्रह्मचारियोंका आदर सत्कार करना चाहिये।

व्रतयुक्त स्त्रियोंकी विनय करनेका उपदेश—

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे।
देयं सम्मानदानादि लोकानामविरुद्धतः॥ ७३५॥

अर्थ—व्रतयुक्त जो स्त्रियां हैं, उनका भी लोकसे अविरुद्ध आदर सत्कार करना जैनागममें निषिद्ध नहीं है। **भावार्थ**—जिस प्रकार व्रती पुरुष सन्मान दानके योग्य हैं उसी प्रकार व्रत युक्त स्त्रियां भी सन्मान दानके योग्य हैं, क्योंकि पूज्यताका कारण चारित्र है वह दोनोंमें समान है। इतना विशेष है कि स्त्रियोंका सन्मान आदि लोकसे अविरुद्ध करना चाहिये इसका आशय यह है कि लोकमें जितना सन्मान उन्हें प्राप्त है उसीके अनुसार देना चाहिये।

जिनचैत्यगृह बनानेका उपदेश—

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता।
यथा सम्पद्विधेयास्ति दूष्या नाऽवद्यलेशतः॥ ७३६॥

अर्थ--श्रावकोंको जिन मन्दिर बनवानेमें सदा सावधान रहना चाहिये, अपनी सम्पत्तिके परिमाणके अनुसार जिन मन्दिरोंकी रचना अवश्य कराना चाहिये। जिन चैत्य गृह (मन्दिर) बनवानेमें थोड़ासा आरम्भजनित पाप लगता है इस लिये मन्दिर बनवानेमें दोष हो ऐसा नहीं है। **भावार्थ**--यह बात अच्छी तरह निर्णीत है कि जैसा द्रव्य क्षेत्र काल भावका प्रभाव होता है पुरुषोंकी आत्माओंमें भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है। जिस समय किसी दुष्ट पुरुषका समागम हो जाता है उसके निमित्तसे प्रतिसमय परिणाम खराब ही रहते हैं, और जिस समय किसी सज्जनका समागम होता है उस समय मनुष्यके परिणाम उसके निमित्तसे उज्वल होते चले जाते हैं, यह प्रभाव द्रव्यका ही समझना चाहिये। इसी प्रकार कालका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। रात्रिमें मनुष्यके परिणाम दूसरे प्रकारके हो जाते हैं और प्रातःकाल होते ही बदल कर उत्तम हो जाते हैं। जो वासनाएं रात्रिमें अपना प्रभाव डालती हैं वे अनायास ही प्रातःकाल दूर हो जाती हैं, यह कालका प्रभाव समझना चाहिये। इसी प्रकार क्षेत्रका प्रभाव पूर्णतासे आत्मापर प्रभाव डालता है--जो परिणाम घरमें रहते हैं, वे परिणाम किसी साधुनिकेतनमें जानेसे नहीं रहते हैं, जो बातें हमारे हृदयमें विकार करने वाली उत्पन्न हुआ करती हैं वे उस निकेतनमें पैदा ही नहीं होती हैं उसी प्रकार जो हमारे परिणाम धर्म साधनकी ओर सर्वथा नहीं लगते हैं वे मन्दिरमें जाकर स्वयं लग जाते हैं। मन्दिर ही धर्मसाधनका मूल कारण है। मन्दिरमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, चारों निमित्तोंकी पूर्ण योग्यता है। वहीं हम एकान्त पाते हैं। वहीं तत्त्वचर्चाका स्वाद हमारे कानोंमें प्रविष्ट होता रहता है, और वहीं पर श्री जिनेन्द्रकी वीतराग छवि हमारे आत्मीक भावोंका विकाश करती है। आजकल तो जितना धर्म साधन और परिणामोंकी निर्मलता जिनेन्द्र स्तवन तथा उनकी पूजनसे होती है वैसी निर्मलता और धर्मसाधन अन्यथा नहीं हो सक्ता है। इसका कारण भी यह है कि आजकलके संहनन और मनोवृत्तियोंकी चञ्चलता कुछ दूसरे ही प्रकारकी है। अधिक समय तक न तो हम ध्यान ही कर सक्ते हैं, और न शुभ परिणाम ही रख सक्ते हैं। आत्म चिन्तवन तो बहुत दूर पड़ जाता है इसलिये हम लोगोंके लिये अवलम्बनकी बड़ी आवश्यकता है, और वह अवलम्बन जिनेन्द्रकी वीतराग मुद्रा है, उस वीतराग प्रतिमाके सामने बहुत देर तक हमारे भाव लगे रहते हैं बल्कि यों कहना चाहिये कि जितनी देर हम उस प्रतिमाके सामने उपयोग लगाते हैं उतनी देर तक हमारे परिणाम वहांसे खिंचकर दूसरी ओर लगते ही नहीं है। ध्यानका माहात्म्य यद्यपि बहुत बढ़ा है परन्तु मनोवृत्तियोंकी चञ्चलताके संस्कार तुरन्त ही वहांसे उपयोग हटा देते हैं, जिनेन्द्र पूजन और जिनेन्द्र स्तवनमें यह बात नहीं है। जितनी २ भक्ति पुण्यमय स्तोत्रों द्वारा हम करते हैं उतना २ ही हमारा परिणाम भक्ति रससे उमड़ने लगता है, वही

समय हमारे अतिशय पुण्य बन्धका कारण है। श्रावकके लिये जिनेन्द्र दर्शन, जिनपूजन और जिन चिन्तवन इनसे बढ़कर विशेष पुण्योत्पादक और कोई वस्तु नहीं है और यह सामग्री जिन मन्दिरमें ही मिल सक्ती है। इसलिये जिन मन्दिरोंका बनवाना परम आवश्यक है, वर्तमान समयमें कुछ लोग ऐसा कहने लगे हैं कि "फल भावानुसार होता है इसलिये देवदर्शन करना आवश्यक नहीं है, घर ही परोक्ष नमस्कार करनेसे पुण्यबन्ध हो सक्ता है, और भाव न हों तो मंदिर जाना भी कुछ कार्यकारी नहीं है" ऐसा कहना उन्हीं पुरुषोंका समझना चाहिये जो जैन शास्त्रोंपर श्रद्धान नहीं रखते हैं, और न जैन मतमें बताई हुई क्रियाओंको पालते हैं इतना ही नहीं किंतु क्रियाओंको रूढ़ि कहकर अपने तीव्र मिथ्यात्वका परिचय देते हैं। जो जिन दर्शनको प्रतिदिन आवश्यक नहीं समझते हैं उन्हें जैन कहना भूल है, "भावसे ही पुण्यबन्ध होता है" यह उनका छल मात्र है, यदि वास्तवमें ही वे भावोंको ऐसा बनाते तो जिन दर्शन और जिन मंदिरकी अनावश्यकता नहीं बतलाते। बिना बाह्य अवलम्बनके अन्तरंगका सुधार कभी नहीं हो सक्ता है। जिन मुनियोंने आत्माको ही ध्येय बना रक्खा है उन्होंने भी अनेक स्तोत्र स्रोतोंसे जिन भक्तिकी गंगा बहा दी है। फिर विचारे आत्मध्येयसे कोशों दूर श्रावकोंकी तो बात ही क्या है। श्रावकोंके नित्य कर्तव्योंमें सबसे पहला कर्तव्य देवपूजन है। इसलिये जिन मंदिर बनवाकर अनेक भव्य जीवोंका उपकार करना श्रावकका प्रथम कर्तव्य है। *

कोई २ ऐसी शंका करते हैं कि जिनमंदिर बनवानेमें जल मिट्टी ईंट पत्थर लकड़ी आदि पदार्थोंके इकट्ठा करनेमें पापबन्ध ही होता है? इसका उत्तर ग्रन्थकारने चौथे चरणमें स्वयं देदिया है, उन्होंने कह दिया है कि पापका लेश अवश्य है परन्तु असीम पुण्य बन्धके सामने वह कुछ नहींके बराबर है क्योंकि "तत्पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबन्धः" अर्थात् वह पाप भी पाप नहीं है कि जिसमें बड़ा भारी धर्मानुबन्ध हो इसी लिये आचार्यने पापलेशके होनेसे मंदिर बनवानेकी विधिको दूषित नहीं बताया है। मंदिर बनवानेमें पापका तो लेश मात्र है परन्तु पुण्यबन्ध बहुत होता है इसलिये उपर्युक्त शंका निर्मूल है।×

---

* निरालम्बनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सताम्, मुक्तिप्रासादसोपानमाप्तैरुक्तो जिनालयः।

अर्थ—जिनमंदिरोंमें आधार रहित धर्मकी स्थिति बनी हुई है। इस लिये वे जिनमन्दिर सज्जन पुरुषोंको मोक्षरूपी महलपर चढ़नेके लिये सीढ़ीके समान हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

(सागारधर्मामृत)

× यद्यप्यारम्भतो हिंसा हिंसायाः पापसंभवः।
तथाप्यत्र कृतारम्भो महत्पुण्यं समश्नुते॥

अर्थ—यद्यपि आरंभ करनेसे हिंसा होती है और हिंसासे पाप उत्पन्न होता है तथापि जिनमंदिर, पाठशाला, स्वाध्यायशाला आदिके बनवानेमें मिट्टी पत्थर पानी लकड़ी आदिके इकट्ठे करनेसे आरंभ करनेवाला पुरुष महा पुण्यका अधिकारी होता है। (सागारधर्मामृत)

प्रतिष्ठा करानेका उपदेश—

सिद्धानामर्हताञ्चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य प्राक्प्रतिष्ठापयेत् सुधीः ॥ ७३७ ॥

अर्थ—सिद्ध यंत्र और अर्हन्तोंकी शुभ प्रतिमाओंको चैत्यालयोंमें स्थापना करके पहले उनकी बुद्धिमान् पुरुषको प्रतिष्ठा करानी चाहिये । **भावार्थ**—मन्त्रशास्त्रोंमें शब्दशक्तिका अपार माहात्म्य बतलाया गया है, जिनप्रतिमाओंमें अर्हन्तोंकी स्थापना मन्त्रों द्वारा ही की जाती है, उन्ही मन्त्रोंकी शक्तिसे वह स्थापना की हुई प्रतिमा पूज्य होजाती है, मन्त्रशक्तिकी योजनाके लिये ही प्रतिष्ठा कराई जाती है ।

तीर्थक्षेत्रोंकी यात्राका उपदेश—

अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः ।
श्रावकः न च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥ ७३८ ॥

अर्थ—तीर्थवन्दना, आदि यात्राओंके लिये सदा उत्साह सहित मनको रखना चाहिये। परन्तु तीर्थादिककी यात्राओंमें भी श्रावक संयमकी विराधना न करे, अर्थात् यात्राओंमें अनेक विघ्नके कारण मिलनेपर भी वह संयमको सुरक्षित ही रक्खे ।

जिनबिम्बोत्सवमें सम्मिलित होनेका उपदेश—

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे ।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥ ७३९ ॥

अर्थ—जो नित्य नैमित्तिक जिन बिम्ब महोत्सव होते रहेते हैं उनमें भी श्रावकोंको शिथिलता नहीं करना चाहिये, तत्त्वके जानकारोंको तो विशेषतासे उनमें सम्मिलित होना चाहिये । **भावार्थ**—जिन बिम्ब महोत्सव तथा धार्मिक सम्मेलनोंमें जानेसे धर्मकी प्रभावना तो होती ही है साथमें अनेक विद्वान् एवं धार्मिक सत्पुरुषोंके समागमसे तत्वज्ञान प्राप्तिका भी सुअवसर मिल जाता है इसलिये धार्मिक सम्मेलनोंमें अवश्य जाना चाहिये ।

संयम धारण करनेका उपदेश—

संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः ।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥ ७४० ॥

अर्थ—गृहस्थोंको दो प्रकारका संयम भी धारण करना चाहिये । या तो अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिमारूप व्रतको धारण करना चाहिये अथवा विना प्रतिमाके भी अभ्यस्तरूप व्रतोंको धारण करना चाहिये । **भावार्थ**—जो व्रत नियमपूर्वक उत्तरोत्तर प्रतिमाओंमें पहले २ की प्रतिमाओंके साथ पाले जाते हैं उन्हें प्रतिमारूप व्रत कहते हैं । और जो व्रत नियमपूर्वक

प्रतिमारूपसे नहीं पाले जाते हैं, केवल अभ्यासरूपसे कभी किसी प्रतिमाका अभ्यास किया जाता है और कभी किसी प्रतिमाका अभ्यास किया जाता है उन्हें प्रतिमारूप व्रत नहीं कहते किन्तु अनियत व्रत कहते हैं। जो श्रावक प्रतिमारूपसे व्रतोंके पालनेमें असमर्थ हैं वे अनियत व्रतोंसे ही शुभ कर्मबन्ध करते हैं।

बारह तपोंका उपदेश—

तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यञ्चानतिवीर्यसात् ॥ ७४१

अर्थ—बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे तप बारह प्रकार कहा गया है * छह प्रकार बाह्य और छह प्रकार अभ्यन्तर। इन बारह प्रकारके तपोंको सम्पूर्णतासे अथवा इनमेंसे किसी एकको अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये।

ग्रन्थकारकी महान् प्रतिज्ञा—

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम्।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशात्सविस्तरम् ॥ ७४२ ॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि यहांपर प्रसङ्गवश गृहस्थियोंके व्रत दिङ्मात्र हमने कह दिये हैं। आगे अवकाश पाकर उपासकाध्ययन ग्रन्थोंके आधारसे उन्हें विस्तारपूर्वक हम कहेंगे। ×

यतियोंके मूलगुण—

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥ ७४३ ॥

अर्थ—मुनियोंके मूलगुण भी अट्ठाईस हैं। वे ऐसे ही हैं जैसे कि वृक्षका मूल होता है। विना मूलके जिस प्रकार वृक्ष नहीं ठहर सकता उसी प्रकार विना अट्ठाईस मूलगुणोंके मुनिव्रत भी नहीं ठहर सकता। इन अट्ठाईस मूलगुणोंमेंसे मुनियोंके न तो एक भी कम होता है और न अधिक ही होता है।

अट्ठाईस मूलगुणोंके पालनेसे ही मुनिव्रत पलता है—

सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥ ७४४ ॥

---

* अनशन, अवमोदर्य (ऊनोदर), वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, एकान्त शयन, ये छह बाह्य तपके भेद हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ये छह भेद अभ्यन्तर तपके हैं। इनका विशेष विवरण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकसे जानना चाहिये।

× ग्रन्थकारने ऐसी बड़ी २ प्रतिज्ञायें कई प्रकरणोंमें की हैं। यदि आज समग्र ग्रन्थ-सिन्धुकी उपलब्धि होती तो न जाने कितने अपूर्व तत्वरत्नोंकी प्राप्ति होती!

अर्थ—अट्ठाईस मूलगुणोंको सम्पूर्ण रीतिसे पालनेसे ही मुनिव्रत सिद्ध होता है। इनमेंसे कुछ गुणोंको पालनेसे मुनिव्रत नहीं समझा जाता, किन्तु वह भी अपूर्ण ही रहता है। जितने अंशमें मूलगुणोंमें न्यूनता रहती है उतने ही अंशमें मुनिव्रतमें भी न्यूनता रह जाती है।

ग्रन्थान्तर (अट्ठाईस मूलगुण)

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमन्हाणं ।
खिदिसयणमदंतमुणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ ७४५ ॥

अर्थ—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँचों इन्द्रियोंका निरोध, केशलोंच करना, छहै आवश्यकों (समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग) का पालना, वस्त्र धारण नहीं करना, स्नान नहीं करना, पृथ्वीपर सोना, दन्तधावन नहीं करना, खड़े होकर आहार लेना और एकबार भोजन करना ये मुनियोंके अट्ठाईस मूल गुण हैं।

मुनियोंके उत्तर गुण—

एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने ।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥ ७४६ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए मुनियोंके मूल गुण जैन शासनमें कहे गये हैं उन्हीं मुनियोंके उत्तर गुण चौरासी लाख हैं।

सारांश—

ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः ।
प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राऽविशेषतः ॥ ७४७ ॥

अर्थ—सारांश यही है कि जो गृहस्थोंका धर्म कहा गया है अथवा जो मुनियोंका धर्म कहा गया है उन दोनोंमें सामान्य रीतिसे प्राणियोंकी रक्षा मूल भूत है, अर्थात् दोनोंके व्रतोंका उद्देश्य प्राणियोंकी रक्षा करना है। गृहस्थ धर्ममें एक देश रक्षा की जाती है और मुनि धर्ममें सर्वथा की जाती है।

क्रियारूप व्रतोंका फल—

उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥ ७४८ ॥

अर्थ—और भी जो क्रियारूप व्रतोंका समूह विस्तारसे कहा गया है वह एक सर्व सावद्ययोग (प्राणि हिंसापरिणाम) की निवृत्तिके ही लिये है।

व्रतका लक्षण—

अर्थाज्जैनोपदेशोयमस्त्यादेशः स एव च ।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ ७४९ ॥

अर्थ—अर्थात् यही तो जिनमतका उपदेश है और यही जिनमतका आदेश है कि सर्व सावद्ययोगकी निवृत्तिको व्रत कहते हैं।

सर्व सावद्ययोग (हिंसा) का स्वरूप—

सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ ७५० ॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥ ७५१ ॥

अर्थ—सर्व सावद्य योगका शब्दार्थ करते हुए प्रत्येक शब्दका अर्थ करते हैं—सर्व शब्दका अर्थ है अन्तरंग और बहिरंग व्यापार, सावद्य शब्दका अर्थ है प्राणोंका छेद करना, इसीका नाम हिंसा है। योग शब्दका अर्थ है उस सर्व सावद्य (हिंसा) के विषयमें उपयोग लगाना, उपयोग दो प्रकारका है, एक बुद्धि पूर्वक, दूसरा सूक्ष्म-अबुद्धि पूर्वक, इस प्रकार योगके दो भेद हो जाते हैं।

भावार्थ—अन्तरंग और बहिरंग प्राणोंका नाश करनेके लिये उपयोगको लगानेका नाम ही सर्व सावद्य योग कहलाता है। अर्थात् हिंसाकी तरफ परिणामोंको लगाना, इसीका नाम सर्व सावद्य योग है। अन्तरंग सावद्य-भाव प्राणोंका नाश करना और बाह्य सावद्य—द्रव्य प्राणोंका नाश करना है। बुद्धि पूर्वक हिंसा करनेके लिये उद्यत चित्त होना स्थूल सावद्य योग है और कर्मोदयवश-अज्ञात भावोंसे हिंसाके लिये परिणामोंका उपयुक्त होना सूक्ष्म सावद्य योग है।

व्रतका स्वरूप—

तस्याभावन्निवृत्तिः स्याद् व्रतं चार्थादिति स्मृतिः।
अंशात्साप्यंशतस्तत्स्या सर्वतः सर्वतोपि तत् ॥ ७५२ ॥

अर्थ—उस सर्व सावद्ययोगका अभाव होनेका नाम ही सर्व सावद्ययोग निवृत्ति कहलाती है, उसीका नाम व्रत है। यदि सर्व सावद्य योगकी निवृत्ति अंश रूपसे है तो व्रत भी अंश रूपसे है, और यदि वह सर्वांश रूपसे (पूर्णतासे) है तो व्रत भी पूर्ण है।

अन्तर्व्रत और बाह्यव्रत—

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि कृपा ॥ ७५३ ॥

अर्थ—यह बात निर्णीत है कि प्राणियोंमें दया करना बाह्य व्रत कहलाता है और कषायोंका त्याग करना अन्तर्व्रत कहलाता है तथा यही अन्तर्व्रत निजात्मा पर दया-भाव कहलाता है।

* भाव हिंसासे हानि—

लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् ।
हिंसा स्यात्संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः ॥ ७५४ ॥

अर्थ—असंख्यात लोक प्रमाण रागादिक वैभाविक भाव जब तक रहते हैं तब तक आत्माके ज्ञानादिक गुणोंकी हिंसा होनेसे आत्माकी हिंसा होती रहती है। इसलिये ये भाव ही हिंसाके कारण तथा स्वयं हिंसारूप हैं।

इसीका खुलासा—

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥ ७५५ ॥

अर्थ—अर्थात् रागादिक भाव ही हिंसा है, अधर्म है, व्रतच्युति है, और रागादिकका त्याग ही अहिंसा है, धर्म है अथवा व्रत है।

परका रक्षण भी स्वात्म रक्षण है।—

आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतम् ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतं नातः परत्र यत् ॥ ७५६ ॥

अर्थ—आत्मासे भिन्न दूसरे प्राणियोंके शरीरकी रक्षा जो कही गई है वह भी केवल अपनी ही रक्षाके लिये है। इससे भिन्न नहीं है। भावार्थ—परजीवोंकी रक्षाके लिये जो उद्योग किया जाता है वह शुभ परिणामोंका कारण है, तथा जो सर्वारंभरहित निवृत्त परिणाम हैं वे शुद्धभावोंके कारण हैं। शुभभाव और शुद्धभावोंसे अपने आत्माका ही कल्याण होता है इस लिये पर रक्षणको स्वात्मरक्षण ही कहना चाहिये।

रागादिक ही आत्मघातमें हेतु हैं—

सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥ ७५७ ॥

अर्थ—रागादिक भावोंके होने पर अवश्य ही कर्म बन्ध होता है, और उस कर्म बन्धके पाकसे आत्माको दुःख होता है इसलिये रागादिक भावों (परहिंसा परिणाम)से अपने आत्माका घात होता है यह बात सिद्ध हो चुकी।

उत्कृष्ट व्रत—

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते ।
चारित्रापरनामैतद् व्रतं निश्चयतः परम् ॥ ७५८ ॥

अर्थ—इस लिये मोहनीय कर्मके उदयसे रहित जो आत्माका शुद्धोपयोग है उसीका दूसरा नाम चारित्र है और वही निश्चयसे उत्कृष्ट व्रत है।

शुद्ध चारित्र ही निर्जराका कारण है—

चारित्रं निर्जराहेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम् ।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हन् सार्थनामास्ति दीपवत् ॥ ७५९ ॥

अर्थ—चारित्र निर्जराका कारण है यह बात न्यायसे अबाधित सिद्ध है। वह चारित्र ही स्वार्थ क्रिया करनेमें समर्थ है। जिस प्रकार दीपक प्रकाशन क्रियासे सार्थनामा (यथार्थ नामवाला) है उसी प्रकार चारित्र भी कर्म नाश क्रियासे सार्थनामा है।

शुभोपयोग यथार्थ चारित्र नहीं है—

रूढैः शुभोपयोगोपि ख्यातश्चारित्रसञ्ज्ञया ।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥ ७६० ॥
किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् ।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥ ७६१ ॥

अर्थ—रूढ़िसे शुभोपयोग भी चारित्र कहा जाता है परन्तु शुभोपयोग चारित्र स्वार्थ क्रिया (कर्मोंकी निर्जरा)के करनेमें समर्थ नहीं है इस लिये निश्चयसे वह यथार्थ चारित्र नहीं है। किन्तु कर्मबन्धका कारण है इस लिये शत्रुके समान है। यह चारित्र श्रेष्ठ नहीं कहा जा सक्ता किन्तु शुद्धोपयोगरूप चारित्र श्रेष्ठ है। यह न तो आत्माका उपकार ही करनेमें समर्थ है और न अपकार ही करनेमें समर्थ है। **भावार्थ**—शुभोपयोगसे शुभ कर्मोंका बन्ध होता है। यद्यपि शुभ कर्मोंका बन्ध विपाक कालमें सांसारिक सुखका देनेवाला है तथापि उसे वास्तविक दृष्टिसे सुखका विघातक ही समझना चाहिये, क्योंकि कर्मबन्ध जितना भी है सभी आत्माको दुःख देनेवाला है। आत्माका वास्तविक कल्याण उसी चारित्रसे होता है जो आत्मासे कर्मोंको दूर करनेमें समर्थ है। ऐसा चारित्र शुद्धोपयोगरूप ही होता है। शुभोपयोग कर्मबन्धका कारण है इसी लिये उसे यथार्थ चारित्र नहीं कहा गया है किन्तु आत्माका अहितकर ही कहा गया है। निश्चय दृष्टिसे यह कथन है। व्यवहार दृष्टिसे शुभोपयोग अच्छा ही है और उपकारी भी है।

शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है—

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् ।
शुद्धार्थ **बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्रसंभवात् ॥ ७६२ ॥**

अर्थ—शुभोपयोग रूप चारित्र विरुद्ध कार्यकारी है यह बात असिद्ध नहीं है। क्योंकि शुद्धके सिवा सर्वत्र एकान्त रीतिसे बन्ध होना संभव ही है।

ऐसी तर्कणा मत करो—

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरंशतः।
अस्ति नाबंधहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥७६३॥

अर्थ—बुद्धिके दोषसे ऐसी भी तर्कणा नहीं करना चाहिये कि शुभोपयोग-चारित्र अंश मात्र निर्जराका भी कारण है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों निर्जराके कारण तो है ही नहीं, किन्तु संवरके भी नहीं हैं। भावार्थ—शुभोपयोग शुभ बन्धका कारण है। दोनों कर्म बन्धके ही कारण हैं, और कर्म बन्ध आत्माका शत्रु है।

यथार्थ चारित्र।

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः ॥ ७६४ ॥

अर्थ—कर्मके ग्रहण करनेकी क्रियाका रुक जाना ही स्वरूपाचरण चारित्र है। वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है, और वही यथार्थ चारित्र है।

ग्रन्थान्तर—

***चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।**
मोहक्कोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ ७६५ ॥

अर्थ—निश्चयसे चारित्र ही धर्म है और धर्म वही है जो उपशमरूप है। तथा मोह क्रोधसे रहित आत्माका परिणाम ही धर्म है। भावार्थ—उपशमसे संवरका ग्रहण करना चाहिये, और मोहक्रोध रहित आत्माके परिणामसे निर्जराका ग्रहण करना चाहिये, अर्थात संवर और निर्जरारूप धर्म ही चारित्र है।

शङ्काकार।

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ ७६६ ॥

अर्थ—शङ्काकारका कहना है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और चारित्र तीनोंको मिलकर ही मोक्षमार्ग कहलाता है। फिर केवल चारित्रके कहनेमें क्या प्रयोजन है?

उत्तर—

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितम् ॥ ७६७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि सामान्य दृष्टिसे शंका ठीक है कि सामान्य दृष्टिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही चारित्रमें गर्भित हैं। परन्तु तीनोंका अविनाभाव होनेसे तीनों ही

अखण्डित हैं। **भावार्थ**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही उत्तरोत्तर चिन्तनीय हैं तीनोंमेंसे पहले २ के होनेपर आगे आगेके भजनीय हैं, परन्तु उत्तर उत्तर के होनेपर पहले २ का होना अवश्यंभावी है' अर्थात् सम्यग्दर्शन के होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है और सम्यग्ज्ञानके होने पर सम्यक्चारित्र भजनीय है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ साथ ही होते हैं। क्योंकि जिस समय आत्मामें दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय, क्षयोपशम होनेपर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसी समय मति अज्ञान, श्रुत अज्ञानकी निवृत्ति पूर्वक आत्मामें सुमतिज्ञान सुश्रुतज्ञान प्रकट होजाते हैं। सम्यग्दर्शन यद्यपि ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न (प्रकट) करनेवाला तो ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम हैं। परन्तु ज्ञानमें सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आता है इसलिये दोनों ही अविनाभावी हैं। अविनाभावी होनेपर भी ऊपर जो यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है, उसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर उत्तरोत्तर सम्यग्ज्ञानका क्षयोपशम भजनीय है। इसी लिये सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवें गुणस्थानमें नियमसे होजाती है, परन्तु ज्ञानकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनके होने पर ज्ञान भजनीय है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके होने पर सम्यक् चारित्र भजनीय है। सम्यग्ज्ञानके होनेपर यह नियम नहीं है कि चारित्र हो ही हो। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञान तो होजाता है। परन्तु सम्यक्चारित्र वहां नहीं है। वह पांचवें गुणस्थानसे शुरू होता है। हां इतना अवश्य है कि जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान अविनाभावी है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ स्वरूपाचरण चारित्र भी अविनाभावी है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरण चारित्र भी आत्मामें प्रकट हो जाता है। इसका कारण भी यही है कि सम्यग्दर्शनके घात करनेवाली सात प्रकृतियां हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति। इन सातोंमें अन्तके तीन भेद तो दर्शनमोहनीयके हैं और आदिके चार भेद (अनन्तानुबन्धी) चारित्र मोहनीयके हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय यद्यपि चारित्रमोहनीयका भेद है तथापि उसमें दो प्रकारकी शक्ति है वह सम्यग्दर्शनका भी घात करती है और सम्यक्चारित्रका भी घात करती है। अनन्तानुबन्धीका दूसरे गुणस्थान तक उदय रहता है, इसीलिये चौथे गुणस्थानमें निराबाध सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट रहता है, परन्तु जब * प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें

---

* आदिम सम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे। अण अण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो॥ सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादोमिच्छभूमिसमभिमुहो। णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥ **अर्थात्** जिस समय अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे जीव सम्यक्त्वसे गिरता है उस समय दूसरे गुणस्थानमें आता है, दूसरा गुणस्थान भी यद्यपि जीवकी वैभाविक अवस्था है तथापि वैभाविक अवस्था मिथ्यात्वके सन्मुखापन्न अवस्था है। (गोमट्टसार)

एक समयसे लेकर छह आवलि काल बाकी रह जाता है उस समय अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभमेंसे किसी एकका उदय होनेपर सम्यक्त्वका नाश हो जाता है और द्वितीय गुणस्थान हो जाता है सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरण चारित्र भी नष्ट हो जाता है क्योंकि उसका भी साक्षात् घातक अनन्तानुबन्धी है।

उपर्युक्त कथनसे यह बात भी सिद्ध होजाती है कि जब स्वरूपाचरण चारित्र और सम्यग्ज्ञान दोनों ही सम्यग्दर्शनके साथ होने वाले हैं तो तीनों ही अविनाभावी हैं इसीलिये ग्रन्थकारने तीनोंको अविनाभावी बतलाए हुए तीनोंको अखण्डित कहा है। परन्तु सम्यग्दर्शनका अविनाभावी स्वरूपाचरण चारित्र ही है, क्रियारूप चारित्र नहीं है। क्योंकि क्रिया रूप चारित्र पांचवें गुणस्थानसे प्रारंभ होता है। इसीसे पहले यह भी कहा गया है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र हो भी अथवा नहीं भी हो, नियम नहीं है। यहांपर एक शंका उपस्थित होती है वह यह है कि जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका अविनाभाव होनेपर ही उत्तरोत्तर वृद्धिकी अपेक्षासे ज्ञान भजनीय है। उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय नहीं होना चाहिये क्योंकि सम्यक्चारित्रकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानमें ही होजाती है और सम्यग्ज्ञानकी पूर्ति तेरहवें गुणस्थानके प्रारंभमें होती है, इसका भी कारण यही है कि चारित्र गुणको घात करनेवाली चारित्र मोहनीय कषाय दशवें गुणस्थानके अन्तमें सर्वथा नष्ट होजाती हैं और केवलज्ञानको घात करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म बारहवेंके अन्तमें नष्ट होता है। इस कथनसे तो यह बात सिद्ध होती है कि सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है और ऊपर कहा गया है कि ज्ञानके होनेपर चारित्र भजनीय है परन्तु इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है कि यद्यपि स्थूल दृष्टिसे यह शंका ठीक प्रतीत होती है परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर वही कथन सिद्ध होता है जो ऊपर कहा जाचुका है अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र ही भजनीय रहता है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि यद्यपि चारित्र मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर बारहवें गुणस्थानमें यथाख्यातचारित्र प्रकट होजाता है तथापि एक दृष्टिसे उसे अभी पूर्ण चारित्र नहीं कहा जा सकता है, यदि कहा जाय कि चारित्र मोहनीय उसका घातक था जब घातक कर्म ही नष्ट हो गया तो फिर क्यों नहीं पूर्ण चारित्र कहा जाता है अथवा तब भी पूर्ण चारित्र नहीं कहा जाता है तो कहना चाहिये कि और भी कोई कर्म चारित्रका घातक होगा जो कि चारित्रकी पूर्णतामें बाधक है? तर्कणा ठीक है, परन्तु विपक्षमें दूसरी तर्कणाएं उठाई जा सक्ती हैं कि यदि चारित्र मोहनीयके नष्ट होनेपर चारित्र पूर्ण हो जाता है तो तेरहवें गुणस्थानमें ही क्यों नहीं मोक्ष हो जाती? क्योंकि सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवें तक हो चुकी और चारित्रकी पूर्ति बारहवेंमें हो जाती है तथा ज्ञानकी पूर्ति

तेरहवें गुणस्थानमें हो जाती है। जहांपर रत्नत्रयकी पूर्णता है वहां पर ही मोक्षका होना आवश्यक है, अन्यथा रत्नत्रयमें× समर्थकारणता ही नहीं आ सक्ती है। तीनोंकी पूर्तिके उत्तर क्षणमें ही मोक्ष प्राप्तिका होना अवश्यंभावी है सो होती नहीं किन्तु मोक्षप्राप्ति चौदहवें गुणस्थानमें होती है इससे सिद्ध होता है कि अभी तक चारित्रकी पूर्णतामें कुछ अवश्य त्रुटि है, और चारित्र ही मोक्ष प्राप्तिमें साक्षात् कारण कहा गया है। वह त्रुटि भी आनुषङ्गिक है* वह इस प्रकार है–जिस प्रकार आत्माका चारित्र गुण है उसी प्रकार योग भी आत्माका गुण है। चारित्र गुण निर्जराका हेतु है परन्तु योग गुण मन, वचन, कायरूप अशुद्धावस्थामें कर्मको ग्रहण करनेका हेतु है। दशवें गुणस्थान तक चारित्र योगके साथ ही अपूर्ण बना रहा है, दशवेंके अन्तमें यद्यपि चारित्रमोहनीयके दूर हो जानेसे वह पूर्ण हो चुका है तथापि उसको अशुद्ध करनेमें कारणीभूत उसका साथी योग अभी तक अपना कार्य कर रहा है। इसलिये चारित्रके निर्दोष होनेपर भी योगके साहचर्यसे उसे भी आनुषङ्गिक दोषी बनना पड़ता है। यद्यपि कर्मको ग्रहण करनेवाला योग चारित्रमें कुछ मलिनता नहीं कर सकता है तथापि चारित्र और योग दोनों ही आत्मासे अभिन्न हैं। अभिन्नतामें जिस प्रकार योगसे आत्मा अशुद्ध समझा जाता है उसी प्रकार चारित्र भी समझा जाता है। जब योगशक्ति वैभाविक अवस्थासे मुक्त होकर शुद्धावस्थामें आजाती है तभी चारित्र भी आनुषङ्गिक दोषसे मुक्त हो जाता है। इसीलिये शास्त्रकारोंने यथाख्यात चारित्रकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें बतलाई है वहींपर परमावगाढ़ सम्यक्त्व भी बतलाया है। इसलिये चौदहवें गुणस्थानमें ही रत्नत्रयकी पूर्णता होती है और वहींपर मोक्षप्राप्ति होती है। इससे रत्नत्रयमें समर्थ कारणता भी सिद्ध होजाती है। इतने सब कथनका सारांश यही है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी सम्यक्चारित्र भजनीय है। सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भजनीय नहीं हैं। किन्तु अवश्यंभावी हैं। क्योंकि विना पहले दोनोंके हुए सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सक्ता है। इसीलिये ग्रन्थकार-ने सम्यक्त्व और ज्ञानको चारित्रके अन्तर्गत बतलाया है। जिस प्रकार चारित्रमें दोनों गर्भित हैं उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानमें सम्यग्दर्शन भी गर्भित है।

× कारण दो प्रकारका होता है–एक समर्थ कारण एक असमर्थ कारण। जिसके होने-पर उत्तर क्षणमें अवश्य ही कार्यकी सिद्धि हो उसे समर्थ कारण कहते हैं। और जिस कारण-के होनेपर नियमसे उत्तर क्षणमें कार्य न हो उसे असमर्थ कारण कहते हैं।

* स्वयं दोषी न होने पर भी जो साहचर्यवश दोष आता है उसे आनुषङ्गिक दोष कहते हैं। जैसे कोई पुरुष स्वयं तो चोर न हो परन्तु चोरोंके सहवासमें रहे तो वह भी आनुषङ्गिक दोषी ठहराया जाता है।

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता—

किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ ७६८ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, दोनोंमें सम्यग्दर्शन कारण है, और वह कारणता भी नवीन जन्म धारण करनेवाले सम्यग् विशेषणकी अपेक्षासे है अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको प्रकट करनेमें कारण नहीं है किन्तु ज्ञान और चारित्रमें सम्यक्पना लानेमें कारण है। इसी लिये वह तीनोंमें प्रधान है।

इसीका खुलासा—

अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत् सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम् ॥ ७६९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शनके होने पर ज्ञान और चारित्र सम्यक् विशेषणको धारण करते हैं। अथवा उनदोनोंमें नवीन सम्यक्पना आता है। **भावार्थ**—जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इनके सम्यक्पनेमें) सम्यग्दर्शन कारण है। तो ये दोनों उसके कार्य हैं। कार्यसे कारणका अनुमान हो ही जाता है। इसलिये सम्यक् चारित्रके कहनेसे दर्शन और ज्ञानका समावेश उसमें स्वयं सिद्ध है। इस कथनसे शंकाकारकी यह शंका कि जब तीनों ही मोक्ष मार्ग हैं तो मुनियोंके केवल चारित्रका ही निरूपण क्यों किया जाता है सर्वथा निर्मूल है।

सम्यग्दर्शनका माहात्म्य

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥ ७७० ॥

अर्थ—आत्माकी शुद्धोपलब्धिमें कारणीभूत जो अतिशय ज्ञानात्मक लब्धि (मतिज्ञानावरणीय कर्मका विशेष क्षयोपशम) है वह सम्यग्दर्शनके होने पर ही होती है। अथवा आत्माका शुद्ध भाव—शुद्धात्मानुभूति सम्यग्दर्शन होने पर ही होती है।

यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतं ज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ ७७१ ॥

अर्थ—और भी जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है यदि वह सम्यग्दर्शन रहित है तो न तो वह ज्ञान है और न वह चारित्र है, यदि है तो केवल कर्मबन्ध करनेवाला ही है।

सारांश—

तेषामन्यतमोद्देश्यो नास्ति दोषाय कुत्रचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ ७७२ ॥

अर्थ—इसलिये उन तीनोंमेंसे किसी एकका कथन भी कहीं दोषाधायक नहीं है। मोक्षमार्ग एक साध्य है और ये तीनों ही उसके साधक रूपसे कहे जाते हैं।

बन्ध मोक्ष व्यवस्था—

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नोऽरागांशैः कदाचन ॥ ७७३ ॥

अर्थ—प्रश्न करनेमें जो अति चतुर हैं उन्हें बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था भी संक्षेपसे जान लेना चाहिये। वह यह है कि रागांश—परिणामोंसे बन्ध होता है और विना रागांश—परिणामोंके बन्ध कभी नहीं हो सकता।

अन्यान्तर—

*** येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।**
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ ७७४ ॥

अर्थ—जिस अंशसे आत्मा सम्यग्दर्शन विशिष्ट है उस अंशसे उसके कर्मबन्ध नहीं होता और जिस अंशसे उसके राग है उस अंशसे उसके कर्मबन्ध होता है। **भावार्थ**—बन्धका कारण केवल रागांश ही है।

संकोच और प्रतिज्ञा—

उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंशतः।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ ७७५ ॥

अर्थ—प्रसङ्गवश अंशरूपसे धर्मका स्वरूप भी कहा गया, अब आचार्य कहते हैं कि अवकाश पाकर उस धर्मका स्वरूप विस्तार पूर्वक भी कहेंगे।

सारांश—

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्वार्थदर्शिनी।
ख्याताप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ ७७६ ॥

अर्थ—देव गुरु और धर्ममें श्रद्धान करना अमूढदृष्टि अंग कहलाता है, अन्यथा (इसकी विपरीततामें) मूढदृष्टि दोष कहलाता है।

अमूढदृष्टि सम्यक्त्वका गुण है—

सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नालं दोषाय लक्षितः।
सम्यग्दृष्टिर्यतोवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ॥ ७७७ ॥

* पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

अर्थ—अमूढ़दृष्टि सम्यग्दर्शनका गुण है। यह गुण किसी प्रकार दोषोत्पादक नहीं है किन्तु गुणोत्पादक है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि नियमसे अमूढ़दृष्टि अंगका पालन करता है। मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं करता वह उल्टा ही करता है। **भावार्थ**–सम्यग्दृष्टिके लिये अमूढ़दृष्टि अंग अवश्य पालनीय है। यदि सम्यग्दृष्टिकी बुद्धि देवगुरु धर्मके सिवा कुगुरु, कुधर्म, कुदेवकी प्रशंसा अथवा उनकी किञ्चिन्मान्यताकी तरफ है तो उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। अथवा देव, गुरु, धर्ममें उसकी पूर्ण श्रद्धा नहीं है तो भी उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। इसलिये अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टिका प्रधान गुण समझना चाहिये। शब्दान्तरमें यों कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि अमूढ़दृष्टि नियमसे होता ही है (यदि वह मूढ़दृष्टि है तो सम्यग्दृष्टि नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और मिथ्या शास्त्रोंकी न तो विनय करता है न उन्हें प्रणाम ही करता है।× विना मिथ्यात्वके उसकी कुदेवादिककी ओर बुद्धि अनुगामी किसी प्रकार नहीं हो सक्ती है। इसके सिवा जो लोग सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी यथार्थ विनय नहीं करते हैं, जिनको उनमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है उन्हें भी मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। * विना मिथ्यात्वकर्मके उदय हुए ऐसी कुमति नहीं हो सक्ती है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन गुण अतिसूक्ष्म है उसका विवेचन नहीं किया जासक्ता है। जिस पुरुषकी आत्मामें वह गुण प्रकट होता है उसीको शुद्धात्मानुभवनका अपूर्व स्वाद आता है। वह उस आत्मिक अपूर्व स्वादका वाक्यमें उसी प्रकार विवेचन नहीं कर सक्ता है जिस प्रकार कि घीका स्वाद लेनेवालेसे उसका स्वाद पूछने पर वह उसका स्वाद ठीक २ प्रकट नहीं कर सक्ता। जिस प्रकार घीका स्वाद चखनेसे ही उसकी यथार्थ प्रतीति होती है उसी प्रकार उस अलौकिक दिव्य सम्यक्त्वगुणकी प्रकटतामें होनेवाले आत्मिक रसका वह स्वयं पान करता है दूसरेसे नहीं कह सकता। तथापि व्यवहार सम्यक्त्व जो बतलाया गया है कि सत्यार्थ देव, गुरु, शास्त्रमें पूर्ण श्रद्धा रखना, उस बाह्य सम्यक्त्वमें भी जिनकी बुद्धि विपरीत है उनके मिथ्यात्व कर्मका तीव्र उदय समझना चाहिये। व्यवहार सम्यक्त्वीकी भी सच्चे देव, गुरु, शास्त्रमें अटल भक्ति रहती है। उनमें उसकी बुद्धि किञ्चिन्मात्र भी शंकित नहीं होती है।

यह बात भी नहीं है कि किसी पदार्थमें सम्यग्दृष्टिको शंका ही नहीं उत्पन्न होती है, सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ नहीं है और जैसे छद्मस्थ हैं तैसे वह भी छद्मस्थ है। छद्मस्थतामें अनेक शंका-

× भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥

अर्थात् भयसे, आशासे, प्रेमसे, लोभसे किसी तरह भी सम्यग्दृष्टि कुदेवादिकको प्रणाम अथवा उनकी विनय नहीं कर सक्ता है। **रत्नकरण्ड श्रावकाचार।**

* आजकल जो प्रथमानुयोग शास्त्रोंको कहानियां कहते हैं और जो **जिनदर्शनको** **अनावश्यक समझते** हैं उनके मिथ्यात्वकर्मका उदय अवश्य है।

ओंका होना स्वाभाविक बात है, इसलिये सम्यग्दृष्टि भी बहुतसी बातोंमें शंकित रहता है, परन्तु शंकायें दो प्रकारकी होती हैं। एक तो–जिस पदार्थमें शंका होती है उस पदार्थमें आस्था (श्रद्धा) रूप बुद्धि तो अवश्य रहती है परन्तु ज्ञानकी मन्दतासे पदार्थका स्वरूप बुद्धिमें न आनेसे शंका होती है, सम्यग्दृष्टिको इस प्रकारकी ही शंका होती है। वह सर्वज्ञ कथित पदार्थ व्यवस्थाको तो सर्वथा सत्य समझता है, परन्तु बुद्धिकृत दोषसे उसके समझनेमें असमर्थ है। दूसरी शंका कुमतिज्ञानवश होती है। कुमतिज्ञानी अपनी बुद्धिको दोष नहीं देता है किन्तु सर्वज्ञ कथित आगमको ही दोषी ठहराता है, वह जिस पदार्थमें शंका करता है उस पदार्थपर श्रद्धा रूप बुद्धि नहीं रखता है। ऐसे ही पुरुष आजकल कालदोषसे अधिकतर होते चले जाते हैं जो स्वयंको बुद्धिमान् समझते हुए आचार्योंको अपनेसे विशेष ज्ञानवान नहीं समझते हैं। ऐसे ही पुरुष जिन दर्शन, जिन पूजन आदि नित्य क्रियाओंको रूढि कह कर छोड़ ही नहीं देते हैं किन्तु दूसरोंको भी ऐसा अहितकर उपदेश देते हैं। ऐसे लोगोंका यह भी कहना है कि विचार स्वातन्त्र्यको मत रोको, जो कोई जैसा भी विचार (चाहे वह जिन धर्मके सर्वथा विपरीत ही हो) प्रकट करना चाहे करने दो, इन्हीं बातोंका परिणाम आजकल धर्म शैथिल्य और धर्म विरुद्ध प्रवृत्तियोंका आन्दोलन है। ये सम्पूर्ण बातें धर्माचार्य तथा गृहस्थाचार्यके अभाव होनेसे हुई हैं। धार्मिक अंकुश अब नहीं रहा है इसलिये जिसके मनमें जो बात समाती है उसके प्रकट करनेमें वह जरा भी संकोच नहीं करता है। यही कारण है कि दिन पर दिन धर्ममें शिथिलता ही आ रही है।*

उपगूहन अंगका निरूपण—

उपबृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ ७७८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका उपबृंहण (उपगूहन) नामक भी एक गुण है। उसका यह लक्षण है कि अपनी आत्मिक शक्तियोंको बढ़ाना अथवा उनका विकाश करना। इसीसे उसका अन्वर्थ नाम उपबृंहण है।

---

* इस विषयमें स्वामी आशाधरने बहुत ही खेदजनक उद्गार प्रकट किये हैं—

कलिप्रावृषिमिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह । खद्योतवत्सुदेष्टारो हा ! द्योतन्ते क्वचित्क्वचित् । अर्थात् इस भरतक्षेत्रमें कलिकाल–पंचमकालरूपी वर्षाकालमें मिथ्यादृष्टियोंके उपदेश रूपी मेघोंसे सदुपदेश रूपी सब दिशायें ढक रही हैं। उसमें यथार्थ तत्वोंके उपदेष्टा खद्योत (जुगनू) के समान कहीं २ पर दिखलाई पड़ते हैं। ग्रन्थकारने इस विषयका शोक प्रकट करनेके लिये 'हा', शब्दका प्रयोग किया है। "सागारधर्मामृत"।

अथवा—

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपब्रंहणम् ।

अर्थादृग्ज्ञप्तिचारित्रभावात् संवलितं हि तत् ॥ ७७९ ॥

अर्थ—आत्माकी शुद्धिमें मन्दता नहीं आने देना किन्तु उसे बढ़ाना इसका नाम भी उपब्रंहण है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन भावोंसे विशिष्ट आत्माकी शुद्धिको बढ़ाते रहना उसमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आने देना इसीका नाम उपब्रंहण है।

उपब्रंहण गुणधारीका स्वरूप—

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्निव ।

तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ ७८० ॥

अर्थ—उपब्रंहण गुणका धारी पुरुष पुरुषार्थ पूर्वक सम्पूर्ण ऐहिक बातोंको जानता है परन्तु उन ऐहिक (संसार सम्बन्धी) बातोंके प्राप्त करनेके लिये वह पुरुषार्थ पूर्वक प्रयत्न नहीं करता है।

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान् ।

निष्प्रमादतयाऽऽत्मानमाददानः समादरात् ॥ ७८१ ॥

अर्थ—उपब्रंहण गुणका धारक आत्माकी शुद्ध-उपलब्धिमें लेश मात्र भी प्रमादी नहीं है किन्तु प्रमाद रहित आदर पूर्वक अपने आत्माका ग्रहण करता है।

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः ।

सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीम् ॥ ७८२ ॥

अर्थ—अथवा वह शुद्धोपलब्धिके लिये बाह्य किसी सत्क्रियाका भी अभ्यास करता है जो कि उसके साध्यमें उपयोगी पड़ती है।

बाह्य आचरणमें दृष्टान्त—

रसेन्द्रं सेवमानोपि कोपि पथ्यं न वाऽऽचरेत् ।

आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुज्झन्नुल्लाघतामपि ॥ ७८३ ॥

अर्थ—कोई पुरुष रसायनका सेवन भी करे परन्तु पथ्य न करे तो रसायनसे जिस प्रकार वह अपने रोगका नाश करता है उसी प्रकार पथ्यके न करनेसे नीरोगताका भी नाश करता है। भावार्थ—रोगको दूर करनेके लिये उचित औषधिके सेवनके साथ २ अनुकूल पथ्य करनेकी भी आवश्यकता है। अन्यथा रोग दूर नहीं हो सक्ता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको साध्योपयोगी बाह्य सत्क्रियाओंके करनेकी भी आवश्यकता है।

अथवा—

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात् ॥ ७८४ ॥

अर्थ—अथवा सम्यग्दृष्टिके किसी खास यत्नके स्वतः ही उपबृंहण गुण सिद्ध है। क्योंकि ऊपर ऊपर गुणश्रेणी (परिणामोंकी उत्तरोत्तर विशुद्धतामें) रूपसे उसके निर्जराका होना अवश्यंभावी है। **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टिके असंख्यात गुणी निर्जरा होती रहती है और वह उत्तरोत्तर श्रेणी क्रमसे बढ़ी हुई है।

अवश्यंभाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ ७८५ ॥

अर्थ—उपबृंहण गुणधारीके सम्पूर्ण कर्मोंकी निर्जरा अवश्य होगी, क्योंकि प्रतिक्षण उसके असंख्यात गुणी २ निर्जरा होती ही रहती है।

कर्मोंके क्षयमें आत्माकी विशुद्धिकी वृद्धि—

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ ७८६ ॥

अर्थ—यह बात न्याय प्राप्त है कि जितने अंशमें कर्मोंका क्षय होजाता है उतने ही अंशमें शुद्धोपयोगकी वृद्धि होजाती है। उधर कर्मोंके क्षयकी वृद्धि होती जाती है इधर शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती जाती है। यह वृद्धि बराबर बढ़ती चली जाती है।

यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तः प्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ ७८७ ॥

अर्थ—जैसी जैसी विशुद्धिकी वृद्धि अन्तरंगमें प्रकाश डालती है, वैसी वैसी ही आत्माकी इन्द्रियोंके विषयोंमें उपेक्षा होती जाती है।

क्रियाकाण्डको बढ़ाना चाहिये—

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥ ७८८ ॥

अर्थ—इसलिये बहुतसे क्रियाकाण्डमें अपनी शक्तिको नहीं छिपाना चाहिये। किन्तु यत्नपूर्वक उसे बढ़ाना चाहिये यह सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य है।

सारांश—

उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥ ७८९ ॥

अर्थ—जो उपबृंहण (उपगूहन) गुण कहा गया है वह भी सम्यग्दृष्टिका गुण है। सम्यग्दृष्टिके गुणोंमें यह भी गुण गिना गया है, यह दोषाधायक नहीं है।

स्थितिकरण अंगका निरूपण—

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः। / दृग्भिरस्य म:
धर्माच्च्युतस्य धर्मे तत् नाऽधर्मेऽधर्मणः क्षतेः ॥ ७९० ॥

अर्थ—स्थितिकरण गुण भी सम्यग्दृष्टिका गुण है। धर्मसे जो पतित हो चुका है अथवा पतित होनेके सन्मुख है उसे फिर धर्ममें स्थित कर देना इसीका नाम स्थितिकरण है। किन्तु अधर्मकी क्षति होने पर अधर्ममें स्थित करनेको स्थितिकरण नहीं कहते हैं।

अधर्म सेवन धर्मके लिये भी अच्छा नहीं है—

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम्।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः॥ ७९१ ॥

अर्थ—धर्मके लिये भी अधर्मका सेवन करना वृद्ध पुरुषोंने स्वीकार नहीं किया है। आगामी कालमें धर्मकी आशासे कोई मूर्ख—अधर्म सेवनका भी उपदेश देते हैं।

प्र / **परस्परेति पक्षस्य नावकाशोत्र लेशतः।**
मूर्खादन्यत्र को मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत्॥ ७९२ ॥

अर्थ—'अधर्म सेवनसे परम्परा धर्म होता है, इस प्रकार परम्परा पक्षका लेशमात्र भी यहां अवकाश नहीं है। मूर्खको छोड़ कर ऐसा कौन पुरुष है जो मोहसे शीतके लिये वन्हिमें प्रवेश करे। भावार्थ—जैसा कारण होता है उसी प्रकारका कार्य होता है, ठण्डका चाहने वाला उन्हीं पदार्थोंका सेवन करेगा जो ठण्डको पैदा करने वाले हों, ठण्डका चाहनेवाला उष्ण पदार्थों (अग्नि आदिक)का कभी सेवन नहीं करेगा। इसी प्रकार धर्मको चाहने वाला धर्मका ही सेवन करेगा। क्योंकि धर्म सेवनसे ही धर्मकी प्राप्ति हो सकती है, अधर्म सेवनसे धर्मकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। जो लोग अधर्म सेवनसे धर्म बतलाते हैं वे कीकरके वृक्षसे आम्रकी प्राप्ति बतलाते हैं, परन्तु यह उनकी भारी भूल है। कीकरके वृक्षसे सिवा कांटोंके और कुछ नहीं मिल सकता है।

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम्।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः॥ ७९३ ॥

अर्थ—अधर्मका सेवन धर्मका प्राक्रूप भी नहीं है। क्योंकि अधर्मसेवनरूप हेतु विपक्षभूत—अधर्मप्राप्तिमें भी रह जाता है इसलिये व्यभिचारी है इसीसे अधर्मसेवन और धर्मप्राप्तिकी व्याप्ति भी व्यभिचरित है। भावार्थ—मीमांसकादि दर्शनकार यागादिमें हिंसारूप अधर्मसेवनसे धर्मप्राप्ति मानते हैं और उसी यागादिका फल स्वर्गप्राप्ति बतलाते हैं। आचार्य कहते

हैं कि ऐसा उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। क्या हिंसारूप अधर्मके सेवन करनेसे धर्मप्राप्ति हो सकती है ? हिंसादि नीच कार्योंका स्वर्गफल कभी नहीं हो सकता है। हिंसा करनेसे परिणामोंमें संक्लेशकी ही वृद्धि होगी उससे पाप बन्ध होगा इसलिये अधर्मसेवनका फल उत्तरोत्तर अधर्मकी वृद्धि है। धर्मका हेतु अधर्म कभी नहीं हो सकता है।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः ।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ ७९४ ॥

अर्थ—प्रति समय जब तक कर्मका उदय है तब तक धर्म और अधर्म दोनों ही हो सकते हैं ऐसा सर्वत्र नियम है। भावार्थ—जब कर्मोदय मात्रसे भी अधर्म—पापबन्ध होता है तब अधर्मसेवनसे तो अवश्य ही अधर्म होगा, इसलिये यागादि अधर्मसेवनसे धर्मप्राप्तिकी कल्पना करना मीमांसकोंकी सर्वथा भूल है।

स्थितिकरणके भेद—

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वं तु परस्य तत् ॥ ७९५ ॥

अर्थ—वह स्थितिकरण अपने और परके भेदसे दो प्रकारका है। अर्थात् अपने आत्माके पतित होनेपर अथवा पतित होनेके सन्मुख होनेपर अपने आत्मामें ही पुनः अपने आपको लगा लेना इसे स्व-स्थितीकरण कहते हैं। और दूसरे आत्माके धर्मसे पतित होनेपर पुनः उसे उसी धर्ममें तदवस्थ कर देना इसे पर स्थितीकरण कहते हैं।

स्वस्थितीकरणका खुलासा—

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ ७९६ ॥

अर्थ—मोहोदयके उद्रेकवश अपनी आत्म परिस्थिति (धर्मस्थिति) से पतित अपने आत्माको पुनः आत्म परिस्थितिमें लगा देना इसीका नाम स्वस्थितीकरण है।

इसीका स्पष्टीकरण—

अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥ ७९७ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा इस प्रकार है—कभी कर्मोदयकी तीव्रतासे वह सम्यग्दृष्टि दर्शनसे नीचे गिरता है। फिर दैववश सम्यग्दर्शनको पाकर ऊपर चढ़ता है।

अथवा—

अथ कश्चिद्यथाहेतुर्दर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोधोंशैरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥ ७९८ ॥

अर्थ—अथवा सामग्रीकी योग्यतामें कभी दर्शनसे नहीं भी गिरता है तो भावोंकी शुद्धिको नीचे नीचेके अंशोंसे ऊपर ऊपरको बढ़ाता है।

अथवा—

कश्चिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति।
न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत्॥ ७९९॥ / चरे

अर्थ—कभी स्वीकृत किये हुए भी बाह्य-शुभाचारको छोड़ देता है। कभी नहीं भी छोड़ता है। अथवा छोड़कर पुनः ग्रहण करने लगता है।

अथवा—

यद्वा वहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च।
कदाचिद्दीप्यमानोन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्त्तते॥ ८००॥

अर्थ—अथवा बाह्य क्रियाचारमें ठीक २ स्थित रहनेपर कभी २ अन्तरंग भावोंसे देदीप्यमान होने लगता है।

नासंभवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह॥ ८०१॥

अर्थ—कभी अन्तरंगके भाव बढ़ने लगते हैं कभी घटने लगते हैं यह बात असंभव नहीं है। क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्मका उदय अपने अंशोंसे कभी बढ़ने लगता है और कभी घटने लगता है। **भावार्थ**—चारित्र मोहनीय जिस रूपसे कम बढ़ होता है उसी रूपसे भावोंमें भी हीनाधिकता होती है।

अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वस्थितीकरणं स्वतः।
न्यायात्कुतश्चिदत्रास्ति हेतुस्तत्रानवस्थितिः॥ ८०२॥

अर्थ—यहां पर इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितीकरण स्वयं होता है और उसमें आत्माकी स्थिरताका न होना ही कारण है।

दूसरोंका स्थितिकरण—

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः॥ ८०३॥

अर्थ—दूसरों पर × सत् अनुग्रह करना ही पर-स्थितीकरण है। वह अनुग्रह यही है कि जो अपने पदसे भ्रष्ट हो चुके हैं उन्हें उसी पदमें फिर स्थापन कर देना।

× सत् अनुग्रहसे इतना ही तात्पर्य है कि बिना किसी प्रकारकी इच्छा रहते हुए धार्मिक बुद्धिसे परोपकार करना। जो अनुग्रह लोभवश अथवा अन्य प्रतिष्ठा आदिकी चाहना वश किया जाता है, वह अनुग्रह अवश्य है परन्तु उसको सत् अनुग्रह नहीं कह सक्ते। प्रशं-सनीय अनुग्रह निस्पृह वृत्तियोंका ही कहा जा सक्ता है।

स्वोपकार पूर्वक ही परोपकार ठीक है—

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥ ८०४ ॥

अर्थ—धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देकर दूसरों पर अनुग्रह करना चाहिये। परन्तु आत्मीय व्रतमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुंचा कर ही दूसरोंके रक्षणमें तत्पर रहना उचित है। अन्यथा नहीं।

ग्रन्थान्तर—

३क्षेप

१ **आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।**
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥ ८०५ ॥

अर्थ—सबसे प्रथम अपना हित करना चाहिये। यदि अपना हित करते हुए जो पर हित करनेमें समर्थ है उसे परहित भी करना चाहिये। आत्महित और परहित इन दोनोंमें आत्महित ही उत्तम है उसे ही प्रथम करना चाहिये। **भावार्थ**—इन दो कारिकाओंसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि मनुष्यका सबसे पहला कर्तव्य आत्महित है, विना आत्म कल्याण किये वास्तवमें आत्म कल्याण हो भी नहीं सकता है। जहां पर सर्वोपरि उच्च ध्येय है वहां भी आत्म हित ही प्रमुख है। आचार्य यद्यपि मुनियोंका पूर्ण हित करते हैं उन्हें मोक्ष मार्गपर लगाते हैं, तथापि उस अवस्थामें रहकर उनको उच्च ध्येय नहीं मिल सक्ता है। जिस समय वे उस उच्च ध्येय मुक्तिको प्राप्त करना चाहते हैं उस समय उस आचार्य पदका त्याग कर स्वात्म भावन मात्र—साधु पदमें आ जाते हैं इसलिये यह ठीक है कि आत्म हित ही सर्वोपरि है। आत्म हित स्वार्थमें शामिल नहीं किया जा सक्ता है। जो सांसारिक वासनाओंकी पूर्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है उसे ही स्वार्थ कहा जा सक्ता है उसका कारण भी यही है कि स्वार्थ उसे ही कह सकते हैं जो प्रमाद विशिष्ट है, आत्महित करनेवाला प्रमाद विशिष्ट नहीं है इसलिये उसे स्वार्थी कहना भूल है। इस कथनसे हम परोपकारका निषेध नहीं करना चाहते हैं, परोपकार करना तो महान् पुण्य बन्धका कारण है। परन्तु जो लोग परोपकार करते हुए स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं अथवा आत्म हितको जो स्वार्थ बताते हैं वे अवश्य आत्म हितसे कोशों दूर हैं, आचार्योंने परोपकारको भी स्वार्थ साधन ही बतलाया है। यहां पर यह शंका की जासक्ती है कि कहीं पर परोपकारार्थ स्वयं भ्रष्ट भी होना पड़ता है जैसे कि विष्णुकुमार मुनिने मुनियोंकी रक्षाके लिये अपने पदको छोड़ ही दिया? शंका ठीक है। कहीं पर विशेष हानि देखकर ऐसा भी किया जाता है परन्तु आत्म हितको गौण कहीं नहीं समझा जाता है। विष्णुकुमारने अगत्या ऐसा किया तथापि उन्होंने शीघ्र ही प्रायश्चित्त लेकर स्वपदका ग्रहण कर लिया। आजकल तो आत्म कल्याण परोपकारको ही लोगोंने समझ रक्खा

है, जो देशोद्धारादिक कार्य वर्तमानमें दीख रहे हैं वे यद्यपि निःस्वार्थ—परोपकारार्थ हैं और उस परोपकारका श्रेय भी उन्हें अवश्य मिलेगा। परन्तु ऐसे परोपकारमें स्वोपकार (पारमार्थिक) की गन्ध भी नहीं है। देशोद्धारादि कार्यकारियोंमें स्वचर्न शैथिल्य एवं चारित्र हीनता प्रायः देखी जाती है। यदि उनमें यह बात न हो तो अवश्य ही उनका वह परोपकार पूर्ण स्वोपकारमें सहायक है।

कथनका संकोच—

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः॥ ८०६॥

अर्थ—सुस्थितिकरण गुणका स्वरूप थोड़ासा यहां पर कहा गया है। यह गुण सम्यग्दृष्टिके उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जराके लिये प्रसिद्ध है।

वात्सल्य अंगका विवेचन—

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत्॥ ८०७॥

अर्थ—सिद्धपरमेष्ठी, अर्हद्बिम्ब, जिन मन्दिर, चतुर्विध संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) और शास्त्रमें, स्वामिकार्यमें योग्य सेवककी तरह दासत्व भाव रखना ही वात्सल्य है।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान्।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये॥ ८०८॥

अर्थ—अर्थात् ऊपर जो सिद्धपरमेष्ठी आदि पूज्य बतलाये हैं उनमेंसे किसी भी एक पर घोर उपसर्ग होने पर उसके दूर करनेके लिये सम्यग्दृष्टि पुरुषको सदा तत्पर रहना चाहिये।

यावन्नस्त्या / **यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम्।**
तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः॥ ८०९॥

अर्थ—अथवा जब तक अपनी सामर्थ्य है और जब तक मन्त्र, असि तलवारका जोर) और बहुतसा द्रव्य (खज़ाना) है तब तक वह सम्यग्दृष्टि पुरुष उन पर आई हुई किसी प्रकारकी बाधाको न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है। भावार्थ—अपने पूज्यतम देवों पर अथवा देवालयों पर अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविकाओं पर यदि किसी प्रकारकी बाधा आवे तो उस बाधाको जिस प्रकार हो सके उस प्रकार उसे दूर करदेना योग्य है। अपनी सामर्थ्यसे, मंत्र शक्तिसे, द्रव्य बलसे, आज्ञासे, सत्यबलसे हर तरहसे तुरन्त बाधाको दूर करना चाहिये। यही सम्यग्दृष्टिकी आन्तरंगिक भक्तिका उद्गार है। मन्त्रशक्ति भी बहुत बड़ी शक्ति है, बड़े २ कार्य मन्त्र शक्तिसे सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग मन्त्रोंकी सामर्थ्य नहीं जानते हैं वे ही मन्त्रों पर विश्वास नहीं करते हैं, परन्तु सर्पादिकोंके विषादिका अपहरण

प्रत्यक्ष ही दीखता है। जब सामान्य मन्त्रों द्वारा ऐसे २ कार्य देखे जाते हैं तो महान् आर्ष मन्त्रों द्वारा बहुत बड़े कार्य सिद्ध हो सकते हैं, आजकल न वह श्रद्धा है और न शक्ति है इसी लिये मन्त्रोंसे हम लोग कोई कार्य नहीं कर सकते हैं।

वात्सल्यके भेद—

तद्द्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात्।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि॥ ८१०॥

अर्थ—अपने और परके भेदसे वात्सल्य अंग भी दो प्रकारका है। आत्म सम्बन्धी वात्सल्य प्रधान है परात्म सम्बन्धी गौण हैं।

स्वात्म सम्बन्धी वात्सल्य—

परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित्।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम्॥ ८११॥

अर्थ—परीषह और उपसर्गादिसे कभी पीड़ित होनेपर भी अपने श्रेष्ठ आचारमें, ज्ञानमें, ध्यानमें शिथिलता नहीं आने देना इसीका नाम स्वात्म वात्सल्य है।

इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम्।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो बाधापकर्षणम्॥ ८१२॥

अर्थ—दूसरा-परात्मसम्बन्धी वात्सल्य पहले इसी प्रकरणमें कहा जा चुका है। परात्म सम्बन्धी वात्सल्य सम्यग्दृष्टिका निश्चयसे गौण गुण है। क्योंकि शुद्ध ज्ञानके बलसे ही बाधा दूर की जा सकती है। इस लिये आत्मीय शुद्धिका प्राप्त करना ही प्रमुख है।

प्रभावना अंगका स्वरूप—

प्रभावनाङ्गसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम्॥ ८१३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका प्रभावना अंग भी प्रसिद्ध गुण है। उसका यही लक्षण है कि हर एक धार्मिक कार्यमें उत्कर्ष-उन्नति करना।

धर्मका ही उत्कर्ष अभीष्ट है—

अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात्॥ ८१४॥

अर्थ—पापरूप अधर्मके पक्षमें किञ्चिन्मात्र भी उत्कर्ष नहीं बढ़ाना चाहिये। क्योंकि अधर्मका उत्कर्ष बढ़ानेसे धर्मके पक्षकी हानि होती है।

प्रभावनाके भेद—

पूर्ववत्सोपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः।
तत्राद्यो वरमादेयः स्यादादेयः परोऽप्यतः॥ ८१५॥

अर्थ—पहले अंगोंकी तरह प्रभावना अंग भी स्वात्मा और परात्माके भेदसे दो प्रकार है। उन दोनोंमें पहला सर्वोत्तम है और उपादेय है। इसके पीछे दूसरा भी ग्राह्य है।

उत्कर्ष—

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे ।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥ ८१६ ॥

अर्थ—विपक्षके न होने पर बल पूर्वक धर्ममें वृद्धि करना, इसीका नाम उत्कर्ष है। प्रभावना अंग दोषोत्पादक कभी नहीं होसकता है।

अपनी प्रभावना—

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः ।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥ ८१७ ॥

अर्थ—मोहरूपी शत्रुका नाश होजानेसे जीव शुद्ध होजाता है, कोई शुद्धसे भी अधिक शुद्ध होजाता है और कोई उससे भी अधिक शुद्ध होजाता है इस प्रकार अपने आत्माका उत्कर्ष बढ़ाना इसीका नाम स्वात्मप्रभावना है।

इस शुद्धिमें पौरुष कारण नहीं है—

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥ ८१८ ॥

अर्थ—इस प्रकारका उत्कर्ष करना पौरुषके अधीन नहीं है किन्तु स्वभावसे ही होता है। और उत्तरोत्तर श्रेणीके क्रमसे असंख्यात गुणी निर्जरा होनेसे उसकी सिद्धि होती है।

बाह्य प्रभावना।

बाह्यः प्रभावनाङ्गोस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः ।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥ ८१९ ॥

अर्थ—विद्याके बलसे, मन्त्रादिके बलसे, तपसे तथा दानादि उत्तम कार्योंसे जैनधर्मका उत्कर्ष (आधिक्य) बढ़ाना चाहिये इसीको बाह्य प्रभावना कहते हैं।

और भी—

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम् ।
चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥ ८२० ॥

अर्थ—जो लोग मिथ्या क्रियाओंके बढ़ानेमें लगे हुए हैं ऐसे पुरुषोंको नीचा दिखानेके लिये अथवा उनकी हीनता प्रकट करनेके लिये महात्माओंको कुछ चमत्कार करनेवाले प्रयोग भी करना चाहिये।

उक्तः प्रभावनाङ्गोऽपि गुणः सद्दर्शनान्वितः।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ ८२१ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट प्रभावना अंग भी गुण है। उसका कथन हो चुका। इसी प्रभावना अंगके कारण सम्यग्दर्शनके आठ गुण संपूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् आठवां गुण प्रभावना है।

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दृगात्मनः।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥ ८२२ ॥

अर्थ—इन आठ गुणोंके सिवा और भी सम्यग्दृष्टीके गुण हैं उनका यहां पर विचार नहीं किया जाता है। किन्तु जो विवक्षित है वही कहा जाता है।

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२३ ॥

अर्थ—प्रकृत यही है कि आत्माका निजस्वरूप चेतना है। वह चेतना तीन प्रकार है-कर्म चेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञान चेतना। इन तीनोंमें ज्ञान चेतना ही सम्यग्दृष्टिको उपादेय है, बाकी दोनों त्याज्य हैं।

श्रद्धानादि गुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥ ८२४ ॥

अर्थ—श्रद्धान आदिक जो सम्यग्दृष्टिके गुण हैं वे सब बाह्य कथनके छलसे हैं, अर्थात् सम्यग्दृष्टिका तो केवल एक ज्ञानचेतना ही लक्षण है।

किन्हीं नासमझ पुरुषोंका कथन—

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थान्निश्चयाद्व्यवहारतः ॥ ८२५ ॥
व्यावहारिकसम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम्।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥ ८२६ ॥
इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषाञ्चिन्मोहशालिनाम्।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२७ ॥
तैः सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधा कृतः।
एकः कश्चित् सरागोऽस्ति वीतरागश्च कश्चन ॥ ८२८ ॥
तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना।
सद्दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ८२९ ॥

व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना ॥ ८३० ॥

अर्थ—ऐसी योगरूढि अथवा लोकरूढि है कि वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार है एक निश्चय सम्यक्त्व दूसरा व्यवहार सम्यक्त्व । व्यवहार सम्यक्त्व सराग और सविकल्प है, और निश्चय सम्यक्त्व वीतराग तथा निर्विकल्पक है। किन्हीं मोहशाली पुरुषोंकी ऐसी वासना है, उनके मतमें वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना होती है । उन लोगोंने सम्यक्त्वके दो भेद करके उसके स्वामीके भी दो भेद किये हैं । उनका कहना है कि एक सराग सम्यक्त्व होता है और एक वीतराग सम्यक्त्व होता है । उन दोनोंमें जो वीतराग-निर्विकल्पक सम्यग्दृष्टि है उसीके ज्ञान चेतना होती है, जो सराग-सविकल्पक व्यावहारिक सम्यग्दृष्टि है उसके ज्ञानचेतना कभी नहीं होती क्योंकि उसके प्रतीतिमात्र है इस लिये ज्ञान चेतना उसके कहांसे हो सकती है।

उत्तर—

इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः ।
तेषां यावच्छ्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥ ८३१ ॥

अर्थ—इस प्रकार बुद्धिके दोषसे जो दुष्ट आशयवाले ऐसा कहते हैं उनका जितना भी शास्त्राभ्यास है वह केवल शरीरको कष्ट पहुंचानेके लिये है ।

अत्रोच्यते समाधानं सामवेदेन सूरिभिः ।
उच्चैरुत्फाणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥ ८३२ ॥

अर्थ—यहां पर आचार्य शान्ति पूर्वक समाधान करते हैं क्योंकि दूधका उफान आने पर स्वच्छ जल उसमें डालना ही ठीक है ।

सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक् ।
तज्जहीहि जहीहि त्वं कुरु प्राज्ञ विवेकिताम् ॥ ८३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार हस्ती तृण सहित खाजाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि अविवेक-पूर्वक बोलता है । आचार्य कहते हैं कि हे प्राज्ञ ! उस अविवेकिताको छोड़ दो और विवेक से काम लो ।

वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ पृथक्कर्तुं त्वमर्हसि ।
मा विभ्रमस्व दृष्ट्वापि चक्षुषाऽचाक्षुषाशया ॥ ८३४ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हे आत्मज्ञ ! तुम वन्हिसे उष्णताकी तरह 'सम्यग्दृष्टिसे ज्ञान चेतना' को अलग करना चाहते हो । परन्तु चक्षुसे किसी पदार्थको देखकर भी अचाक्षुष प्रत्यक्ष-की आशासे उस पदार्थमें विभ्रम मत करो । भावार्थ—ऊपर शङ्काकारने सविकल्पक सरागी

सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनाका अभाव बतलाया है वह वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना बतलाता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है सराग सम्यग्दृष्टिके भी ज्ञानचेतना होती है। इस लिये सराग सम्यग्दृष्टिसे ज्ञानचेतनाको पृथक् करना ऐसा ही है जैसे कि अग्निसे उसके गुणको दूर करना।

अब सम्यग्दृष्टिके सराग और सविकल्पक विशेषणोंका आशय प्रकट किया जाता है जिससे कि सराग-सविकल्पक सम्यग्दृष्टिके ज्ञान चेतना होनेमें किसी प्रकारका सन्देह न रहे—

विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाऽज्ज्ञानस्य पर्ययः।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थात् ज्ञेयार्थान्तरसङ्गतः॥ ८३५॥

अर्थ—उपयोगके बदलनेको विकल्प कहते हैं। वह विकल्प ज्ञानकी पर्याय है अर्थात् पदार्थाकार ज्ञान ही उस ज्ञेयरूप पदार्थसे हटकर दूसरे पदार्थके आकारको धारण करने लगता है। **भावार्थ**—आत्माका ज्ञानोपयोग एक पदार्थसे हटकर दूसरी तरफ लगता है इसीका नाम उपयोग संक्रान्ति है। और इसी उपयोगका नाम विकल्प है।

वह विकल्प क्षयोपशमरूप है—

क्षायोपशमिकं तत्स्यादर्थादक्षार्थसम्भवम्।
क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य संक्रान्तेरप्यसंभवात्॥ ८३६॥

अर्थ—वह उपयोग संक्रान्ति स्वरूप विकल्प क्षयोपशमात्मक है। अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे होनेवाला ज्ञान है। क्योंकि अतीन्द्रिय-क्षायिक ज्ञानमें संक्रान्तिका होना ही असंभव है। **भावार्थ**—जब तक ज्ञानमें अल्पज्ञता है तब तक वह सब पदार्थोंको युगपत नहीं ग्रहण कर सक्ता है किन्तु क्रम क्रमसे कभी किसी पदार्थको और कभी किसी पदार्थको जानता है। यह अवस्था इन्द्रिय जन्य ज्ञानमें ही होती है। जो ज्ञान क्षायिक है—अतीन्द्रिय है उसमें सम्पूर्ण पदार्थ एक साथ ही प्रतिबिम्बित होते हैं इसलिये उस ज्ञानमें उपयोगका परिवर्त्तन नहीं होता है। परन्तु वह ज्ञान भी सविकल्पक है।

कदाचित् कोई कहे कि वह ज्ञान (क्षायिक) कैसे हो सक्ता है क्योंकि विकल्प नाम उपयोगकी संक्रान्तिका है और क्षायिक ज्ञानमें संक्रान्ति होती नहीं है, फिर क्षायिक ज्ञान सविकल्पक किस प्रकार हो सक्ता है? इसका समाधान—

अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात्।
नार्थादर्थान्तराकारयोगसंक्रान्तिलक्षणात्॥ ८३७॥

अर्थ—क्षायिक ज्ञानमें विकल्पपना अपने लक्षणसे आता है न कि अर्थसे अर्थान्तराकारमें परिणत होनेवाले उपयोगके संक्रमण रूप लक्षणसे।

वह लक्षण इस प्रकार है—

तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम् ।
एकोऽर्थो ग्रहणं तत्स्यादाकारः सविकल्पता ॥ ८३८ ॥

अर्थ—क्षायिकज्ञानका लक्षण इस प्रकार है—स्व—आत्मा और अपूर्व पदार्थको विशेष रीतिसे ग्रहण करना। यहां पर अर्थ नाम पदार्थका है और ग्रहण नाम आकारका है। स्व और पदार्थके ज्ञानका ज्ञेयाकार होना ही ज्ञानमें सविकल्पता है। **भावार्थ**—जो ज्ञान अपने आपको जानता है साथ ही पर पदार्थोंको जानता है परन्तु उपयोगसे उपयोगान्तर नहीं होता है उसीको क्षायिक ज्ञान कहते हैं। यद्यपि क्षायिक ज्ञानमें भी पदार्थोंके परिवर्त्तनकी अपेक्षासे परिवर्त्तन होता रहता है तथापि उसमें क्षयोपशमजन्य ज्ञानकी तरह कभी किसी पदार्थका और कभी किसी पदार्थका ग्रहण नहीं है। क्षायिक ज्ञान सभी पदार्थोंको एक साथ ही जानता है इसी लिये उसमें उपयोग संक्रान्तिरूप लक्षण घटित नहीं होता है परन्तु ज्ञेयाकार होनेसे वह सविकल्प अवश्य है।

ऐसे अविकल्पका सराग ज्ञानमें ग्रहण नहीं है—

विकल्पः सोधिकारेऽस्मिन्नाधिकारी मनागपि ।
योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोधिकृतोऽधुना ॥ ८३९ ॥

अर्थ—जो विकल्प क्षायिक ज्ञानमें घटित किया गया है वह विकल्प इस अधिकारमें कुछ भी अधिकारी नहीं है। यहां पर तो उपयोगके पलटने रूप विकल्पका ही अधिकार है।

ऐसे विकल्पका अधिकार क्यों है?—

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रान्तिमृते क्वचित् ।
यतोप्यस्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः ॥ ८४० ॥

अर्थ—यहां पर इन्द्रियजन्य ज्ञानका अधिकार है और इन्द्रियजन्य ज्ञान बिना संक्रान्तिके कभी होता ही नहीं है। क्योंकि उसकी प्रतिक्षण अर्थसे अर्थान्तरमें गति होती रहती है। **भावार्थ**—यहां पर विचार यह था कि सराग सम्यक्त्व सविकल्प है उसमें ज्ञानचेतना नहीं होती है किन्तु वीतराग सम्यक्त्वमें ही वह होती है। आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, सविकल्प सम्यक्त्वमें भी ज्ञानचेतना होती है उसके होनेमें कोई बाधक नहीं है। यदि कहा जाय कि सराग सम्यक्त्व सविकल्प है इसलिये उसमें ज्ञानचेतना नहीं होती है इसके उत्तरमें आचार्यका कहना है कि विकल्प नाम ज्ञानोपयोगके पलटनेका है। ज्ञानोपयोगका पलटना यह उसका स्वभाव है। अर्थात् वह उपयोग कभी निजात्मानुभव ही करता है और कभी वह बाह्य पदार्थोंको भी जानता है। परन्तु वह ज्ञानचेतनामें किसी प्रकार बाधक नहीं होसकता है। सराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानोपयोगका पलटन भी क्यों होता है, इसका कारण

भी इन्द्रिजयन्य बोध है। सराग सम्यग्दृष्टिके इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है और इन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान जिस पदार्थको जाननेकी चेष्टा करता है उसीको जानता है।

इन्द्रियज्ञान क्रमवर्त्ती है—

इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यत्।
एकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत् ॥ ८४१ ॥

अर्थ—इन्द्रियजन्य ज्ञान नियमसे क्रमवर्ती होता है वह अक्रमवर्ती—सभी पदार्थोंको एक साथ जाननेवाला कभी नहीं होता। इन्द्रियजन्य ज्ञान एक पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थको जाननेकी चेष्टा करता है।

इन्द्रियजबोध और क्रमवर्तित्वकी समव्याप्ति है—

इदं त्वावश्यकी वृत्तिः समव्याप्तेरिवाह्वया।
इयं तत्रैव नान्यत्र तत्रैवं नचेतरा ॥ ८४२ ॥

अर्थ—समव्याप्तिकी तरह इन्द्रियजन्यबोध और संक्रान्तिकी आवश्यक व्यवस्था है। अर्थात् इन्द्रिजयन्य बोध और क्रमवर्तीपना दोनोंकी समव्याप्तिके समान ही व्यवस्था है। जहां इन्द्रियजन्य बोध है वहीं क्रमवर्तीपन है, अन्यत्र नहीं है। जहां इन्द्रियजन्य बोध है वहां क्रमवर्तीपन ही है, वहां और व्यवस्था नहीं है, अर्थात् क्षायिक ज्ञान और संक्रान्तिकी व्याप्ति नहीं है।

ध्यानका स्वरूप—

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोर्थतः ॥ ८४३ ॥
एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तिरूपं स्यात् क्रमवर्त्ति च ॥ ८४४ ॥

अर्थ—जो ज्ञान किसी एक पदार्थमें निरन्तर रहता है उसीको ध्यान कहते हैं। इस ध्यानरूप ज्ञानमें भी वास्तवमें न तो क्रम ही है और न अक्रम ही है। ध्यानमें एक वृत्ति होनेसे वह ज्ञान एक सरीखा ही विदित होता है। वह बार बार उसी ध्येयकी तरफ लगता है इस लिये वह क्रमवर्ती भी है। भावार्थ-यद्यपि यहां ध्यानका कोई प्रकरण नहीं है परन्तु प्रसङ्गवश उसका स्वरूप कहा गया है। प्रसंगका कारण भी यह है कि यहां पर इन्द्रियजन्य ज्ञानका विचार है कि वह क्रमवर्त्ती है, क्षायिकज्ञान क्रमवर्ती नहीं है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी कहीं २ ध्यानावस्थामें एकाग्रवृत्ति होता है, ध्यानमें ही तल्लीनता होनेसे वह ज्ञान स्थिर एकरूप ही प्रतीत होता है इस लिये ऐसे स्थलमें (ध्यानस्थ ज्ञानमें) क्रम-वर्तित्वका विचार नहीं भी होता है। परन्तु ध्यानस्थ ज्ञान भी फिर फिर उसी पदार्थमें (ध्येयमें) लगता है इस लिये उसे कथञ्चित् क्रमवर्ती भी कह दिया जाता है वास्तवमें वहां क्रम और अक्रमका विचार नहीं है।

यह क्रमवर्त्तीपन पहलेका सा नहीं है—

नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः ।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तिरपि क्रमात् ॥ ८४५ ॥

अर्थ—इस ध्यानरूप ज्ञानमें जो क्रमवर्त्तीपना है उसमें अर्थसे अर्थान्तर होना हेतु नहीं है किन्तु एक पदार्थमें ही क्रमसे पुनः पुनर्वृत्ति होती रहती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञानमें अर्थसे अर्थान्तररूप क्रमवृत्ति बतलाई गई है उसप्रकार ध्यानरूप ज्ञानमें क्रमवृत्ति नहीं है किन्तु वहां एक ही पदार्थमें पुनः पुनर्वृत्ति है ।

अतिव्याप्ति दोष नहीं है—

नोह्यं तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि ।
स्यात्परीणामवत्त्वेपि पुनर्वृत्तेरसंभवात् ॥ ८४६ ॥

अर्थ—कदाचित् यह कहा जाय कि इस ऊपर कहे हुए ध्यानरूप ज्ञानकी अतीन्द्रिय क्षायिक ज्ञानमें अतिव्याप्ति * आती है क्योंकि क्षायिक ज्ञान भी अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण नहीं करता है और ध्यानरूप ज्ञान भी अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण नहीं करता है इस लिये ध्यान रूप ज्ञानका क्षायिक ज्ञानमें लक्षण चला जाता है ? ऐसी आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि क्षायिक ज्ञान यद्यपि परिणमनशील है तथापि उसमें पुनर्वृत्ति (बार बार ध्येय पदार्थमें उपयोग करना)का होना असंभव है **भावार्थ**—यद्यपि सामान्य दृष्टिसे ध्यान और क्षायिकज्ञान दोनों ही क्रम रहित हैं, अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण दोनोंमें ही नहीं है । तथापि दोनोंमें बड़ा अन्तर है, ध्यान इन्द्रियजन्य ज्ञान है वह यद्यपि एक पदार्थमें ही (एक कालमें) होता है तथापि उसीमें फिर फिर उपयोग लगाना पड़ता है । क्षायिक ज्ञान ऐसा नहीं है वह अतिन्द्रिय है इसलिये उसमें उपयोगकी पुनर्वृत्ति नहीं है वह सदा युगपत् अखिल पदार्थोंके जाननेमें उपयुक्त रहता है, केवल पदार्थोंमें प्रति समय परिवर्तन होनेके कारण क्षायिक ज्ञानमें भी परिणमन होता रहता है । परन्तु क्षायिक ज्ञानमें क्रमवर्तीपन और पुनर्वृत्तिपन नहीं है इस-लिये ध्यानका लक्षण इसमें सर्वथा नहीं जाता है ।

छद्मस्थोंका ज्ञान संक्रमणात्मक है—

यावच्छद्मस्थजीवानामस्ति ज्ञानचतुष्टयम् ।
नियतक्रमवर्त्तित्वात् सर्वं संक्रमणात्मकम् ॥ ८४७ ॥

---

* जो लक्षण अपने लक्ष्यमें भी रहे और अलक्ष्यमें भी रहे उसे **अतिव्याप्ति** लक्षणाभास कहते हैं ।

अर्थ—छद्मस्थ जीवोंके चारों ही ज्ञान (मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय:) नियमसे क्रमवर्ती हैं इसलिये चारों ही संक्रमण रूप हैं।

नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तसंक्रान्तिलक्षणा।
हेतोर्वैभाविकत्वेपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥ ८४८ ॥

अर्थ—संक्रमण होनेसे ज्ञान शक्तिमें कोई दोष नहीं समझना चाहिये। यद्यपि वैभाविक हेतुसे उसमें विकार हुआ है तथापि वह आत्मीक शक्ति है जिस प्रकार शुद्धज्ञान आत्माकी शक्ति है। इसीप्रकार संक्रमणात्मक ज्ञान भी आत्माकी शक्ति है।

सारांश—

ज्ञानसञ्चेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम्।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥ ८४९ ॥

अर्थ—वह संक्रान्ति ज्ञानचेतनामें विघ्न नहीं कर सकती है क्योंकि वह भी ज्ञानकी ही पर्याय है। ज्ञानकी पर्याय ज्ञानरूप ही है। इसलिये विकल्प (संक्रमण ज्ञान) ज्ञानचेतनाका शत्रु नहीं है। **भावार्थ**—पहले यह कहा गया था कि व्यावहारिक सम्यग्दर्शनमें सविकल्पज्ञान रहता है, और उसका कारण कर्मोदय है। कर्मोदय हेतुसे व्यावहारिक सम्यग्दृष्टिका ज्ञान संक्रमणात्मक है। इसलिये उस विकल्पावस्थामें ज्ञानचेतना नहीं होसकती। ज्ञानचेतना वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही होती है। इसी वातका निराकरण करनेके लिये आचार्य कहते हैं कि विकल्पज्ञान ज्ञानचेतनामें बाधक नहीं होसकता। चारों ही ज्ञान क्षयोपशमात्मक हैं इसलिये चारों ही संक्रमणात्मक हैं। संक्रमणात्मक होनेसे ज्ञानचेतनामें वे किसी प्रकार बाधक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ज्ञानचेतनाका जो प्रतिपक्षी है वह ज्ञानचेतनामें बाधक होता है। विकल्पात्मकज्ञान ज्ञानकी ही पर्याय है इसलिये वह ज्ञानचेतनाका प्रतिपक्षी किसी प्रकार नहीं है।

शङ्काकार—

ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसञ्चेतनान्तरम् ॥ ८५० ॥

अर्थ—आपकी यह प्रतिज्ञा है कि संक्रान्तिके रहते हुए अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान होता है, जब ऐसी प्रतिज्ञा है तो क्या आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें भी ज्ञान संचेतनान्तर होता है? **भावार्थ**—पहले कहा गया है कि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ज्ञान संक्रमणात्मक हैं, मतिज्ञानमें ज्ञान चेतना भी आ गई इसलिये वह भी संक्रमणात्मक हुई, इसी विषयमें कोई शंका करता है कि ज्ञान चेतना शुद्धात्मानुभवको कहते हैं और संक्रान्ति ज्ञान चेतनामें मानते ही हो, तब क्या आत्माको पहले जानकर (आत्मानुभव करके) पीछे उसको छोड़कर दूसरे पदार्थोंमें दूसरी ज्ञान चेतना होती है? यदि होती है तो शुद्धात्माको

छोड़कर भिन्न पदार्थोंमें भी ज्ञान चेतनाकी वृत्ति रह जानेसे उसको विपक्षवृत्तित्व आ गया, " ज्ञान चेतना शुद्धात्मानुभवरूप ही होती है ज्ञान चेतनात्व हेतुसे " इस अनुमानमें ज्ञान चेतनात्व हेतुको शंकाकारने विपक्षवृत्ति बतला कर व्यभिचार दिखलाया है ।

उत्तर—

सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद्व्यभिचारिता ।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना ॥ ८५१ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक है विपक्षवृत्ति होनेसे हेतुको व्यभिचारीपना अवश्य आता है, किन्तु यहां पर हेतु विपक्ष वृत्ति नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थोंसे भिन्न जो शुद्ध निजात्मा है, उसमें ज्ञान चेतनाकी वृत्ति होनेसे संक्रमण भी बन जाता है और ज्ञान चेतनाको विपक्षवृत्तित्व भी नहीं आता है । **भावार्थ**—कोई पुरुष पहले भिन्न पदार्थोंको जान रहा था, फिर उसने अपने ज्ञानको बाह्य पदार्थोंसे हटाकर अपने शुद्धात्म विषयमें लगा दिया, शुद्धात्मानुभवके समय उसका वह ज्ञान ' ज्ञान चेतनास्वरूप है तथा वह बाह्य पदार्थोंसे हटकर शुद्धात्मामें लगनेके कारण संक्रमणात्मक भी है, और उस ज्ञानचेतनारूप ज्ञानकी बाह्य पदार्थोंके विषयमें वृत्ति भी नहीं है इसलिये व्यभिचार दोष नहीं है ।

किञ्च सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना ।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥ ८५२ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियोंके सदा ज्ञानचेतना रहती है । वह निरन्तर प्रवाह रूपसे रहती है, अथवा अखण्ड एकधारा रूपसे सदा रहती है ।

इसमें कारण—

हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह ।
ज्ञानसञ्चेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥ ८५३ ॥

अर्थ—निरन्तर ज्ञानचेतनाके रहनेमें भी सहकारी कारण सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय-रूपसे रहनेवाली ज्ञानचेतनालब्धि है वह अपने आवरणके दूर होनेसे सम्यग्दर्शनके साथ सदा रहती है । **भावार्थ**—आत्मामें सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके साथ ही मतिज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम होता है उसी क्षयोपशमका नाम ज्ञान चेतना लब्धि है । यह लब्धि सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव रूपसे सदा रहती है, और यही लब्धि उपयोगात्मक ज्ञान चेतनामें कारण है ।

उपयोगात्मक ज्ञानचेतना सदा नहीं होती है—

कादाचित्कास्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसंभवात् ॥ ८५४ ॥

अर्थ—ज्ञानकी निज उपयोगात्मक चेतना कभी २ होती है। वह लब्धिका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है। इसका कारण भी यही है कि उपयोगरूप ज्ञानचेतनाकी सम व्याप्ति नहीं है। **भावार्थ**--सम्यग्दर्शनका अविनाभावी जो मतिज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम है उसी-को लब्धि कहते हैं, और उस लब्धिके होनेपर आत्माकी तरफ उन्मुख (रुजू) होकर आत्मानुभवन करना ही उपयोग है। लब्धि और उपयोगमें कार्य कारण भाव है। लब्धिके होनेपर ही उपयोगात्मक ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। परन्तु यह नियम नहीं है कि लब्धिके होनेपर उपयोग रूप ज्ञान हो ही हो। उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य है। लब्धिरूप ज्ञान नित्य है। जिस समय पदार्थके जाननेके लिये आत्मा उद्यत होता है उसी समय उसके उपयोगा-त्मक ज्ञान होता है। परन्तु लब्धिरूप ज्ञान बना ही रहता है। इसलिये उपयोग और लब्धि दोनोंमें विषमव्याप्ति है। जो व्याप्ति एक तरफसे होती है उसे विषमव्याप्ति कहते हैं। उपयोगके होनेपर लब्धि अवश्य होती है परन्तु लब्धिके होने पर उपयोगात्मक चेतना हो भी और नहीं भी हो, नियम नहीं है। जो व्याप्ति दोनों तरफसे होती है उसे समव्याप्ति कहते हैं जैसे ज्ञान और आत्मा। जहां ज्ञान है वहां आत्मा अवश्य है और जहां आत्मा है वहां ज्ञान अवश्य है। ऐसी उभयथा व्याप्ति लब्धि और उपयोगरूप ज्ञानचेतनामें नहीं है।

उसीका स्पष्टीकरण—

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः।
लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः॥ ८५५॥
अभावान्नूपयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्च वा न वा।
*** यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्नचामुना॥ ८५६॥**
अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमात्॥ ८५७॥

अर्थ—लब्धि और उपयोगमें विषम व्याप्ति है। क्योंकि लब्धिका नाश होने पर उपयोगका नाश अवश्यंभावी है। परन्तु उपयोगका नाश होनेपर लब्धिका नाश अवश्यंभावी नहीं है। हो या न हो कुछ नियम नहीं है। सम्यग्दर्शनके साथ लब्ध्यावरणकर्मके क्षयोपशम-की व्याप्ति है, उसके साथ उपयोगात्मक ज्ञानकी व्याप्ति नहीं है। व्याप्तिसे तात्पर्य यहां समव्याप्तिका है सम्यग्दर्शनके होनेपर लब्ध्यावरण कर्म (ज्ञानचेतनाको रोकनेवाला कर्म)का क्षयोपशम भी अवश्य होता है। सम्यग्दर्शनके अभावमें लब्ध्यावरण कर्मका क्षयोपशम भी

* यहां पर आवरण शब्दका अर्थ आवरणका क्षयोपशम लेना चाहिये। नामके एकदेश कहनेसे सम्पूर्ण नामका ग्रहण कहीं २ किया जाता है।

नहीं होता है । यह बात जिनागममें सिद्ध है । ×

विशेष—

नूनं कर्मफले सम्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि ।
स्यात्सर्वतः प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं बलवद्यतः ८५८ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वके अभावमें कर्म चेतना व कर्मफल चेतना होती है, और यह बात सर्व प्रमाण सिद्ध है । क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मिथ्यादृष्टिके कर्मचेतना व कर्मफल

× बहुतसे लोग ऐसी शंका उठाया करते हैं कि कागज़, पेंसिल आदि पदार्थोंका ज्ञान जैसा सम्यग्ज्ञानीको होता है वैसा ही मिथ्याज्ञानीको होता है । फिर यथार्थ ज्ञान होने पर भी, मिथ्यादृष्टिको मिथ्याज्ञानी क्यों कहा जाता है ? इस शंकाका यह समाधान है कि केवल लौकिक पदार्थोंको जाननेसे ही सम्यग्ज्ञानी नहीं होजाता है । यदि लौकिक पदार्थोंको जाननेसे ही सम्यग्ज्ञानी होजाता हो तो उस पाश्चिमात्य-विज्ञान वेत्ताको जो कि अनेक सूक्ष्म आविष्कार कर रहा है और पदार्थोंकी शक्तियोंका परिज्ञान कर रहा है सम्यग्ज्ञानी कहना चाहिये, परन्तु नहीं, वह भी मिथ्याज्ञानी ही है । सम्यग्ज्ञानीका यही लक्षण है कि जिसकी आत्मामें दर्शन मोहनीय कर्मके क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशमके साथ ही मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम 'लब्धि' होचुका हो । मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम यद्यपि सामान्य दृष्टिसे सबके ही होता है तथापि यह जुदा है । यह स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम कहलाता है । स्वानुभूति भी मतिज्ञानका ही भेद है । सम्यग्ज्ञानीके स्वानुभूति लब्धि प्रकट होजाती है बस यही उसके सम्यग्ज्ञानका चिन्ह है । इसीसे बाह्य पदार्थोंमें अल्पज्ञ अथवा कहीं पर शङ्कित वृत्ति होनेपर भी वह सम्यग्ज्ञानी ही कहा जाता है । सम्यग्दृष्टिको भी रस्सीमें सर्पका, सीपमें चांदीका, स्थाणुमें पुरुषका भ्रम होता ही है परन्तु वह भ्रम बाह्यदृष्टिके दोषसे होता है । उसके सम्यग्ज्ञानमें वह दोष बाधक नहीं होसकता है । पशुओंको भी सम्यग्दर्शनके साथ वह लब्धि प्रकट होजाती है, इसी लिये वे पदार्थोंका बहुत कम (न कुछके बराबर) ज्ञान रखने पर भी सम्यग्ज्ञानी हैं । पशुओंको जीवादि तत्वोंका पूर्ण बोध भले ही न हो तथापि वे उस मिथ्यात्व पटलके हट जानेसे सम्यग्ज्ञानी हैं । सम्यग्ज्ञानीको बहु विज्ञ होना चाहिये ऐसा नियम नहीं है, केवल स्वानुभूतिके प्रकट होजानेसे ही सम्यग्ज्ञानी अलौकिक सुखका आस्वादन करता है । आत्मोपयोगी पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्ज्ञानीको ही होसकता है वह श्रद्धान बड़े २ आविष्कारोंको नहीं होसकता । आजकल बहुतसे मनुष्य हरएक पदार्थके विश्वासको सम्यग्दर्शन कह देते हैं परन्तु ऐसा उनका कहना लोगोंको केवल भ्रममें डालनेवाला ही है । सिद्धान्त तो यहां तक बतलाता है कि विना स्वानुभूतिके जो जीवादि तत्वोंका श्रद्धान है वह भी सम्यक्त्व नहीं है, यही कारण है कि द्रव्यलिङ्गी मुनि संसारमें ही रहते हैं, वे यद्यपि दश अंग तकके पाठी होजाते हैं उन्हें जीवादि तत्त्वोंका भी श्रद्धान है परन्तु स्वानुभूति लब्धिका उनके अभाव है इसी लिये वे मिथ्यादृष्टि ही हैं उनको यथार्थ सुखका स्वाद नहीं मिलता है । उपर्युक्त कथनका सारांश यही है कि जिनके स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होचुका है वे ही सम्यग्ज्ञानी हैं । हां, स्वात्मोपयोगी पदार्थोंका श्रद्धान भी सम्यक्त्वमें कारण है ।

चेतना होती है। जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध होती है वह सर्व प्रमाण सिद्ध होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष सबमें बलवान प्रमाण है।

फलितार्थ—

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा।
निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोस्ति सा ॥ ८५९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यही सारांश है कि जो ज्ञानचेतनावरणकी क्षयोपशमरूप लब्धि है वह शुद्धात्मानुभव रूप उपयोगके अभावमें निर्विकल्पक अवस्थामें रहती है। **भावार्थ—**जैसे दाह्य पदार्थके अभावमें अग्निकी दाहक शक्तिका व्यक्त परिणमन (कार्यरूप) कुछ भी दिखाई नहीं देता, वैसी ही अवस्था शुद्धात्मानुभवके अभावमें लब्धिरूप ज्ञानचेतनाकी समझना चाहिये। ऊपर जो कहा गया है कि सम्यक्त्वके रहते हुए उपयोगात्मक चेतना कभी होती है कभी नहीं होती किन्तु सम्यक्त्वके रहते हुए लब्धिरूप चेतना सदा बनी रहती है उसका सारांश यही है कि सम्यक्त्वके सद्भावमें स्वात्मानुभव रूप उपयोगात्मक ज्ञान हो अथवा न हो परन्तु लब्धिरूप ज्ञान अवश्य रहता है, हां इतना अवश्य है कि उपयोगके अभावमें वह लब्धिरूप ज्ञान निर्विकल्पक अवस्थामें रहता है, उस समय कार्य परिणत नहीं है।

शुद्धस्यात्मोपयोगो यः स्वयं स्यात् ज्ञानचेतना।
निर्विकल्पः स एवार्थादर्थासंक्रान्तसङ्गतेः ॥ ८६० ॥

अर्थ—शुद्धात्मानुभव रूप जो उपयोगात्मक ज्ञानचेतना है वह भी वास्तवमें निर्विकल्पक ही है, क्योंकि जितनेकाल तक शुद्धात्मानुभव होता रहता है उतने काल तक ही उपयोगात्मक ज्ञानचेतना कहलाती है, और उस कालमें शुद्धात्मासे हटकर दूसरे पदार्थोंकी ओर ज्ञान जाता नहीं है इसलिये उस समय संक्रान्तिके न होनेसे उपयोगात्मक ज्ञानको भी निर्विकल्पक कहा गया है। **भावार्थ—**यहां पर यह शंका हो सकती है कि पहले ज्ञान चेतनाको संक्रमणात्मक कहा गया है और यहां पर उसीको असंक्रमणात्मक वा निर्विकल्पक कहा गया है, सो क्यों? इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि वहां पर दूसरे पदार्थोंसे हटकर शुद्धात्मामें लगनेकी अपेक्षासे ज्ञान चेतनाको संक्रमणात्मक कहा गया है और यहां पर ज्ञान चेतनारूप उपयोगके अस्तित्व-कालमें शुद्धात्मासे हटकर पदार्थान्तरमें ज्ञानका परिणमन न होनेकी अपेक्षासे उसे असंक्रमणात्मक (निर्विकल्पक) कहा गया है।

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोत्र केवलम्।
यत्कश्चिद्बहिरर्थे स्यादुपयोगोन्यत्रात्मनः ॥ ८६१ ॥

अर्थ—यहां पर इस प्रश्नके लिये फिर भी लेश मात्र अवकाश रह जाता है कि जब ज्ञान चेतनामें शुद्धात्माको छोड़कर अन्य पदार्थ विषय पड़ते ही नहीं, तब केवलज्ञानियोंके

ज्ञान चेतना है या नहीं, यदि है तो उसमें अन्य पदार्थ क्यों विषय पड़ते हैं, यदि नहीं है तो केवलियोंके कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाकी असंभावनामें कौनसी चेतना कहनी चाहिये ? इस प्रश्नके उत्तरमें यही समझना चाहिये कि केवलज्ञानियोंके ज्ञानचेतना ही होती है और उसमें शुद्धात्मा विषय रहते हुए ही अन्य सकल पदार्थ विषय पड़ते हैं । शुद्धात्माको छोड़ कर केवल अन्य पदार्थ विषय नहीं पड़ते हैं । **भावार्थ**–किसी ज्ञान चेतनामें केवल शुद्धात्मा विषय पड़ता है और किसीमें शुद्धात्मा तथा अन्य पदार्थ दोनों ही विषय पड़ते हैं किन्तु ऐसी कोई भी उपयोगात्मक ज्ञान चेतना नहीं है कि जिसमें शुद्धात्मा विषय न पड़ता हो, अथवा केवल अन्य पदार्थ ही विषय पड़ते हों । अन्य पदार्थोंके निषेध करनेका भी हमारा यही प्रयोजन है कि शुद्धात्माको छोड़कर केवल अन्य पदार्थ ज्ञान चेतनामें विषय नहीं पड़ते हैं । यहांपर यह शंका उठाई जा सक्ती है कि जब ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थ भी विषय पड़ते हैं तब उसमें संक्रमणका होना भी आवश्यक है । और ऊपर ज्ञान चेतनामें संक्रमणका निषेध किया गया है, सो क्यों ? इसका उत्तर यह है कि जिस ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थ भी विषय पड़ते हैं वे उस ज्ञान चेतनाके अस्तित्व कालमें आदिसे अन्ततक बराबर विषय रहते हैं । केवलज्ञानमें आदिसे ही शुद्धात्मा तथा अन्य पदार्थ विषय पड़ते हैं और अनन्तकाल तक निरन्तर बने रहते हैं, ऐसा नहीं है कि केवलज्ञानमें उत्पत्ति कालमें केवल शुद्धात्मा ही विषय पड़ता हो, पीछे विषय बढ़ते जाते हों, किन्तु आदिसे ही सर्व विषय उसमें झलकते हैं, और बराबर झलकते रहते हैं, इसी अपेक्षासे ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थोंके विषय रहते हुए भी संक्रमणका निषेध किया गया है ।

ज्ञानोपयोगकी महिमा—

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः ॥
आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत् ॥ ८६२ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोगकी यह स्वाभाविक महिमा है कि वह अपना प्रकाशक है, परका प्रकाशक है और स्व–पर दोनोंका प्रकाशक है । जिस प्रकार दीपक अपना और दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक है उसी प्रकार ज्ञान भी अपना और दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक है यह ज्ञानोपयोगकी स्वाभाविक महिमा है ।

उसीका खुलासा—

निर्विशेषाद्यथात्मानमिव ज्ञेयमवैति च ।
तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति ॥ ८६३ ॥

अर्थ—ज्ञान सामान्य रीतिसे जिस प्रकार अपने स्वरूपको जानता है उसी प्रकार ज्ञेय पदार्थोंको भी वह जानता है तथा ज्ञेय पदार्थोंमें मूर्त पदार्थोंको और अमूर्त धर्मद्रव्य, अधर्म-द्रव्य आदि पदार्थोंको वह जानता है।

स्वपरोपयोग गुणदोषाधायक नहीं है—

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।
परस्मिन्नुपयुक्तोवा नोपयुक्तः स एव हि ॥ ८६४ ॥
स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोऽपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः ॥
उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः ॥८६५॥

अर्थ—पहले यह बात कही जा चुकी थी कि क्षयोपशमात्मक ज्ञानकी दो अवस्थायें होती हैं-एक लब्धिरूप, दूसरी उपयोगरूप। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाली जो आत्मामें विशुद्धि है उसको लब्धि कहते हैं और पदार्थोंके जाननेकी चेष्टा करना उसे उपयोग कहते हैं, अब यहां पर उपयोगात्मक ज्ञानका ही विचार चल रहा है कि वह कभी आत्मामें ही उपयुक्त होता है अर्थात् निजात्माको ही जानता है, और कभी नहीं भी उपयुक्त होता है अर्थात् कभी आत्माको नहीं भी जानता है केवल, लब्धिरूप ही रहता है। अथवा कभी वह पर पदार्थमें भी उपयुक्त होता है और कभी वहां भी उपयुक्त नहीं होता है। जिस समय वह उपयोग निजात्माको जान रहा है उस समय वह कुछ उत्कर्ष पैदा नहीं करता है, और जिस समय वह पर पदार्थको भी जान रहा है उस समय वास्तवमें कुछ अपकर्ष पैदा नहीं करता है।

सारांश—

तस्मात्स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया।
मा सीदसि महाप्राज्ञ सार्थमर्थमवैहि भोः ॥ ८६६ ॥

अर्थ—इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित रहनेके लिये दूसरे पदार्थसे हटकर एकाकार (आत्माकार) के करनेकी इच्छासे खेद मत कर ! हे महा प्राज्ञ ! सम्पूर्ण पदार्थको पहचान। **भावार्थ**–शंकाकार स्वात्मोपयोगको ही ज्ञानचेतना समझता था। जिस समय ज्ञानोपयोग पर पदार्थको जानता है उस समय उसे वह ज्ञान चेतना नहीं समझता था, आचार्य उस शंकाकारसे सम्बोधन करके कहते हैं कि तू व्यर्थका खेद मत कर, ज्ञानोपयोगकी तो यह स्वाभाविक महिमा है कि वह स्व–पर सबको जानता है, न तो स्वात्मोपयोग कुछ विशेष गुणोत्पादक है और न पर पदार्थोपयोग कुछ दोषोत्पादक है। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है। पदार्थका स्वरूप जाननेकी बड़ी आवश्यकता है।

ज्ञानका स्वभाव—

चर्यया पर्यटन्नेव ज्ञानमर्थेषु लीलया।
न दोषाय गुणायाऽथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात् ॥ ८६७ ॥

अर्थ—ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंमें लीलामात्रसे घूमता फिरता है, वह प्रत्येक पदार्थको

जानता हुआ न तो कुछ दोष ही पैदा करता है और न कुछ गुण ही पैदा करता है। अर्थात् हरएक पदार्थको जानना यह ज्ञानका धर्म है । दोष गुणसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहांपर कई श्लोकोंमें दोष गुणका निरूपण आरहा है, इसलिये यह बता देना आवश्यक है कि दोषसे किस दोषका ग्रहण है और गुणसे किस गुणका ग्रहण है ।

दोष—

दोषः सम्यग्दृशो हानिः सर्वतोंऽशांशतोऽथवा ।
संवराग्रेसरायाश्च निर्जरायाः क्षतिर्मनाक् ॥ ८६८ ॥
व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्द्वयस्योपमूलनम् ।
हानिर्वा पुण्यबन्धस्याहेयस्याप्यपकर्षणात् ॥ ८६९ ॥
उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च ।
तद्द्वयस्याथवा किञ्चिद्यावदुद्वेलनादिकम् ॥ ८७० ॥

अर्थ—सम्पूर्णतासे सम्यग्दर्शनकी हानिका होना, अथवा कुछ अंशोंमें उसकी हानिका होना, संवर और निर्जराकी कुछ हानिका होना, इन दोनोंमेंसे किसी एकका विनाश होना, अथवा दोनोंका ही सर्व देश विनाश होना, अथवा उपादेय–पुण्यबन्धकी हानिका होना, अथवा उसका कम रह जाना, अथवा पापबन्धकी उत्पत्तिका होना, अथवा पापबन्धका उत्कर्ष–बढ़वारी होना, अथवा पापबन्धकी उत्पत्ति और उसके उत्कर्ष रूपमें कुछ उद्वेलन आदिका होना, ये सब दोष कहलाते हैं ।

गुण—

गुणः सम्यक्त्वसंभूतिरुत्कर्षो वा मनोंऽशकैः ।
निर्जराऽभिनवा यद्वा संवरोऽभिनवो मनाक् ॥ ८७१ ॥
उत्कर्षो वाऽनयोरंशैर्द्वयोरन्यतरस्य वा ।
श्रेयोबन्धोऽथवोत्कर्षो यद्वा नह्यपकर्षणम् ॥ ८७२ ॥ *

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका होना, अथवा उसकी अंशरूपसे वृद्धिका होना, अथवा नवीन निर्जराका होना अथवा कुछ नवीन संवरका होना, अथवा संवर और निर्जरा दोनोंकी अंशरूपसे वृद्धिका होना, अथवा दोनोंमेंसे किसी एकका उत्कर्ष होना, पुण्य बन्धका होना, अथवा उसकी बढ़वारी होना अथवा पुण्य बन्धमें अपकर्ष (हीनता) का न होना ये सब गुण कहलाते हैं ।

---

* मूल पुस्तकमें "यद्वा स्यादपकर्षणम्" ऐसा पाठ है परन्तु यहां पर पुण्यबन्धके उत्कर्षको गुण कहा गया है फिर उसके अपकर्षको भी कैसे गुण कहा जासकता है इसलिये उपर्युक्त संशोधित पुस्तकका पाठ ही अनुकूल पड़ता है । सुज्ञजन और भी विचारें ।

गुण और दोषमें उपयोग कारण नहीं है—

गुणदोषद्वयोरेवं नोपयोगोस्ति कारणम् ।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ ८७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर कहे हुए गुण और दोषोंमें उपयोग (ज्ञानोपयोग) कारण नहीं है, और न वह उन दोनोंमेंसे किसी एकका हेतु ही है। तथा यह उपयोग दोनोंका सहकारी भी नहीं है। **भावार्थ**—कारण, हेतु, सहकारी इन तीनोंका भिन्न २ अर्थ है। उत्पन्न करनेवालेको कारण कहते हैं, जैसे धूमकी उत्पत्तिमें अग्नि कारण है, जो उत्पादक तो न हो किन्तु साधक हो उसे हेतु कहते हैं, जैसे पर्वतमें अग्नि सिद्ध करते समय धूम उसका साधक होता है। सहायता पहुंचानेवालेको सहकारी कहते हैं, जैसे घट बनाते समय कुंभकारके लिये दण्ड सहकारी है। उपयोग गुण दोषोंके लिये न तो कारण है न हेतु है और न सहकारीही है।

सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण—

सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्तादृङ्मोहकर्मणः ।
अस्ति तेनाविनाभूतं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ॥ ८७४ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होनेसे सम्यक्त्व नामा जीवका गुण प्रकट होता है। दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके साथ ही सम्यक्त्वका अविनाभाव है। इन्हीं दोनोंमें व्याप्ति घटित होती है।

दैवादस्तं गते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनन्तरम् ।
*** दैवान्नास्तंगते तत्र न स्यात्सम्यक्त्वमञ्जसा ॥ ८७५ ॥**

अर्थ—दैववश (काल लब्धि आदिक निमित्त मिलने पर) उस दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मामें सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है, और दैववश (प्रतिकूलतामें) उस दर्शन मोहनीयके अस्त नहीं होने पर अर्थात् उदित रहने पर सम्यक्त्व नहीं होता है। **भवार्थ**—दर्शन मोहनीय कर्मका उदय सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें बाधक है और उसका अनुदय सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें साधक है।

सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद् व्याप्तिर्द्वयोरपि ।
विना तेनापि सम्यक्त्वं तदस्ते सति स्याद्यतः ॥ ८७६ ॥

अर्थ—उस ज्ञानोपयोगके साथ दर्शन मोहाभाव और सम्यक्त्वकी व्याप्ति नहीं है

* "दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम्" यह पाठ मूल पुस्तकका है। इसका आशय यही है कि उपयोग दर्शनमोहनीयके उदय और अनुदयमें हेतु नहीं है, सहकारी भी नहीं है। परन्तु इस बातका कथन नीचेके श्लोकमें आया है तथा दो नकार भी खटकते हैं इसलिये संशोधित पाठ ही ठीक प्रतीत होता है।

क्योंकि विना उपयोग (शुद्धोपयोग)के भी दर्शन मोहनीय कर्मके अनुदय होने पर सम्यक्त्व होता ही है। इसलिये दर्शनमोहाभाव और सम्यक्त्वकी व्याप्ति है, उपयोगके साथ इनकी व्याप्ति नहीं है।

उपयोगके साथ निर्जरादिककी भी व्याप्ति नहीं है—

सम्यक्त्वेनाविनाभूता येपि ते निर्जरादयः ।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥ ८७७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभावसे रहने वाले जो निर्जरा, संवर आदिक गुण हैं वे भी उस उपयोगके साथ व्याप्ति नहीं रखते हैं, अर्थात् निर्जरा आदिमें भी उपयोग कारण नहीं है।

सम्यक्त्व और निर्जरादिकी व्याप्ति—

सत्यत्र निर्जरादीनामवश्यम्भावलक्षणम् ।
सद्भावोस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगि तत् ॥ ८७८ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके होने पर निर्जरा आदिक अवश्य ही होते हैं। सम्यग्दर्शनकी उपस्थितिमें निर्जरादिका अभाव नहीं हो सकता है। परन्तु उस समय ज्ञान उपयोगात्मक हो अथवा न हो कुछ नियम नहीं है। अर्थात् शुद्धोपयोग हो या न हो निर्जरादिक सम्यक्त्वके अविनाभावी हैं। उनमें उपयोग कारण नहीं है।

इसीका स्पष्टीकरण—

आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं वा स्यात्परात्मनि ।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः ॥ ८७९ ॥

अर्थ—ज्ञान चाहे स्वात्मामें ही उपयुक्त हो चाहे वह परात्मा (पर पदार्थ) में भी उपयुक्त हो, सम्यग्दर्शनरूप भावोंके होनेपर ही निर्जरादिक होते हैं। भावार्थ—उपर्युक्त छह श्लोकों में जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि ज्ञान चाहे निजात्मा (शुद्धात्मानुभव) में उपयुक्त हो चाहे पर पदार्थोंमें भी उपयुक्त हो वह गुण दोषोंमें कारण नहीं है। ऊपरके श्लोकोंमें गुणोंका कथन किया गया है। निर्जरादि गुणोंमें जीवके सम्यग्दर्शनरूप परिणाम ही कारण हैं स्वात्मोपयोग कारण नहीं है।

पुण्य और पापबन्धमें कारण—

यत्पुनः श्रेयसो बन्धो बन्धश्चाऽश्रेयसोपि वा ।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात् स्वात्मोपयोगसात् ॥८८०॥

अर्थ—जिस प्रकार निर्जरादिक गुणोंमें उपयोग कारण नहीं है। उसी प्रकार पुण्यबन्ध और पापबन्धमें भी वह कारण नहीं है। पुण्यबन्ध और पापबन्ध रागद्वेष मोहसे होते हैं, वे उपयोगाधीन नहीं होते।

बन्धकी व्याप्ति रागादिके साथ है—

व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाऽव्याप्तिर्विकल्पैरिव।
विकल्पैरस्य चाऽव्याप्तिर्न व्याप्तिः किल तैरिव॥ ८८१॥

अर्थ—बन्धकी व्याप्ति (अविनाभाव) रागादिकोंके साथ है। रागादिकोंके साथ उपयोगकी तरह बन्धकी अव्याप्ति नहीं है। और उपयोगके साथ बन्धकी अव्याप्ति है। उपयोगके साथ रागादिककी तरह बन्धकी व्याप्ति नहीं है। **भावार्थ**—बन्धके होनेमें रागद्वेष कारण हैं। शुभ बन्धमें शुभरागकी तीव्रता और अशुभ कर्मोदयकी मन्दता कारण है और अशुभ बन्धमें अशुभ रागकी तीव्रता और शुभ कर्मोदयकी मन्दता कारण है। परन्तु बन्धमात्रमें उपयोग कारण नहीं है। इसी लिये बन्धका अविनाभाव रागद्वेषके साथ है उपयोगके साथ नहीं है।

राग और उपयोगमें व्याप्ति नहीं है—

नानेकत्वमसिद्धं स्यान्नस्याद्व्याप्तिर्मिथोऽनयोः।
रागादेश्चोपयोगस्य किन्तूपेक्षास्ति तद्द्वयोः॥ ८८२॥

अर्थ—राग और उपयोग इनमें अनेकत्व असिद्ध नहीं है, अर्थात् राग भिन्न पदार्थ है और उपयोग भिन्न पदार्थ है। इन दोनोंमें परस्पर व्याप्ति भी नहीं है किन्तु राग और उपयोग दोनोंमें उपेक्षा भाव है, अर्थात् दोनोंमें कोई भी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता है। दोनोंमें कोई सम्बन्ध भी नहीं है। दोनों स्वतन्त्र हैं।

राग क्या पदार्थ है—

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यतः।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ्मोहस्याथ नान्यथा॥ ८८३॥

अर्थ—आत्माके कलुषित (सकषाय) परिणामोंका नाम ही रागादिक है। रागादिक आत्माका औदयिक भाव है। क्योंकि वह चारित्रमोहनीय और दर्शनमोहनीयके पाकसे होता है। अन्यथा नहीं होता। **भावार्थ**—रागादिकमें आदि पदसे द्वेष और मोहका ग्रहण करना चाहिये। चारित्र मोहनीयकर्मके विपाक होनेसे आत्माके चारित्र गुणके विभाव भावको रागद्वेष कहते हैं। दर्शनमोहनीयकर्मके विपाक होनेसे सम्यग्दर्शनके विभावभावको मोह कहते हैं। ये भावकर्मके उदयसे ही होते हैं इसलिये इन्हें औदयिकभाव कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व ये सब रागद्वेष मोहरूप औदयिक भाव हैं।

उपयोग क्या पदार्थ है—

क्षायोपशमिकं ज्ञानमुपयोगः स उच्यते।
एतदावरणस्योच्चैः क्षयाच्चोपशमात्मनः॥ ८८४॥

अर्थ—क्षायोपशमिक ज्ञानको उपयोग कहते हैं। यह उपयोग ज्ञानावरण कर्मके क्षय और उपशमसे होता है।

राग और उपयोग भिन्न २ कारणोंसे होते हैं—

अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञानं चास्ति स्वहेतुकम् ।
दूरे स्वरूपभेदत्वादेकार्थत्वं कुतोऽनयोः ॥ ८८५ ॥

अर्थ—राग अपने कारणसे होता है और ज्ञान अपने कारणसे होता है। राग और ज्ञान दोनोंका स्वरूप भिन्न भिन्न है इसलिये दोनोंका एक अर्थ कैसे होसक्ता है?

किञ्च ज्ञानं भवद्देव भवतीदं न चापरम् ।
रागाद्यो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा ॥ ८८६ ॥

अर्थ—जिस समय ज्ञान होता है उस समय ज्ञानही होता है उस समय रागद्वेष नहीं होते और जिस समय रागादिक होते हैं उस समय रागादिक ही होते हैं उस समय ज्ञान नहीं होता। **भावार्थ**—'जिस समय' से यह आशय नहीं लेना चाहिये कि ज्ञानका समय भिन्न है और रागादिकका भिन्न है। समय दोनोंका एक ही है। ज्ञान और रागादिक दोनों ही एक ही समयमें होते हैं परन्तु ज्ञान अपने स्वरूपसे होता है और रागादिक अपने स्वरूपसे होते हैं। अथवा ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे ज्ञान होता है और चारित्र मोहनीय तथा दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे रागद्वेष मोह होते हैं। ज्ञानावरण कर्मकी अधिकतामें ज्ञानका कम विकाश होता है और उसकी हानिमें ज्ञानका अधिक विकाश होता है। इसी प्रकार रागद्वेष और मोहकी हीनता और अधिकता उनके कारणोंकी हीनता अधिकतासे होती है।

ज्ञानकी वृद्धिमें रागकी वृद्धि नहीं होती—

अभिज्ञानं च तत्रास्ति वर्धमाने चितिस्फुटम् ।
रागादीनामभिवृद्धिर्न स्याद् व्याप्तेरसंभवात् ॥ ८८७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका खुलासा दृष्टान्त इस प्रकार है कि ज्ञानकी वृद्धि होनेपर रागादिककी वृद्धि नहीं होती है। क्योंकि इन दोनोंकी व्याप्ति नहीं है। अर्थात् ज्ञानकी वृद्धिसे रागादिकका कोई सम्बन्ध नहीं है।

रागादिकी वृद्धिमें ज्ञानकी वृद्धि नहीं होती—

वर्धमानेषु चैतेषु वृद्धिर्ज्ञानस्य न क्वचित् ।
अस्ति यद्वा स्वसामग्र्यां सत्यां वृद्धिः समा द्वयोः ॥ ८८८ ॥

अर्थ—रागादिकोंकी वृद्धि होनेपर ज्ञानकी वृद्धि कहीं नहीं भी होती है, अथवा अपनी २ सामग्रीके मिलनेपर दोनोंकी एक साथ ही वृद्धि होजाती है।

ज्ञानकी वृद्धिमें रागकी हानि भी नहीं होती—

ज्ञानेऽथ वर्धमानेपि हेतोः प्रतिपक्षक्षयात् ।
रागादीनां न हानिः स्याद्धेतोर्मोहोदयात्सतः ॥ ८८९ ॥

अर्थ—अथवा प्रतिपक्ष कर्म (ज्ञानावरण) के क्षय होनेसे ज्ञानकी वृद्धि होनेपर मोहनीय कर्मके उदय रहनेसे रागादिकोंकी हानि भी नहीं होती है। **भावार्थ**—एक ही समय ज्ञानावरण कर्मका क्षय और मोहनीयका उदय हो रहा हो तो ज्ञानकी वृद्धि होती है परन्तु रागकी हानि नहीं होती है।

कारण मिलनेपर दोनोंकी हानि होती है—

यद्वा दैवात्तत्सामग्र्यां सत्यां हानिः समं द्वयोः ।
आत्मीयाऽऽत्मीयहेतोर्या ज्ञेया नान्योन्यहेतुतः ॥ ८९० ॥

अर्थ—अथवा दैववश अपनी २ सामग्रीके मिलनेपर दोनोंकी साथ ही हानि होती है। यह हानि वृद्धिका क्रम अपने २ कारणोंसे होता है। एकका कारण दूसरेकी हानि वृद्धिमें सहायक कभी नहीं हो सक्ता।

उपयोगकी द्रव्य कर्मके साथ भी व्याप्ति नहीं है—

व्याप्तिर्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा ।
रागादीनान्तु व्याप्तिः स्यात् संविदावरणैः सह ॥ ८९१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार रागद्वेषादि भावमोहके साथ उपयोगकी व्याप्ति नहीं है उसी प्रकार द्रव्यमोहके साथ भी उसकी व्याप्ति नहीं है। परन्तु रागादिकोंकी तो ज्ञानावरणके साथ व्याप्ति है।

रागादिकोंकी ज्ञानावरणके साथ विषम व्याप्ति है—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेषा स्याद्विषमैव तु ।
न स्यात् क्रमात्तथाव्याप्तिर्हेतोरन्यतरादपि ॥ ८९२ ॥

अर्थ—रागादिकोंकी ज्ञानावरणके साथ अन्वय व्यतिरेक दोनोंसे विषम ही व्याप्ति है। किसी अन्यतर हेतुसे भी इन दोनोंकी सम व्याप्ति नहीं है।

व्याप्तेरसिद्धिः साध्यात्र साधनं व्यभिचारिता ।
सैकस्मिन्नपि सत्यन्यो न स्यात्स्याद्वा स्वहेतुतः ॥ ८९३ ॥

अर्थ—यहां पर समव्याप्तिकी असिद्धि साध्य है और व्यभिचारीपन हेतु है, अर्थात् यदि रागादिक और ज्ञानावरण कर्म इनकी समव्याप्ति मानी जाय तो व्यभिचाररूप दोष आता है वह इस प्रकार आता है—ज्ञानावरण कर्मके रहनेपर रागादिभाव नहीं भी होता है। यदि होता भी है तो अपने कारणोंसे होता है। **भावार्थ**—" रागाद्यावरणयोः समव्याप्तेरसिद्धिः व्यभिचारित्वात् " इस अनुमान वाक्यसे रागादि और आवरणमें समव्याप्ति नहीं बनती है। व्याप्तिसे यहां पर सम व्याप्तिका ही ग्रहण है।

व्याप्ति किसे कहते हैं—

व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः ।
सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः ॥ ८९४ ॥

अर्थ—साहचर्यके नियमको व्याप्ति कहते हैं, वह इस प्रकार है-जिसके होनेपर जो होता है और जिसके नहीं होनेपर जो नहीं होता है, यह व्याप्तिका नियम परस्परमें होता है ।

सा समा रागसद्भावे नूनं बन्धस्य संभवात् ।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्याऽसंभवादपि ॥ ८९५ ॥

अर्थ—यहांपर समव्याप्ति नहीं है, रागके सद्भावमें बन्ध नियमसे होता है और रागादिकोंके अभावमें बन्ध नहीं होता है ।

विषम व्याप्ति—

व्याप्तिः सा विषमा सत्सु संविदावरणादिषु ।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्वाऽस्य स्वहेतुतः ॥ ८९६ ॥

अर्थ—विषम व्याप्ति इस प्रकार है—ज्ञानावरणादि कर्मोंके रहने पर रागभावका अभाव पाया जाता है, अथवा रागादिकका सद्भाव भी पाया जाय तो उसके कारणोंसे ही पाया जायगा, ज्ञानावरणादिके निमित्तसे नहीं । **भावार्थ**—समव्याप्ति तो तब होती जब कि ज्ञानावरणादिके सद्भावमें रागादि भावोंका भी अवश्य सद्भाव होता, परन्तु ऐसा नहीं होता है, उपशान्तकषाय, क्षीण कषाय गुणस्थानोंमें ज्ञानावरणादि कर्म तो हैं परन्तु वहां पर रागादिभाव सर्वथा नहीं हैं । ग्यारहवें गुण स्थानसे नीचे भी ज्ञानावरणादि कर्मके सद्भावमें ही रागादिभाव नहीं होते हैं किन्तु अपने कारणोंसे होते हैं । परन्तु रागादिभावोंके सद्भावमें ज्ञानावरणादि कर्मोंका अवश्य ही बन्ध होता है । क्योंकि *आयुको छोड़कर सातों ही कर्मोंका बन्ध संसारी आत्माके प्रतिक्षण हुआ करता है । उस बन्धका कारण आत्माके कषाय भाव ही हैं । जिस प्रकार रागादिके होनेपर ज्ञानावरणादि कर्म होते हैं उस प्रकार ज्ञानावरणादिके होने पर रागभाव भी होते तब तो उभयथा समव्याप्ति बन जाती परन्तु दोनों तरफसे व्याप्ति नहीं है किन्तु एक तरफसे ही है इसलिये यह विषम व्याप्ति है ।

---

* आयुकर्मका बन्ध प्रतिक्षण नहीं होता है किन्तु त्रिभागमें होता है अर्थात् किसी जीवकी आयुमेंसे दो भाग समाप्त हो जाय एक भाग बाकी रह जाय तब दूसरे भवकी आयुका बन्ध होता है । यदि पहले त्रिभागमें परभवकी आयुका बन्ध न हो तो बची हुई आयुके त्रिभागमें होता है इसी प्रकार आठ त्रिभागोंमें आयुके बन्धकी संभावना है, आयुबन्धके आठ ही अपकर्षकाल हैं । यदि आठोंमें न हो तो मरण समयमें तो अवश्य ही परभवकी आयुका बन्ध होता है । आयुके बन्ध सहित आठों कर्मोंका बन्ध होता है ।

उपयोगके साथ कर्मोंकी सर्वथा व्याप्ति नहीं है—

अव्याप्तिश्चोपयोगेपि विद्यमानेष्टकर्मणाम्।
बन्धो नान्यतमस्यापि नावन्धस्तत्राप्यसति ॥ ८९७ ॥

अर्थ—उपयोगके साथ द्रव्यकर्मोंकी व्याप्ति नहीं है। उपयोगके विद्यमान रहने पर भी अष्ट कर्मोंका बन्ध नहीं होता है, अष्ट कर्मोंमेंसे किसी एक कर्मका भी बन्ध नहीं होता है। और उपयोगके नहीं होने पर भी आठों कर्मोंका बन्ध होता है। **भावार्थ**—सिद्धावस्थामें शुद्धोपयोग तो है परन्तु अष्टकर्मोंका वहां बन्ध नहीं है और मिथ्यात्व अवस्थामें शुद्धोपयोगका अभाव है परन्तु अष्ट कर्मोंका बन्ध है। इसलिये उपयोग और कर्मोंकी व्याप्ति नहीं है। इसीका खुलासा नीचे किया जाता है।

यद्वा स्वात्मोपयोगीह कश्चिन्नानुपयोगवान्।
व्यतिरेकावकाशोपि नार्थादत्रास्ति वस्तुतः॥ ८९८ ॥

अर्थ—अथवा मिथ्यात्व अवस्थामें अष्टकर्मोंका बन्ध रहते हुए भी आत्मा निजात्माका अनुभव नहीं करता है, और कहीं पर 'सिद्धावस्था' में अष्टकर्मोंका अभाव होने पर भी निजात्माका अनुभव करता है। इसलिये यहांपर व्यतिरेकका अवकाश भी नहीं है। **भावार्थ**—मिथ्यात्वावस्थामें अष्टकर्मका बन्ध रहने पर भी शुद्धोपयोग नहीं है इसलिये अन्वय नहीं बना, और सिद्धावस्थामें बन्धाभावमें भी उपयोगका अभाव नहीं हुआ इसलिये व्यतिरेक नहीं बना। अतएव उपयोग और कर्मबन्धकी व्याप्ति नहीं है।

सारांश—

सर्वतश्चोपसंहारः सिद्धश्चैतावतात्र वै।
हेतुः स्यान्नोपयोगोयं दृशो वा बन्धमोक्षयोः॥ ८९९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त सम्पूर्ण कथनका उपसंहार-सारांश यही निकला कि उपयोग सम्यग्दर्शनका कारण नहीं है और न वह बन्ध तथा मोक्षका ही कारण है।

शंकाकार—

ननु चैवं स एवार्थो यः पूर्वं प्रकृतो यथा।
कस्यचिद्वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना॥ ९०० ॥
आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिते ज्ञाने परात्मसु।
ज्ञानसञ्चेतनायाः स्यात् क्षतिः साधीयसी तदा॥ ९०१ ॥

अर्थ—शंकाकारका कहना है कि वही अर्थ निकला जो पहले प्रकरणमें आया हुआ था, अर्थात् किसी वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना होती है, क्योंकि ज्ञानोपयोग जब आत्माको छोड़कर अन्य बाह्य पदार्थोंमें चला जायगा तो उस समय ज्ञानचेतनाकी क्षति अवश्य ही होगी।

भावार्थ—यहां पर यह शंका की गई है कि जिस प्रकार सम्यग्दर्शनरूप कारणसे अष्ट कर्मोंकी निर्जरा होती है उसी प्रकार ज्ञान चेतना भी अष्ट कर्मोंकी निर्जरामें कारण है इसी आशय-को हृदयमें रखकर दूसरे श्लोकमें यह शंका की गई है कि सम्यक्त्वके रहते हुए भी जब शुद्धात्मासे हटकर उपयोग केवल बाह्य पदार्थोंमें चला जाता है तो उस समय उपयोगात्मक ज्ञान चेतनाकी तो क्षति हो ही जाती है, साथमें ज्ञानचेतनाकी क्षति हो जानेसे निर्जरादिकी भी क्षति हो जानी चाहिये ?

उत्तर—

सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न क्वचित् ।
इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुता ॥ ९०२ ॥*
साध्यं यद्दर्शनाद्धेतोर्निर्जरा चाष्टकर्मणाम् ।
स्वतो हेतुवशाच्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना ॥ ९०३ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ठीक है, उपयोगात्मक ज्ञानचेतनाकी क्षति होनेपर भी सम्यक्त्व हेतुका साध्यभूत अष्ट कर्मोंकी निर्जराकी क्षति नहीं होती है। क्योंकि ज्ञानचेतनाका कर्म निर्जरामें कारण न होना ही उपयोग 'शुद्धोपयोग' का स्वरूप है। यहां पर साध्य—अष्ट कर्मोंकी निर्जरा है, और उसका कारणरूप हेतु सम्यग्दर्शन है, वह साध्य आत्मामें शक्ति होनेसे स्वतः भी होता है और ध्यानादि प्रयत्नसे भी होता है, किन्तु उसमें ज्ञानचेतना कारण नहीं है। **भावार्थ**—पहले भी यह बात कही गई है कि उपयोग गुण दोषोंमें कारण नहीं है, और यहां पर भी उसी बातका विवेचन किया गया है कि अष्ट कर्मोंकी निर्जरा सम्यक्त्वरूप कारणात्मक हेतुसे होती है और ध्यानादि कारणोंसे भी होती है परन्तु ज्ञान-चेतनारूप उपयोग उसमें कारण नहीं है, उपयोगका कार्य केवल निजात्मा और परपदार्थोंका जानना मात्र है। इसलिये जब ज्ञानचेतना निर्जरामें कारण ही नहीं है तब शंकाकारका यह कहना कि "उपयोगको बाह्य पदार्थमें जानेसे ज्ञानचेतनाकी क्षतिके साथ ही अष्ट कर्मोंकी निर्जराकी भी क्षति होगी" सर्वथा निर्मूल है। क्योंकि निर्जरा ज्ञानचेतनाका साध्य ही नहीं है।

शंकाकार—

ननुचेदाश्रयासिद्धो विकल्पो व्योमपुष्पवत् ।
तत्किं हेतुः प्रसिद्धोस्ति सिद्धः सर्वविदागमात् ॥ ९०४ ॥

अर्थ—यहांपर स्वतन्त्र शंका यह है कि आपने (आचार्यने) जो मत्यादिक ज्ञानोंको संक्रमणात्मक व विकल्पात्मक बतलाया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्प कोई पदार्थ ही

* तत्राप्यहेतुतः, यह पाठ मूल पुस्तकमें है। संशोधितमें ऽहेतुता पाठ है।

नहीं है जिस प्रकार कि आकाशके पुष्प कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये विकल्प शब्दका कोई वाच्य न होनेसे उसे आश्रयासिद्ध× ही कहना चाहिये, और जब विकल्प कोई पदार्थ नहीं है तब ज्ञानको सविकल्प कहनेमें सर्वज्ञागम प्रसिद्ध क्या हेतु हो सकता है, अर्थात् कुछ हेतु नहीं होसकता।

उत्तर—

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात्।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं न तत्सिद्धं परीक्षणात् ॥ ९०५ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ज्ञान अपने लक्षणसे विकल्पात्मक कहा जाता है, तथा सम्यक्त्वमें जो विकल्पका व्यवहार होता है वह परीक्षासे सिद्ध नहीं होता। **भावार्थ**—ज्ञानमें तथा सम्यक्त्वमें जो विकल्पका व्यवहार होता है वह व्योम पुष्पवत् नहीं है किंतु उपचरित है इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात् स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रतम् ॥ ९०६ ॥

अर्थ—जिन लोगोंने स्थूल दृष्टि रख कर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनको सविकल्प बतलाया है उन्होंने उपचारसे ही बतलाया है। वास्तवमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सविकल्प नहीं हैं। उपचारका भी क्या कारण है ? उसे ही अब बतलाते हैं।—

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥ ९०७ ॥

अर्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान जो हर एक पदार्थको क्रम क्रमसे जानता है वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है किंतु राग क्रिया है, और यही राग उपचारका हेतु है।

राग क्रिया क्यों है उसे ही बतलाते हैं—

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत्।
अर्थमर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद्द्विषद्यथा ॥ ९०८ ॥

अर्थ—पदार्थोंमें प्रत्येक पदार्थका परिणमन होता है, उस परिणमनमें ज्ञान हरएक पदार्थके प्रति मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है। **भावार्थ**—पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि होनेसे किसीमें मोह रूप परिणाम होते हैं, किसीमें रागरूप परिणाम होते हैं और किसीमें द्वेषरूप परिणाम होते हैं।

×वाच्य वाचक सम्बंधकी अपेक्षासे शब्दका वाच्य ही उसका आश्रय होसकता है विकल्प शब्दका कोई वाच्य ही नहीं है अतएव आश्रयासिद्ध दोष आता है।

रागसहित ज्ञान शान्त नहीं है—

स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः।
रागाक्तं ज्ञानमक्षान्तं रागिणो न तथा मुनेः॥ ९०९॥

अर्थ—यह वात स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है कि राग सहित ज्ञान शान्त नहीं है। ऐसा शान्ति रहित ज्ञान जैसा रागी पुरुषके होता है वैसा मुनिके नहीं होता। **भावार्थ**—जो ज्ञान शांति रहित होगा वह राग सहित अवश्य होगा इसलिये वह रागी पुरुषके ही हो सकता है रागरहित मुनिके नहीं।

अस्तिज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः।
अज्ञातेर्थे यतो न स्याद् रागभावः खपुष्पवत्॥ ९१०॥

अर्थ—बुद्धिपूर्वक राग ज्ञानका अविनाभावी है! क्योंकि अज्ञात (नहीं जाने हुए) पदार्थमें राग भाव उत्पन्न ही नहीं होता है। जिस प्रकार आकाशका पुष्प कोई पदार्थ नहीं है तो उसमें बुद्धिपूर्वक राग भी नहीं हो सक्ता है। **भावार्थ**—राग दो प्रकारका होता है एक बुद्धिपूर्वक, दूसरा अबुद्धिपूर्वक। बुद्धिपूर्वक रागका क्षायोपशमिक ज्ञानके साथ अविनाभाव है। जिसके बुद्धिपूर्वक राग होता है उसीके कर्म चेतना होती है परन्तु ऐसा नियम नहीं है क्योंकि बुद्धिपूर्वक राग चौथे गुणस्थानमें भी है तथा ऊपर भी है परन्तु वहां कर्म चेतना नहीं है किन्तु ज्ञान चेतना है। इतना विशेष है कि बुद्धिपूर्वक राग कर्म बन्धका ही कारण है। जिस जीवके सम्यक्त्व नहीं है बुद्धिपूर्वक राग है उसके कर्मचेतना होती है। यह कर्म चेतना ही महान् दुःखका कारण है। नरकादि गतियोंका बन्ध कर्मचेतनासे ही होता है। अबुद्धिपूर्वक राग कर्मोदयवश अज्ञात पदार्थमें ही होता है। जिन जीवोंके अबुद्धि पूर्वक राग है उन्हींके कर्मफल चेतना होती है। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक कर्मफल चेतना ही होती है।

बुद्धिपूर्वक राग कहां तक होता है।

अस्त्युक्तलक्षणो रागश्चारित्रावरणोदयात्।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ॥ ९११॥

अर्थ—ऊपर कहा हुआ बुद्धिपूर्वक राग चारित्रमोहनीयके उदयसे होता है यह राग अप्रमत्त गुण स्थानसे पहले २ होता है। छठे गुणस्थानसे ऊपर सर्वथा नहीं होता है। **भावार्थ**—छठे गुणस्थानमें संज्वलन कषायका तीव्रोदय है इसीलिये प्रमादरूप परिणामोंके कारण वहां बुद्धिपूर्वक राग होता है। अप्रमत्त गुणस्थानमें संज्वलनका मन्दोदय है। वहांपर प्रमाद-रूप परिणाम सर्वथा ही नहीं होते हैं। केवल ध्यानावस्था है। जितनी मुनियोंकी कर्तव्य क्रिया है वह सब प्रमत्त गुणस्थान तक ही है। हां, स्वाध्याय, भोजन आदि क्रियाओंमें भी बीच २में सातवां गुणस्थान हो जाता है। क्योंकि छठा और सातवाँ दोनोंका हो अन्तर्मुहूर्त काल है। इसलिये दोनों ही अन्तर्मुहूर्तमें बदलजाते हैं।

अबुद्धिपूर्वक राग कहां तक होता है।

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्नवा॥ ९१२॥

अर्थ—प्रमत्त गुणस्थानसे ऊपर सूक्ष्म—अबुद्धि पूर्वक राग है। यह राग क्षीणकषायसे पहले २ होता है। सो भी विवक्षाधीन है। यदि विवक्षा की जाय तो अबुद्धिपूर्वक-सूक्ष्म राग है अन्यथा नहीं है। **भावार्थ**—दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्म लोभका उदय रहता है। उससे पहले नवमें गुण-स्थानमें वादर कषायका उदय है। परन्तु वह भी सूक्ष्म ही है। दशवें गुणस्थान तक सूक्ष्म रागभाव रहता है इसलिये तो वहां तक अबुद्धि पूर्वक रागभावकी विवक्षा की जाती है। परन्तु सातिशय—अप्रमत्त गुणस्थानसे उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी माड़ना शुरू होजाता है। इसलिये आठवें गुणस्थानसे लेकर दशवें तक कोई मुनि उपशमश्रेणी माड़ते हैं और कोई क्षपकश्रेणी माड़ते हैं। जो उपशमश्रेणी माड़ते हैं उनके औपशमिक भाव हैं और जो क्षपकश्रेणी माड़ते हैं उनके क्षायिक भाव हैं। स्थूल दृष्टिसे आठवें नवमें और दशवें इन तीन गुणस्थानोंमें औपशमिक अथवा क्षायिक दो प्रकारके ही भाव हैं परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर वहां पर क्षायोप-शमिक भाव भी है। क्योंकि चरित्र मोहनीयका वहां मन्दोदय भी तो होरहा है। उस मंदोदयकी विवक्षा करनेसे ही वहां क्षायोपशमिक भाव हैं अन्यथा नहीं हैं। यही विवक्षा वशात्का आशय है।

उपचार किस नयसे किया जाता है—

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम्॥ ९१३॥

अर्थ—इसी बातको विचार कर किन्हीं पुरुषोंने असद्भूत उपचार नयसे राग सहित ज्ञानको देखकर सम्यक्त्वको भी वैसा कहा है। **भावार्थ**—जो मिले हुए भिन्न पदार्थोंको अभेद-रूप ग्रहण करे उसे असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं जैसे आत्मा और शरीरका मेल होने पर कोई कहे यह शरीर मेरा है। इसी प्रकार राग भिन्न पदार्थ है परन्तु अभेद बुद्धिके कारण ज्ञान और दर्शनको भी किन्हींने सरागी (सविकल्प) कह दिया है वास्तवमें राग दूसरा पदार्थ हैं; ज्ञानदर्शन दूसरे पदार्थ हैं; रागका ज्ञान दर्शनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिये इनमें सरागता केवल औपचारिक है।

ज्ञान, दर्शन कहां तक सविकल्प कहे जाते हैं—

हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरितिस्मृतम्।
***आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम्॥ ९१४॥**

* मूल पुस्तकमें "अप्रमत्त" ऐसा पाठ है परन्तु 'आप्रमत्तं' पाठ ठीक प्रतीत होता है क्योंकि पहले छठे गुणस्थान तक ही बुद्धिपूर्वक राग बतलाया गया है।

अर्थ—स्थूल पदार्थको लक्ष्य रखनेवाले जिन प्रसिद्ध पुरुषोंने केवल रागरूप हेतुसे ऐसा कहा है । उनका कहना है कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही सविकल्पक हैं ।

ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम् ।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥ ९१५ ॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थानसे ऊपर सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही निर्विकल्पक होते हैं । वही शुक्लध्यान कहलाता है, और उसी अवस्थामें ज्ञानचेतना होती है ।

प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना ।
अस्तीति वासनोन्मेष केषाञ्चित्स न सन्निह ॥ ९१६ ॥

अर्थ—" प्रमत्त जीवोंको विकल्पात्मक होनेसे उनके शुद्ध चेतना नहीं हो सक्ती है ।" किन्हीं किन्हीं पुरुषोंके इस प्रकारकी वासना लगी हुई है, वह ठीक नहीं है। **भावार्थ**—जो लोग ऐसा कहते हैं कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त बुद्धिपूर्वक राग होता है । इसलिये वहां तक ज्ञान और सम्यक्त्व दोनों ही सविकल्प हैं। सविकल्प अवस्थामें ज्ञानचेतना भी नहीं होती है अर्थात् छठे गुणस्थानसे ऊपर ही ज्ञानचेतना होती है नीचे नहीं । आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेवाले यथार्थ वस्तुके विचारक नहीं है, क्यों नहीं है सो नीचे बतलाते हैं ।

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम् ।
परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणाश्चापि पराश्रितम् ॥ ९१७ ॥

अर्थ—क्योंकि दूसरेके आश्रयसे होनेवाला गुण दोष दूसरेके आश्रय नहीं हो सक्ता है । इसी प्रकार दूसरा भी दूसरेके आश्रयसे होनेवाले गुण दोषोंको अपने आश्रित नहीं बना सक्ता है । **भावार्थ**—जिस आश्रयसे जो दोष अथवा गुण होता है वह दोष अथवा गुण उसी आश्रयसे होसक्ता है अन्य किसी दूसरे आश्रयसे नहीं होसक्ता ऐसा सिद्धान्त स्थिर रहने पर भी जो पराश्रित गुणदोषोंको अन्याश्रित बतलाते हैं वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं ।

राग किस कारणसे होता है ?

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।
सम्यक्त्वे स कुतोन्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥ ९१८ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीय कर्मका पाक होनेसे राग होता है, राग आत्माका औदयिक भाव है, अर्थात् कर्मोके उदयसे होनेवाला है । वह औदयिक भाव अनुदय स्वरूप सम्यक्त्व और ज्ञानमें किस प्रकार हो सक्ता है ? अर्थात् नहीं हो सक्ता । **भावार्थ**—राग आत्माका

निज परिणाम नहीं है किन्तु कर्मोंके उदयसे होनेवाली वैभाविक अवस्था है। सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही आत्माके स्वाभाविक गुण हैं। इसलिये उनमें राग भाव हो ही नहीं सक्ता है।

ज्ञानचेतनाको भी राग नष्ट नहीं कर सक्ता है—

अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः।
नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसंचेतनामिमाम् ॥ ९१९ ॥

अर्थ—बुद्धिपूर्वक राग सम्यक्त्वका घात नहीं कर सक्ता है। इसलिये वह सम्यक्त्वके साथ अविनाभावी ज्ञानचेतना (लब्धिरूप)का भी घात नियमसे नहीं कर सक्ता है। **भावार्थ**—राग भाव आत्माके चारित्रगुणका ही विघात करेगा। वह न तो सम्यक्त्वका ही विघात कर सक्ता है और न सम्यक्त्वके साथ अविनाभावपूर्वक रहनेवाली ज्ञानचेतनाका ही विघात कर सक्ता है। इन दोनोंसे रागका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, इसलिये चौथे गुणस्थानमें भी ज्ञानचेतना होती ही है उसका कोई बाधक नहीं हैं। जो लोग वीतराग सम्यक्त्वमें ही ज्ञानचेतना कहते थे उनका सद्युक्तिक खण्डन होचुका।

ऐसी भी तर्कणा न करो—

नाप्यूहमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतोपि या।
बन्धोत्कर्षोदयांशानां हेतुर्दृग्मोहकर्मणः ॥ ९२० ॥

अर्थ—रागकी ऐसी भी शक्ति है जो दर्शन मोहनीय कर्मके बन्ध, उत्कर्ष और उदयमें कारण है ऐसी भी तर्कणा न करो।

ऐसा माननेमें दोष—

एवं चेत् सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्यात् दृगसंभवः।
सत्यां प्रध्वंससामग्र्यां कार्यध्वंसस्य सम्भवात् ॥ ९२१ ॥

अर्थ—यदि राग भाव ही दर्शन मोहनीयके बन्ध उत्कर्ष और उदयमें कारण हों तो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति ही नहीं होसकती है। फिर तो सम्यग्दर्शनका होना ही असंभव हो जायगा। क्योंकि नाशकी सामग्री रहने पर कार्यका नाश होना अवश्यंभावी है। **भावार्थ**—पहले तो शंकाकारने सराग अवस्थामें ज्ञानचेतनका निषेध किया था, परन्तु उसका उसे उत्तर दे दिया गया कि रागका और ज्ञानचेतनाका कोई सम्बन्ध नहीं है पराश्रित दोष गुण अन्याश्रित नहीं होसकते हैं। रागभाव चारित्र गुणका ही विघातक है। वह सम्यग्दर्शन और ज्ञानका विघातक नहीं होसकता है। फिर शंकाकारने दूसरी शंका उठाई है कि यद्यपि रागभाव सम्यग्दर्शनका विघातक नहीं है, सम्यग्दर्शनका विघातक तो दर्शन मोहनीय कर्म है। तथापि रागभाव उस दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करानेमें तथा उसके परमाणुओंको उदयमें लानेमें समर्थ है।

आचार्य कहते हैं कि यदि रागभाव ही दर्शन मोहनीयका बन्ध तथा उदय करानेमें समर्थ है तो आत्मामें सम्यक्त्वकी कभी उत्पत्ति ही नहीं होसकती है ।

रागभावसे सम्यक्त्वकी हानि नहीं होसकती है—

न स्यात्सम्क्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात् ।
रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा ॥ ९२२ ॥

अर्थ—चारित्रावरण कर्मके उदयसे (रागभावसे) सम्यक्त्वका विघात नहीं हो सकता है । क्योंकि रागभावका दर्शनमोहनीय कर्मके विषयमें कोई अधिकार नहीं है ।

सिद्धान्त कथन—

यतश्चास्त्यागमात् सिद्धमेतद्दृङ्मोहकर्मणः ।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात् ॥ ९२३ ॥

अर्थ—क्योंकि यह बात आगमसे सिद्ध है कि दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध उत्कर्ष आदि दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे ही नियमसे होता है । किसी अन्य (चारित्र मोहनीय)के उदयसे दर्शनमोहनीयका बन्ध, उत्कर्ष, उदय कुछ नहीं होता । **भावार्थ**—जिस कार्यका जो कारण नियत है उसी कारणसे वह कार्य सिद्ध होता है, यदि कार्यकारण पद्धतिको उठा दिया जाय तो किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है । इसके सिवा संकर, आदि अनेक दूषण भी आते हैं । क्योंकि कारण भेदसे ही कार्य भेद होता है । अन्यथा किसी पदार्थकी ठीक २ व्यवस्था नहीं हो सकती है । सिद्धान्तकारोंने पहले गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयका उदय कहा है वहीं पर उसका स्वोदयमें बन्ध भी होता है । यदि दर्शनमोहनीयका बन्ध अथवा उदय आदि किसी दूसरे कर्मके उदयसे भी होने लगे तब तो सदा पहला ही गुणस्थान रहेगा । अथवा गुणस्थानोंकी शृङ्खला ही टूट जायगी । गुणस्थानोंकी अव्यवस्था होने पर संसार मोक्ष अथवा शुद्ध अशुद्ध भावोंकी व्यवस्था भी नहीं रह सकती है, इसलिये दर्शनमोहनीयके उदय होने पर ही उसका बन्ध उत्कर्ष आदि मानना न्यायसंगत है ।

शंकाकार ।

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाद्वयस्य यत् ।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥ ९२४ ॥
न प्रतीमो वयं चैतद्दृङ्मोहोपशमः स्वयम् ।
हेतुः स्यात् स्वोदयस्योचैरुत्कर्षस्याऽथवा मनाक् ॥ ९२५ ॥

अर्थ—शंकाकारका कहना है कि यदि अपने उदयमें ही अपना बन्ध उत्कर्ष हो अथवा परोदयमें परका उदय न हो तो आदिके दो सम्यक्त्वोंमें अनित्यता कैसे आ सक्ती है? क्योंकि विना कारण अपना उदय अपने आप तो हो नहीं सकेगा, और विना दर्शनमोह-

नीयके उदय हुए आदिके दो सम्यक्त्वोंमें अनित्यता आ नहीं सक्ती है तथा हम (शंकाकार) यह भी विश्वास नहीं कर सके हैं कि स्वयं दर्शन मोहनीयका उपशम ही दर्शनमोहनीयके उदय अथवा उत्कर्षका कारण हो जाता हो। भावार्थ—उपशमसम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्व दोनों ही अनित्य हैं अर्थात् दोनों ही छूटकर मिथ्यात्व रूपमें आसक्ते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व ही एक ऐसा है जो होनेपर फिर छूट नहीं सक्ता है। शंकाकार पहले दो सम्यक्त्वोंके विषयमें ही पूंछता है कि दर्शनमोहनीयका जिस समय उपशम अथवा क्षयोपशम हो रहा है उस समय किस कारणसे दर्शनमोहनीय कर्मका उदय हो जाता है जो कि सम्यक्त्वके नाशका हेतु है। स्वयं दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम तो उसके उदयमें कारण हो नहीं सक्ता है। यदि ऐसा हो तो आत्माके स्वाभाविक भाव ही कर्मबन्धके कारण होने लगेंगे। और विना कारण दर्शनमोहनीयका उदय हो नहीं सक्ता है इस लिये अगत्या परोदय (राग)से उसका उदय और बन्ध मानना पड़ता है, शंकाकारने घुमाव देकर फिर भी वही "सराग अवस्थामें ज्ञानचेतना नहीं हो सकती है" शंका उठाई है।

उत्तर—

नैवं यतोऽनभिज्ञोसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः॥ ९२६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि शंकाकारने जो ऊपर शंका उठाई है वह सर्वथा निर्मूल है। आचार्य शंकाकारसे सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि अभी तुम पुद्गलकी अचिन्त्य शक्तियोंके विषयमें बिलकुल अजान हो, तुम नहीं समझते हो कि हर एक कर्ममें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग आदि अनेक रूपसे फलदान शक्ति भरी हुई है।

अस्त्युदयो यथानादेः स्वतश्चोपशमस्तथा।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात्॥ ९२७॥

अर्थ—जिस प्रकार अनादि कालसे कर्मोंका उदय होरहा है उसी प्रकार कर्मोंका उपशम भी स्वयं होता है। इसी प्रकार उपशमके पीछे उदय और उदयके पीछे उपशम बार २ होते रहते हैं। यह उदय और उपशमकी शृङ्खला जब तक मोक्ष नहीं होती है बराबर होती रहती है।

यदि ऐसा न माना जाय तो दोष—

अथ गत्यन्तरादोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोन्योन्यसंश्रयः॥ ९२८॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई व्यवस्था न मानी जाय और दूसरी ही रीति स्वीकार

की जाय तो असिद्ध नामक दोष आता है, अनवस्था दोष भी आता है। अन्योन्याश्रय दोष भी आता है जो कि दुर्वार है। ये दोष किस प्रकार आते हैं इस बातका खुलासा नीचे किया जाता है—

राग स्वयं होता है या परसे—

दृङ्मोहस्योदयो नाम रागाद्धेतोऽस्ति चेन्मतम् ।
सोऽपि रागोऽस्ति स्वायत्तः किं स्यादपररागसात् ॥ ९२९ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीयका उदय शंकाकारके अनुसार यदि रागाधीन माना जाय तो दूसरी शंका उपस्थित होती है कि वह राग भी क्या अपने ही अधीन है अर्थात् अपने आप ही होता है अथवा दूसरे रागके अधीन है।

राग यदि अपने आप ही होता है—

स्वायत्तश्चेच्च चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः ।
यथा रागस्तथा चायं स्वायत्तः स्वोदयात्स्वतः ॥ ९३० ॥

अर्थ—यदि चारित्रमोहनीयके उदयसे राग स्वयं अपने आप ही होता है तो जिस प्रकार राग स्वयं होता है उसी प्रकार यह दर्शन मोहनीयका उदय भी अपने उदयसे स्वयं ही अपने आप होता है।

यदि परस्पर सिद्धि मानी जाय—

अथ चेत्तद्द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुतः ।
न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसंश्रयात् ॥ ९३१ ॥

अर्थ—अथवा यदि दोनोंकी ही सिद्धि एक दूसरेसे मानी जाय अर्थात् रागसे दर्शन मोहनीयका उदय माना जाय और दर्शनमोहनीयसे रागोदय माना जाय तो असिद्ध नामका दोष आता है। इसीके अन्तर्गत अन्योन्याश्रय दोष आता है। **भावार्थ**—परस्पर एककी सिद्धि दूसरेके आधीन माननेसे एककी भी सिद्धि नहीं हो सक्ती है। क्योंकि जब एक सिद्ध होजाय तब दूसरा सिद्ध हो, परस्परकी अपेक्षामें एक भी सिद्ध नहीं होता है।

आगम भी ऐसा नहीं बतलाता है—

नागमः कश्चिदस्तीदृग्घेतुर्दृङ्मोहकर्मणः ।
+रागस्तस्याथ रागस्य तस्य हेतुर्दृगावृतिः ॥ ९३२ ॥

अर्थ—कोई जैनागम भी यह नहीं बतलाता है कि दर्शनमोहनीय कर्मका हेतु राग है और उस रागका हेतु दर्शनमोहनीय कर्म है।

+ मूल पुस्तकमें "हेतुस्तस्याथ" पाठ है परन्तु संशोधित पाठ ही सार्थक है।

सारांश—

तस्मात्सिद्धोस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा।
उदयोनुदयो वाऽथ स्यादनन्यगतिःस्वतः॥ ९३३॥

अर्थ—इसलिये यह सिद्धभूत–निश्चित सिद्धान्त है कि दर्शन मोहनीयका अथवा चारित्र मोहनीयका उदय अथवा अनुदय विना किसी दूसरे हेतुके अपने आप ही होता है।

ऊपर कहे हुए सम्पूर्ण कथनका फलितार्थ—

तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि।
तद्यथाऽवश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना॥ ९३४॥

अर्थ—इसलिये सम्यक्त्व एक ही है। क्योंकि उसका लक्षण भी एक ही है। इसलिये वहांपर ज्ञानचेतना अवश्य ही है। भावार्थ–ऊपर बहुत दूरसे यह बात चली आ रही थी कि सराग सम्यक्त्वमें ज्ञानचेतना नहीं होती है। वीतराग सम्यक्त्वमें ही होती है। शंकाकारने रागके निमित्तसे सम्यक्त्वके सराग और वीतराग ऐसे दो भेद किये थे, आचार्य कहते हैं कि रागका चारित्रसे सम्बन्ध है सम्यक्त्वसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये न तो सराग और वीतराग ऐसे सम्यक्त्वके दो भेद ही हैं और न ज्ञानचेतनाका अभाव ही है सम्यग्दर्शन एक है। उसका स्वानुभूति लक्षण है। ज्ञानचेतना सम्यग्दर्शनका अविनाभावी गुण है इसलिये सम्यग्दर्शनके साथ उसका होना अत्यावश्यक है। इसलिये चाहे सरागावस्था हो चाहे वीतरागावस्था हो ज्ञानचेतना सम्यक्त्वके साथ अवश्य ही होगी।

सम्यक्त्वके भेद—

मिश्रौपशमिकं नाम क्षायिकं चेति तत्त्रिधा।
स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात्॥ ९३५॥

अर्थ—सम्यक्त्वके मिश्र (क्षायोपशमिक) औपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन भेद हैं। इन तीनों भेदोंमें स्थिति बन्धकी अपेक्षासे ही भेद है। रसबन्ध (अनुभाग बन्ध) की अपेक्षासे कोई भेद नहीं है। भावार्थ—सम्यक्त्वको घात करनेवाली सात प्रकृतियां हैं—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति, अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ इन सातोंके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। सातोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है, और सातोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्वकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। क्षायिककी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित अष्ट वर्ष कम दो करोड़ पूर्व अधिक तेतीस सागरकी है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है और उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागरकी है। इस

प्रकार स्थितिकी अपेक्षासे सम्यक्त्वके तीन भेद हैं। और भी उसके अनेक * भेद हैं परन्तु इन सब भेदोंके रहते हुए भी सम्यक्त्व गुणमें वास्तव दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। सभी भेदोंमें आत्माको स्वानुभूत्यात्मक आनन्दका देनेवाला एक ही सम्यक्त्व गुण है। इन भेदोंकी अपेक्षासे सम्यक्त्व गुणमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। इसी लिये ग्रन्थकारने बतलाया है कि स्थितिबन्ध कृत ही भेद है। रसकी अपेक्षासे कोई भेद नहीं होता है अर्थात् उसके अनुभवमें कोई अन्तर नहीं है।

अब स्थिति और अनुभागबन्धमें अन्तर दिखलानेके लिये चारों बन्धोंका स्वरूप दिखाते हैं—

तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादिप्रभेदतः।
प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागकौ ॥ ९३६ ॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध इस प्रकार बन्धके चार भेद हैं। ये बन्धके भेद-प्रभेद अनादिकालसे चले आते हैं।

भावार्थ—संसारी आत्मायें अनादिकालसे ही चारों प्रकारके बन्धोंसे बंधी हुई हैं, परिणामोंकी मलिनताके भेदोंसे उस बन्धमें भी अनेक भेद-प्रभेद होते रहते हैं।

चारों बन्धोंका स्वरूप—

प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः।
अनुभागो रसो ज्ञेयः स्थितिः कालावधारणम् ॥ ९३७ ॥

अर्थ—कर्मोंके भिन्न भिन्न स्वभावको प्रकृति कहते हैं। अनेक प्रदेशोंके समूहको प्रदेश कहते हैं, रसको अनुभाग कहते हैं और कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं।

भावार्थ—प्रकृति नाम स्वभावका है, जैसे गुड़की मीठी प्रकृति अर्थात् गुड़का मीठा स्वभाव, निम्बूकी खट्टी प्रकृति–निम्बूका खट्टा स्वभाव, नीमकी कड़वी प्रकृति–नीमका कड़वा स्वभाव, मिरचकी चरपरी प्रकृति–मिरचका चरपरा स्वभाव, इत्यादि। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति? ज्ञानको ढक देना, दर्शनावरण कर्मकी क्या प्रकृति? दर्शनको ढक देना, मोहनीयकी क्या प्रकृति? सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रको विपरीत स्वादु करना, अन्तराय-की क्या प्रकृति? वीर्यशक्तिको ढक देना। इस प्रकार भिन्न भिन्न कर्मोंके भिन्न भिन्न स्वभावको ही प्रकृति कहते हैं। तथा स्वभाव नाम गुणका है इसलिये प्रकृति कर्मोंका गुण है। परन्तु गुण गुणीमें अभेद विवक्षा होनेसे गुणके निमित्तसे गुणी भी प्रकृति शब्दसे व्यवहार किया जाता है। जैसे ज्ञानको ढकनेवाले कर्मको भी ज्ञानवरण प्रकृति कहते हैं, दर्शनको ढकनेवाले कर्मको भी दर्शनावरण प्रकृति कहते हैं। यद्यपि ज्ञान दर्शनको ढकना यह उन कर्मोंकी प्रकृति (स्वभाव) है

* आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्, विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढश्च।

आत्मानुशासन।

तथापि अभेद विवक्षामें उस स्वभाववाले कर्मोंको भी उसी शब्दसे व्यवहार करते हैं। इस प्रकार उस भिन्न २ स्वभाववाले कर्मबन्धको प्रकृति बन्ध कहते हैं । प्रकृतिबन्धके ८ भेद हैं, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय। इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया हैं अर्थात् आत्माके ज्ञानादि गुणोंको घात करनेवाले हैं, और बाकीके चार अघातिया हैं, अर्थात् आत्माके गुणोंको घात नहीं करते हैं। यहां पर यह शंका हो सक्ती है कि जब अघातिया कर्म आत्माके गुणोंका घात ही नहीं करते हैं तो फिर आठों कर्मोंके अभावसे आठ गुण सिद्धोंमें किस प्रकार बतलाये गये हैं? इसका उत्तर यह है कि गुण दो प्रकारके होते हैं, एक–अनुजीवी गुण, दूसरे प्रतिजीवी गुण। जो गुण भाव रूप हों, अर्थात् वास्तवमें अपनी सत्ता रखते हों उन्हें अनुजीवी गुण कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि सब अनुजीवी गुण हैं। और जो वास्तवमें अपनी सत्ता तो नहीं रखते हों, अर्थात् वास्तवमें गुण तो न हों परन्तु कर्मोंके अभावसे आत्माकी अवस्था विशेषरूप हों उन्हें प्रतिजीवी गुण कहते हैं। अव्याबाध अगुरुलघु, सूक्ष्म, अवगाहन ये गुण प्रतिजीवी कहलाते हैं। अर्थात् आत्मामें कर्मोंके निमित्तसे जो दोष उत्पन्न हुए थे उन कर्मोंके अभावसे उन दोषोंके हट जानेको ही गुण कहा गया है। जैसे—वेदनीय कर्मके निमित्तसे जो आत्मामें बाधा हो रही थी, उस वेदनीयके दूर हो जानेसे वह बाधा भी दूर हो गई। बाधाके दूर होनेका नाम ही अव्याबाध गुण कहा गया है। वास्तवमें बाधाका दूर होना अभाव रूप पड़ता है, परन्तु बाधा रूप दोषके अभावको गुण कहा गया है। इसी प्रकार नाम कर्मके निमित्तसे आत्मा शरीरानुसार कभी गुरु (बड़ा) कहलाता था और कभी लघु कहलाता था, उस नाम कर्मके हट जानेसे आत्मा न गुरु कहलाता है और न लघु कहलाता है। इस गुरु लघुताके अभावको ही अगुरुलघु गुण कहते हैं इसी प्रकार स्थूलताके अभावको सूक्ष्मत्व गुण और अनवस्थितिके अभावको अवगाहन गुण कहते हैं। परंतु इस प्रकार ज्ञानादिक गुण अभावरूप नहीं हैं किन्तु वे भावरूप गुण हैं। कार्माणवर्गणामें यद्यपि भिन्न २ प्रकारकी शक्तियां हैं परन्तु उन शक्तियोंके अनुसार उनकी संज्ञा प्रकृतिबन्धके होने पर ही होती है। आत्मामें सातों कर्मोंका बन्ध प्रति समय होता रहता है परन्तु आयु कर्मका बन्ध वर्तमान आयुके त्रिभाग (दो भागके निकल जाने पर) में ही होता है। ऐसे आठ त्रिभागोंमें बन्ध होसकता है, अथवा आठोंमें भी होसकता है। यदि किसी त्रिभागमें भी आयुका बन्ध न हो तो मरणकालमें अवश्य ही होजाता है। जिस समय आयुका भी बन्ध होता हो उस समय आठों ही प्रकृतियोंका बन्ध समझना चाहिये। आयु बन्धके समय इस जीवके जैसे परिणाम होते हैं उनके अनुसार वैसी ही आयुका बन्ध होजाता है। और एक बार जो आयु बन्ध होजाता है वह छूटता नहीं है, वह अवश्य ही उस भवको लेजाता है इसलिये परिणामोंको हर समय ठीक रखना हर एक विचारशीलका कर्तव्य है। नहीं मालूम किस समय आकर

त्रिभाग पड़ जाय। इसी लिये आचार्योंने मरणकालमें समाधि मरणको परम आवश्यक बतलाया है, संभव है कि कहीं पर आयुका बन्ध न हो तो मरणकालमें तो अवश्य ही होगा।

प्रदेश बन्ध—कर्मोंकी इयत्ता—परिमाणको कहते हैं अर्थात् कितने प्रदेशोंका बन्ध हुआ है, अधिकका या कमका। जब मन, वचन, काययोगोंकी तीव्रता होती है तब अधिक प्रदेशोंका बन्ध होता है और योगोंकी मन्दतामें कम प्रदेशोंका बन्ध होता है। परन्तु प्रतिसमय सामान्य रीतिसे अनन्तानन्त प्रदेशोंका बन्ध होता रहता है। अर्थात् प्रति समय यह जीव सिद्ध राशि (अनन्तानन्त) के अनन्तवें भाग और अभव्य जीव राशि (जघन्य युक्तानन्त) से अनन्त गुणे समय प्रबद्ध अर्थात् एक समयमें बंधनेवाले परमाणु समूहको बांधता है। परन्तु मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिरूप योगोंकी विशेषतासे कभी कमती कभी बढ़ती परमाणुओंका भी बन्ध करता है परन्तु अनन्तसे कम बन्ध नहीं करता है। क्योंकि अनन्त वर्गोंके समूहको एक वर्गणा कहते हैं, और अनन्तानन्त वर्गणाओंके समूहको एक समय-प्रबद्ध कहते हैं। और इतने ही परमाणु प्रति समय इस जीवके उदयमें आते रहते हैं, उदय होनेवाले परमाणु समूहको निषेक कहते हैं। इस प्रकार यह बन्ध उदयकी शृंखला तब तक बराबर होती रहती है जब तक कि यह जीव कर्मबन्धकी कारणभूत कषाय विशिष्ट योगोंकी प्रवृत्तिको नहीं रोकता है। जो कर्म परमाणु इस जीवके बंधते हैं वे आठ उपर्युक्त प्रकृतियोंमें बंट जाते हैं, उस बटवारेमें आयु कर्मका हिस्सा सबसे थोड़ा रहता है उससे कुछ अधिक नाम और गोत्र कर्मका समान हिस्सा रहता है, नाम गोत्रसे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन प्रकृतियोंका समान हिस्सा रहता है उससे अधिक मोहनीय कर्मका हिस्सा रहता है। उससे अधिक हिस्सा वेदनीय कर्मका रहता है। वेदनीय कर्मका भाग सबसे अधिक रहता है इसका कारण यह है कि वेदनीय कर्म सुख दुःखका कारण है इसलिये इसकी निर्जरा अधिक होती है, इसी लिये सबसे अधिक द्रव्य इसमें चला जाता है।

स्थिति बन्ध आत्माके साथ कर्मोंके रहनेकी मर्यादाको कहते हैं। जो कर्मबन्ध हुआ है वह कितने काल तक आत्माके साथ रहेगा इसीका नाम स्थिति बन्ध है। यह स्थिति बन्ध दो प्रकारसे होता है। एक जघन्य एक उत्कृष्ट। सबसे जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तका होता है परन्तु उदीरणा (असमयमें किसी कारणवश निर्जरा होनेवाले कर्म) होनेपर जघन्य स्थितिबन्ध एक आवलि मात्र है, अर्थात् यदि किसी कर्मकी उदीरणा भी हो तो भी कमसे कम आवलि मात्र आबाधा काल पड़ेगा ही। तत्काल बन्ध और तत्काल उदीरणा भी नहीं होती है, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें जो तत्काल बन्ध और तत्काल उदय होता है वास्तवमें वह बन्ध ही नहीं है। बन्ध कषायके निमित्तसे होता है, उक्त गुणस्थानोंमें

कषायका उदय ही नहीं है इसलिये वहां पर योगके निमित्तसे जैसे कर्म आता है वैसे ही चला जाता है। उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोटाकोटि सागर प्रमाण होता है। मध्यके अनेक भेद हैं। कर्मोंका उदय आबाधा काल* के पीछे ही होता है। उदयकी अपेक्षासे आबाधा कालका प्रमाण सातों कर्मों (आयु कर्मको छोड़कर) का एक कोड़ाकोड़ सागर प्रमाण स्थितिका सौ वर्ष प्रमाण है, बाकी स्थितियोंका उनके त्रैराशिकके अनुसार जान लेना चाहिये। आयु कर्मका आबाधा काल कोड़ पूर्वके तीसरे भागसे लेकर आवलिके असंख्यात भाग प्रमाण है। जैसे अन्य कर्मोंकी आबाधा स्थितिके अनुसार भाग करनेसे होती है वैसी आयु कर्मकी नहीं है। उदीरणाकी अपेक्षासे सप्त कर्मोंकी आबाधा आवलि प्रमाण है। परभवकी बंधी हुई आयुकी उदीरणा नहीं होती है। विना स्थिति बन्धके कर्म अपना फल इस आत्माको नहीं दे सकते हैं और स्थितिबन्ध कषायसे होता है। इसलिये कषायोंको कम करना ही सुख चाहनेवालोंका परम कर्तव्य है।

अनुभागबन्ध—कर्मोंके फल देनेकी शक्तिकी हीनता व अधिकताको कहते हैं। वास्तवमें यही बन्ध साक्षात् आत्माको दुःखका कारण है। क्योंकि कर्मोंका फल (विपाकावस्था) ही दुःख है और कर्मोंका फल अनुभागबन्धसे होता है। आत्माके गुणोंका विभाव परिणमन इसीसे होता है। आत्मामें अशुद्धता इसीसे आती है। आत्माके संक्लेश परिणामोंसे अशुभ प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभाग पड़ता है और शुभ प्रकृतियोंमें जघन्य पड़ता है तथा शुभ परिणामोंसे अशुभ प्रकृतियोंमें जघन्य अनुभाग पड़ता है शुभोंमें अधिक पड़ता है। चारों घातिया कर्म अशुभ हैं। उनका अनुभाग अर्थात् फल देनेकी शक्ति चार भेदोंमें विभाजित की जाती है। कुछ कर्मोंमें फल देनेकी शक्ति लताके समान है। जैसे लता कोमल होती है वैसे ही उन कर्मोंकी फलदान शक्ति भी बहुत हलकी होती है। लताके समान फलदान शक्ति रखनेवाले कर्म आत्माके गुणोंका सम्पूर्णतासे घात नहीं कर सकते हैं किन्तु एक देश घात करते हैं। जैसे सम्यक्त्व प्रकृति लताके समान है वह सम्यग्दर्शनका सर्व घात नहीं कर सकती इसी लिये वह देशघाती प्रकृतियोंमें गिनाई गई है। कुछ कर्म परमाणुओंमें काष्ठके समान फलदान शक्ति है। काष्ठ, लतासे बहुत कठोर होता है, काष्ठके समान शक्ति रखनेवाले कर्मोंका बहुत थोड़ा (अनन्तवां) भाग देशघाती है। और बहु भाग सर्वघाती है। कुछ परमाणुओंमें हड्डीके समान

* कम्म सरूवेणागय दव्वं ण य एदि उदयरूवेण।
रूवेणुदीरणस्स व आबाहा जाव ताव हवे।

अर्थात्—आत्मामें बांधा हुआ कर्म जब तक उदय रूपसे और उदीरणा रूपसे निर्जरित नहीं हो तब तक उस कालको आबाधा काल कहते हैं।

गोमट्टसार कर्मकाण्ड।

शक्ति है, यह शक्ति काष्ठकी अपेक्षा और भी कठोर है और कुछ कर्म परमाणुओंमें पत्थरके समान फलदान शक्ति है ये कर्म सर्व घाती हैं, अर्थात् ऐसी शक्ति रखनेवाले कर्म आत्माके गुणोंका सम्पूर्णतासे घात करते हैं। मिश्र प्रकृति और मिथ्यात्व प्रकृति इनका उदाहरण है। मिश्र प्रकृति काष्ठ भागके समान है। और मिथ्यात्व प्रकृति हड्डी और पत्थरके समान है। जिस प्रकार घातिया कर्म सब ही अशुभ हैं उस प्रकार अघातिया कर्म नहीं हैं किन्तु उनमें साता वेदनीय, शुभ आयु* शुभ नाम और उच्च गोत्र ये शुभ हैं, बाकीके—असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और नीच गोत्र ये अशुभ कर्म हैं। जो शुभ प्रकृतियां हैं उनमें भी चार प्रकारकी शक्तियां–गुड़, खाँड, शर्करा (मिश्री) और अमृतके समान समझना चाहिये। अर्थात् प्रशस्त कर्मोंमें कुछ भाग तक गुड़के समान फल दान शक्ति है, इसीप्रकार कुछ भाग तक खांड़के समान, कुछ भाग तक मिश्रीके समान और कुछ भाग तक अमृतके समान फल दान शक्ति है। अघातिया कर्मोंमें जो जो अशुभ प्रकृतियां हैं उनमें क्रमसे नीम, कांजीर, विष और हालाहलके समान शक्ति भेद समझना चाहिये। इन्हीं शक्ति भेदोंके अनुसार यह जीव सुख दुःखकी अधिकता अथवा हीनताको भोगता है। यह शक्तिभेद ही फल दान शक्तिका तारतम्य कहलाता है। ऐसा तारतम्य अनुभाग बन्धमें होता है। इसलिये वास्तवमें अनुभाग बन्ध ही दुःखोंका मूल कारण है। अथवा दूसरे शब्दोंमें यह कहना ठीक है कि अनुभागबन्ध ही दुःखस्वरूप है। इसको दूर करनेका उपाय भी कषायोंकी हीनता है। जितनी २ कषायें पुष्ट होंगीं उतना २ ही कर्मोंमें रस शक्तिका आधिक्य होगा, और जितनी २ कषायें निर्बल अथवा मन्द होंगीं उतनी २ ही कर्मोंमें रस शक्तिकी हीनता होगी। उपर्युक्त चारों प्रकारका ही बन्ध योग और कषायसे होता है। योगसे प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है। कषायसे स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है इन योग और कषाय दोनोंके समुदायको लेश्या कहते हैं। लेश्याका लक्षण यही है कि "कषायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या+" अर्थात् कषायोंके उदय सहित जो योगोंकी

* देवायु, मनुष्यायु, तिर्यगायु ये तीनों ही आयु शुभ हैं। परन्तु गतियोंमें देवगति और मनुष्यगति ये दो गति शुभ हैं इसका कारण भी यह है कि तिर्यग्गतिमें कोई जीव जाना नहीं चाहता है क्योंकि वह दुःखका कारण है इसलिये तिर्यग्गति तो अशुभ है, परन्तु जो जीव तिर्यग्गतिमें है वह वहांसे निकलना नहीं चाहता इस लिये तिर्यगायु शुभ है। और नरकमें तो कोई जाना भी नहीं चाहता और पहुंचकर वहां ठहरना भी कोई नहीं चाहता इस लिये नरकगति और नरकायु दोनों ही अशुभ हैं।

\+ जोग पवित्ती लेस्सा कसाय उदयाणुरंजिया होई।
तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचतुक्कं समुद्दिट्ठं।

अर्थात् कषायोदयरंजित योगोंकी प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। इसलिये कषाय और योग रूप लेश्यासे ही चारों प्रकारका बन्ध होता है।

प्रवृत्ति है उसीका नाम लेश्या है इसलिये यह लेश्या ही चारों बन्धोंका कारण है। शुभ लेश्या अर्थात् शुभ राग और शुभ योग प्रवृत्ति पुण्यबन्धका कारण है और अशुभ लेश्या अर्थात् अशुभ राग और अशुभ योगोंकी प्रवृत्ति पापबन्धका कारण है* इस लिये सबसे प्रथम अशुभ प्रवृत्तिका त्याग कर शुभ प्रवृत्तिमें लगना चाहिये। शुभ प्रवृत्तिमें लग जानेसे जो अशुभ प्रवृत्तिजन्य तीव्र दुःखका कारण पापबन्ध होता है वह रुक जाता है।

अनुभागबन्धमें विशेषता—

स्वार्थक्रिया समर्थोऽत्र बन्धः स्याद्रससञ्ज्ञिकः।
शेषबन्धत्रिकोप्येष न कार्यकरणक्षमः॥ ९३८॥

अर्थ—ऊपर जो चारों बन्धोंका स्वरूप कहा गया है उनमें अनुभाग बन्ध ही स्वार्थ क्रियाके करनेमें समर्थ है, बाकीके तीनों ही बन्ध कार्य करनेमें समर्थ नहीं हैं। **भावार्थ**—प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध इन तीनोंसे आत्माको साक्षात् दुःख नहीं होता है, साक्षात् दुःख देनेवाला और आत्माके गुणोंका घात करनेवाला अनुभाग बन्ध ही है। क्योंकि हरएक कर्म इस शक्ति अवस्थामें ही फल देनेमें समर्थ हैं, और इस शक्तिमें न्यूनाधिक्य अनुभाग बन्धमें आता है।

सारांश—

ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेप्यत्र संस्थिते।
ज्ञानसञ्चेतनायास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागपि॥ ९३९॥

अर्थ—इसलिये तीनों सम्यग्दर्शनोंमें स्थितिबन्धकी अपेक्षासे सत्ता मात्रमें ही भेद है, उससे ज्ञानचेतनाकी किञ्चिन्मात्र भी क्षति (हानि) नहीं है। **भावार्थ**—पहले कहा गया है कि सम्यग्दर्शनके क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ऐसे तीन भेद हैं, उन तीनों ही भेदोंमें उस अलौकिक सम्यग्दर्शन गुणका अनुभवन समानतासे होता है, केवल कर्मोंकी स्थितिकी अपेक्षासे उन तीनोंमें भेद है, वास्तवमें रसबन्ध कृत भेद नहीं है इसी बातको चारों बन्धोंका स्वरूप बताकर स्पष्ट किया गया है कि स्थितिके भेदमें ज्ञानचेतनाकी थोड़ी भी हानि नहीं होती है। अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभावसे रहनेवाली ज्ञानचेतना तीनों ही में समान है।

---

* लिंपइ अप्पीकीरइ एदीय णियअपुण्ण पुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा॥

अर्थात् जीव जिसके कारण पुण्य पापका ग्रहण करे उसीको लेश्याके जाननेवालेने लेश्या कहा है। गोमट्टसार।

सम्यग्दर्शनके साथ और भी सद्गुण होते हैं—

एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमाः ।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥ ९४० ॥
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम् ।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥ ९४१ ॥

अर्थ—इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ तथा उसके आगे और भी सद्गुण प्रकट होते हैं । वे सब सम्यग्दर्शन सहित हैं इसीलिये सद्गुण हैं । उनमेंसे कुछ ये हैं—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वानुभव ज्ञान, वैराग्य, और भेद विज्ञान । इत्यादि सभी गुण सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होते हैं इससे अधिक क्या कहा जाय । **भावार्थ**—सम्यग्दर्शनके होनेपर ही भेद विज्ञानादि उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है । अन्यथा नहीं होती । दूसरा यह भी आशय है कि जो गुण सम्यग्दर्शनके साथमें होते हैं वेही सद्गुण हैं । विना सम्यग्दर्शनके होनेवाले गुणोंको सद्गुणोंकी उपमा भले ही दी जाय, परन्तु वास्तवमें वे सद्गुण नहीं हैं । चौथे गुणस्थानसे पहले पहले भेदविज्ञानादि (सद्गुण) होते भी नहीं हैं ।

चेतना तीन प्रकार है—

अद्वैतेपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात् ।
ययोपलक्षितो जीवः सार्थनामास्ति नान्यथा ॥ ९४२ ॥

अर्थ—यद्यपि चेतना एक है तथापि आगमके अनुसार उस चेतनाके तीन भेद हैं उस चेतनासे विशिष्ट जीव ही यथार्थ नाम धारी कहलाता है । अन्यथा नहीं । **भावार्थ**—यद्यपि चेतना एक है तो भी कर्मके निमित्तसे उसके कर्म चेतना, कर्म फल चेतना और ज्ञान चेतना ऐसे तीन भेद हैं उनमें आदिकी दो चेतनायें मिथ्यात्वके साथ होनेवाली हैं, और तीसरी ज्ञान चेतना सम्यग्दर्शनके साथ होने वाली है । इन तीनों चेतनाओंका खुलासा वर्णन पहले आ चुका है ।

आशङ्का—

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोपि सर्वथा ।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये सन्ति तत्रापि केचन ॥ ९४३ ॥

अर्थ—क्या सम्पूर्ण जीव सर्वथा चैतन्यमात्र ही है अथवा चैतन्यके साथ उसके और भी गुण होते हैं ? उत्तर—हां होते हैं उनमेंसे कुछ गुण नीचे बतलाये जाते हैं ।

सभी पदार्थ अनन्त गुणात्मक हैं—

उच्यतेनन्तधर्माधिरूढोप्येकः सचेतनः ।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥ ९४४ ॥

अर्थ—यह जीव यद्यपि अनन्तगुणोंका धारी है तथापि एक कहा जाता है। जितना भी पदार्थ समूह है सभी अनन्तगुणात्मक है। भावार्थ-जितने भी पदार्थ हैं सभी अनन्त गुणात्मक हैं। अनन्तगुणात्मक होनेपर भी वे एक एक कहे जाते हैं, एक कहे जानेका कारण भी एक सत्ता गुण है। भिन्न २ सत्ता गुणसे ही पदार्थोंमें भेद होता है। जीव द्रव्य भी अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड है। भिन्न भिन्न सत्ता रखनेवाले भिन्न भिन्न अनन्तगुणधारी जीव द्रव्य अनन्त हैं। प्रत्येक द्रव्यमें गुणोंकी भेदविवक्षासे भेद होता है और अभेद विवक्षामें अभेद समझा जाता है। वास्तवमें गुण समूह ही द्रव्य है। और वे सभी गुण परस्पर अभिन्न हैं। इसी लिये द्रव्य और गुणोंका तादात्म्य सम्बन्ध है। परन्तु नैयायिक दार्शनिक गुण गुणीमें सर्वथा भेद मानते हैं और उन दोनोंका समवाय सम्बन्ध बतलाते हैं, नैयायिक लोगोंका यह सिद्धान्त न्यायकी दृष्टिसे सर्वथा वाधित है क्योंकि वे ही स्वयं ज्ञान और जीवका समवाय कहते हैं और समवाय सम्बन्ध उनके मतसे ही नित्य होता है फिर उन्हींके मतानुसार मुक्तात्माका ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है। इसलिये उनका सिद्धान्त उनके मतसे ही वाधित हो जाता है। इसी आशयको हृदयमें रखकर ग्रन्थकार परीक्षकोंको सूचना देते हैं—

अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकैः।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ९४५ ॥

अर्थ--जीव अनन्तगुणात्मक है इस विषयका विशेष परिज्ञान परीक्षकोंको करना चाहिये, यद्यपि जो हम सिद्ध करना चाहते हैं उसे आगे युक्ति, स्वानुभव और आगम प्रमाणसे कहेंगे तथापि परीक्षकोंको निर्णय कर लेना ही उचित है।

जीवके विशेष गुण—

तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम्।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम् ॥ ९४६ ॥

अर्थ—चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान, और सम्यक्त्व ये जीवके विशेष गुण हैं।

जीवके समान्य गुण—

वीर्यं सूक्ष्मोवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥ ९४७ ॥

अर्थ—वीर्य, सूक्ष्म, अवगाह, अव्याबाध और अगुरुलघु ये जीवके सामान्य गुण हैं। **भावार्थ**-हर एक पदार्थमें सामान्य और विशेष गुण रहते हैं। जो गुण समान रीतिसे सभी पदार्थोंमें रहते हैं उन्हें सामान्य गुण कहते हैं जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व आदि। ये गुण सभी पदार्थोंमें समान हैं तथापि जुदे २ हैं। जो गुण असाधारण

हों अर्थात् भिन्न २ पदार्थोंके जुदे २ हों, उन्हें विशेष गुण कहते हैं। विशेष गुण ही वस्तुओंमें परस्पर भेद करानेवाले हैं। जैसे जीवमें विशेषगुण ज्ञान, दर्शन, सुख आदि हैं। पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण आदि हैं। इन्हीं सामान्य और विशेष गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं।

सभी गुण स्वाभाविक हैं—

सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः ।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्तः प्राकृताःस्वतः ॥ ९४८ ॥

अर्थ—जीवके सामान्यगुण अथवा विशेषगुण स्वभाव सिद्ध हैं। सभी गुण टांकीसे उकेरे हुए पत्थरके समान निरन्तर रहते हैं और स्वयं सिद्ध अनादिनिधन हैं।

तथापि प्रोच्यते किञ्चिच्छ्रूयतामवधानतः ।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ ९४९ ॥

अर्थ—तथापि उन गुणोंके विषयमें थोड़ासा विवेचन किया जाता है उसे सावधानीसे सुनना चाहिये। गुणोंका प्रवाह न्याय (युक्ति)के बलसे चला आरहा है उसे कौन रोक सकता है? **भावार्थ**—द्रव्यकी सहभावी पर्यायको गुण कहते हैं द्रव्यकी अनादि कालसे होनेवाली अनन्त कालतक सभी पर्यायोंमें गुण जाते हैं। गुणोंका नाश कभी नहीं हो सकता है, इसी लिये कहा गया है कि गुणोंका प्रवाह न्याय प्राप्त है उसे कौन रोक सकता है।

वैभाविकी शक्ति—

अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च ।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुतः ॥ ९५० ॥

अर्थ—उन्हीं जीवके अनन्त गुणोंमें एक स्वतः सिद्ध वैभाविक नामा शक्ति है। वह शक्ति संसार अवस्थामें अपने कारणसे विकृत (विकारी) हो रही है। **भावार्थ**—वैभाविक भी एक आत्माका गुण है। उस गुणकी दो अवस्थायें होती हैं। आत्माकी शुद्ध अवस्थामें उसकी स्वभाविक अवस्था और आत्माकी अशुद्ध अवस्थामें उसकी वैभाविक अवस्था। अशुद्धताका कारण—राग द्वेषभाव हैं, उन्हीं भावोंके निमित्तसे उस वैभाविक शक्तिका विभावरूप परिणमन होता है। तथा रागद्वेषके अभावमें उसका स्वभाव परिणमन होता है। आत्माकी संसारावस्थामें उसका विभावरूप परिणमन होता है और मुक्तावस्थामें स्वभाव परिणमन होता है। इसलिये स्वाभाविक और वैभाविक ऐसी दो अवस्थायें उसी एक वैभाविक नामा गुण की हैं। कोई स्वाभाविक गुण पृथक् नहीं है।

दृष्टान्त—

यथा वा स्वच्छताऽऽदर्शे प्राकृतास्ति निसर्गतः ।
तथाप्यस्यास्यसंयोगाद्वैकृतास्त्यर्थतोपि सा ॥ ९५१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्पणमें स्वभावसे ही स्वच्छता (निर्मलता) सिद्ध है। तथापि सम्बन्ध होनेसे उसकी विकार अवस्था होजाती है। और वह विकार वास्तविक है। भावार्थ—मुखका प्रतिबिम्ब पड़नेसे दर्पणका स्वरूप मुखमय होजाता है। वह उसकी विकारावस्था है और वह केवल कल्पना मात्र नहीं है किन्तु वास्तवमें कुछ वस्तु है। क्योंकि छाया पुद्गलकी पर्याय है। दर्पणकी मुखमय पर्याय सामने ठहरे हुए मुखके निमित्तसे होती है। उसी प्रकार जीवके रागद्वेष परिणामोंसे उस वैभाविक गुणकी विकारावस्था होरही है। ऐसी अवस्था इसकी अनादिकालसे है।

विकारावस्थामें पदार्थ सर्वथा अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता है—

वैकृतत्वेपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित्।
प्रकृतौ यद्विकारित्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥ ९५२ ॥

अर्थ—विकृत अवस्था होनेपर भी पदार्थ कहीं बदल नहीं जाता है। प्रकृतिमें जो विकृति होती है उसे ही उसका विकार कहते हैं। भावार्थ—पदार्थमें जो विकार होता है वह उसी पदार्थका विकार कहा जाता है। ऐसा नहीं है कि पदार्थ ही बदल कर दूसरे पदार्थ-रूप हो जाता हो। यदि ऐसा होता तो फिर उसे उसी पदार्थका विकार नहीं कहना चाहिये किन्तु पदार्थान्तर ही कहना चाहिये, इसलिये स्वभाव सिद्ध पदार्थमें जो विकृति होती है वह उसी पदार्थकी निमित्तान्तरसे होनेवाली अशुद्ध अवस्था है जिस निमित्तसे वह अशुद्धावस्था हुई है उस निमित्तके दूर होजाने पर वह पदार्थ भी अपने प्राकृतिक स्वरूपमें आ जाता है।

दृष्टान्त—

तथापि वारुणीपानाद् बुद्धिर्नाऽबुद्धिरेव नुः।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्वं तदर्थसात् ॥ ९५३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा पीनेसे मनुष्यकी बुद्धि बुद्धि ही रहती है वह अबुद्धि (पदार्थान्तर) नहीं होजाती है किन्तु बुद्धिमें ही कुछ दूसरी अवस्था हो जाती है। जो बुद्धिकी दूसरी अवस्था है वही उसकी वास्तविक विकृति है। भावार्थ—सुबुद्धि रूप परिणमनको ही बुद्धिकी विकृतावस्था कहते हैं।

प्राकृतं वैकृतं वापि ज्ञानमात्रं तदेव यत्।
यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥ ९५४ ॥

अर्थ—स्वाभाविक ज्ञान हो, अथवा वैभाविक ज्ञान हो सभी ज्ञान ही कहा जायगा। क्योंकि ज्ञानपना दोनों ही अवस्थाओंमें है। परन्तु इतना विशेष है कि जितना भी इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है वह सब वैभाविक है।

विकृतावस्थामें जीवकी वास्तवमें हानि है—

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तवादपि ।
जीवस्यातीवदुःखित्वात् सुखस्योन्मूलनादपि ॥ ९५५॥

अर्थ—जीवकी विकृत अवस्थामें वास्तवमें हानि है । विकृत अवस्थासे जीवकी वास्तवमें कुछ हानि न हो ऐसा नहीं है । क्योंकि विकृतावस्थामें जीवको अत्यन्त दुःख होता है और इसका स्वाभाविक सुख गुण नष्ट हो जाता है । **भावार्थ**—जो लोग सर्वथा निश्चय पर आरूढ़ है वे ऐसा कहते हैं कि कर्मबन्धसे वास्तवमें आत्माकी कोई हानि नहीं है, आत्मा सदा शुद्ध है । ऐसा कहनेवाले व्यवहारनयको सर्वथा मिथ्या समझते हैं परन्तु यह उनकी भूल है, कर्मबन्धसे ही जीव कष्ट भोग रहा है, अत्यन्त दुःखी हो रहा है, चारों गतियोंमें घूमता फिरता है, रागद्वेषसे मूर्छित हो रहा है, अल्पज्ञानी हो रहा है इत्यादि अवस्थायें इसकी प्रत्यक्ष दीख रही हैं इसी लिये आचार्यने इस श्लोक द्वारा बतलाया है कि वास्तवमें भी इस जीवकी विकृतावस्थामें हानि हो रही है, केवल निश्चय नय पर आरूढ़ रहनेवालोंको नयोंके स्वरूपपर भी थोड़ा विचार अवश्य करना चाहिये । उन्हें सोचना चाहिये कि निश्चय नय और व्यवहार नय कहते किसे हैं ? यथार्थमें नय नाम किसी अपेक्षासे पदार्थके निरूपण करनेका है । निश्चय नय आत्माके शुद्ध स्वरूपका निरूपण करता है, वह बतलाता है कि आत्मा कर्मोंसे सर्वथा भिन्न है, वह सदा शुद्ध ज्ञान शुद्ध दर्शनवाला है, वह चारों गतियोंके दुःखका भोक्ता नहीं है इत्यादि, यह सब कथन आत्माके असली स्वरूपके विचारकी अपेक्षासे है, अर्थात् आत्माका शुद्ध स्वरूप, कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अवस्थासे सर्वथा भिन्न है, बस इसी शुद्ध स्वरूपको प्रकट करना ही निश्चय नयका कार्य है । परन्तु वर्तमानमें जो कर्मकृत अवस्था हो रही है वह मिथ्या नहीं है किन्तु वह जीवकी शुद्ध अवस्था नहीं है इसी लिये नयकी दृष्टिसे यह जीवकी विकृतावस्था मिथ्या प्रतीत होती है । वास्तवमें यह जीवकी निज अवस्था नहीं है इसको व्यवहार नय बतलाता है इसीलिये उसे भी मिथ्या कह दिया जाता है । अन्यथा यदि विकृतावस्था कुछ वस्तु ही न हो, केवल कल्पना अथवा भ्रमात्मक बोध ही हो तो फिर यह शरीरका सम्बन्ध और पुण्य पापका फल तथा जीवका अच्छा बुरा कर्तव्य कुछ नहीं ठहरता है, इसलिये ये सब बातें यथार्थ हैं और विकृतावस्थासे जीव वास्तवमें दुःखी है और उसके सुख गुणकी हानि हो रही है × इसी बातको ग्रन्थकार आगे स्पष्ट करते हैं—

× निश्चयनयपर ही चलनेवाले पूजन आदि शुभ कार्योंमें भी उदास हो जाते हैं यह उनकी भारी भूल है। उन्हें स्वामी समन्तभद्रादि आचार्योंकी कृतिपर ध्यान देना चाहिये कि जिन्होंने केवल आत्माको ध्येय बनाते हुए भी भक्तिमार्गको कहां तक अपनाया है।

अपि द्रव्यनयादेशाट्टंकोत्कीर्णोस्ति प्राणभृत् ।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युतातीव दुःखवान् ॥ ९५६ ॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्यार्थिक नयसे यह जीव टांकीसे उकेरे हुए पत्थरके समान सदा शुद्ध है तथापि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे कोई संसारी जीव अपने सुखमें स्थित नहीं है किन्तु उल्टा अत्यन्त दुःखी है।

अपने स्वरूपमें स्थित समझना भी भूल है—

नाङ्गीकर्तव्यमेवैतत् स्वस्वरूपे स्थितोस्ति ना ।
बद्धो वा स्यादबद्धो वा निर्विशेषाद्यथा मणिः ॥ ९५७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मणि मिली हुई (कीचड़ आदिमें) अवस्थामें भी शुद्ध है और भिन्न अवस्थामें भी शुद्ध है। उसी प्रकार यह मनुष्य भी चाहे कर्मोंसे बँधा हुआ हो चाहे मुक्त हो सदा अपने स्वरूपमें स्थित है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये।

क्योंकि—

यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्याद् बाधितो बलात् ।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वा स्यादभेदसात् ॥ ९५८ ॥

अर्थ—क्योंकि जीवको यदि सदा शुद्ध माना जाय तो वह मानना न्यायबलसे बाधित है। जीवको सदा शुद्ध माननेसे न तो संसार ही सिद्ध हो सक्ता है, और न मोक्ष ही सिद्ध हो सक्ती है। अथवा दोनोंमें अभेद ही सिद्ध होगा। भावार्थ—संसरणं संसारः परिभ्रमणका नाम ही संसार है, वह विना अशुद्धताके हो नहीं सक्ता है। और संसारके अभावमें मुक्तिका होना भी असंभव है। क्योंकि मुक्ति संसार पूर्वक ही होती है। जो बंधा ही नहीं है वह मुक्त ही क्या होगा। इसलिये जीवको सदा शुद्ध माननेसे संसार और मोक्ष दोनों ही नहीं बनते हैं अथवा दोनोंमें कोई भेद सिद्ध नहीं होता है। इसीको स्पष्ट करते हैं—

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत् संसारः स्यात्कुतो नयात् ।
हठाद्वा मन्यमानेस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम् ॥ ९५९ ॥

अर्थ—यदि मनुष्य सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहे अर्थात् सदा शुद्ध ही बना रहे तो संसार किस नयसे हो सक्ता है ? यदि जीवको हठ पूर्वक ही विना किसी हेतुके शुद्ध माना जाय तो अनिष्टताका प्रसंग आता है। उसे ही दिखाते हैं—

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः ।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥ ९६० ॥

अर्थ—यदि जीव सदा शुद्ध है तो फिर मोक्षका आदेश (निरूपण) व्यर्थ है। और

यह बात इष्ट नहीं है । क्यों इष्ट नहीं है इसका उत्तर यही है कि मोक्षके लिये जो श्रम किया जाता है वह सब व्यर्थ होगा । भावार्थ—जीवको सर्वथा शुद्ध माननेसे मोक्षका विवेचन और उसकी प्राप्तिका उपाय आदि सभी बातें व्यर्थ ठहरती हैं, यह बात इष्ट नहीं है ।

सर्वं विप्लवतेप्येवं न प्रमाणं न तत्फलम् ।
साधनं साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया ॥ ९६१ ॥

अर्थ—जब मोक्ष व्यवस्था और उसका उपाय ही निरर्थक है, तब न प्रमाण बनता है, न उसका फल बनता है, न साधन बनता है न साध्य बनता है, न कारण बनता है और न क्रिया ही बनती है, सभीका विप्लव (लोप) हो जाता है । भावार्थ—जीवको पहले अशुद्ध माननेसे तो संसार, मोक्ष, उसका उपाय साध्य, साधन, क्रियाकारक, प्रमाण, उसका फल सभी बातें सिद्ध हो जाती हैं परन्तु जीवको सर्वथा शुद्ध माननेसे ऊपर कही हुई बातोंमेंसे एक भी सिद्ध नहीं होती है । इसलिये पहले जीवको अशुद्ध मानना ही युक्तिसङ्गत है ।

सारांश—

सिद्धमेतावताप्येवं वैकृता भावसन्ततिः ।
अस्ति संसारिजीवानां दुःखमूर्तिर्दुरुत्तरी ॥ ९६२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो चुकी कि संसारी जीवोंके भावोंकी सन्तति विकृत है, दुःखकी मूर्ति है, और खोटे फलवाली है ।

शङ्काकार—

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशाः ।
किं नामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ९६३ ॥

अर्थ—वैभाविक भाव कितने हैं, वे कैसे हैं, किस नामसे पुकारे जाते हैं, और कैसे जाने जाते हैं ? हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! मुझे सब समझाओ ।

उत्तर—

श्रृणु साधो महाप्राज्ञ ! वच्म्यहं यत्तवेप्सितं ।
प्रायो जैनागमाभ्यासात् किञ्चित्स्वानुभवादपि ॥ ९६४ ॥

अर्थ—शङ्काकारको सम्बोधन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—हे साधो ! हे महा विद्वान् ! जो तुम्हें अभीष्ट है उसे मैं कहता हूं, प्रायः सब कथन मैं जैन शास्त्रोंके अभ्याससे ही करूंगा, कुछ २ स्वानुभवसे भी कहूंगा । तुम सुनो ।

भावोंकी संख्या—

लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात् ।
तेषां जातिविवक्षायां भावाः पञ्च यथोदिताः ॥ ९६५ ॥

अर्थ—सूत्रोंके अर्थके विस्तारसे जीवके भाव असंख्यातलोक प्रमाण हैं। तथा उन भावोंकी जातियोंकी अपेक्षासे पांच भाव कहे गये हैं।

पांच भावोंके नाम—

तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोपि च ।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोप्यौदयिकोस्ति नुः ॥ ९६६ ॥
पारिणामिकभावः स्यात् पञ्चेत्युद्देशिताः क्रमात् ।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपञ्चाशदितीरिताः ॥ ९६७ ॥

अर्थ—औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औदयिकभाव और पारिणामिकभाव ये मनुष्य (जीव) के पांच भाव क्रमसे कहे गये हैं। इनके त्रेपन उत्तरभेद भी कहे गये हैं। **भावार्थ**—ये पांच जीवके असाधारणभाव हैं। यद्यपि भेदकी अपेक्षासे असंख्यात लोकप्रमाण जीवके भाव हैं अथवा अनन्तभाव हैं परन्तु स्थूलरीतिसे इन्हीं पाचोंमें सब गर्भित होजाते हैं। जो जीवके चौदह गुणस्थान कहे गये हैं वे भी इन पांच भावोंसे बाहर नहीं हैं अथवा दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि इन पांच भावोंमें ही चौदह गुणस्थान बँटे हुए हैं।* जीवके गुणोंमें सम्यग्दर्शन ही प्रधान गुण है, और उसके तीन भेदोंमेंसे पहले औपशमिक ही होता है इसलिये औपशमिक भावका पहले नाम लिया गया है। औपशमिककी अपेक्षासे क्षायिक भाववालोंका द्रव्य (जीव राशी) असंख्यात गुणा है इसलिये औपशमिकके पीछे क्षायिकका नाम लिया गया है। क्षायिककी अपेक्षा क्षायोपशमिकका द्रव्य असंख्यात गुणा है, तथा उपर्युक्त दोनों भावोंके मेलसे यह होता है इसलिये तीसरी संख्या क्षायोपशमिकके लिये कही गई है। उन तीनोंसे औदयिक पारिणामिक भावोंका द्रव्य अनन्त गुणित है इसलिये अन्तमें इन दोनोंका नाम लिया गया है। औपशमिक और क्षायिक भाव सम्यग्दष्टिके ही होते हैं। मिश्र भाव भव्य और अभव्य दोनोंके होता है, परंतु इतना विशेष है कि भव्यके सम्यक्त्व और चारित्रकी अपेक्षासे भी होता है। अभव्यके केवल अज्ञानादिकी अपेक्षासे होता है। औदयिक और पारिणामिक ये दो भाव सामान्य रीतिसे सभी संसारी जीवोंके होते हैं। औपशमिक भाव दो प्रकारका है, क्षायिक भाव नौ प्रकारका है, क्षायोपशमिक भाव अठारह प्रकारका है, औदयिकभाव इक्कीस प्रकारका है, और पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है। इसप्रकार ये जीवके त्रेपन भाव हैं इनका खुलासा ग्रन्थकार स्वयं आगे करेंगे।

* जेहिं दु लक्खिजंते उदयादिसु संभवेहि भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥

औदयिकादिक यथासंभव भावोंमें जीव पाये जाते हैं इसलिये उन भावोंका नाम ही गुणस्थान है। ऐसा सर्वज्ञ देवने कहा है। **गोमट्टसार।**

औपशमिक भावका स्वरूप—

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात् स्वतः ।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥ ९६८ ॥

अर्थ—विपक्षी कर्मोंके पाकका स्वयं उपशम होनेसे जो प्राणियोंका भाव होता है उसीका नाम औपशमिक भाव है। भावार्थ—कर्मोंके उपशम होनेसे जो जीवका भाव होता है उसीको औपशमिक भाव कहते हैं। "आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः।" अर्थात् आत्मामें कर्मकी निज शक्तिका कारणवशसे उदय नहीं होना इसीको उपशम कहते हैं। जैसे कीचसे मिले हुए (खवीले) जलमें फिटकरी आदि द्रव्य डालनेसे कीच जलके नीचे बैठ जाती है और निर्मल जल ऊपर रहता है। इसीप्रकार जिन कर्मोंका उपशम होता है वे उस कालमें उदयमें नहीं आते हैं इसलिये आत्मा उस समय निर्मल जलकी तरह निर्मल होजाता है।

क्षायिक भावका स्वरूप—

यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात् ।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥९६९॥

अर्थ—विपक्षी कर्मोंका सर्वथा क्षय होनेसे जो आत्माका भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं। यह क्षायिक भाव आत्माका शुद्ध भाव है, और उसका स्वाभाविक भाव है। भावार्थ—कर्मोंकी अत्यन्त निवृत्ति होनेसे जो आत्माका भाव होता है उसे ही क्षायिक भाव कहते हैं। जैसे फिटकरी आदिके डालनेसे जिस समय कीचड़ नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रहता है उस समय उस निर्मल जलको यदि दूसरे वर्तनमें धीरेसे ले लिया जाय तो फिर वह जल सदा शुद्ध ही रहता है फिर उसके मलिन होनेकी संभावना भी नहीं हो सक्ती है। क्योंकि मलिनता पैदा करनेवाला कीचड़ था वह सर्वथा हट गया है। इसी प्रकार क्षायिक भाव आत्मासे कर्मके सर्वथा हट जाने पर होता है। वह सदा शुद्ध रहता है, फिर वह कभी अशुद्ध नहीं हो सक्ता।

क्षायोपशमिक भावका स्वरूप—

यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः ।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥ ९७० ॥

अर्थ—सर्वघाति स्पर्धकोंका अनुदय होने पर और देशघातिस्पर्धकोंका उदय होने पर जो आत्माका भाव होता है उसे ही क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। भावार्थ—क्षायोपशमिक भावमें क्षय और उपशमकी मिश्रित अवस्था रहती है। जैसे मलीन जलमें थोड़ी फिटकरी

डालनेसे कुछ तो निर्मल जल रहता है कुछ गदला रहता है, दोनोंकी मिली हुई अवस्था रहती है। उसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव भी दोनोंकी मिश्रित अवस्था है। सर्वार्थसिद्धिमें मिश्रका ऐसा लक्षण किया है—"सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमाच्च देशघातिस्पर्धकानामुदये सति क्षायोपशमिको भावो भवति", अर्थात् जो कर्म सर्वथा गुणका घात करनेवाले हैं उनका (सर्वघातिस्पर्धकोंका) उदयक्षय* होनेसे और उन्हीं सर्वघाति स्पर्धकोंका सत्तामें उपशम होनेसे तथा देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होता है। यहांपर यह शंका हो सक्ती है कि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अथवा चारित्र आत्मीक भाव हैं, क्या आत्मीक भावोंमें भी कर्मका उदय कारण पडता है? यदि पडता है तबतो वे आत्मीक भाव ही नहीं रहे, उन्हें कर्मकृत पर भाव कहना चाहिये। यदि कर्मोदय कारण नहीं पड़ता है तो फिर देशघाति स्पर्धकोंका उदय मिश्र भावमें कारण क्यों बतलाया गया है? इसका उत्तर यह है कि आत्मीक भावके प्रकट होनेमें कर्मोदय कारण नहीं पड़ता है, जितने अंशमें कर्मोदय है उतने अंशमें तो उस गुणका घात हो रहा है इसलिये कर्मोदय तो आत्मीक भावोंके घातका ही कारण है, यहांपर भी यही बतलाया है कि जिस समय मिश्र भाव होता है उस समय देशघाती कर्मका उदय रहता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि देशघाती कर्मका उदय मिश्रभावका कारण है। सम्यक्त्व प्रकृति सम्यग्दर्शनमें चलता, मलिनता, अगाढ़ता आदि दोष उत्पन्न करती ही है। इसलिये कर्मोदयमात्र ही आत्मगुणोंका घातक है।

औदयिक भावका स्वरूप—

कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ।
नाम्नाप्यौदयिकोऽन्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥ ९७१ ॥

अर्थ—संसारी जीवके कर्मोंके उदयसे जो भाव होता है वही औदयिक नामसे कहा जाता है और वही यथार्थ नामधारी है, तथा कर्मबन्ध करनेका वही अधिकारी है। **भावार्थ**—द्रव्य क्षेत्र काल भावके निमित्तसे कर्मोंकी जो फलदान विपाक अवस्था है उसीको उदय कहते हैं, कर्मोंके उदयसे जो आत्माका भाव होता है उसीको औदयिक भाव कहते हैं, यही भाव आत्माके गुणोंका घातक, दुःखदायक तथा कर्मबन्धका मूल कारण है।

पारिणामिक भावका स्वरूप—

कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ ९७२ ॥

---

* जो कर्म विना फल दिये ही निर्जरित होजाय उसे उदय क्षय अथवा उदयाभावी क्षय कहते हैं।

अर्थ—कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे सर्वथा निरपेक्ष जो आत्माका स्वाभाविक भाव है उसे ही पारिणामिक भाव कहते हैं। भावार्थ—द्रव्यकी निज स्वरूपकी प्राप्तिको ही पारिणामिक भाव कहते हैं। इस भावमें कर्मोंकी सर्वथा अपेक्षा नहीं है, किन्तु आत्म द्रव्य मात्र है।

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक्।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥ ९७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार उन भावोंका लेशमात्र लक्षण भिन्न २ कहा गया। अब उनमेंसे प्रत्येक भावका स्वरूप विस्तार पूर्वक कहा जाता है।

औदयिक भावके भेद—

भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशति।
चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः ॥ ९७४ ॥
त्रीणि लिङ्गानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम्।
एकम्वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकास्त्यसिद्धता ॥ ९७५ ॥
लेश्याः षडेव कृष्णाद्या क्रमादुद्देशिता इति।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥ ९७६ ॥

अर्थ—सूत्रोंके आशयसे औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—गति ४, कषाय ४, लिङ्ग ३, मिथ्यात्व १, अज्ञान १, असंयतत्व १, असिद्ध १, कृष्णादि-लेश्या ६ ये क्रमसे इक्कीस भाव हैं, इनका स्वरूप अब कहते हैं, वह नतो अधिक संक्षिप्त ही होगा और न अधिक विस्तृत ही होगा।

गति—कर्म—

गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाधिगीयते ॥ ९७७ ॥

अर्थ—नाम कर्मके भेदोंमें प्रसिद्ध एक गति नामा कर्म भी है। गतियां चार हैं इस लिये वह गति कर्म भी चार प्रकारका कहा जाता है।

गतिकर्मका विपाक—

कर्मणोस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः।
प्राप्य तत्रोचितान्भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः ॥ ९७८ ॥

अर्थ—इस गतिकर्मके विपाक होनेसे यह आत्मा अपने ही उदयवश देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक इन चार गतियोंमेंसे किसी एकको प्राप्त होकर उसके उचित भावोंको करता

है । अर्थात् जिस गतिमें पहुंचता है वहांकी द्रव्य क्षेत्र काल भाव सामग्रीके अनुसार ही अपने भावोंको बनाता है ।

दृष्टान्त—

यथा तिर्यगवस्थायां तद्भव्या भावसन्ततिः ।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥ ९७९ ॥

अर्थ--जिस प्रकार तिर्यञ्च अवस्थामें जो उसके योग्य भावसन्तति है वह उस पर्यायके अनुसार वहां अवश्य होती है, तिर्यञ्च अवस्थाके योग्य जो भाव सन्तति है वह वहीं पर होती है अन्यत्र नहीं होती ।

इसी प्रकार—

एवं दैवेऽथ मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम् ।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥ ९८० ॥

अर्थ—इसी प्रकार देवगति, मनुष्यगति, नरकगतिमें भी अपनी २ गतिके योग्य भाव होते हैं । वे ऐसे ही होते हैं जैसे असाधारण हों । भावार्थ-जिस पर्यायमें भी यह जीव जाता है उसी पर्यायके योग्य उसे वहां द्रव्य क्षेत्र काल भावकी योग्यता मिलती है, और उसी सामग्रीके अनुसार उस जीवके भाव उत्पन्न होते हैं । जैसे भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके वहांकी सुखमय सामग्रीके अनुसार शान्तिपूर्वक सुखानुभव करनेके ही भाव पैदा होते हैं । कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके असि मस्यादि कारण सामग्रीके अनुसार कर्म (क्रिया) पूर्वक जीवन बितानेके भाव पैदा होते हैं । तथा जिस प्रकारका क्षेत्र मिलता है उसी प्रकारकी शरीर रचना आदि योग्यता भी मिलती है । इसलिये भावोंके सुधार और बिगाड़में निमित्त कारण ही प्रमुख है ।

शङ्काकार—

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम् ।
तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद्घातिकर्मवत् ॥ ९८१ ॥

अर्थ—देवादिक गतियां केवल नामकर्मके उदयसे होती हैं । जब ऐसा सिद्धान्त है तब क्या कारण है कि नाम (देवादिगतियां) कर्म घातिया कर्मोंके समान जीवके भावोंका हेतु समझा जाय ? भावार्थ—ऊपर कहा गया है कि जैसी गति इस जीवको मिलती है उसीके अनुसार इसके भावोंकी सृष्टि भी बनती है । इसी विषयमें शङ्काकारका कहना है कि भावोंके परिवर्तनका कारण तो घातिया कर्म ही हो सक्ते हैं, नाम कर्म तो अघातिया है उसमें भावोंके परिवर्तन करनेकी सामर्थ्य कहांसे आई ?

उत्तर—

सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत् ।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥ ९८२ ॥
अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोऽसा ।
तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥ ९८३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म भी नियमसे शरीरादिकी रचना करता है, साथ ही वहां पर मोहनीय कर्मका निरन्तर उदय रहता है, इसी लिये उस देह क्रियाके आकार औदयिक भाव होता है। भावार्थ—यद्यपि नामकर्मका कार्य शरीरादिकी रचना मात्र है वह भावोंके परिवर्तनका कारण नहीं हो सक्ता है, यह ठीक है। तथापि उस नाम कर्मके उदयके साथ ही मोहनीय कर्मका उदय भी बराबर रहता है इस लिये उस पर्यायमें औदयिक भाव अपना कार्य करता है। यदि मोहनीय कर्मका उदय नाम कर्मके साथ न हो तो वास्तवमें वह पर्याय जीवके भावोंमें संक्लेश नहीं कर सक्ती है, अरहन्त परमेष्ठीके नाम कर्मका उदय तो है परन्तु मोहनीय कर्म उनके नहीं है इसलिये स्वाभाविक भावोंमें परिवर्तन नहीं होता है। अतः मोहनीय कर्मक अविनाभाव ही वास्तवमें कार्यकारी है।

शङ्काकार—

ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोस्त्येकधारया ।
तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥ ९८४ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मका उदय अनर्गल रीतिसे अपने ही अधीन है। वह फिर भिन्न भिन्न शरीरोंकी क्रियाओंके आकार किस नयसे नियत है? अर्थात् भिन्न २ शरीरानुसार मोहनीय कर्म क्यों फल देता है?

उत्तर—

नैवं यतोनभिज्ञोसि मोहस्योदयवैभवे ।
तत्रापि बुद्धिपूर्वं चाऽबुद्धिपूर्वं स्वलक्षणात् ॥ ९८५ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। शङ्काकारसे आचार्य कहते हैं कि मोहनीय कर्मका उदय वैभव कितना बढ़ा हुआ है, और वह अपने लक्षणके अनुसार बुद्धिपूर्वक अबुद्धिपूर्वक आदि भेदोंमें बंटा हुआ है इस विषयमें तुम सर्वथा अजान हो। भावार्थ—मोहनीय कर्मका बहुत बड़ा विस्तार है, वह कहां २ किस २ रूपमें उदयमें आरहा है इसके समझनेकी बड़ी आवश्यकता है।

मोहनीय कर्मके भेद—

मोहनान्मोहकर्मैकं तद्द्विधा वस्तुतः पृथक् ।
दृङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥ ९८६ ॥

अर्थ—मूर्छित करनेसे सामान्य रीतिसे मोहकर्म एक प्रकार है । और वही दर्शन-मोह और चारित्रमोहकी अपेक्षासे वास्तवमें दो प्रकार भी है । **भावार्थ**—अन्य कर्मोंकी अपेक्षा मोहकर्ममें बहुत विशेषता है, अन्यकर्म अपने प्रतिपक्षी गुणमें न्यूनता करते हैं उसे सर्वथा भी ढक लेते हैं परन्तु अपने प्रतिपक्षी गुणको मूर्छित नहीं करते हैं, जैसे ज्ञानावरण कर्म ज्ञानगुणको ढकता है परन्तु ज्ञानगुणको अज्ञानरूप नहीं करता है, इसी प्रकार अन्त-राय कर्म वीर्यगुणको ढकता है परन्तु उसे उल्टे रूपमें नहीं लाता है । उल्टे रूपमें लानेकी विशेषता इसी मोहनीय कर्ममें है, मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षीको सर्वथा विपरीत स्वादु बना डालता है । इसीलिये इसका नाम मोहनीय है अर्थात् मोहनेवाला-मूर्छित करनेवाला है । सामान्य रीतिसे वह एक है, और दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय ऐसे उसके दो भेद हैं । इसी मोहनीय कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शनरूप और सम्यक्चारित्र मिथ्याचारित्ररूप परिणत होजाता है । इसीके निमित्तसे जीव अनन्त संसारमें भ्रमण करता फिरता है ।

दर्शन मोहनीयके भेद—

एकधा त्रिविधा वा स्यात् कर्ममिथ्यात्वसञ्ज्ञकम् ।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कञ्च, सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥ ९८७ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म भी सामान्य रीतिसे मिथ्यात्वरूप एक प्रकार है, विशेष रीतिसे मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व, भेदोंसे तीन प्रकार है, और अनन्तानु-बन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ चार भेद प्रथम कषायके हैं । इस प्रकार ये सात भेद दर्शनमोहनीयके हैं । **भावार्थ**—मूलमें दर्शनमोहनीयका एक ही भेद है—मिथ्यात्व । पीछे प्रथमोपशम सम्यक्त्वके होनेपर उस मिथ्यात्वके तीन टुकड़े हो जाते हैं । एक सम्यक्त्व प्रकृति, दूसरा-सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति, तीसरा मिथ्यात्वप्रकृति, ये तीन टुकड़े ऐसे ही होते हैं जैसे धान्यको पीसनेसे उसके तीन टुकड़े होते हैं, एक तो छिलकारूप, दूसरा सूक्ष्म कण-रूप तीसरा मध्यमका सारभूत अंश—मिगीरूप । जिस प्रकार छिलकेमें पुष्ट करनेकी शक्ति नहीं है, उसी प्रकार सम्यक्त्वप्रकृतिमें भी सम्यग्दर्शनको घात करनेकी पूर्ण शक्ति नहीं है तो भी उसमें चलता, मलिनता आदि दोष उत्पन्न करनेकी अवश्य थोड़ीसी शक्ति है । सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होनेपर सम्यग्दर्शनका घात नहीं होता है किन्तु उस समय क्षायो-पशमिक सम्यक्त्व होता है । जिस प्रकार सूक्ष्म धान्यकणमें पुष्ट करनेकी शक्ति है उसी

प्रकार सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिमें भी सम्यग्दर्शनको घात करनेकी* शक्ति है, सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमें सम्यग्दर्शनका घात होकर तीसरा गुणस्थान इस जीवके हो जाता है। जिस प्रकार धान्यका बीचका अंश पूर्ण पुष्टता उत्पादक है उसी प्रकार मिथ्यात्वप्रकृति भी पूर्णतासे सम्यग्दर्शनकी घातक है। इस प्रकृतिके उदयमें जीवके पहला गुणस्थान रहता है। इस प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति एकरूप होनेपर भी तीन भेदोंमें बँट जाती है इसलिये दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं। यद्यपि अनन्तानुबन्धि कषाय चारित्र मोहनीयके भेदोंमें परिगणित है तथापि इस कषायमें दो शक्तियां होनेसे इस दर्शन मोहनीयके भेदोंमें भी गिनाया गया है। अनन्तानुबन्धि कषायमें स्वरूपाचरण चारित्रको घात करनेकी भी शक्ति है और सम्यग्दर्शनको घात करनेकी भी शक्ति है। क्योंकि अनन्तानुबन्धि कषायकी किसी अन्यतम प्रकृतिका उदय होनेपर इस जीवके सम्यग्दर्शन गुणका घात होकर दूसरा गुणस्थान—सासादन होजाता है। इसलिये इसको दर्शन मोहनीयमें भी परिगणित किया गया है। इस प्रकार ऊपर कही हुई सात प्रकृतियां दर्शन मोहनीयकी हैं।

दर्शनमोहनीय कर्मका फल—

दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोस्ति जन्मिनः।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः॥ ९८८॥
अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मणः।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्वं गुणं नयति विक्रियाम्॥ ९८९॥

अर्थ—इस जीवके दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यारूप परिणाम होता है। वह मिथ्याभाव ही औदयिक भाव है और वही सम्यग्दर्शनका घात करनेवाला है। यह भाव

---

* यद्यपि यह प्रकृति सम्यग्दर्शनकी पूर्ण घातक है तथापि इसके उदयमें जीवके मिथ्यात्वरूप परिणाम नहीं होते हैं, किन्तु मिश्रित परिणाम होते हैं, इसी लिये इसे जात्यन्तर सर्वघाती प्रकृति बतलाया गया है।

सम्मामिच्छुदयेणय जत्तंतर सव्वघादिकज्जेण।
णय सम्मं मिच्छंपिय सम्भिस्सो होदि परिणामो॥
दहिगुडमिव वा मिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सय भावो सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो।

अर्थात् सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेपर न तो सम्यग्दर्शन रूप ही परिणाम होते हैं और न मिथ्यात्वरूप ही परिणाम होते हैं किन्तु मिले हुए दोनों ही रूप परिणाम होते हैं जिस प्रकार कि दही और गुड़के मिलनेसे खट्टे और मीठेका मिश्रित स्वाद आता है यद्यपि मिश्र प्रकृति वैभाविक भाव है तथापि मिथ्यात्व रूप वैभाविक भावसे हलका है।

गोमट्टसार।

आत्मासे कठिनतासे दूर होता है। जीवके शुद्ध सम्यग्दर्शन गुणको विपरीत स्वादु कर देना इस दर्शन मोहनीय कर्मका स्वभाव है। अर्थात् सम्यग्दर्शन गुणको मिथ्यादर्शन रूप करदेना दर्शन मोहनीय कर्मका कार्य है।

दृष्टान्त—

यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति ।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात् ॥ ९९० ॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा पीनेवाले पुरुषकी बुद्धि मदिराका नशा चढ़नेपर भ्रष्ट होजाती है। वह पुरुष शंखादि सफेद पदार्थोंको भी विभ्रमसे पीलेही देखता है—समझता है।

दार्ष्टान्त—

तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह ।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयमनुते कुदृक् ॥ ९९१ ॥

अर्थ—उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि पुरुष इस संसारमें जो आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं उन्हें भी अपने (आत्माके) मानता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि भिन्न पदार्थोंमें आत्मीयत्व बुद्धि करता है।

यापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ्मोहस्योदयो यथा ।
निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः ॥ ९९२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्शन मोहनीय कर्मका उदय सम्यग्दर्शन गुणका लोप कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मका उदय भी आत्माके ज्ञान गुणको ढक देता है। **भावार्थ**—यहांपर लुम्पति, क्रियाके दो आशय हैं (१) दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक्त्वका लोप करता है उसे छिपा देता है किन्तु उसका नाश नहीं करता है, क्योंकि नाश किसी गुणका होता ही नहीं है (२) लोप करता है, सम्यक्त्वको सर्वथा छिपा देता है अर्थात् उसे विकृत बना देता है, उस रूपमें उसे नहीं रहने देता है। परन्तु ज्ञानावरण कर्म ज्ञानको रोकता है विकृत नहीं करता, इसी लिये निरुणद्धि क्रिया दी है।

यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात् ।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ॥ ९९३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञानका नाश होजाता है उसी प्रकार दर्शनावरण कर्मके उदयसे दर्शनका नाश होजाता है। **भावार्थ**—यहां पर ज्ञान और दर्शनके नाशसे उनके नष्ट होनेका तात्पर्य नहीं है किन्तु उन गुणोंके ढक जानेसे तात्पर्य है, वास्तव दृष्टिसे नतो किसी गुणका नाश होता है और न किसी गुणका उत्पाद ही होता है किन्तु पर्यायकी अपेक्षासे गुणोंके अंशोंमें हीनाधिकता होती रहती है वह हीनाधिकता भी आविर्भाव तिरोभाव रूप होती है। वास्तवमें सभी गुण नित्य हैं इसी आशयको नीचे प्रकट करते हैं।

यथा धाराधराकारैः गुण्ठितस्यांशुमालिनः ।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात् स्वतोपि वा ॥ ९९४ ॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्यदृष्टिसे सूर्यका प्रकाश सदा सूर्यके साथ है उसका कभी अभाव नहीं हो सक्ता है तथापि मेघोंसे आच्छादित होनेपर सूर्यका प्रकाश छिप अवश्य जाता है। **भावार्थ**–उसी प्रकार ज्ञानादि गुण सदा आत्माके साथ हैं अथवा आत्मस्वरूप हैं उनका कभी नाश नहीं हो सक्ता है तथापि ज्ञानावरणादि कर्मोंके निमित्तसे वे ढक अवश्य जाते हैं।

अज्ञान औदयिक नहीं है—

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह ।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ॥ ९९५ ॥

अर्थ—जो ज्ञान ही रूढिवश अज्ञान कहा जाता है वह औदयिक नहीं है किन्तु निश्चयसे क्षायोपशमिक है। **भावार्थ**—यहांपर अज्ञानसे तात्पर्य मन्दज्ञानसे है। प्रायः मन्दज्ञानीको अज्ञानी अथवा मन्द ज्ञानको अज्ञान कह दिया जाता है, वह अज्ञान औदयिक भाव नहीं है किन्तु क्षायोपशमिक भाव है तथा मिथ्यादृष्टिका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है वह भी क्षायोपशमिक ही है। क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है। जो अज्ञानभाव औदयिक भावोंमें गिनाया गया है वह कर्मके उदयकी अपेक्षासे है।

अथास्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृतम् ।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेत्तुं नालं मूर्छितजन्तुवत् ॥ ९९६ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मोंमें एक केवल ज्ञानावरण कर्म भी है, वह केवलज्ञानावरण कर्म आत्माके स्वाभाविक केवलज्ञान गुणको ढक लेता है। आवरणसे ढक जानेपर वह ज्ञान मूर्छित पुरुषकी तरह अपने स्वरूप और अनिश्चित पदार्थोंको जाननेके लिये समर्थ नहीं रहता है।

अथवा—

यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्वान्तपर्ययम् ।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम् ॥ ९९७ ॥

अर्थ—अथवा अवधिज्ञान वा मनःपर्ययज्ञान ये भी अपने २ आवरकसे जब आवृत होते हैं अर्थात् ढके जाते हैं तब अर्थक्रिया करनेमें अर्थात् पदार्थोंके जाननेमें समर्थ नहीं रहते हैं।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतम् ।
यथावतोदयांशेन स्थितं तावदपन्हुतम् ॥ ९९८ ॥

अर्थ— इसी प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी अपने २ आवरणसे आच्छादित होते हैं, और उनके आवरक कर्मका जितने अंशोंमें उदय रहता है उतने ही अंशोंमें ज्ञान भी तिरोभूत (ढका हुआ) रहता है।

क्षायिक भाव—

यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम्।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात्॥ ९९९॥

अर्थ—जो केवलज्ञान है वह प्रकटरीतिसे सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रकाशक है वह अपने सम्पूर्ण आवरणोंके क्षय होनेसे होता है इसलिये वही क्षायिक भाव है।

कर्मोंके भेद प्रभेद—

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक्।
अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया॥ १०००॥

अर्थ—कर्मोंके मूल भेद आठ प्रसिद्ध हैं और उनके उत्तर भेद एकसौ अड़तालीस हैं। **भावार्थ**—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूल भेद कर्मोंके प्रसिद्ध हैं। उत्तर भेद १४८ इस प्रकार हैं-ज्ञानावरण के ५ भेद, दर्शनावरणके ९ भेद, वेदनीयके २ भेद, मोहनीयके २८ भेद, आयुके ४ भेद, नामके ९३ भेद, गोत्रके २ भेद, और अन्तरायके ५ भेद।

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम्॥
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम्॥ १००१॥

अर्थ—ये ही कर्म उत्तरोत्तर भेदोंसे असंख्यात लोक प्रमाण हैं, और सर्व कर्म समूह शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त भी हैं।

घातिया कर्म—

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया।
घातकत्वाद्गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः॥ १००२॥

अर्थ—उन मूल कर्मोंमें चार घातिया कर्म हैं, और घातिया संज्ञा उनके लिये अर्थानुकूल ही है, क्योंकि जीवके गुणोंका वे कर्म घात करनेवाले हैं ऐसा सिद्धान्त है।

अघातिया कर्म—

ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघाति विवक्षया।
गुणानां घातका भावशक्तेरप्यात्मशक्तेः॥ १००३॥

अर्थ—घातिया कर्मोंसे बचे हुए बाकीके चार कर्म अघातिया कहलाते हैं। ये कर्म

गुणोंके घात करनेकी शक्ति नहीं रखते हैं तो भी विवक्षावश* अपनी कर्मत्व, शक्ति रखते ही हैं। भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय ये चार कर्म घातिया हैं, और वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र ये चार अघातिया हैं। घातिया कर्म तो साक्षात् आत्माके गुणोंका घात करते ही हैं परंतु अघातिया कर्म आत्माके गुणोंका घात नहीं करते हैं, किन्तु घातिया कर्मोंके सहायक अवश्य हैं। तथा अरहन्त भगवानको बिना अघातिया कर्मोंके नष्ट हुए मुक्तिका लाभ नहीं हो पाता, इसलिये अघातिया कर्म कर्मत्व, शक्ति अवश्य रखते हैं।

ज्ञानावरण—

एवमर्थवशान्नूनं सन्त्यनेके गुणाश्रितः।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्वं चेतनावरणं किल॥ १००४॥

अर्थ—इस प्रकार प्रयोजनवश आत्माके अनेक गुण कल्पना किये जा सकते हैं अर्थात् यदि कर्मोंके मूल भेद आठ ही रक्खे जायें तो आत्मामें आठ कर्मोंसे आच्छादित सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन वीर्य सूक्ष्म अवगाहन अगुरुलघु अव्याबाध ये आठ गुण कल्पना किये जाते हैं। यदि कर्मोंके एकसौ अड़तालीस या उससे भी अधिक भेदोंकी अपेक्षा की जाय तो कर्मोंके भेदानुसार आत्माके अधिक गुण कल्पना किये जाते हैं जैसे कि ज्ञानावरणके पांच भेद होनेसे ज्ञानके भी मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि पांच भेद मान लिये जाते हैं इसी प्रकार आत्मगुणोंकी हीनाधिक कल्पनासे कर्मोंमें भी हीनाधिकता मानी जाती है। जैसे यदि चेतना गुणके ज्ञान दर्शन इन दो भेदोंकी पृथक् पृथक् कल्पना न करके केवल चेतना गुणकी ही अपेक्षा की जाय तो उस गुणका प्रतिपक्षी कर्म भी चेतनावरण एक ही माना जायगा और फिर ज्ञानावरण दर्शनावरणको अलग अलग माननेकी आवश्यकता न होगी।

दर्शनावरण—

दर्शनावरणंप्येष क्रमो ज्ञेयोऽस्ति कर्मणि।
आवृतेरविशेषाद्वा चिद्गुणस्यानतिक्रमात्॥ १००५॥

अर्थ—यही क्रम दर्शनावरण कर्ममें भी जानना चाहिये जिस प्रकार चेतना आत्माका गुण है और उसको आवरण करनेवाला कर्म चेतनावरण कहलाता है उसी प्रकार दर्शन भी आत्माका गुण है और उसको आवरण करनेवाला कर्म भी दर्शनावरण कहलाता है।

दर्शन मोहनीय—

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते॥ १००६॥

---

* अघातिया कर्म यद्यपि अनुजीवी गुणोंका घात नहीं करते हैं तथापि प्रतिजीवी गुणोंका अवश्य घात करते हैं, यही विवक्षाका आशय विदित होता है।

अर्थ—ज्ञान, दर्शनके समान आत्माका सम्यग्दर्शन गुण भी है, और उस सम्यग्दर्शन गुणको मूर्छित करनेवाला कर्म भी दर्शनमोहनीय कहलाता है।

दर्शनमोहनीय कर्म अन्तर्भावी नहीं है—

नैतत्कर्मापि तत्तुल्यमन्तर्भावीति न क्वचित् ।
तद्द्वयावरणादेतदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥ १००७ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरणके समान यह कर्म भी कहींपर अन्तर्भूत नहीं हो सक्ता है क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरणसे यह सर्वथा जुदा है इसलिये तीसरा ही कर्म इसे मानना चाहिये।

सारांश—

ततः सिद्धं यथा ज्ञानं जीवस्यैको गुणः स्वतः ।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुणः स्वतः ॥ १००८ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिस प्रकार जीवका एक स्वतःसिद्ध ज्ञान गुण है उसी प्रकार जीवका स्वतःसिद्ध एक सम्यग्दर्शन भी गुण है।

अतएव—

पृथगुद्देश एवास्य पृथक् लक्ष्यं च लक्षणम् ।
पृथग्दृङ्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥ १००९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनका भिन्न स्वरूप है, भिन्न ही लक्ष्य है, भिन्न ही लक्षण है, और भिन्न ही दर्शनमोहनीय कर्म है फिर किस नयसे इस कर्मका कहीं पर अन्तर्भाव (गर्भितपना) हो सक्ता है ? अर्थात् कहीं पर नहीं हो सक्ता।

चारित्र मोहनीय—

एवं जीवस्य चारित्रं गुणोस्त्येकः प्रमाणसात् ।
तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम् ॥ १०१० ॥

अर्थ—इसी प्रकार जीवका एक प्रमाणसिद्ध गुण चारित्र भी है, उस चारित्र गुणको जो कर्म मूर्छित करता है उसीको चारित्रमोहनीय कहते हैं।

अन्तराय—

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोस्त्येकस्तदादिवत्
तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत् ॥ १०११ ॥

अर्थ—पहले गुणोंके समान जीवका एक वीर्य नामक भी गुण है, उस वीर्य गुणमें जो अन्तर डालता है उसे ही अन्तराय कर्म कहते हैं। भावार्थ-आत्माकी वीर्य शक्तिको रोकनेवाला अन्तराय कर्म है।

सारांश—

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणश्चितः ।
तथाऽनन्ता गुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १०१२ ॥

अर्थ—यहांपर इतना ही तात्पर्य है कि जिस प्रकार आत्माका ज्ञान गुण है उसी प्रकार अनन्त गुण हैं । ये सभी गुण युक्ति, स्वानुभव और आगमसे सिद्ध हैं । **भावार्थ**—यहांपर अन्यान्य अनन्तगुणोंकी सिद्धिमें ज्ञान गुणका दृष्टान्त दिया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि आत्माके अनन्तगुणोंमें एक ज्ञान गुण ही ऐसा है जो कि स्पष्टतासे प्रतीत होता है, अन्यान्य गुणोंका विवेचन भी इसी ज्ञान गुणके द्वारा किया जाता है । सभी गुण निर्विकल्पक हैं, एक ज्ञान गुण ही सविकल्पक है । इसीलिये पहले कहा जा चुका है कि "ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः । सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः । ततो वक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः । तदुल्लखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते" अर्थात् ज्ञानके विना सभी गुण सत्तामात्र हैं, चाहे सामान्य गुण हों चाहे विशेष गुण हों सभी निर्विकल्पक हैं, निर्विकल्पक वस्तु कही नहीं जा सक्ती है इसलिये ज्ञानके द्वारा उसका निरूपण किया जाता है । इस कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि सब गुणोंसे ज्ञान गुणमें विशेषता है और यह बात हरएकके अनुभवमें भी आजाती है कि ज्ञान गुण ही प्रधान है इसीलिये ज्ञानको दृष्टान्त बनाकर इतर गुणोंका उल्लेख किया गया है ।

एक गुण दूसरे गुणमें अन्तर्भूत नहीं है—

न गुणः कोपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित् ।
नाधारोपि च नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥ १०१३ ॥

अर्थ—कोई भी गुण कभी किसी दूसरे गुणमें अन्तर्भूत नहीं हो सक्ता है अर्थात दूसरे गुणमें मिल नहीं जाता है, और न एक गुण दूसरे गुणका आधार ही है और न आधेय ही है, न हेतु ही है और न हेतुमान् (साध्य) ही है ।

किन्तु—

किन्तु सर्वोपि स्वात्मीयः स्वात्मीयः शक्तियोगतः ।
नानारूपा ह्यनेकेपि सता सम्मिलिता मिथः ॥ १०१४ ॥

अर्थ—किन्तु सभी गुण अपनी अपनी भिन्न २ शक्तिके धारण करनेसे भिन्न भिन्न अनेक हैं, और वे सब परस्पर पदार्थके साथ तादात्म्य रूपसे मिले हुए हैं । **भावार्थ**—इन दोनों श्लोकोंमें गुणोंको भिन्न २ बतलाते हुए भी पदार्थके साथ उनका सम्मेलन बताया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें पदार्थ और गुण भिन्न २ वस्तु नहीं है, जो

पदार्थ है सो ही गुण हैं और जो गुण हैं सो ही पदार्थ हैं अर्थात् गुणोंका समूह ही पदार्थ है और एक पदार्थमें रहनेवाले अनन्तगुणोंकी एक ही सत्ता है इसलिये सभी गुण परस्परमें अभिन्न हैं, और अभिन्नताके कारण ही एक गुणके कहनेसे सभी अनन्तगुणोंका ग्रहण हो जाता है, जीवको ज्ञानी कहनेसे सम्पूर्ण जीवका ही ग्रहण होता है, परन्तु एक२ गुणका भिन्न२ कार्य है, भिन्न२ कार्य होनेसे उन गुणोंके भिन्न लक्षण किये जाते हैं, इस प्रकार भिन्न२ लक्षणोंवाली भिन्न२ अनन्त शक्तियां जलमें जलकल्लोलकी तरह कभी उदित कभी अनुदित होती रहती हैं। सारांश यह है कि द्रव्यसे भिन्न गुणोंकी विवक्षा करनेसे (भेद विवक्षा करनेसे) सभी गुण भिन्न हैं, उनमें परस्पर आधार—आधेय भाव, हेतु हेतुमद्भाव आदि कुछ भी उस समय नहीं है तथा अभेद विवक्षा करनेसे वे सभी गुण अभिन्न हैं। जो एक गुणका आधार है वही इतर सब गुणोंका आधार है, जो एक गुणकी सत्ता है वही इतर सब गुणोंकी सत्ता है, जो एक गुणका काल है वही सब गुणोंका काल है आदि सभी बातें सबोंकी एक ही हैं। इसी बातको 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' यह सूत्र प्रकट करता है। अर्थात् जो द्रव्यके आश्रयसे रहें और निर्गुण हों उन्हें गुण कहते हैं, यहांपर आचार्यने दोनों बातोंको बतला दिया है 'द्रव्याश्रया' कहनेसे तो गुण और द्रव्यमें अभेद बतलाया है, + जिस समय किसी एक गुणका विवेचन किया जाता है तो उस समय बाकीका गुण समुदाय (द्रव्य) उसका आश्रय पड़ जाता है, इसी प्रकार चालिनी न्यायसे सभी गुण सभी गुणोंके आधारभूत हो जाते हैं क्योंकि गुण समुदायको छोड़कर और कोई द्रव्य पदार्थ नहीं है और निर्गुणा कहनेसे गुणोंमें परस्पर भेद बतलाया है। एक गुणकी विवक्षासे वही उसका आधार है वही उसका आधेय है। एक गुण दूसरे गुणमें नहीं रहता है इसलिये गुण परस्परमें कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न भी हैं। लक्षण भेदादिकी अपेक्षासे भिन्न हैं, तादात्म्य सम्बन्धकी अपेक्षा अभिन्न हैं हरएक पदार्थकी सिद्धि अनेकान्तके अधीन है, अपेक्षा पर दृष्टि न रखनेसे सभी कथन अव्यवस्थित प्रतीत होता है। इसी बातको पूर्वार्द्धमें स्पष्ट किया गया है "तन्नयतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः। सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात्" अर्थात् अनेकान्त ही बलवान् है सर्वथा एकान्त ठीक नहीं है, अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध हो जाता है और उसके विना सभी विरुद्ध हो जाता है।

गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात्।
गुणाः केचित् समुद्दिष्टाः प्रसिद्धाः पूर्वसूरिभि॥ १०१५॥

+ 'द्रव्याश्रयाः' का यह भी आशय है कि द्रव्यके आश्रयसे गुण अनादि अनन्तकाल रहते हैं।

अर्थ-- गुण अनन्त हैं, सब कहे नहीं जा सक्ते हैं। उनमेंसे कुछ अधिक भी यदि कहे जायं तो भी वचन गौरव होता है इसलिये पूर्वाचार्योंने उनमेंसे प्रसिद्ध कुछ गुणोंका निरूपण किया है।

यस्पुनः क्वचित् कस्यापि सीमाज्ञानमनेकधा ।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत् समम् ॥ १०१६ ॥
तत्तदावरणस्योच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः ॥
स्याद्यथालक्षि तद्भावात्स्यादत्राप्यपरा गतिः ॥ १०१७ ॥

अर्थ—जो कहीं किसीके अवधिज्ञान होता है वह भी अनेक प्रकार है, इसी प्रकार मनःपर्यय ज्ञान भी अनेक प्रकार है, इन दोनोंको समान ही समझना चाहिये। दोनोंही अपने २ आवरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे होते हैं और कभी २ यथायोग्य भावोंके अनुसार उनकी दूसरी भी गति होती है। भावार्थ- अवधिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे अवधिज्ञान होता है, परन्तु देव और नारकियोंके भव प्रत्यय भी अवधिज्ञान होता है भवप्रत्ययसे होनेवाला अवधिज्ञान तीर्थंकरके भी होता है, अपवाद नियमसे तीर्थंकरका ग्रहण होता है। यद्यपि भवप्रत्यय अवधिमें भी क्षयोपशम ही अन्तरंग कारण है तथापि बाह्य कारणकी प्रधानतासे भव प्रत्ययको ही मुख्य कारण कहा गया है। देव नारक और तीर्थंकर पर्यायमें नियमसे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो जाता है, इसलिये भवकी प्रधानतासे भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक ऐसे अवधिज्ञानके दो भेद किये हैं। और भी अनेक भेद हैं। अवधिज्ञान भवसे भवान्तर और क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर जाता है उसे अनुगामी कहते हैं, कोई नहीं जाता है उसे अननुगामी कहते हैं, कोई अवधिज्ञान विशुद्ध परिणामोंकी वृद्धिसे बढ़ता है और बाल सूर्यके समान बढ़ता ही चला जाता है उसे वर्धमान कहते हैं, कोई संक्लेश परिणामोंके निमित्तसे घटता ही चला जाता है उसे हीयमान कहते हैं, कोई समान परिणामोंसे ज्योंका त्यों बना रहता है उसे अवस्थित कहते हैं, और कोई अवधिज्ञान कभी विशुद्ध परिणामोंसे बढ़ता है, कभी संक्लेश परिणामोंसे घटता भी है उसे अनवस्थित कहते हैं। कर्मोंके क्षयोपशमके भेदसे अवधिज्ञानके भी अनेक भेद हो जाते हैं, जैसे देशावधि, परमावधि, सर्वावधि,। देशावधिके भी अनेक भेद हैं, इसी प्रकार परमावधि और सर्वावधिके भी अनेक भेद हैं। इतना विशेष है कि परमावधि और सर्वावधि ये दो ज्ञान चरम शरीरी विरतके ही होते हैं। छठे गुणस्थानसे नीचे नहीं होते हैं। सर्वावधिज्ञान क्षेत्रकी अपेक्षा तीनों लोकोंको विषय करता है, द्रव्यकी अपेक्षा एक पुद्गल परमाणु तक विषय करता है * इस प्रकार अवधिज्ञानका बहुत बड़ा

* यह कथन गोम्मटसारकी अपेक्षासे है।

विस्तार है। कभी मिथ्यात्वोदयके साथ होनेसे कु-अवधिज्ञान (विभंगज्ञान) भी हो जाता है यह भी "अपरागति" का आशय है। अवधिज्ञानके समान मनःपर्यय ज्ञानके भी अनेक भेद हैं। इतना विशेष है कि चाहे ऋजुमती मनःपर्यय ज्ञान हो, चाहे विपुलमती हो, छठे गुणस्थानसे नीचे होता ही नहीं है। विपुलमती मनःपर्यय तो एकवार होकर छूटता भी नहीं है, वह चरम शरीरीके होता हुआ भी अप्रतिपाती है अर्थात् फिर गिरता नहीं, नियमसे बारहवें गुणस्थान तक जाता है। हां ऋजुमतीवाला गिर भी जाता है। बहुतसे मनुष्य ऐसी शंका करते हैं कि ऋजुमती मनःपर्यय ज्ञान ईहामतिज्ञान पूर्वक होता है और ईहा-मतिज्ञान इंद्रियजन्य ज्ञान है इसलिये यह भी इन्द्रियजन्य हुआ। ऐसी शंका करनेवालोंको यह जान लेना चाहिये कि ईहा मतिज्ञान वहां पर केवल बाह्यमें आपेक्षिक है, वास्तवमें ऋजुमती मनःपर्यय तो मनमें ठहरी हुई बातका साक्षात्कार करता है, इन्द्रिय जन्य ज्ञान पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं कराता है। मनःपर्यय ज्ञानमें तो पदार्थका आत्म प्रत्यक्ष हो जाता है इसलिये उक्त शंका निर्मूल है। मनःपर्यय ज्ञान क्षेत्रकी अपेक्षा ढाई द्वीप तक ही जान सक्ता है आगे नहीं। द्रव्यकी अपेक्षा अवधिज्ञानके विषयभूत पदार्थके अनन्तवें भाग जान सक्ता है। मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मके भेदोंकी अपेक्षासे मनःपर्यय ज्ञानके भी अनेक भेद हो जाते हैं, परन्तु अवधिज्ञानकी तरह इसमें मिथ्यापन नहीं आता है।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सदातनम् ।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथा हेतूपलब्धिसात् ॥ १०१८ ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों तो इस जीवके संसारावस्थामें सदा ही रहते हैं, इतना विशेष है कि जैसा निमित्त कारण मिल जाता है वैसे ही इन ज्ञानोंमें भी तरतम भाव होता रहता है।

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत् ।
क्षायोपशमिकं तावदस्ति नौदयिकं भवेत् ॥ १०१९ ॥

अर्थ—पदार्थोंके ग्रहण करनेकी शक्ति रखनेवाला जितना भी ज्ञान है वह सब क्षायोपशमिक ज्ञान है, औदयिक नहीं है।

सु-अवधि और कु-अवधि—

अस्ति द्वेधावधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात् ।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥ १०२० ॥

अर्थ—किसी कारणवश अवधिज्ञानके दो भेद हो जाते हैं। सम्यक् अवधिको ज्ञान कहते हैं तथा मिथ्या-अवधिको अज्ञान कहते हैं। भावार्थ—ज्ञानसे तात्पर्य सम्यग्ज्ञानका

है। जो ज्ञान मिथ्यादर्शनके उदयके साथ होता है उसे ही मिथ्या अवधि कहते हैं। सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाले अवधिज्ञानको सम्यक् अवधि कहते हैं। प्रायः अवधिज्ञान कहनेसे सम्यक् अवधिका ही ग्रहण किया जाता है। मिथ्या अवधिको विभङ्गज्ञान शब्दसे उच्चारण किया जाता है।

मति श्रुत भी दो प्रकार है—

अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद्द्विधा ।
सम्यक् मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥१०२१॥

अर्थ—मतिज्ञान भी दो प्रकार है और श्रुतज्ञान भी दो प्रकार है, एक ज्ञान एक अज्ञान। सम्यग्ज्ञानको ज्ञान कहते हैं, और मिथ्याज्ञानको अज्ञान कहते हैं।

त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः । *
क्षायोपशमिकं तत्स्यान्नस्यादौदयिकं क्वचित् ॥ १०२२ ॥

अर्थ—इन तीनों ज्ञानोंमें अर्थात कुमति, कुश्रुत, कुअवधिमें जो अज्ञान है वह वास्तवमें क्षायोपशमिक ज्ञान है वह अज्ञान कहीं औदयिक नहीं है। भावार्थ-मिथ्याज्ञान भी अपने अपने आवरणोंके क्षयोपशमसे ही होते हैं इसलिये वे भी क्षायोपशमिक भाव हैं, वे मिथ्यादर्शनके उदयके साथ होते हैं इसीलिये मिथ्याज्ञान कहलाते हैं। मिथ्यात्वके उदयसे उसके अविनाभावी ज्ञान भी पदार्थको विपरीत रूपसे ही जानते हैं। परन्तु जानना क्षायोपशमिक ज्ञान है।

औदयिक अज्ञान—

अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम् ।
तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥ १०२३ ॥

अर्थ—जो अज्ञानभाव औदयिक भावोंमें कहा गया है वह शून्यतारूप है, जैसे कि चेतनके निकल जानेपर शरीर रह जाता है। भावार्थ जीवके इकीस औदयिक भावोंमें अज्ञान भी है। वह अज्ञानभाव जीवकी औदयिक अवस्था है। जब तक इस आत्मामें सर्व पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है अर्थात् जबतक केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है तब तक उसके अज्ञानभाव रहता है। यह भाव ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होता है। पदार्थ विषयक अज्ञान होना ही उसका स्वरूप है। अर्थात् जितने अंशोंमें ज्ञानावरण कर्मका उदय रहता है उतने ही अंशोंमें अज्ञान भाव रहता है, जैसे अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्मोंका आजकल यहांपर सब जीवोंके उदय हो रहा है इसलिये वे सब अज्ञान भाव सहित हैं। वह अज्ञान क्षायोपशमिक नहीं है, यदि वह क्षायोपशमिक

* संशोधित पुस्तकमें 'यदज्ञानत्वमर्थतः' ऐसा पाठ है। क्योंकि अज्ञानोंमें अज्ञानत्व-धर्म रहता है।

होता तो औदयिक भावोंमें नहीं गिनाया जाता, इसका कारण भी यही है कि क्षायोपशमिक ज्ञान भी आत्माका गुण है, जितने अंशोंमें भी ज्ञान प्रकट होजाता है वह आत्माका गुण ही है, और जो आत्माका गुण है वह औदयिकभाव हो नहीं सकता, क्योंकि उदय तो कर्मोंका ही होता है, कहीं आत्माके गुणोंका उदय नहीं होता है। इसलिये कर्मोंके उदयसे होनेवाली आत्माकी अज्ञान अवस्थाको ही अज्ञानभाव कहते हैं वही अज्ञान औदयिक है। जो भाव ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इसलिये ही कुमति, कुश्रुत और कुअवधिको क्षायोपशमिक भावोंमें शामिल किया गया है।

सारांश—

एतावतास्ति यो भावो दृङ्मोहस्योदयादपि।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोप्यौदयिकः स हि॥ १०२४॥

अर्थ—इस कथनसे यह बात भी सिद्ध हुई कि जो भाव दर्शन मोहनीयके उदयसे होता है और जो भाव चारित्र मोहनीयके उदयसे होता है वह सभी औदयिक है।

तथा—

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम्।
यावाँस्तत्रोदयाज्जातो भावोस्त्यौदयिकोऽखिलः॥ १०२५॥

अर्थ—इसी प्रकार और भी मोहको आदि लेकर जितने घातिया कर्म हैं उन सबके उदयसे जो आत्माका भाव होता है वह सब भी न्यायानुसार औदयिक भाव है।

विशेष—

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रोदितो यथा।
वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोपि लौकिकः॥ १०२६॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनमें इतना समझ लेना और अच्छा है कि घातिया कर्मोंमें मोहनीय कर्मके उदयसे जो भाव होता है वही वैकृत (वैभाविक) भाव है। बाकीके सभी कर्मोंके उदयसे जो भाव होता है वह लौकिक है। भावार्थ—वास्तवमें जो भाव मोहनीय कर्मके उदयसे होता है वही विकारी है। वही भाव आत्माकी अशुद्धताका कारण है, उसीसे सम्पूर्ण कर्मोंका बन्ध होता है और उसीके निमित्तसे यह आत्मा अशुद्ध रूप धारण करता हुआ अनन्त संसारमें भ्रमण करता रहता है, बाकीके कर्म अपने प्रतिपक्षी गुणको ढकते मात्र हैं। न तो वे कर्मबन्ध ही करनेमें समर्थ हैं और न उस जातिकी अशुद्धता ही करते हैं।

स यथाऽनादिसन्तानात् कर्मणोऽच्छिन्नधारया।
चारित्रस्य दृशश्च स्यान्मोहस्यास्त्युदयाच्चितः॥ १०२७॥

अर्थ—वह विकृत-मोहरूप भाव दर्शनमोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होता है। इन दोनों कर्मोंका उदय बराबर अनादि सन्तति रूपसे संसारी जीवोंके हो रहा है। इन्हीं दोनों कर्मोंके उदयसे आत्माकी जो विकारावस्था हो रही है उसे ही मोहरूप औदयिक भाव कहते हैं।

तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृङ्मोहस्योदये सति।
तत्त्वस्याऽप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम् ॥ १०२८ ॥

अर्थ—सूत्रानुसार उस दर्शनमोहनीयके विषयमें ऐसा उल्लेख (कथन) है कि दर्शन-मोहनीय कर्मके उदय होनेपर जीवोंको तत्त्वकी प्रतीति (श्रद्धान) नहीं होती है अथवा मिथ्या प्रतीति होती है। **भावार्थ**—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेपर इस जीवकी विपरीत ही बुद्धि हो जाती है। उसे उपदेश भी दिया जाय तो भी ठीक पदार्थोंको वह ग्रहण नहीं करता है, यदि करे भी तो उल्टे रूपसे ही ग्रहण करता है। मिथ्यात्वका ऐसा ही माहात्म्य है*

इसीका खुलासा—

अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात्।
तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात् ॥ १०२९ ॥

अर्थ—अर्थात् सम्यग्दर्शनकी विपरीत अवस्था हो जानेसे आत्माके प्रदेशोंमें कलुषता आ जाती है और वह कलुषता आत्माका मिथ्यात्वरूप परिणाम विशेष है।

तत्र सामान्यमात्रत्वादस्ति वक्तुमशक्यता।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपाद्बुद्धिपूर्वकम् ॥१०३०॥

अर्थ—वह मिथ्यात्वरूप परिणाम सामान्य स्वरूपवाला है इसलिये उसके विषयमें कहा नहीं जासकता। अतएव बुद्धिपूर्वक उसका लक्षण संक्षेपसे कहते हैं। **भावार्थ**—एकेन्द्रियादि जीवोंके जो मिथ्यात्वका उदय हो रहा है वह अबुद्धिपूर्वक है—सामान्य है इसलिये विवेचनमें नहीं आ सकता है। अतः उसका बुद्धिपूर्वक लक्षण संक्षेपसे कहा जाता है।

अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी सिद्धि—

निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता।
स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः ॥ १०३१ ॥

अर्थ—सामान्य अर्थात् अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी किसी हेतुसे असिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व स्वसंवेदन ज्ञानसे भलीभांति सिद्ध है। तथा युक्ति, अपने

* मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं। गोम्मटसार।

अनुभव और आगमसे भी सिद्ध है। भावार्थ—हर एक संसारी जीवके मिथ्यात्वका उदय हो रहा है यह बात आगमसे तो सिद्ध है ही, किंतु युक्ति और अपने अनुभवसे भी सिद्ध है। इसी बातको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते हैं—

सर्वसंसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम् ।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषाञ्चित् संज्ञिनां मनः ॥ १०३२ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवोंके निरन्तर मिथ्याभाव होरहा है, परन्तु किन्हीं संज्ञी जीवोंका मन उस मिथ्याभावकी ओर विशेष उपयोगवाला हो रहा है। **भावार्थ**—यद्यपि सामान्य रीतिसे असंज्ञी जीवों तक तो सभीके मिथ्यात्व कर्मका उदय होरहा है, संज्ञियोंमें भी बहु भाग जीव मिथ्यात्वसे ग्रसित होरहे हैं, वे सभी उस मिथ्यात्वके उदयसे उसी प्रकार मूर्छित होरहे हैं जिस प्रकार कि गाढ़ रीतिसे मदिरा पीनेवाला मूर्छित होजाता है। जिस प्रकार मद्यपायी पुरुषको कुछ खबर नहीं रहती है उसी प्रकार उन जीवोंको भी कुछ खबर नहीं है, कर्मोंके फलको भोगते जाते हैं और नवीन कर्मोंका बन्ध भी करते जाते हैं। अनन्त कालतक उनकी ऐसी ही अवस्था रहती है। वे अपने समीचीन गुण पुञ्जको खोचुके हैं, निपट अज्ञानी भी बन चुके हैं, परन्तु उनकी यह अवस्था अज्ञानभावोंमें ही लिप्त रहती है असंज्ञी जीव कर्मबन्ध करनेमें तथा उसका फल भोगनेमें बुद्धिपूर्वक उपयुक्त नहीं होसकते हैं। बुद्धिपूर्वक उपयोग लगानेमें संज्ञी जीव ही समर्थ हैं इसलिये कितने ही संज्ञी जीव अपने उपयोगको उस मिथ्याभावकी ओर विशेषतासे लगाते हैं, अर्थात् वे मिथ्या सेवनमें जान बूझ कर अपनी प्रवृत्ति करते हैं। तथा दूसरे जीवोंको भी उसमें लगाते हैं ऐसे ही जीव बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व सेवी कहे जाते हैं।

अथवा—

तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः ।
कदाचित् सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥ १०३३ ॥

अर्थ—अथवा उन संज्ञी जीवोंका मन चञ्चल रहता है इसलिये मिथ्याभाव पूर्वक पदार्थोंमें कभी २ उपयुक्त होता है। भावार्थ—कोई संज्ञी जीव मिथ्यात्व प्रवृत्तिमें सदा लगे रहते हैं और कोई कभी २ लगते हैं।

सारांश—

ततो न्यायागतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः ।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्त्तते वा प्रवाहवत् ॥ १०३४ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात न्यायसंगत है कि इस जीवके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे ही स्वयं मिथ्याभाव हो रहा है, और उसका प्रवाह अनादिकालसे अनन्तकाल तक चला जाता है।

मिथ्यात्वका कार्य—

कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत् ॥
स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥ १०३५ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका कार्य प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है कि आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होने पाती। यदि दर्शनमोहनीय कर्मका उदय न होता तो अवश्य ही आत्माके निज स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती। इसलिये आत्माके स्वरूपको नष्ट करना ही दर्शनमोहनीय कर्मका कार्य है।

स्वरूपानुपलब्धिका फल—

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात्कर्मणो महान् ।
अत्रैवं शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥१०३६॥

अर्थ—आत्माके स्वरूपकी अनुपलब्धि होनेसे कर्मोंका तीव्र बन्ध होता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टियोंको जान लेना चाहिये कि दर्शनमोहनीय कर्ममें ऐसी शक्ति है।

प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलं दृष्टान्तकोटिभिः
अत्रेत्थमेवमेवं स्यादलङ्घ्या वस्तुशक्तयः ॥१०३७॥

अर्थ—प्रसिद्ध तथा ज्वलन्त (पुष्ट) ऐसे करोड़ों दृष्टान्त भी यदि दिये जांय तो भी यही बात सिद्ध होगी कि मोहनीय कर्ममें इसी प्रकारकी शक्ति है, जिस वस्तुमें जो शक्ति है वह अनिवार्य है। मोहनीय कर्ममें आत्माके स्वरूपको नष्ट करनेकी शक्ति है, इस शक्तिको उस कर्मसे कोई दूर नहीं कर सक्ता है। क्यों कि भिन्न २ पदार्थोंकी भिन्न २ ही शक्तियां होती हैं और जो जिसका स्वभाव है वह अमिट है।

शंका—

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः ।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राऽव्यापकः कथम् ॥ १०३८॥

अर्थ—जब कि जीवोंके सभी भाव बंधके साधक हैं और इसमें दृष्टांत भी मिलता है, जैसे क्रोध मान मतिज्ञान आदि। फिर यह नियम जिसप्रकार अन्यभावोंमें व्याप्त होकर रहता है उसी प्रकार स्वरूपोपलब्धिमें क्यों नहीं व्याप्त होकर रहता ?

उत्तर—

अथ तत्रापि केषाञ्चित् संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः ।
मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥१०३९॥

अर्थ—किन्हीं २ संज्ञी जीवोंके बुद्धिपूर्वक—गृहीत मिथ्यात्व होता है, वह पदार्थोंमें

मिथ्या भावको लिये हुए होता है। **भावार्थ**—बंधका कारण असलमें मिथ्यात्व भाव है और इसके मूल मिथ्यादर्शन व मिथ्याचारित्र ये दो भेद हैं और उत्तर भेद असंख्यात लोक हैं। मिथ्यात्वके संबंधसे ही अन्य भाव भी बंधके कारण कहलाते हैं इसलिये मिथ्यात्वके सहचारी भावोंमें बंधके साधकपनेका नियम व्याप्त होकर रहजाता है और स्वरूपोपलब्धि मिथ्यादर्शनका सहचारी भाव नहीं है इसलिये उसमें यह नियम व्याप्त होकर नहीं रहता।

अर्थादेकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयापि च ॥१०४०॥

अर्थ—अर्थात् वह मिथ्याभाव जातिकी अपेक्षासे एक प्रकार है, अर्थात् मिथ्याभावोंके जितने भी भेद हैं उन सबोंमें मिथ्यात्व है इसलिये मिथ्यात्वकी अपेक्षासे तो कौनसा ही मिथ्या भाव क्यों न हो सब एक ही है, और आलाप (भेदों) की अपेक्षासे वह असंख्यात लोक प्रमाण है।

आलापोंके भेद—

आलापोऽप्येकजातिर्यो नानारूपोऽप्यनेकधा।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादिक्रमादिह ॥१०४१॥

अर्थ—जो एक जातिका आलाप (भेद) है वह भी अनेक रूपोंमें विभक्त होनेसे अनेक प्रकार है। जैसे-एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व इत्यादि। **भावार्थ**—मिथ्यात्व कर्मके अनेक भेद हैं परन्तु जो एक भेद है वह भी अनेक प्रकारका है, कभी इस जीवके विपरीत भाव होता है, कभी एकान्तभाव होता है, कभी संशयभाव होता है, कभी अज्ञानभाव होता है कभी विनयभाव होता है इत्यादि सभी भाव मिथ्यात्वके एक भेदमें ही गर्भित है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि हर एक कर्मके अनेक भेद होते हैं और उन अनेक भेदोंमें प्रत्येक भेदका भी तरतमस्वरूप अनेक प्रकार होता है। दृष्टान्तके लिये ज्ञानावरण कर्मको ही लेलीजिये ज्ञानावरण कर्मके सामान्य रीतिसे पांच भेद हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण। उनमें जो मतिज्ञानावरण है वह भी अनेक प्रकार है, किसी वर्गणामें * तीव्र अनुभाग बन्ध होता है और किसीमें कम होता है, किसी वर्गणाकी स्थिति अधिक पड़ती है, किसीकी कम पड़ती है। तथा एक प्रकारकी रसशक्ति रखने वाले भी कर्म भिन्न भिन्न कार्यों द्वारा फलीभूत होते हैं। इन्हीं कर्मोंके भेद प्रभेदोंसे आत्माके भाव भी अनेक प्रकारके होते रहते हैं। वास्तवमें आत्माका ज्ञान गुण एक है, उसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि भेद केवल कर्मोंके निमित्तसे हुए हैं, और उन भेदोंमें भी

* वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। समान अविभाग प्रतिच्छेदोंका धारण करनेवाले कर्मपरमाणुको वर्ग कहते हैं। भिन्न २ वर्ग समूहकी भिन्न २ वर्गणायें होती हैं।

अनेक भेद हैं। किसी जीवके अधिक मतिज्ञान पाया जाता है किसीके कम पाया जाता है, जितने भी मतिज्ञान धारी हैं सभी कुछ न कुछ भेदको लिये हुए हैं। इसी प्रकार सभी कर्मोंके अनेक भेद हैं और उन्हींके निमित्तसे उनके प्रतिपक्षी गुणोंमें न्यूनाधिकता पाई जाती है। प्रकृतमें मिथ्यात्वके असंख्यात भेद तो बतलाये गये, अब उसीके शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त भेद बतलाये जाते हैं—

अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः॥ १०४२॥

अर्थ—अथवा शक्तिकी अपेक्षासे वह मिथ्यात्व परिणाम स्वभावसे अनन्त प्रकार है क्योंकि एक एक आलापके प्रति अनन्त २ शक्तियां होती हैं। **भावार्थ**—प्रत्येक आलाप अनंतानंत वर्गणाओंका समूह है और प्रत्येक वर्गणामें अनन्तानन्त परमाणुओंका समूह रहता है, इसलिये प्रत्येक परमाणुमें प्रतिपक्षी गुणको घात करनेकी शक्ति होनेसे उस कर्मके तथा उसके प्रतिपक्षी गुणके भी अनंत भेद हो जाते हैं, तथा अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा भी अनन्त भेद हैं।

तथा—

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वा परिणामिनः।
शक्तिभेदात्क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक्॥१०४३॥

कार्यं कार्यं स्वकार्यत्वाद्बन्धकार्यं पुनः क्षणात्।
निमज्जन्ति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जन्ति यथोदयात्॥१०४४॥

अर्थ—उन कर्मोंकी जितनी भी शक्तियां हैं वे सब प्रतिक्षण परिणमनशील हैं, इसलिये वे यथायोग्य जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भावों द्वारा परिणमन करती हुई भिन्न रूपसे प्रगट होती हैं। और बन्धरूप कार्य कर करके शीघ्र ही शान्त हो जाती हैं। उनके शान्त होते ही दूसरी शक्तियां अपने उदयानुसार प्रगट होजाती हैं। उन शक्तियोंका बन्ध करना ही एक कार्य है। **भावार्थ**—जो कर्म जिस भावसे उदय होता है अर्थात् जघन्यरूपसे अथवा उत्कृष्टरूपसे जितनी भी फलदान शक्तिको लेकर उदयमें आता है वह उसी रूपसे अपना फल देता है साथ ही नवीन कर्मोंका बन्ध करता है, इतना कार्य कर वह नष्ट होजाता है और दूसरा कर्म उदयमें आने लगता है। इसी प्रकार वह भी अपनी अपनी शक्तिके अनुसार फल देकर तथा नवीन कर्मोंका बन्ध करके नष्ट हो जाता है, इसी क्रमसे पहले २ बाँधे हुए कर्म उदयमें आते हैं और नवीन २ कर्म बँधते रहते हैं, यह क्रम तब तक बराबर रहता है जबतक कि कारणभूत मोहनीय कर्म शान्त नहीं होता है।

बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वके कतिपय दृष्टान्त—

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा।
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात् ॥ १०४५ ॥

अर्थ—बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका जो लक्षण किया गया है वह इस प्रकार है—जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करना, अथवा उनका उल्टा श्रद्धान करना।

तथा—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः।
नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातुं शक्या न चान्यथा १०४६ ॥
दर्शितेष्वेपि तेषूच्चैर्जैनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम् ॥
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि। * ॥ १०४७ ॥

अर्थ—सूक्ष्म पदार्थ—परमाणु धर्मादि द्रव्य, अन्तरित पदार्थ—राम रावणादि, दूरवर्ती पदार्थ—सुमेरु अकृत्रिम चैत्यालय आदि। इसका वर्णन पहले भी आचुका है। ये पदार्थ जिनेन्द्र कथित—आगमसे ही जाने जा सक्ते हैं अन्यथा नहीं। इन पदार्थोंका स्याद्वाद पारंगत आचार्योंने अच्छी तरह शास्त्रोंमें विवेचन किया है परन्तु मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि पुरुष उनको नहीं स्वीकार करता है। **भावार्थ—**जैनाचार्योंने प्रथमानुयोग—शास्त्रोंमें मोक्षगामी—उत्तम पुरुषोंके जीवन चरित्र लिखे हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष उस कथनको ही मिथ्या समझता है, वह समझता है कि जिन राम रावणादिका चरित्र आचार्योंने लिखा है वह केवल काल्पनिक है वास्तवमें राम रावण आदिक हुए नहीं हैं। यह आचार्योंकी कल्पना उपन्यासकी तरह समझानेके लिये है। इसी प्रकार सुमेरु, विदेह आदि जो उसके सर्वथा परोक्ष हैं उन्हें भी वह मिथ्या समझता है। मिथ्यात्व कर्मने उसकी आत्मापर इतना गहरा प्रभाव डाल दिया है जिससे कि उसकी बुद्धि सत्पदार्थोंकी ओर जाती ही नहीं है। वास्तवमें जबतक तीव्र कर्मका प्रकोप इस आत्मापर रहता है तबतक इसका कल्याण होता ही नहीं है। जिन जीवोंका कर्म शान्त हो जाता है उनके अन्तरंग किवाड़ तुरन्त खुल जाते हैं और उसी समय वे सुपथमें लग जाते हैं। स्वामी विद्यानन्दि गौतम गणधर आदिके ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो कि पहले मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उन्हीं पदार्थोंको भ्रमरूप समझते थे परन्तु पीछे निमित्तवश मिथ्यात्व कर्मके हट जानेसे उन्हीं पदार्थोंको यथार्थ समझने लगे। जो लोग न्हीं आचार्योंकी कही हुई तत्त्व फिलासिफी (तत्त्व सिद्धान्त)को ठीक मानते हैं और उन्हीं आचार्योंकी कही हुई प्रथमानुयोग कथनीको काल्पनिक समझते हैं उन्हें सोचना चाहिये कि

* मिथ्याकर्मोदयादधीः ऐसा संशोधित पुस्तकमें पाठ है।

आचार्योंको ऐसी क्या आवश्यकता पड़ी थी जो कि विना किसी प्रयोजनके कल्पना करके लोगोंको ठगते ! यदि यही कर्तव्य उनको करना शेष था तो क्यों सांसारिक सुखका परित्याग कर कठिन तप करनेके लिये भयास्पद जंगलको उन्होंने निवास स्थान बनाया था ? यदि कहा जाय कि अपना कल्याण करनेके लिये तो दूसरे लोगोंको प्रतारण करना आत्मकल्याण नहीं कहा जा सकता है ! इसलिये आचार्योंकी कृतिको जो मिथ्या बतलाते हैं वे विचारे मिथ्यात्व कर्मोदयके सताये हुए हैं। दूसरी बात यह है कि कल्पनासे शिक्षा अवश्य मिलती है परंतु निश्चय पथका परिज्ञान कभी नहीं हो सकता, और विना निश्चय पथका परिज्ञान हुए उस शिक्षाको सुखद शिक्षा नहीं कहा जा सकता । पद्मपुराणमें लिखा है कि रावणने कैलाश पर्वत उठानेके पीछे उस पर्वत पर जब चैत्यालय और मुनिमहाराजके दर्शन किये तब भक्तिके बश अपने हाथकी नशको चिकाड़ा बना कर उनके गुणोंका गद्गद गान किया। इसी प्रकार वज्रजंघने मुनिमहाराजके दर्शन कर अणुव्रतोंको ग्रहण किया, अथवा रामचंद्रको सीताके जीवने बहुत कुछ विचलित करनेका उद्योग किया, परंतु वे ध्यानमें दृढ़ ही बने रहे, किञ्चिन्मात्र भी विचलित न हो सके, इत्यादि बातोंको यदि ठीक माना जाता है तब तो मनुष्य उसी प्रकारकी क्रियाओंसे अपने भावोंका सुधार कर सक्ते हैं और रावणके समान भक्तिरसमें मग्न हो सक्ते हैं, वज्रजंघके समान अपने अनर्थोंको छोड़ सक्ते हैं, रामचन्द्रके तुल्य ध्यानमें निश्चल-उपयोगी बन सक्ते हैं। अंजनचोर सरीखे पुरुषोंके आगे पीछेके कर्तव्योंसे भावोंका वैचित्र्य जान सक्ते हैं। परन्तु इन सब बातोंको काल्पनिक समझनेसे कुछ कार्य सिद्ध नहीं हो सक्ता है, क्योंकि कल्पनामें रावण-उसकी भक्ति, रामचन्द्र-उनका ध्यान, वज्रजंघ-उसका सुधार, अंजनचोर-उसकी काया पलट, ये सब कार्य मिथ्या ही प्रतीत होंगे। ऐसी अवस्थामें किस आधार पर और किस आदर्शसे सुधारकी यथार्थ शिक्षा ली जा सकी है ! किसीने पाप किया वह नरकको गया, किसीने पुण्य किया वह स्वर्गको गया, यह पाप पुण्यका फल भी मिथ्या ही प्रतीत होगा, क्योंकि कल्पनामें न कोई स्वर्ग गया और न नरक गया, ऐसी अवस्थामें नरक स्वर्ग व्यवस्था भी उड़ जाती है। केवल वे ही बातें शेष रह जाती हैं जो कि संसारमें-व्यवहारमें आ रही हैं, परोक्ष पदार्थ कुछ पदार्थ नहीं ठहरते। परोक्ष पदार्थोंमें बुद्धि न जानेसे अज्ञानी पुरुष लोकको भी उतना ही समझता है जितना कि वह देखता है। ऐसा विपरीत भाव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होता है।

मिथ्यात्व कर्मोदयसे होनेवाले भाव—

ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात् ।
विनाप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा ॥ १०४८ ॥

अर्थ—ज्ञान और सुख आत्माके गुण हैं इसलिये वे इन्द्रिय और शरीरके बिना भी मुक्त जीवके निरन्तर रहते हैं, इसी विषयमें मिथ्यादृष्टि विचार करता है कि यह कहना ठीक है अथवा ठीक नहीं है। भावार्थ—ज्ञान और सुख आत्माके निज गुण हैं। गुणोंका कभी नाश नहीं होता है, यदि गुणोंका ही नाश हो जाय तो द्रव्यका भी नाश हो जाय, और द्रव्यका नाश होनेसे शून्यताका प्रसंग आवेगा इसलिये गुण पुञ्ज-द्रव्य सदा टङ्कोत्कीर्णके समान अखण्ड रहता है परन्तु संसारमें ज्ञान और सुखका अनुभव शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा ही होता रहता है। यद्यपि इन्द्रियोंसे आत्मीक सुखका स्वाद नहीं आता है। आत्माका सुख तो आत्मामें ही स्वयं होता है, इन्द्रियां तो उसकी बाधक हैं इन्द्रियों द्वारा जो सुख होता है वह केवल शुभ कर्मका फलस्वरूप है, तथापि मिथ्यादृष्टि उसी सुखको आत्मीक सुख समझने लगता है, इन्द्रियजन्य ज्ञानको ही वह यथार्थ-प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान समझता है। और उसी समझके अनुसार वह यह भी कल्पना करता है कि बिना इन्द्रिय और शरीरके सुख और ज्ञान हो ही नहीं सक्ते हैं। इसीलिये वह मुक्तात्माओंके ज्ञान, सुखमें सन्देह करता है कि बिना शरीर और इन्द्रियोंके मुक्तात्माओंके ज्ञान और सुख जो बताया है वह हो सक्ता है या नहीं? वास्तवमें इन्द्रियजन्य ज्ञान सीमाबद्ध और परोक्ष होता है, जहांपर इन्द्रियोंसे रहित-अतीन्द्रिय ज्ञान होता है वहीं पर उसमें पूर्णता और निर्मलता आती है। मुक्त जीवोंके जो ज्ञान होता है वह अतीन्द्रिय होता है। इसी प्रकार उनके जो सुख होता है वह इन्द्रियोंसे सर्वथा विलक्षण होता है, इन्द्रियजन्य जो सुख है वह कर्मोदय जनित है इसलिये दुःख ही है। मिथ्यादृष्टि दुःखको ही सुख समझता है।

और भी—

स्वतः सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति षट्।
प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित्॥ १०४९॥

अर्थ—जैन शास्त्रोंमें स्वतः सिद्ध जीवादिक छह द्रव्य कहे गये हैं वे हो सक्ते हैं या नहीं? ऐसी भी आशंका वह आत्मस्वरूपको नहीं जाननेवाला-मिथ्यादृष्टि करता है।

और भी—

नित्यानित्यात्मकं तत्त्वमेकं चैकपदे च यत्।
स्याद्वा नेति विरुद्धत्वात् संशयं कुरुते कुदृक्॥ १०५०॥

अर्थ—पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, एक ही पदार्थमें नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म रहते हैं। इस विषयमें भी मिथ्या दृष्टि संशय करता है कि एक पदार्थमें नित्यत्व और अनित्यत्व दो धर्म रह सक्ते हैं या नहीं? वह समझता है कि नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म

परस्पर विरोधी हैं इस लिये उनका एक पदार्थमें रहना अशक्य है। भावार्थ—पदार्थ द्रव्य दृष्टिसे सदा रहता है उसका कभी भी नाश नहीं होता है। परन्तु पर्याय दृष्टिसे वह अनित्य है। जैसे मनुष्य मरकर देव हो जाता है। यहां पर जीवकी मनुष्य पर्यायका तो नाश हो गया और देव पर्यायका उत्पाद हो गया परन्तु जीवका न तो नाश हुआ है और न उत्पाद हुआ है। जो जीव मनुष्य पर्यायमें था वही जीव अब देव पर्यायमें है, इस लिये जीवद्रव्यकी अपेक्षासे तो जीव नित्य है परन्तु जीवकी पर्यायोंकी अपेक्षासे जीव अनित्य है अतः जीवमें कथंचित् नित्यता, और कथंचित् अनित्यता दोनों ही धर्म रहते हैं, परन्तु जिस अपेक्षासे नित्यता है उस अपेक्षासे अनित्यता नहीं है, यदि जिस अपेक्षासे जीवमें नित्यता है उसी अपेक्षासे उसमें अनित्यता भी मानी जावे तब तो अवश्य विरोध संभव है परन्तु अपेक्षाके न समझनेसे ही मिथ्या दृष्टि इन धर्मोंको विरोधी समझता है।

और—

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्मकर्मसु ।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दृङ्मोहस्य विजृम्भितम् ॥ १०५१ ॥

अर्थ—कर्म-ज्ञानावरणादि, नो कर्म-शरीरादि जो आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं उन पदार्थोंमें ये मैं आत्मा हूं, इस प्रकार जो बुद्धि होती है वह दर्शनमोहकी चेष्टा है। भावार्थ—दर्शन मोहनीयके उदयसे यह जीव शरीरादि जड़ पदार्थोंको ही आत्मा समझता है।

और—

अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह ।
अधर्मे धर्मवज्ज्ञानं दृङ्मोहस्यानुशासनात् ॥ १०५२ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे यह जीव अदेवमें देवबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि और अधर्ममें धर्मबुद्धि करता है।

और भी—

धनधान्यसुताद्यर्थं मिथ्यादेवं दुराशयः ।
सेवते कुत्सितं कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात् ॥ १०५३ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके वशीभूत होकर यह जीव अनेक खोटे २ आशयोंको हृदयमें रखकर धन धान्य पुत्र आदिकी प्राप्तिके लिये मिथ्या देवोंकी सेवा करता है। तथा नीच कर्म भी करता है। भावार्थ—जो लोग बड़ी इच्छासे चण्डी, मुण्डी, भैरों, नगरसेन, माता आदि कुदेवोंकी पूजा करते हैं तथा जो हिंसादिक निंद्य कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं वे सब मिथ्यात्व कर्मके वशीभूत हैं।

सारांश—

सिद्धमेतन्नु ते भावाः प्रोक्ता येऽपि गतिच्छलात्।
अर्थादौदयिकास्तेपि मोहद्वैतोदयात्परम्॥ १०५४॥

अर्थ—यह बात सिद्ध हो गई कि गतिके बहानेसे जो भाव कहे गये हैं वे भी गति कर्मके साथ उदयमें आनेवाले मोहनीय कर्मके उदयसे औदयिक हैं। भावार्थ—कुछ ऊपर नामकर्मके भेदोंमें गति कर्मका विवेचन करते हुए उसे औदयिक भावोंमें गिनाया है, और यह बतला दिया है कि नारक, तिर्यग्, मनुष्य, देव इन चारों पर्यायोंमें आत्माके भाव भिन्न २ रीतिसे असाधारण होते हैं। जैसी पर्याय होती है उसीके अनुसार आत्माकी भाव सन्तति भी होजाती है। अर्थात् जिस पर्यायमें यह आत्मा जाता है उसी पर्यायके अनुसार इसके भावोंकी रचना हो जाती है इसलिये गति कर्म औदयिक है। यहां पर किसीने शंका की थी कि गति कर्म तो नाम कर्मका भेद होनेसे अघातिया कर्म है, उसमें आत्माके भावोंको परिवर्त्तन करनेकी योग्यता कहांसे आसक्ती है? इस शंकाके उत्तरमें यह कहा गया है कि उस गति कर्मके उदयके साथ ही मोहनीय कर्मका भी उदय हो रहा है इसलिये वही आत्माके भावोंके परिवर्तनका कारण है? और नारकादि पर्याय उस परिवर्तनमें सहायक कारण है, क्योंकि नारकादि भिन्न २ पर्यायोंके निमित्तसे ही भिन्न २ द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी योग्यता मिलती है और जिस प्रकारकी जहां सामग्री है उसीके अनुसार मोहनीयके उदयसे आत्माके भावोंमें परिवर्तन होता है, अर्थात् सामग्रीके अनुसार कर्मोदय विशेष रीतिसे विपच्यमान होता है। इसीलिये गति कर्मके उदयसे होनेवाले भाव भी औदयिक हैं। इनमें अन्तरंग कारण मोहनीय कर्मका उदय ही समझना चाहिये।

यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः।
स स्याद्द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात्॥ १०५५॥

अर्थ—जहां कहीं भी बुद्धिपूर्वक राग होता है वह दर्शनमोह और चारित्रमोहके पाकसे ही होता है अथवा दोनोंमेंसे किसी एकके पाकसे होता है। भावार्थ—जहां पर दर्शनमोहका उदय है वहां पर चारित्रमोहका भी उदय नियमसे रहता है ऐसे स्थल पर दोनों ही बुद्धिपूर्वक रागके कारण हैं, और जहांपर चारित्रमोहका उदय रहता है वहां दर्शनमोहका उदय रहे या न रहे नियम नहीं है, चौथे गुणस्थानसे ऊपर केवल चारित्रमोहका ही उदय है इसलिये वहां केवल चारित्रमोहके उदयसे राग होता है। जहांपर दोनोंसे होता है वहां पर दर्शनमोह आत्माकी मिथ्या बुद्धि करता है। चारित्रमोह राग करता है। चौथे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके गुणस्थानोंमें बुद्धिपूर्वक राग तो होता है परन्तु वहां पर मिथ्या

बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता है । जैसे—मिथ्यादृष्टि शरीरादि भिन्न पदार्थोंमें आत्मत्व बुद्धिसे राग कर सक्ता है परन्तु सम्यग्दृष्टि शरीरादिमें राग अवश्य कर सक्ता है किन्तु आत्मत्व बुद्धिसे नहीं कर सक्ता है । क्योंकि शरीरादिमें आत्मत्वबुद्धि करनेवाला तो केवल दर्शनमोह है ।

सारांश—

एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः ।
केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः ॥ १०५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार गतिकर्मके आश्रयसे चार औदयिक भाव होते हैं । परन्तु बन्धके करनेवाले केवल मोहकर्मके उदयसे होनेवाले ही भाव हैं । भावार्थ—विना मोहनीय कर्मके गति कर्मका उदय कुछ नहीं कर सक्ता है, केवल उदयमें आकर खिर जाता है ।

कषाय भाव—

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिकाः स्मृताः ।
क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात् ॥१०५७॥
ते चाऽऽत्मोत्तरभेदैश्च नामतोप्यत्र षोडश ।
पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥ १०५८ ॥
अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मकाः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥ १०५९ ॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें भी जीवके औदयिक भाव हैं । और उन कषायोंके जितने उत्तर भेद हैं वे सब भी औदयिक भाव हैं । कषायोंके उत्तर भेद नामकी अपेक्षासे सोलह भी हैं तथा पचीस भी हैं । परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे उनके असंख्यात लोक प्रमाण भी भेद हैं । अथवा शक्तिकी अपेक्षासे उन कषायोंके अनन्त भी भेद हैं । क्योंकि एक २ भेदके प्रति अनन्त अनन्त शक्तियाँ हैं । ये सब कषायें पाप रूप हैं । अर्थात् सभी कषायें आत्माके गुणोंका घात करनेवाली हैं । भावार्थ—सामान्य रूपसे क्रोध मान माया लोभ ये कषायोंके चार भेद हैं, अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इन भेदोंकी अपेक्षासे उनके सोलह भेद हैं । अर्थात् इन चारों भेदोंमें क्रोध मान माया लोभ जोड़ देनेसे सोलह भेद हो जाते हैं । इन्हींमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद इन नौ नोकषायोंको जोड़ देनेसे उनके पच्चीस भेद हो जाते हैं । अन्तर्भेद और शक्तियोंकी अपेक्षासे उनके असंख्यात लोकप्रमाण और

अनन्त भेद भी हैं। ÷अनन्तानुबन्धि कषाय आत्माके स्वरूपाचरणचारित्रका घात करती है। ×अप्रत्याख्यानावरण कषाय आत्माके देशचारित्रका घात करती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय। *आत्माके सकल चारित्रका घात करती है। तथा संज्वलन कषाय+ आत्माके यथाख्यातचारित्रका घात करती है। अनन्तानुबन्धि कषायका दूसरे गुणस्थान तक उदय रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका चौथे गुणस्थान तक उदय रहता है। प्रत्याख्यानावरण कषायका पांचवें गुणस्थान तक उदय रहता है। संज्वलन कषायका दशवें गुणस्थान तक उदय रहता है। इन कषायोंका जहां २ तक उदय है वहीं २ तक ये अपने प्रतिपक्षी गुणोंको नहीं होने देती हैं। इन कषायोंका वासनाकाल इस प्रकार है—संज्वलन कषायका अन्तर्मुहूर्त, प्रत्याख्यान कषायका एक पक्ष अर्थात् १५ दिन, अप्रत्याख्यान कषायका छह महीना और अनन्तानुबन्धिका संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त भव। वासनाकालका अभिप्राय यह है कि इतने काल तक इनका संस्कार आत्मामें बैठा रहता है। जैसे संज्वलन कषायके संस्कार केवल अन्तर्मुहूर्त्त तक ही रह सके हैं। प्रत्याख्यान कषायके संस्कार एकबारके बैठे हुए १५ दिन तक रह सके हैं। इसी प्रकार औरोंका संस्कारकाल समझना चाहिये। इन सबोंमें अनन्तानुबन्धिका संस्कारकाल सबसे अधिक है। उसके संस्कार अनन्त भव तक रह सकते हैं।

चारित्रमोहनीयका कार्य—

अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान्।
वैकृतोस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥ १०६० ॥

अर्थ—जीवका एक चारित्र गुण है, वह शुद्ध स्वरूप है परन्तु इस संसारमें चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे वह विकृत हो रहा है अर्थात् अनादि कालसे चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे वह अशुद्ध हो रहा है।

÷ अनन्तं—अनन्तसंसारं, अनुबध्नाति स अनन्तानुबन्धी, अर्थात् जो अनन्त संसारको बाँधे—बढ़ावे उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं। अनन्तानुबन्धीकषाय सम्यग्दर्शनका भी घात करती है, इस लिये यह संसारमें अनन्तकाल तक भ्रमण करानेवाली है।

× अ—ईषत्, प्रत्याख्यानं—चारित्रं, आवृणोति—रुणद्धि असौ अप्रत्याख्यानावरणः। अर्थात् जो थोड़े भी—एक देश भी चारित्रको न होने दे उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

* प्रत्याख्यानं—सकलचारित्रं, आवृणोतीति प्रत्याख्यानावरणः। अर्थात् जो सकलचारित्रको न होने दे उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

+ यो यथाख्यातं संज्वलयति—भस्मसात् करोति सः संज्वलनः अर्थात् जो यथाख्यात चारित्रको न होने दे उसे संज्वलन कहते हैं।

चारित्रमोहके भेद—

तस्माच्चारित्रमोहश्च तद्भेदाद्द्विविधो भवेत्।
पुद्गलो द्रव्यरूपोस्ति भावरूपोस्ति चिन्मयः ॥ १०६१ ॥

अर्थ—इस लिये उसके भेदसे चारित्र मोह दो प्रकार है एक द्रव्य रूप, दूसरा भावरूप द्रव्यरूप चारित्र मोह पुद्गल स्वरूप है और भावरूप चारित्र मोह चैतन्य स्वरूप है। **भावार्थ**—चारित्रमोह कर्मके उदयसे जो आत्माके चारित्र गुणकी राग द्वेष रूप वैभाविक अवस्था है उसीसे चारित्र मोहनीय कर्मके दो भेद होजाते हैं, एक द्रव्य मोह दूसरा भाव मोह। पौद्गलिक चारित्र मोह द्रव्य मोह है और उसके निमित्तसे होनेवाले आत्माके राग-द्वेषरूप भाव, भावमोह है।

द्रव्य मोह—

अस्त्येकं मूर्तिमद्द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः।
वैकृतः सोस्ति चारित्रमोहरूपेण संस्थितः ॥ १०६२ ॥

अर्थ—रूप रस गन्ध स्पर्शका नाम मूर्ति है। जिस द्रव्यमें ये चारों गुण पाये जावें उसे मूर्तिमान द्रव्य कहते हैं, ऐसा मूर्तिमान द्रव्य छहों द्रव्योंमेंसे एक है और वह पुद्गलके नामसे प्रसिद्ध है। उसी पुद्गलकी एक वैभाविक पर्याय चारित्र मोहरूप है।

पृथ्वीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्गलिकोऽखिलः।
पुद्गलः स स्वयं नात्मा मिथो बन्धो द्वयोरपि ॥ १०६३ ॥

अर्थ—पौद्गलिक जितना भी मोह है सभी पृथ्वी पिण्डके समान है, वह स्वयं पुद्गल है आत्मा नहीं है पौद्गलिक द्रव्यमोह और आत्मा इन दोनोंका परस्पर बन्ध होता है।

भाव मोह—

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः।
उदयादात्मनो भावो भाव मोहः स उच्यते ॥ १०६४ ॥

अर्थ—दोनों प्रकारके पौद्गलिक मोहनीय कर्मोंके उदयसे आत्माका जो भाव होता है उसे ही भाव मोह कहते हैं। **भावार्थ**—द्रव्यमोहके उदयसे होनेवाली आत्माकी वैभाविक अवस्थाका नाम ही भावमोह है।

भाव मोहका स्वरूप—

जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत्।
बन्धहेतुः स एव स्याद्द्वैतश्चाष्टकर्मणाम् ॥ १०६५ ॥

अर्थ—जलमें जिसप्रकार काई (हरा मल) के जमजानेसे जल मलिन हो जाता है उसी प्रकार वह भाव भी (रागद्वेषरूप) मलिन होता है, तथा वही अकेला आठों कर्मोंके

बन्धका कारण है। भावार्थ–बिना कषाय भावोंके कर्म आत्माके साथ बंध नहीं सक्ते हैं, जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं, कषाय भाव ही उनके बन्धका कारण है, इसीलिये दशवें गुणस्थान तक ही कर्मबन्ध होता है, उससे ऊपर कर्मबन्ध नहीं होता किन्तु योगोंके निमित्तसे जिस समयमें कर्म आते हैं उसी समयमें खिरते भी जाते हैं।

भाव मोह ही अनर्थोंका मूल है—

अपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च।
यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम् ॥ १०६६ ॥

अर्थ—संसारमें जितने भी अनर्थ हैं उन सबका मूल-कारण वही भाव मोह है क्योंकि अनर्थके मूल कारण कर्म हैं और उन कर्मोंका भी आदि कारण वह भाव मोह है।

और भी—

अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखं दुःखफलं च सः।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वासां विपदां पदम् ॥ १०६७ ॥

अर्थ—यह भाव मोह अपवित्र है, आत्माके गुणोंका घातक है, रौद्रस्वरूप है, दुःखरूप है, और दुःखका फल स्वरूप है, अथवा दुःख ही उसका फल है। उस भाव मोहके विषयमें अधिक क्या कहा जाय, सम्पूर्ण आपत्तियोंका वह स्थान है।

भावमोहमें परस्पर कार्यकारण भाव—

कार्यकारणमप्येष मोहो भावसमाह्वयः।
*** सर्वबद्धानुवादेन प्रत्यग्रास्रवसंचयात् ॥ १०६८ ॥**

अर्थ-यह भाव मोह कार्य भी है और कारण भी है। पूर्वमें बाँधे हुए कर्मोंके उदयसे होता है इसलिये तो कार्य रूप है, तथा नवीन कर्मोंके आस्रवका सञ्चय करता है इसलिये कारण रूप है। नीचेके श्लोकोंमें भाव मोहका परस्पर कार्य कारण भाव ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं—

यदोदैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः।
पाकाल्लब्धात्मसर्वस्वः कार्यरूपस्ततो नयात् ॥ १०६९ ॥

अर्थ—जिस समय पहले बाँधे हुए द्रव्यमोह कर्मके उदयसे भाव मोह आत्मलाभ करता है उस समय वह कार्यरूप है।

निमित्तमात्रीकृत्योच्चैस्तमागच्छन्ति पुद्गलाः।
ज्ञानावृत्यादिरूपस्य तस्माद्भावोस्ति कारणम् ॥ १०७० ॥

* संशोधित पुस्तकमें 'पूर्वबद्धानुवादेन' पाठ है।

अर्थ—उस भाव कर्मके निमित्तसे ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल कर्म आते हैं (आत्माके साथ बँधते हैं) इसलिये वह कारणरूप है। **भावार्थ**—भाव कर्मोंके निमित्तसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है, उन कर्मोंके निमित्तसे नवीन भाव मोह पैदा होता है, फिर उससे नवीन कर्म बँधते हैं उन कर्मोंके निमित्तसे दूसरा भाव मोह पैदा होता है। इस प्रकार यह परस्पर कार्य-कारण भाव सन्तति अनादि कालसे चली आ रही है। एक वार द्रव्य मोह कारण पड़ता है भाव मोह उसका कार्य पड़ता है। इस प्रकार परस्पर इन दोनोंमें निमित्त नैमित्तिक भाव है।

विशेष—

विशेषः कोप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः।
मोहस्यास्यापि बन्धस्य कारणं सर्वकर्मणाम् ॥ १०७१ ॥

अर्थ—इस भावमोहमें इतनी कोई विशेषता है कि यह कार्य तो केवल मोहनीय कर्मका है, परन्तु कारण उस मोहनीय कर्म तथा सम्पूर्ण कर्मोंके बंधका है। **भावार्थ**—द्रव्य मोहके उदयसे ही भाव मोह होता है इसलिये वह कार्य तो केवल मोह कर्मका ही है। परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंमें स्थिति अनुभाग डालनेवाला वही एक भाव मोह है इसलिये वह कारण सब कर्मोंका है।

सारांश—

अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः।
निमित्तनैमित्तिकोभावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥ १०७२ ॥

अर्थ—इस लिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिस प्रकार कुम्हार और घटका निमित्तनैमित्तिक भाव है उसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्मोंका परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है। यहां पर दृष्टान्तका उद्दिष्ट अंश ही लेना चाहिये, दृष्टान्त स्थूल है।

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम्।
निमित्तनैमित्तिकोभावः स्यान्नस्याज्जीवकर्मणोः ॥ १०७३ ॥

अर्थ—बाह्य दृष्टिसे तो जीव और कर्मोंका परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है परन्तु अन्तरंग दृष्टिसे कषायोंका निमित्तनैमित्तिक भाव है। अन्तर्दृष्टिसे जीव कर्मका नहीं है। **भावार्थ**—जीवके चारित्र गुणका विकार राग द्वेष है और वही राग द्वेष कर्म बन्धका हेतु है इसलिये अन्तर्दृष्टिसे कषाय भाव चारित्र गुणकी वैभाविक अवस्था और कर्मोंका ही उपर्युक्त सम्बन्ध है। स्थूल दृष्टिसे जीवका भी कहा जा सकता है।

यदि जीवका ही उपर्युक्त भाव माना जाय तो—

यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम्।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्यचित् ॥१०७४॥

अर्थ—यदि कर्म बन्धका निमित्त कारण स्वयं जीव ही माना जाय तो जीव सदा कर्म बन्धका कर्त्ता ही बना रहेगा। फिर किसी जीवकी कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगी। इसलिये कर्म बन्धके करनेवाले आत्माके वैभाविक भाव कषाय भाव ही हैं। जब तक उन भावोंकी सत्ता है, तभी तक आत्मा कर्म बन्ध करता है, उनके अभावमें कर्म बन्ध नहीं करता है। जीव स्वयं कर्मबन्धका कारण नहीं है। किन्तु अशुद्ध जीव है।

इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोप्यौदयिकाः स्मृताः।
चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः॥ १०७५॥

अर्थ—इस प्रकार वे चारों ही कषायें औदयिक कही गई हैं। वे कषायें आत्माके चारित्र गुणकी वैभाविक पर्यायें हैं।

नोकषाय—

लिङ्गान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात्।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात् किल॥ १०७६॥

अर्थ—स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेदके भेदसे तीन प्रकारके लिङ्ग भी औदयिक भाव हैं। ये भाव नो कषाय कर्मोंके उदयसे होते हैं

चारित्र मोहके भेद—

चारित्रमोहकर्मैतद्द्विविधं परमागमात्।
आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम्॥ १०७७॥

अर्थ—जैनागममें चारित्र मोह कर्मके दो भेद किये हैं। पहला—कषाय, दूसरा नोकषाय। भावार्थ—जो आत्माके गुणोंको कषै अर्थात् उन्हें नष्ट करे उसे कषाय कहते हैं, और कुछ कम कषायको नोकषाय कहते हैं। नो नाम ईषत्—थोड़ेका है, ये दो भेद चारित्र मोहनीयके हैं।

नो कषायके भेद—

तत्रापि नोकषायाख्यं नवधा स्वविधानतः।
×हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सेति त्रिलिङ्गकम्॥ १०७८॥

अर्थ—नो कषायके नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद। भावार्थ—जिसके उदयसे हँसी आवे उसे हास्य 'नोकषाय' कहते हैं। जिसके उदयसे विषयोंमें उत्सुकता (रुचि) हो उसे रति कहते हैं। जिसके

× 'हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सा त्रिलिङ्गकम्। संशोधित पुस्तकमें ऐसा पाठ है। यही शुद्ध प्रतीत होता है।

उदयसे अरुचि हो उसे अरति कहते हैं। जिसके उदयसे शोक हो उसे शोक कहते हैं। जिसके उदयसे उद्वेग (भय) हो उसे भय कहते हैं। जिसके उदयसे दूसरेके दोषोंको यह जीव प्रकट करे और अपने दोषोंको छिपावे उसे जुगुप्सा कहते हैं। अथवा दूसरेसे घृणा करना भी जुगुप्सा है। जिसके उदयसे स्त्रीत्व भाव हो अर्थात् पुरुषके साथ रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे स्त्री वेद कहते हैं। जिसके उदयसे पुंस्त्व भाव हो अर्थात् स्त्रीके साथ रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे पुंवेद कहते हैं। जिसके उदयसे नपुंसकत्व भाव हो अर्थात् स्त्री पुरुष दोनोंसे रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे नपुंसक वेद कहते हैं। ये नौ नो कषाय कर्मोंके भेद हैं। इन्हींके उदयसे ऊपर कहे हुए कार्य होते हैं। इतना विशेष है कि कहीं पर जैसा भाव वेद होता है वैसा ही द्रव्य वेद होता है परंतु कहीं कहीं पर द्रव्य वेद दूसरा होता है और भाव वेद दूसरा। आत्माके भावोंको भाव वेद कहते हैं और शरीरके आकारको द्रव्य वेद कहते हैं। यदि कोई पुरुष पुरुषके साथ रमण करनेकी वाञ्छा करे तो उसके द्रव्य वेद तो पुरुष वेद है परन्तु भाव वेद स्त्री वेद है। प्रायः अधिक तर द्रव्यके अनुकूल ही भाव होता है, किंतु कहीं २ पर विषमता भी हो जाती है । इन तीनों वेदोंके उदयसे जैसे इस जीवके परिणाम होते हैं उसका क्रम आचार्योंने इस प्रकार बतलाया है। पुरुषकी काम वासना तृणकी अग्निके समान है। जिस प्रकार तृणकी अग्नि उत्पन्न भी शीघ्र होती है और भस्म होकर शान्त भी शीघ्र ही होजाती है। स्त्रीकी काम वासना कण्डेकी अग्नि (उपलोंकी अग्नि)के समान होती है कंडेकी अग्नि उत्पन्न भी देरसे होती है और ठहरती भी अधिक काल तक है। इसी प्रकार स्त्रियोंकी काम वासना विना निमित्तकी प्रबलताके सदा दबी ही रहती है परन्तु प्रबल निमित्तके मिलने पर उत्पन्न होकर फिर शान्त भी देरसे होती है। इसी लिये आवश्यक है कि स्त्रियोंको ऐसे निमित्तोंसे बचाया जावें। और सदा सदुपदेशकी उन्हें शिक्षा दी जावे। ऐसी अवस्थामें उनकी कामवासना कभी दीप्त नहीं हो सक्ती है परन्तु आजकलके शिक्षितम्मन्य अतत्वज्ञ अपने भावोंसे उनकी तुलना करके उनके जीवनको कलङ्कित और दुखदाई बनानेका व्यर्थ ही उद्योग करते हैं । यह उनका दयाका परिणाम केवल हिंसामय है और अनर्थोंका घर है। यदि स्वभावमृदु स्त्रियोंको सदा सन्मार्गकी शिक्षा दी जावे तो वे कभी नहीं उन्मार्गकी ओर पैर रक्खेंगी। और ऐसी ही निष्कलङ्क स्त्रियोंकी सन्तान संसारका कल्याण करनेमें समर्थ हो सक्ती हैं। नपुंसककी काम वासना ईंटोंके पाक (अवा)के समान होती है अर्थात् उसकी अग्नि दोनोंकी अपेक्षा अत्यन्त दीप्त होती है। संसारी जीव इन्हीं वेदोंके उदयसे सताये हुए हैं। वास्तवमें विचार किया जाय तो ज्यों२ विषय सेवनकी तरफ यह मनुष्य जाता है त्यों २ इसकी अशान्ति और लालसा बढ़ती ही जाती है, खेद तो इस बातका है कि इनके अधिक सेवनसे मनुष्य तृप्तिकी वाञ्छा करता है परन्तु उस अज्ञको विदित नहीं

है कि अग्निको शान्त करनेके लिये क्या उसमें लकड़ी डालनेकी आवश्यकता है ? यदि विषय सेवन तृप्तिका मार्ग है तो अनादिकालसे अभी तक क्यों नहीं तृप्ति हो पाती ? इसलिये इनसे जितना जल्दी सम्बन्ध छुड़ाया जाय और इनकी ओर विरक्तता की जाय उतना ही परम सुख समझना चाहिये ।

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद्ध्रुवम् ।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी ॥ १०७९ ॥

अर्थ—इसलिये चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले ये नोकषाय भी चारित्र गुणके वैभाविक भाव हैं ।

प्रत्येकं द्विविधान्येव लिङ्गानीह निसर्गतः ।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥ १०८० ॥

अर्थ—सर्वज्ञकी आज्ञा–आगमके अनुसार प्रत्येक लिङ्ग स्वभावसे ही द्रव्य वेद, भाव वेद इन भेदोंसे दो दो प्रकार हैं । इन दोनोंका वर्णन पहले श्लोकमें सविस्तर किया गया है ।

नाम कर्म-स्वरूप—

अस्ति यन्नामकर्मैकं नानारूपं च चित्रवत् ।
पौद्गलिकमचिद्रूपं स्यात्पुद्गलविपाकि यत् ॥ १०८१ ॥

अर्थ—आठ कर्मोंमें एक नाम कर्म है वह चित्रोंके समान अनेक रूपवाला है, अर्थात् जिस प्रकार चित्रकार अपने हस्त कौशलसे अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसी प्रकार यह नाम कर्म भी अपने अनेक भेदोंसे अनेक आकार बनाता है । शरीर, संहनन, गति, जाति, आङ्गोपाङ्ग आदि सभी रचना इस नामकर्मके उदयसे ही होती है । इसका बहुत बड़ा विस्तार है । नाम कर्म पौद्गलिक है, पुद्गलकी वैभाविक व्यञ्जन पर्याय है । इसीलिये वह जड़ है, और पुद्गल विपाकी है* **भावार्थ**—कुछ कर्म तो ऐसे हैं जिनका पुद्गलमें ही विपाक होता है । अर्थात् शरीरमें ही उनका फल होता है, कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका क्षेत्रमें ही विपाक होता है, अर्थात् उनका उदय तभी आता है जब कि संसारी जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको धारण करनेके लिये जाता हुआ विग्रह गतिमें होता है । कुछ कर्म ऐसे हैं जो भवविपाकी हैं अर्थात् मनुष्यादि पर्यायोंमें ही उनका फल होता है, और कुछ कर्म ऐसे हैं जो जीवविपाकी हैं, अर्थात् उनका जीवमें फल होता है ।

---

* सभी नामकर्म पुद्गल विपाकी नहीं है । २७ प्रकृतियां उसमें जीव विपाकी भी हैं, परन्तु अधिक प्रकृतियां पुद्गल विपाकी ही हैं, इसी लिये (बाहुल्यकी अपेक्षासे) उपर्युक्त कथन है ।

उनमें ६२ प्रकृतियां पुद्गल विपाकी हैं । पांच शरीरोंसे लेकर स्पर्श पर्यन्त * ५० प्रकृतियां, तथा निर्माण, आताप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण, अगुरुलघु, उपघात परघात ये नाम कर्मकी ६२ प्रकृतियां पुद्गल विपाकी हैं इनका फल शरीरमें ही होता है । नरकादि चारों आयु भव विपाकी हैं । आयुका कार्य प्राप्त हुई पर्यायमें नियमित स्थिति तक रोकना है । इसलिये आयुका फल नरकादि चारों पर्यायोंमें ही होता है । चार आनुपूर्वी प्रकृतियाँ क्षेत्र विपाकी हैं । आनुपूर्वी कर्म उसे कहते हैं कि जिस समय जीव पूर्व पर्यायको छोड़ कर उत्तर पर्यायमें जाता है, उस समय जब तक वहां नहीं पहुंचा है, तब तक मध्यमें उस जीवका पहली पर्यायका आकार बनाये रक्खे । चार गतियां हैं इस लिये आनुपूर्वी प्रकृतियां भी चार ही हैं । जिस आनुपूर्वीका भी उदय होता है वह पहली पर्यायके आकारको रखती है । इसी लिये आनुपूर्वी प्रकृतियां क्षेत्र विपाकी हैं । इनका फल परलोक गमन करते समय जीवकी मध्य अवस्थामें ही आता है । निम्न लिखित ७८ प्रकृतियां जीव विपाकी हैं वेदनीयकी २, गोत्रकी २, घातिया कर्मोंकी ४७ और २७ नाम कर्मकी । नाम कर्मकी २७ प्रकृतियां इस प्रकार हैं । तीर्थंकर, उच्छ्वास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, त्रस, स्थावर, शुभविहायोगति, अशुभ विहायोगति, सुभग, दुर्भग, नरकगति, तिर्यञ्चगति मनुष्यगति, देवगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जाति, ये प्रकृतियां जीव विपाकी हैं ।

अंगोपाङ्ग और शरीरनामकर्मके कार्य—

अङ्गोपाङ्गं शरीरं च तद्भेदौस्तोप्यभेदवत् ।
तद्विपाकात्त्रिलिङ्गानामाकाराः सम्भवन्ति च ॥ १०८२ ॥

अर्थ—उसी नाम कर्मके भेदोंमें एक अंगोपांग और एक शरीर नाम कर्म भी है । ये दोनों ही भेद नाम कर्मसे अभिन्न हैं । इन्हीं दोनोंके उदयसे स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेदके आकार होते हैं । **भावार्थ**—शरीर और अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे इस जीवके शरीर और अंग तथा + उपांग बनते हैं, शरीरके मध्य तीनों वेदोंके आकार भी इन्हीं दोनों कर्मोंके उदयसे बनते हैं । वेदोंसे यहां पर द्रव्य वेद समझना चाहिये ।

---

* ५ शरीर, ३ आङ्गोपाङ्ग, ५ बन्धन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ संहनन, ८ स्पर्श, ५ रस, २ गन्ध, ५ वर्ण ।

+ णलया बाहू य तहा णियंब पुट्ठी उरोय सीसोय ।
अट्ठेव दु अंगाइं देहे सेसा उवंगाइं ॥

अर्थ—दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, (चूतड़), पीठ, पेट, शिर ये आठ तो अंग कहलाते हैं बाकी सब उपांग कहलाते है । जैसे उंगलियां, कान, नाक, मुंह, आंखे आदि ।

गोमट्टसार ।

द्रव्य वेदसे भाव वेदमें सार्थकता नहीं आती—

त्रिलिङ्गाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः ।
नास्ति तद्भावलिङ्गेषु मनागपि करिष्णुता ॥ १०८३ ॥

अर्थ—स्त्रीवेद अथवा पुरुषवेद अथवा नपुंसकवेदके आकारका पाना नाम कर्मका कार्य है। इस आकारकी भावलिङ्गोंमें कुछ भी कार्यकारिता नहीं है। भावार्थ-नाम कर्म केवल द्रव्यवेद-शरीरमें लिङ्गाकृतिको बनाता है, स्त्री पुरुषोंके भावोंमें जो रमण करनेकी वाञ्छा होती है व भाव वेद कहलाता है। ऐसा भाव वेद नाम कर्मके उदयसे नहीं होता है। जब तक भाव वेदका उदय न हो तब तक केवल द्रव्य वेद कुछ नहीं कर सक्ता है, केवल आकार मात्र है। इसीलिये नवमें गुणस्थानसे ऊपर केवल वेदोंका द्रव्याकार मात्र है।

भाव वेदका कारण—

भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः ।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित् ॥ १०८४ ॥

अर्थ—भाववेदोंके होनेमें केवल एक चारित्र मोहकर्मका उदय ही निश्चयसे कारण है, किसी दूसरे कर्मका उदय उनके होनेमें कारण नहीं है।

वेदोंके कार्य—

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल ।
नारी वेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता ॥ १०८५ ॥
नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः ।
अन्तर्दग्धोस्ति यो भावः क्लीबवेदोदयादिव ॥ १०८६ ॥ ×

अर्थ—पुंवेदके उदयसे द्रव्य स्त्रियोंके साथ रमण करनेकी वाञ्छा होती है। स्त्री वेदके उदयसे पुरुषोंके साथ भोग करनेकी अभिलाषा होती है। और जो अशक्त सामर्थ्य हीन होनेसे न तो स्त्रियोंके साथ ही भोग कर सक्ता है, और न पुरुषोंके साथ ही कर सक्ता है किन्तु दोनोंकी वाञ्छा रखता हुआ हृदयमें ही जला करता है ऐसा भाव नपुंसक वेदके उदयसे होता है।÷

वेदोंकी सम विषमता—

द्रव्यलिंगं यथा नाम भावलिंगं तथा क्वचित् ।
क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत् ॥ १०८७ ॥

× संशोधित पुस्तकमें क्लीबवेदोदयादिति, पाठ है। इसका कोई अर्थ भी नहीं निकलता है।

÷ णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो ।
इट्टावग्गिसमाणग वेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥
यह नपुंसकका स्वरूप है। गोमट्टसार।

अर्थ—कहीं पर जैसा द्रव्यलिंग होता है वैसा ही भावलिंग भी होता है। कहीं पर द्रव्यलिंग दूसरा होता है और भावलिंग दूसरा होता है।

उदाहरण—

यथा दिविजनारीणां नारीवेदोस्ति नेतर।
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ॥ १०८८ ॥

अर्थ—जितनी भी चारों निकायोंके देवोंकी देवियां हैं उन सबके स्त्रीवेद ही भाववेद होता हैं, दूसरा नहीं होता। और जितने भी देव हैं उन सबके पुंवेद ही भाववेद होता है दूसरा नहीं होता। भावार्थ—देव देवियोंके द्रव्यवेद और भाववेद दोनों एक ही होते हैं।

भोग भूमौ च नारीणां नारीवेदो नचेतरः।
पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसंभवः ॥ १०८९ ॥

अर्थ—भोगभूमिमें स्त्रियोंके स्त्रीवेद ही भाववेद होता है दूसरा नहीं होता? और वहांके पुरुषोंके केवल पुंवेद ही भाववेद होता है, दूसरा नहीं होता अथवा इन दोनोंमें भी परस्पर विषमता नहीं होती। भावार्थ—देव देवियोंके समान इनके भी समान ही वेद होता है, देव देवियां और भोगभूमिके स्त्री पुरुष इनके नपुंसक वेद तो दोनों प्रकारका होता ही नहीं पुंवेद और स्त्रीवेद भी द्रव्यभाव समान ही होता है विषम नहीं।

नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥ १०९० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण नारकियोंके एक नपुंसक वेद ही होता है। वही तो द्रव्यवेद होता है और वही भाववेद होता है। नारकियोंके द्रव्यसे अथवा भावसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद सर्वथा नहीं होते।

तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीबः स्यात् केवलः किल ॥ १०९१ ॥
पञ्चाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ॥ १०९२ ॥

अर्थ—तिर्यञ्च जातिमें सभी एकेन्द्रिय जीवोंके नपुंसकवेद ही होता है, जितने भी विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) हैं उन सबके केवल नपुंसक वेद ही होता है। और जितने भी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं उन सबके भी केवल नपुंसक वेद ही होता है। वही द्रव्य वेद होता है और वही भाव वेद होता है। दूसरा वेद कभी नहीं होता।

कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च।
तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥ १०९३ ॥

केषाञ्चिद्द्रव्यतः साङ्गः पुंवेदो भावतः पुनः।
स्त्रीवेदः क्लीबवेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च॥ १०९४॥
केषाञ्चित्क्लीबवेदो वा द्रव्यतो भावतः पुनः।
पुंवेदो क्लीबवेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचितः॥ १०९५॥
कश्चिदापर्ययन्यायात्क्रमादस्ति त्रिवेदवान्।
कदाचित्क्लीबवेदो वा स्त्री वा भावात् क्वचित् पुमान्॥१०९६॥

अर्थ—कर्मभूमिमें होनेवाले मनुष्योंके, मानुषियोंके, तिर्यञ्चोंके और तिर्यञ्चिनियोंके कर्मोदयके अनुसार तीनों ही वेद होते हैं। किन्हींके द्रव्य वेद तो पुंवेद वेद होता है अर्थात् उनके शरीरमें पुरुषवेदका चिन्ह होता है, परन्तु भाव वेद उनके स्त्रीवेद, अथवा नपुंसक वेद होता है। अथवा द्रव्यवेदके अनुसार भाववेद भी पुरुषवेद ही होता है। इस प्रकार एक द्रव्यके होते हुए भाववेद कर्मोदयके अनुसार तीनों ही हो सक्ते हैं। ऐसे ही किन्हींके द्रव्य वेद तो नपुंसक वेद होता है परन्तु भाववेद पुंवेद, अथवा नपुंसक वेद अथवा स्त्री वेद तीनों ही हो सक्ते हैं। इसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिये कि किन्हींके द्रव्य वेद तो स्त्री वेद होता है परन्तु भाव वेद पुंवेद अथवा नपुंसक वेद अथवा स्त्री वेद तीनों ही हो सक्ते हैं। कोई आपर्यय न्यायसे अर्थात् क्रमसे परिवर्त्तन करता हुआ तीनों वेदवाला भी हो जाता है, कभी भावसे नपुंसक वेदवाला, कभी स्त्रीवेदवाला और कभी पुरुष वेदवाला। इसका आशय यह है कि कोई तो ऐसे होते हैं जिनके द्रव्य वेदके समान ही भाव वेद होता है, कोई ऐसे हैं जिनके द्रव्य वेद दूसरा और भाव वेद दूसरा ही सदा रहता है जैसे कि जनखा हिजड़ा आदि। परन्तु कोई ऐसे होते हैं जिनके कर्मोदयके अनुसार भाव वेद बदलता भी रहता है। किन्तु द्रव्य वेद सदा सभीके एक ही होता है और वह आजन्म नहीं बदल सक्ता।

त्रयोपि भाववेदास्ते नैरन्तर्योदयात्किल।
निरयंचाबुद्धि पूर्वाःस्युः कचिद्वै बुद्धिपूर्वकाः॥ १०९७॥

अर्थ—ये तीनों ही भाव वेद निरन्तर कर्मोंके उदयसे होते हैं। किन्हींके अबुद्धि पूर्वक होते हैं और किन्हींके बुद्धिपूर्वक होते हैं। **भावार्थ**—बुद्धिपूर्वक भाव उन्हें कहते हैं कि जहांपर समझ पूर्वक—जान करके स्त्रीत्व पुंस्त्व भावोंमें चित्तको लगाया जाता है। और जहांपर केवल पुंवेदादि चारित्र मोह कर्मोंका ही उदय रहता है, स्त्रीत्व पुंस्त्व भावकी वाञ्छा मात्र भी नहीं है वहां अबुद्धि पूर्वक भाव होते हैं एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक जीवोंके अबुद्धिपूर्वक ही भाव वेद होता है। केवल कर्मोदय मात्र है। तथा नवमें गुणस्थान तक जो ध्यानी मुनियोंके भाव वेद बतलाया गया है वह भी केवल कर्मोदय मात्र अबुद्धिपूर्वक ही है। जहां पर मैथुनोपसेवनकी वाञ्छा होती है वहीं बुद्धिपूर्वक भाव वेद है।

तेपि चारित्रमोहान्तर्भाविनो बन्धहेतवः ।
संक्लेशाङ्कैकरूपत्वात् केवलं पापकर्मणाम् ॥ १०९८ ॥

अर्थ—दोनों प्रकारके भी भाववेद चारित्रमोहके उदयसे होते हैं इसलिये उसीमें उनका अन्तर्भाव हो जाता है। तथा संक्लेश स्वरूप होनेसे वे केवल पाप कर्मोंके ही बन्धके कारण हैं।

द्रव्यवेद बन्धका हेतु नहीं है—

द्रव्यलिङ्गानि सर्वाणि नात्रबन्धस्य हेतवः ।
देहमात्रैकरूपत्वे बन्धस्याऽकारणात्स्वतः ॥ १०९९ ॥

अर्थ—जितने भी द्रव्य लिंग हैं वे सभी बन्धके कारण नहीं हैं। क्योंकि शरीरमें उनका चिन्ह मात्र है और चिन्ह मात्र बन्धका स्वयं कारण नहीं हो सक्ता। शरीराकृति बन्धका कारण नहीं हो सक्ती है।

मिथ्यादर्शन—

मिथ्यादर्शनमाख्यातं पाकान्मिथ्यात्वकर्मणः ।
भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किल ॥ ११०० ॥

अर्थ—मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीवका जो मिथ्या भाव होता है वही मिथ्यादर्शन कहलाता है। वह जीवका औदयिक भाव है।

मिथ्यादर्शनका कार्य—

अस्ति जीवस्य सम्यक्त्वं गुणश्चैको निसर्गजः ।
मिथ्याकर्मोदयात्सोपि वैकृतो विकृताकृतिः ॥ ११०१ ॥

अर्थ—जीवका एक स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण भी है, वह भी मिथ्यादर्शनके उदयसे विकारी-वैभाविक हो जाता है।

उक्तमस्ति स्वरूपं प्राङ् मिथ्याभावस्य जन्मिनाम् ।
तस्मान्नोक्तं मनागत्र पुनरुक्तभयात्किल ॥ ११०२ ॥

अर्थ—जीवोंको मिथ्या भाव कितना दुःख दे रहा है उससे जीवोंकी कैसी अवस्था हो जाती है इत्यादि कथन पहले विस्तार पूर्वक किया जा चुका है इसलिये पुनरुक्तिके भयसे यहां उसका थोड़ा भी स्वरूप नहीं कहा है।

अज्ञान भाव—

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम् ।
लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥ ११०३ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाला अज्ञान भाव भी जीवका औदयिक भाव है।

अज्ञानका स्वरूप—

अस्त्यात्मनो गुणो ज्ञानं स्वापूर्वार्थावभासकम् ।
मूर्छितं मृतकं वा स्याद्वपुः स्वावरणोदयात् ॥ ११०४ ॥

अर्थ—आत्माका एक ज्ञान गुण है वह अपने स्वरूपका और दूसरे अनिश्चित पदार्थोंका प्रकाशक है, परन्तु ज्ञानावरण कर्मके उदयसे वह ज्ञान गुण मूर्छित हो जाता है अथवा मृतकके समान हो जाता है । भावार्थ- जिस प्रकार जीवके चले जानेसे मृतक शरीर जड़—अज्ञानी है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मने आत्माके ज्ञान गुणको इतना ढक दिया है कि वह अज्ञानी प्रतीत होता है । यही अज्ञान अवस्था जीवका अज्ञान भाव कहलाता है । यह भाव जब तक आत्मामें केवलज्ञान नहीं होता है तब तक बराबर उदित रहता है ।

अज्ञानभाव बन्धका कारण नहीं है—

अर्थादौदयिकत्वेपि भावस्यास्याऽप्यवश्यतः ।
ज्ञानावृत्याद्रिबन्धेस्मिन् कार्ये वै स्यादहेतुता ॥ ११०५ ॥

अर्थ—यद्यपि अज्ञानभाव औदयिक भाव अवश्य है तथापि वह नियमसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके बन्धका कारण नहीं है ।

नापि संक्लेशरूपोऽयं यः स्याद् बन्धस्य कारणम् ।
यः क्लेशो दुःखमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान् ॥ ११०६ ॥

अर्थ-अज्ञान भाव संक्लेश रूप भी नहीं है जो कि बन्धका कारण हो, परंतु जो क्लेश दुःखकी मूर्ति समझा जाता है, उसके सम्बन्धसे अवश्य क्लेशवान् है । भावार्थ—अज्ञान भाव बन्धका कारण नहीं है परन्तु दुःखमूर्ति अवश्य है । जो संक्लेश बन्धका कारण समझा जाता है उस संक्लेश रूप अज्ञान भाव नहीं है परन्तु जो क्लेश दुःख स्वरूप समझा जाता है उस क्लेश रूप अवश्य है ।

दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गतः ।
वज्राघात इव ख्यातः कर्मणामुदयो यतः ॥ ११०७ ॥

अर्थ—यह अज्ञान रूप भाव स्वभावसे ही दुःखकी मूर्ति है । क्योंकि कर्मोंका उदय मात्र ही वज्रके आघात (चोट) के समान दुःखदाई है । भावार्थ—यद्यपि बन्धका कारण तो केवल मोहनीय कर्म है परन्तु आत्माको दुःख देनेवाला सभी कर्मोंका उदय है ।

शङ्काकार—

ननु कश्चिद्गुणोप्यस्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत् ।
दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः ॥ ११०८ ॥

तत्कथं मूर्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम् ।
सूत्रं द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता यस्माद्वै निर्गुणा गुणाः ॥ ११०९ ॥
न ज्ञानादिगुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद्गुणः सुखम् ।
मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम् ॥ १११० ॥

अर्थ—क्या ज्ञानादि गुणोंके समान कोई सुख गुण भी है ? उस सुख गुणका ही वैभाविक भाव–दुःख है ? और वह दुःख सुखके विपक्षी कर्मके उदयसे होता है । फिर यहां पर मूर्छित ज्ञानको सर्वथा दुःख कैसे कहा गया है ? क्योंकि ' द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ' ऐसा सूत्र है, उसका यही आशय है कि जो द्रव्यके आश्रय रहैं और जो निर्गुण हो उन्हें ही गुण कहते हैं । यदि ज्ञानादि गुणोंमें कोई सुख गुण नहीं है तो मिथ्या भाव, और कषाय इत्यादि दुःख क्यों कहे जाते हैं ? भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय यह है कि क्या ज्ञानादि गुणोंके समान कोई सुख गुण भी है ? और क्या दुःख उसीकी वैभाविक अवस्था है ? यदि है तो फिर अज्ञान भाव, मिथ्या भाव, कषाय भाव इनको ही दुःख क्यों कहा गया है क्योंकि गुणोंमें गुण तो रहते नहीं हैं जब दुःख सुखकी वैभाविक अवस्था है तो वह मूर्छित ज्ञान, वैभाविक दर्शन, वैभाविक चारित्रमें कैसे रह सक्ती है ? यदि ज्ञानादि गुणोंके समान कोई सुख गुण नहीं है तो फिर मिथ्याभावादिको दुःख किस दृष्टिसे कहा जाता है ?

उत्तर—

सत्यं चास्ति सुखं जन्तोर्गुणो ज्ञानगुणादिवत् ।
भवेत्तद्वैकृतं दुःखं हेतोः कर्माष्टकोदयात् ॥ ११११ ॥

अर्थ—ठीक है, ज्ञानादि गुणोंके समान इस जीवका एक सुख गुण भी है, उसीका वैभाविक भाव दुःख है, और वह आठों कर्मोंके उदयसे होता है । भावार्थ–सुख गुण भी आत्माका एक अनुजीवी गुण है, उस गुणको घात करनेवाला कोई खास कर्म नहीं है जैसे कि ज्ञान, दर्शनादिके हैं किन्तु आठों ही कर्म उसके घातक हैं, आठों कर्मोंके उदयसे ही उस सुख गुणकी दुःखरूप वैभाविक अवस्था होती है । यहां पर यदि कोई शंका करे कि आठों ही कर्मोंमें भिन्न भिन्न प्रतिपक्षी गुणोंके घात करनेकी × भिन्न २ शक्ति है, फिर उन्हींमें सुखके घात करनेकी शक्ति कहांसे आई ? इसीका उत्तर देते हैं—

अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका ।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्यात्तद्द्वयस्य च ॥ १११२ ॥

× अघातिया कर्मोंमें प्रतिजीवी गुणोंके घात करनेकी शक्ति है ।

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंके उदयमें दो प्रकारकी शक्तियां हैं। एक सामान्य शक्ति, एक विशेषशक्ति। इस लिये उनका रस भी दो प्रकार ही होता है।

सामान्य शक्तिका स्वरूप—

सामान्याख्या यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात्।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतु पाकागतो रसः॥ १११३॥

अर्थ—समान्य शक्ति सभी कर्मोंकी एक ही है, और वह यही है कि–सम्पूर्ण कर्मोंका उदय रस जीवकी आकुलताका कारण है। भावार्थ–आठों ही कर्मोंके उदयसे जीव व्याकुल होता है। कर्मोंका उदय मात्र ही जीवकी व्याकुलताका कारण है, और जहां व्याकुलता है वहां सुख कहां? इसलिये सभी कर्मोंमें सामान्य शक्ति एक है, उसीसे सुख गुणका घात होता है। विशेष शक्ति उनमें भिन्न २ गुणोंके घात करनेकी है। एक पदार्थमें दो शक्तियां भी होती हैं इसीको दृष्टान्त पूर्वक दिखाते हैं।

न चैतदप्रसिद्धं स्याद दृष्टान्ताद्विषभक्षणात्।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात्॥ १११४॥

अर्थ—कर्मोंमें सामान्य और विशेष ऐसी दो शक्तियां हैं यह बात अप्रसिद्ध–असिद्ध भी नहीं है। दृष्टान्त भी है–विष खानेसे दुःख भी होता है और प्राणोंका नाश भी होता है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञानका घात भी करता है और दुःख भी देता है। अन्यान्य कर्मोंमें भी यही बात है। एक ही विषमें दो कार्य देखनेसे कर्मोंमें भी दो कार्य भलीभांति सिद्ध हैं।

सारांश—

कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च।
अस्ति किञ्चिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक्॥ १११५॥

अर्थ—इसलिये आठों ही कर्म सुख गुणके विपक्षी हैं, कोई जुदा खास कर्म सुख गुणका विपक्षी नहीं है।

वेदनीय कर्म सुखका विपक्षी नहीं है—

वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च।
न यतोस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात्॥ १११६॥

अर्थ—यदि वेदनीय कर्मको सुख गुणका विपक्षी कर्म माना जाय तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैन सिद्धान्तमे यह कर्म अघातिया प्रसिद्ध है। भावार्थ—वेदनीय कर्म अघातिया कर्म है, अघातिया कर्म अनुजीवी गुणोंका घात नहीं कर सक्ता है। सुख गुण

आत्माका अनुजीवी गुण है इसलिये वेदनीय कर्म उसका घातक–विपक्षी नहीं कहा जा सक्ता है । *

असंयत भाव—

असंयतत्वमस्यास्ति भावोप्यौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥ ११९७ ॥

अर्थ—चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला असंयतत्व भाव भी आत्माका औदयिक भाव है । भावार्थ—चारित्रमोहनीय कर्म आत्माके चारित्र गुणका घात करता है । चारित्रका नाम ही संयत–संयम है । जब तक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय रहता है तबतक आत्मामें संयम नहीं प्रकट होता है । किन्तु असंयम रूप अवस्था बनी रहती है । इसलिये चारित्रमोहके उदयसे होनेवाला असंयत भाव भी आत्माका औदयिक भाव है । इतना विशेष है कि चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्तरोत्तर मन्दतासे उस असंयत भावमें भी अन्तर पड़ता चला जाता है । जैसे–चौथे गुणस्थान तक सर्वथा असंयत भाव है * क्योंकि वहां तक अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय एक देश संयम भी नहीं होने देती । पांचवें गुणस्थानमें एक देश संयम प्रकट हो जाता है । परन्तु वहांपर भी प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे सकल संयम नहीं होने पाता । छठे गुणस्थानसे दशवें गुणस्थान तक सकल संयम तो प्रकट हो जाता है परन्तु संज्वलन कषायका उदय होनेसे यथाख्यात संयम नहीं होने पाता । यद्यपि बारहवें गुणस्थानमें प्रतिपक्षी कर्मका

---

* इसी प्रकार मोहनीय कर्म भी सुखका विपक्षी नहीं कहा जा सक्ता है, क्योंकि मोहनीय कर्मका नाश दशवें गुणस्थानके अन्तमें हो जाता है, यदि मोहनीय कर्म ही उसका विपक्षी हो तो वहां पर अनन्त सुख प्रकट हो जाना चाहिये, परन्तु अनन्त सुख तेरहवें गुणस्थानमें प्रकट होता है, जब कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय ये तीनों कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, इसलिये सिद्ध होता है कि चारों ही घातिया कर्मोंमें सुख गुणके घात करनेकी शक्ति है । ऊपर जो आठों ही कर्मोंको सुखका विघातक कहा गया है वह आत्माके पूर्ण स्वरूपकी अप्राप्तिकी अपेक्षासे कहा गया है, वास्तवमें अनुजीवी गुणोंका घात घातिया कर्मोंसे ही होता है । हां दशवें गुणस्थान तक मोहनीयका सम्बन्ध होनेसे आठों ही कर्म सुखके विघातक हैं । चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ कुछ अंशोंमें आत्माका सुख गुण भी प्रकट होता है, वह इसीलिये होता है कि घातिया कर्मोंमेंसे अन्यतम मोहनीयका वहां उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है । इससे भी यह बात भलीभांति सिद्ध है कि सुखका घातक कोई एक कर्म नहीं है किन्तु सम्मिलित कर्मोंकी सामान्य शक्ति है ।

* सूक्ष्म दृष्टिसे वहां भी स्वरूपाचरण संयम है और वह अनन्तानुबन्धी कर्मके अभावसे होता है ।

सर्वथा नाश हो जानेसे पूर्ण संयम प्रगट हो जाता है तथापि योगादि आनुषङ्गिक दोषोंके कारण उसकी पूर्ण पूर्णता चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें ही कही गई है। जहां पर पूर्ण संयम है उसीके उत्तर क्षणमें मोक्ष हो जाती है। यहां पर शंका हो सक्ती है कि जब चारित्रका नाम ही संयम है तब चारित्र मोहनीयके उदयसे होनेवाले कषाय भावोंका नाम ही असंयत है फिर औदयिक भावोंमें कषाय भाव और असंयत भावको जुदा जुदा क्यों गिनाया गया है ? इसका उत्तर यही है कि असंयत व्रताभावको कहते हैं और कषाय आत्माके कलुषित परिणामोंको कहते हैं। यद्यपि जहांपर कलुषित परिणाम हैं वहांपर व्रत भी नहीं हो सक्ते हैं तथापि कार्य कारणका दोनोंमें अन्तर हैं। कषाय भाव व्रताभावमें कारण हैं। इसीलिये अन्तर्भेदकी अपेक्षासे दोनोंको जुदा २ गिनाया गया है, अर्थात् आत्माकी एक ऐसी अवस्था भी होती है कि जहांपर वह व्रतोंको धारण नहीं कर सक्ता है और वह अवस्था आत्माके कलुषित भावोंसे होती है। कलुषित भावोंका नाम ही कषाय है।

संयमके भेद—

संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद्द्वादशधाऽथवा।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥ १११८ ॥

अर्थ—क्रियाकी अपेक्षासे संयमके दो भेद हैं। अथवा विस्तारकी अपेक्षासे उसके बारह भेद हैं। तथा अपने आत्माकी शुद्धोपलब्धि—शुद्धताका होना ही निष्क्रिय—क्रिया रहित संयमका स्वरूप है। भावार्थ—निष्क्रिय संयमका लक्षण इस प्रकार है—"संसारकारणनिवृत्तिम्प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक् चारित्रम्" संसारके कारणोंको दूर करनेवाले सम्यग्ज्ञानीके जिन क्रियाओंसे कर्म आते हैं उन क्रियाओंका शान्त हो जाना ही निष्क्रिय संयम है, अर्थात् संसारको बढ़ानेवाली बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओंका रुक जाना ही निष्क्रिय संयम है। जितनी शुभ अशुभ प्रवृत्ति रूप क्रियायें हैं सब बाह्य क्रियायें हैं। तथा आत्माके जो अविरतादिरूप परिणाम हैं वे सब अभ्यन्तर क्रियायें हैं, इन दोनों प्रकारकी क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाना ही निष्क्रिय संयम है, और वही आत्माकी शुद्धावस्था है। सक्रिय संयम शुभ प्रवृत्ति रूप है उसके दो भेद हैं, अब उन्हें ही कहते हैं।

सक्रिय संयमका पहला भेद—

पञ्चानामिन्द्रियाणाञ्च मनसश्च निरोधनात्।
स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः ॥ १११९ ॥

अर्थ—सक्रिय संयमके पहले भेदका नाम इन्द्रिय निरोध संयम है। वह पांचो इन्द्रियां और मनके रोकनेसे होता है।

सक्रिय संयमका दूसरा भेद—

स्थावराणां च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात् ।
असुसंरक्षणाख्यः स्याद्द्वितीयः प्राणसंयमः ॥ ११२० ॥

अर्थ—सक्रिय संयमके दूसरे भेदका नाम असुसंरक्षण है उसीको प्राण संयम भी कहते हैं । वह पांच स्थावर और त्रस जीवोंकी रक्षा करनेसे होता है ।

प्रश्न—

ननु किं नु निरोधित्वमक्षाणां मनसस्तथा ।
संरक्षणं च किन्नाम स्थावराणां त्रसस्य च ॥ ११२१ ॥

अर्थ—मन और इन्द्रियोंको रोकना तो क्या है और स्थावर तथा त्रस जीवोंकी रक्षा करना क्या है ? अर्थात् इन दोनोंका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नासंयमाय यत् ।
तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम् ॥ ११२२ ॥
त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः ।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ॥ ११२३ ॥

अर्थ—इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे जो ज्ञान होता है वह असंयम नहीं करता है किन्तु इन्द्रिय पदार्थके सम्बन्ध होने पर उस पदार्थमें जो रागद्वेष परिणाम होते हैं वे ही असंयमको करनेवाले हैं । उन रागद्वेषरूप परिणामोंको रोकना ही इन्द्रिय निरोध संयम है । तथा त्रस स्थावर जीवोंका मारनेके लिये मन वचन कायकी कभी प्रवृत्ति नहीं करना ही प्राण संयम है भावार्थ—इन्द्रिय संयम और प्राण संयम इन दोनों में इन्द्रिय संयम पहले किया जाता है, प्राण संयम पीछे होता है । उसका कारण भी यह है कि बिना इन्द्रिय संयमके हुए प्राण संयम हो नहीं सक्ता । इन्द्रियोंकी लालसाओंका रुक जाना ही इन्द्रिय संयम कहलाता है । जब तक शक्तियोंकी लालसा नहीं रुकती तब तक जीवोंका रक्षण होना असंभव है । जितने अनर्थ होते हैं सब इन्द्रियोंकी लालसामे ही होते हैं * अभक्ष्य तथा हरितादि सजीव पदार्थोंका भक्षण भी यह जीव इन्द्रियोंकी लालसासे ही करता है । यद्यपि पुरुष जानता है कि कन्द मूलादि पदार्थोंमें अनन्त जीवराशि है, तथा अचार आदि पदार्थोंमें त्रस राशि भी है तथापि इन्द्रियोंकी तीव्र लालसासे उन्हें छोड़ नहीं सक्ता । इसलिये सबसे पहले इन्द्रिय संयमको धारण करनेकी बड़ी आवश्यकता है । बिना इन्द्रियोंको वशमें किये किसी प्रकारका धर्म निर्विघ्न नहीं पल सक्ता है । इसी

* मद्यमांसादि अभक्ष्य पदार्थोंके सेवन करनेवाले अनेक त्रसजीवोंका घात करते हैं,

लिये सचित्त त्याग प्रतिमावाला पदार्थोंको अचित्तबनाकर खाता है। हरीको नहीं खाता है, जलको प्रासुक बनाकर पीता है। यद्यपि ऐसा करनेसे वह जीव हिंसासे मुक्त नहीं होता, तथापि जितेन्द्रिय अवश्य हो जाता है। स्वादिष्ट पदार्थोंको अस्वादिष्ट बनानेसे इन्द्रियोंकी लालसायें कम हो जाती हैं ÷ इन्द्रिय संयम पालनेवाला ही आगे चलकर आठवीं आरंभ त्याग प्रतिमामें प्राण संयम भी पालने लगता है। परन्तु संकल्पी हिंसाका त्यागी पहलेसे ही होता है। आठवीं प्रतिमामें आरंभ जनित हिंसाका भी वह त्यागी हो जाता है।

इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः *
असंयतत्वं तन्नाम भावोस्त्यौदयिकः स च ॥ ११२४॥

अर्थ—ऊपर कहा हुआ दोनों प्रकारका संयम जहांपर लेश मात्र भी नहीं पाला जाता है वहीं पर असंयत भाव होता है, वह आत्माका औदयिक भाव है।

शंकाकार—

ननु चाऽसंयतत्वस्य कषायाणां परस्परम्।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात्॥ ११२५ ॥

अर्थ—असंयत भाव और कषायोंमें परस्पर क्या अन्तर है क्योंकि दोनों ही एक चारित्र मोहनीयकी पर्याय हैं। अर्थात् दोनों ही चारित्र मोहके उदयसे होते हैं?

÷ इन्द्रियोंकी लालसा घट जानेसे मनुष्य अपना तथा परका बहुत कुछ उपकार कर सक्ता है। अनेक कर्तव्योंमें सफलता प्राप्त कर सकता है। परन्तु उनकी वृद्धि होनेसे मनुष्यका बहुतसा समय इन्द्रिय भोग्य योग्य पदार्थोंकी योजनामें ही चला जाता है। तथा विषयासक्तता में वह निज कर्तव्यको भूल भी जाता है।

* लेशतः पाठसे यह बात प्रकट होती है कि उक्त दोनों संयम यथाशक्ति जघन्य अवस्थामें भी पाले जाते हैं। इसी लिये जो नियम रूपसे पांचवी प्रतिमामें नहीं हैं वे भी पाक्षिक अवस्थामें भी अभ्यास रूपसे हरितादिका त्याग कर देते हैं। कुछ नये विद्वान् पांचवी प्रतिमाके नीचे हरितादिके त्यागका विरोध करते हैं, प्रत्युत: हरितादि भक्षणका विधान करते हैं यह उनकी बड़ी भूल है, क्योंकि विधानका कहीं उपदेश नहीं है जितना भी कथन है सब निषेध मुखसे है चाहे वह थोड़े ही अंशोंमें क्यों न हो। पांचवी प्रतिमामें तो हरितादिका त्याग आवश्यक है, उससे नीचे यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि अभ्यास रूपसे उसका करना प्रशस्य ही है। जितने अंशोंमें भी त्याग मार्ग है उतना ही अच्छा है। इसलिये जो पुरुष अव्रती हैं, यदि वे हरीका पर्वोंमें त्याग करते हैं, उपवासादि धारण करते हैं कन्दमूलका त्याग करते हैं तो ऐसी अवस्थामें अवश्य वे शुभ प्रवृत्तिवाले हैं। भले ही वे मन्द ज्ञानी हों परन्तु अनन्त स्थावर जीवोंके बधसे बच जायेंगे। जितनी भी प्रतिमायें हैं सभी त्यागकी मर्यादाको आवश्यक बतलाती हैं परन्तु उनसे नीची श्रेणीवाला भी लेश मात्र त्यागी अथवा अभ्यस्त दशामें पूर्ण त्यागी भी बन सक्ता है।

उत्तर—

सत्यंचारित्रमोहस्य कार्यं स्याहुभयात्मकम् ।
असंयमः कषायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः ॥ ११२६ ॥

अर्थ—ठीक है चारित्र मोहनीयके ही दो कार्य हैं । उसी एक कर्मके उदयसे असंयम भाव और कषाय भाव होते हैं ।

चारित्र मोहनीयके भेद—

पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः सन्ति षोडश ।
नव नोकषायनामानो न न्यूना नाधिकास्ततः ॥ ११२७ ॥

अर्थ—चारित्र मोहनीय कर्मके पाकसे क्रोधादिक सोलह कषायें और नव नो कषायें होती हैं । इन पचीससे न कम होती हैं और न अधिक ही होती हैं ।

कषायोंका कार्य—

पाकात्सम्यक्त्वहानिः स्यात् तत्रानन्तानुबन्धिनाम् ।
पाकाच्चाप्रत्याख्यानस्य संयतासंयतक्षतिः ॥ ११२८ ॥
प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात् संयमक्षतिः ।
संज्वलननोकषायैर्न यथाख्यातसंयमः ॥ ११२९ ॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धि कषायके उदयसे सम्यग्दर्शनका घात होता है । अ प्रत्याख्यान कषायके उदयसे संयमासंयमका घात होता है । प्रत्याख्यान कषायके उदयसे सकल संयमका घात होता है और संज्वलन और नो कषायोंके उदयसे यथाख्यात संयमका घात होता है ।

इत्येवं सर्ववृत्तान्तः कारणकार्ययोर्द्वयोः ।
कषायनोकषायाणां संयतस्येतरस्य च ॥ ११३० ॥

अर्थ—यह सम्पूर्ण कथन कषाय नोकषाय संयम और असंयमके कार्य कारणको प्रकट करता है । भावार्थ—कषाय नोकषायका असंयमके साथ कार्य कारण भाव है, और उनके अभावका संयमके साथ कार्य कारण भाव है । इतना विशेष है कि जहां जितनी कषायें हैं वहां उतना ही असंयम है ।

किन्तु तच्छक्तिभेदाद्वा नासिद्धं भेदसाधनम् ।
एकं स्याद्वाप्यनेकं च विषं हालाहलं यथा ॥ ११३१ ॥

अर्थ—किन्तु चारित्र मोहनीयमें शक्ति भेदसे भेद साधन असिद्ध नहीं है । जिस प्रकार विषके विष, हालाहल इत्यादि अनेक भेद हो जाते हैं, उसी प्रकार उक्त कर्म भी एक तथा अनेक रूप हो जाता है ।

अस्ति चारित्रमोहे पि शक्तिद्वैतं निसर्गतः
एकश्चाऽसंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ॥ ११३२ ॥

अर्थ—चारित्र मोह कर्ममें भी स्वभावसे दो शक्तियां हैं–(१) असंयत (२) कषाय।

शङ्काकार—

ननु चैवं सति न्यायात्तत्संख्या चाभिवर्धताम्।
यथा चारित्रमोहस्य भेदाः षड्विंशतिः स्फुटम्॥ ११३३॥

अर्थ—यदि कषाय और असंयतभाव दोनों चारित्र मोहके ही भेद हैं तो चारित्र-मोहनीयकी संख्याका बढ़ना भी न्याय संगत है। पचीसके स्थानमें असंयत भावको मिलाकर छब्बीस भेद उसके होने चाहिये?

उत्तर—

सत्यं यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः।
+ आलापापेक्षयाऽसंख्यास्तत्रैवान्यत्र न क्वचित्॥ ११३४॥
नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः।
किन्तु शक्तिविशेषोस्ति सोपि जात्यन्तरात्मकः॥ ११३५॥

अर्थ—ठीक है, जहांपर भिन्न भिन्न जातियोंमें बँटी हुई कार्माण वर्गणायें होती हैं, वहीं पर आलाप (भेद) की अपेक्षासे असंख्यात वर्गणायें भिन्न २ होती हैं। अथवा जहां भिन्न जातिवाली वर्गणायें होती हैं वहीं पर आलापकी अपेक्षासे संख्या भेद होता है, जहां ऐसा नहीं होता वहां कर्मोंकी संख्या भी भिन्न नहीं समझी जाती है। यहां पर भिन्न जातिवाली वर्गणायें नहीं हैं किन्तु एक चारित्र मोहनीयकी ही हैं इसलिये चारित्र मोहकी छब्बीसवीं संख्या नहीं हो सक्ती है परन्तु शक्ति भेद अवश्य है, वह भी भिन्न स्वभाव वाला है। **भावार्थ**—जहां पर जातिकी अपेक्षासे वर्गणाओंमें भेद होता है वहीं पर कर्मोंके नाम भी जुदे २ हो जाते हैं जैसे—मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदि। परन्तु जहां पर जातिभेद नहीं है किन्तु शक्ति भेद है वहां पर कर्मोंकी नाम संख्या जुदी जुदी नहीं होती। जैसे–एक ही मतिज्ञानावरण क्षयोपशमके भेदसे अनेक भेदवाला है। दृष्टान्तके लिये धत्तूरको ही ले लीजिये। धत्तूरकी जड़ भिन्न काममें आती है उसके पत्ते भिन्न काममें आते हैं तथा उसके फल भिन्न काममें आते हैं परन्तु वृक्ष एक धत्तूरके नामसे ही कहा जाता है। इसलिये जहां पर शक्ति भेद होता है वहां पर नाम भेद नहीं भी होता। यदि विना जातिभेदके केवल शक्तिभेदसे ही नाम भेद माना जाय तो चारित्र मोहनीयका ही भेद–अनन्तानुबन्धी कषाय [illegible] और चारित्रको घात करनेकी शक्ति रखता है, उसके भेदसे भी चारित्र मोहनीयके छब्बीस भेद होने चाहिये। इसी प्रकार संज्वलन

+ 'आलापापेक्षया संख्या तत्रैवान्यत्र न क्वचित्' ऐसा संशोधित पुस्तकमें पाठ है। यही ठीक प्रतीत होता है इसीलिये ऊपरसे दूसरा अर्थ लिखा गया है।

कषायके कुछ स्पर्धक प्रमत्त भावको पैदा करते हैं, कुछ नहीं करते वहां भी शक्ति भेदसे चारित्र मोहके अधिक भेद होने चाहिये ? इस लिये जहां जातिभेद होता है वहीं पर संख्या भेद भी होता है यहां पर जातिभेद नहीं है। जहां पर जिस जातिकी कषाय है वहां पर उसी जातिका व्रताभाव—असंयत है।

कषाय और असंयमका लक्षण—

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम् ।
व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ॥ ११३९ ॥

अर्थ—जीवके कलुषित भावोंका नाम ही कषाय है यही कषायका लक्षण है। तथा जीवके व्रत रहित भावोंका नाम ही असंयम है। **भावार्थ**—कषायका स्वरूप गोमट्टसारमें भी इस प्रकार कहा है " सुहदुःखसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स, संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति। सम्मत्तदेससयलचरित्तजहखादचरण परिणामे घादंति वा कषाया चउसोल असंख-लोगमिदा " जिस प्रकार कोई किसान एक बीघा, दो बीघा दश बीघा खेतको जोतता है, जोतनेके पीछे उसमें धान्य पैदा करता है। उसी प्रकार यह कषाय तो किसान है, जीवका कर्मरूपी खेत है, उस खेतकी अनन्त संसार हद (मर्यादा) है, उस खेतको यह कषायरूपी किसान बराबर जोतता रहता है, फिर उससे सांसारिक सुख दुःखरूपी धान्य पैदा करता है। अर्थात् जो जीवके परिणामोंको हलके समान कषता रहे उसे, कषाय कहते हैं। अथवा सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र रूप जीवके शुद्ध परिणामोंको जो घाते उसे कषाय कहते हैं। कषायें चार हैं--(१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ। ये चारों ही क्रमसे चार चार प्रकारके होते हैं उनके दृष्टान्त इस प्रकार हैं—एक तो ऐसा क्रोध जैसे कि पत्थर पर रेखा। एक ऐसा जैसे पृथ्वी पर रेखा। एक ऐसा जैसे धूलिपर रेखा। एक ऐसा जैसे पानीपर रेखा। पत्थर पर की हुई, रेखा गाढ़ होती है, बहुत काल तक तो ऐसी ही बनी रहती है। पृथ्वीपर की हुई उससे कम कालमें नष्ट होजाती है, इसी प्रकार धूलि और जल-रेखायें क्रमसे अति शीघ्र मिट जाती हैं। क्रोध कषायका यही भेद क्रमसे नरक, तिर्यक्, मनुष्य देवगतियोंमें जीवको लेजाता है। जैसे क्रोधकी तीव्रमन्दादिकी अपेक्षासे चार शक्तियां है उसी प्रकार मान, माया, लोभ की हैं। मानके दृष्टान्त—पर्वत, हड्डी, काठ, बेंत। मान कषायको कठोरताकी उपमा दी गई है। पर्वत बिलकुल सीधा रहता है थोड़ा भी नहीं मुड़ता। इसी प्रकार तीव्र मानी सदा पर्वतके समान कठोर और सीधा रहता है, इससे कम दर्जेवाले मानीको हड्डीकी उपमा दी है। हड्डी यद्यपि कठोर है तथापि पर्वतकी अपेक्षा कम है। काठ और बेंतमें क्रमसे बहुत कम कठोरता है। ये चारो मान कषायें भी क्रमसे नरकादि गतियोंमें ले जानेवाली हैं। मायाको वक्रता (कुटिलता—टेढ़ापना—मुड़ा हुआ) की उपमा

दी है उसके दृष्टान्त ये हैं—वेणुके नीचेका भाग, भैंसका सींग, गौका मूत्र, खुरपा। वेणुके नीचेका भाग बहुत गांठ गंठीला होता है। तथा उत्तरोत्तर कम कुटिलता है। वे चारों माया कषायें भी क्रमसे नरकादि गतियोंमें ले जानेवाली हैं। लोभकी चिक्कणतासे उपमा दी है। उसके दृष्टान्त ये हैं—कृमि राग, अर्थात् हिरमिजीका रंग पहियेकी औंगन, शरीरका मल, हल्दीका रंग। ये चारों लोभ कषायें भी क्रमसे नरकादि गतियोंमें ले जानेवाली हैं। जीवके व्रत रहित भावोंका नाम असंयम है, किन्हीं परिणामोंमें यह जीव अष्टमूल गुणोंको भी धारण नहीं कर सक्ता है। किन्हीं परिणामोंमें अष्ट मूल गुणोंको धारण कर लेता है परन्तु अणुव्रतोंको नहीं धारण कर सक्ता है। कहींपर अणुव्रतोंको तो धारण कर लेता है परन्तु उनके अतीचारोंको नहीं छोड़ सक्ता है। कहीं पर महाव्रतोंको धारण नहीं कर सक्ता है। जब तक असंयम भावका उदय रहता है तब तक आत्मा व्रतोंको धारण करनेके लिये तत्पर नहीं होता है।

कषाय और असंयमका कारण—

एतद्द्वैतस्य हेतुः स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः।
चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि॥ ११३७॥

अर्थ—कषाय भाव और असंयम भावका कारण—दो शक्तियोंको धारण करनेवाला केवल चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है। किसी दूसरे कर्मका उदय इन दोनोंमें सर्वथा कारण नहीं है।

दोनों साथ ही होते हैं—

यौगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयतत्वयोः।
समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोस्य तथोदयात्॥ ११३८॥

अर्थ—कषायभाव और असंयनभाव ये दोनों साथ साथ होते हैं, क्योंकि समान दो शक्तियोंको धारण करनेवाले चारित्र मोहनीय कर्मका उदय ही वैसा होता है।

दृष्टान्त—

अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत्।
घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चरित्रयोः॥ ११३९॥

अर्थ—दो शक्तियोंको धारण करनेवाले कर्मके उदयसे एक साथ दो भाव उत्पन्न होते हैं इस विषयमें अनन्तानुबन्धी कषायका दृष्टान्त भी है—सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्रको घात करने रूप दो शक्तियोंको धारण करनेवाली अनन्तानुबन्धि कषाय जिस समय उदयमें आती है उस समय सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनों ही गुण नष्ट हो जाते हैं।

शंकाकार—

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात्।
देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ॥ ११४०॥

अर्थ—जब कि अप्रत्याख्यानके उदयसे देशव्रतकी और प्रत्याख्यानके उदयसे महाव्रतकी क्रम क्रमसे क्षति होती है तब अप्रत्याख्यानके उदय समयमें महाव्रत क्यों नहीं हो जाता क्योंकि उस समय महाव्रतको रोकनेवाला प्रत्याख्यानका तो उदय रहता ही नहीं और यदि अप्रत्याख्यानके उदयकालमें प्रत्याख्यानका भी उदय माना जाय तो दोनोंका क्रमक्रमसे उदय क्यों कहा है ?

उत्तर—

सत्यं तत्राविनाभावो बन्धसत्वोदयं प्रति ।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥ ११४१ ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानके उदयकालमें प्रत्याख्यानका भी उदय रहता है इसलिये तो अप्रत्याख्यानके उदयकालमें महाव्रत नहीं होता और पांचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानके उदयका अभाव होनेपर भी प्रत्याख्यानका उदय रहता है इसलिये कथंचित् क्रमसे उदय कहा जाता है तथा अप्रत्याख्यानका उदय कहनेसे प्रत्याख्यानका भी उदय आजाता है क्योंकि अप्रत्याख्यानके बंध उदय और सत्त्व प्रत्याख्यानके बंध उदय और सत्त्वके साथ अविनाभावी हैं, अर्थात् प्रत्याख्यानके बंधोदय सत्त्वके बिना अप्रत्याख्यानके बंध उदय सत्त्व नहीं होसकते। इसलिये चौथे गुणस्थान तक दोनोंका उदय रहते हुए भी अप्रत्याख्यानका उदय कहनेमें कोई दोष नहीं आता । अविनाभावी पदार्थोंमें एकका कथन करनेसे दूसरेका कथन स्वयं होजाया करता है । यहां यह शंका होसकती है कि जब अन्यतरका ही (किसी एकका) प्रयोग करना इष्ट है तब अप्रत्याख्यानके स्थानमें प्रत्याख्यानका ही प्रयोग क्यों नहीं किया जाता अर्थात् जैसे अप्रत्याख्यानके उदयसे प्रत्याख्यानके उदयका बोध होता है उसी प्रकार प्रत्याख्यानका उदय कहनेसे अप्रत्याख्यानके उदयका भी बोध हो जाना चाहिये परंतु इसका उत्तर यह है कि अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यानके उदयकी परस्पर विषम व्याप्ति है क्योंकि चौथे गुणस्थान तक अप्रत्याख्यानका उदय तो विना प्रत्याख्यानके उदयके नहीं रहता किंतु पांचवें गुणस्थानमें प्रत्याख्यानका उदय अप्रत्याख्यानके उदयके विना भी रह जाता है। इसलिये अप्रत्याख्यानकी जगह प्रत्याख्यानका प्रयोग नहीं होसकता ।

असिद्धत्वभाव—

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यत ।
व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातेः कर्माष्टकोदयात् ॥ ११४२ ॥

अर्थ—असिद्धत्वभाव भी औदयिक भाव है । यह भाव आठों कर्मोंके उदयसे होता है । भिन्न २ कर्मोंके उदयसे भी होता है और आठों कर्मोंके सम्मिलित उदयसे भी होता है।

सिद्धत्वगुण—

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोवस्थान्तरं पृथक्।
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम् ॥ ११४३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित पुरुषकी शुद्ध अवस्थाका नाम ही सिद्धत्वगुण अथवा सिद्धावस्था है। वह अवस्था ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्यादि आठ गुण स्वरूप है। **भावार्थ**—ज्ञानावरण कर्मने आत्माके ज्ञानगुणको ढक रक्खा है। जीवोंमें ज्ञानकी जो न्यूनाधिकता पाई जाती है वह ज्ञानावरण कर्मकी न्यूनाधिकताके निमित्तसे ही पाई जाती है। मूर्खोंसे विद्वानोंमें, विद्वानोंसे महाविद्वानोंमें ज्ञानका आधिक्य पाया जाता है उनसे ऋषियोंमें, तथा उनसे महर्षियों और गणधरोंमें ज्ञानका आधिक्य उत्तरोत्तर होता गया है परन्तु यह सब ज्ञान क्षयोपशमरूप ही है। जहां पर ज्ञानावरणरूपी पर्दा सर्वथा हट जाता है वहीं पर यह आत्मा समस्त लोकालोकको जाननेवाला सर्वज्ञ हो जाता है। उस सर्वज्ञ-ज्ञानमें समस्त पदार्थोंकी समस्त पर्यायें साक्षात् झलकती हैं। हर एक आत्मामें सर्वज्ञ—ज्ञानको प्राप्त करनेकी शक्ति है परन्तु ज्ञानावरण कर्मने उस शक्तिको मेघोंसे ढके हुए सूर्यके समान छिपा दिया है। इसी प्रकार दर्शन गुणको दर्शनावरण कर्मने ढक रक्खा है। संसारमें जो जीव देखे जाते हैं उनमें कितने तो ऐसे हैं जो केवल पदार्थोंको छूना ही जानते हैं, उनके मुह, नाक, आंख, कान, नहीं होते, दृष्टान्तके लिये वृक्षको ही ले लीजिये। वृक्षके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है उसीसे वह पानीका स्पर्श कर वृद्धि पाता है। इसी कोटिमें पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वाले जीव भी हैं। इन जीवोंके पृथिवी आदि ही शरीर हैं इसलिये हम सिवा उस पृथ्वी जल आदि स्थूल शरीरके उनका प्रत्यक्ष नहीं कर सक्ते हैं। उन जीवोंकी चेतना कर्मोंसे गहरी आच्छादित है इसलिये केवल वृक्ष पर्वतादिकी वृद्धिसे उनका अनुमान कर लेते हैं। कुछ जीव पदार्थोंको छूते हैं और चखते हैं। उनके पहले जीवोंकी अपेक्षा एक मुंह (रसना इन्द्रिय) अधिक है। इन जीवोंकी चेतना कर्मोंके कुछ मंद होनेसे पदार्थके रसका अनुभव भी कर सक्ती है। कुछ जीवोंमें पदार्थोंकी गन्ध जाननेकी भी शक्ति है ऐसे जीवोंके नासिका इन्द्रिय भी होती है इस श्रेणीमें चींटियां, मकोड़े आदि जीव आते हैं। इन जीवोंके आंखे कान नहीं होते हैं। भ्रमर, बर्रें, मक्खी आदि जीव देख भी सक्ते हैं। और कुछ जीव सुन भी सक्ते हैं। और कुछ जीव ऐसे होते हैं जो मनमें पदार्थोंका अनुभव भी करते हैं। इस श्रेणीमें मनुष्य पशु आदि आते हैं। यहांपर विचारनेकी यह बात है कि जैसे मनुष्य आंखसे जितना देखता है क्या वह उतनी ही देखनेकी शक्ति रखता है? नहीं, वह सम्पूर्ण आत्मासे समस्त पदार्थोंके देखनेकी शक्ति रखता है, परन्तु देखता क्यों नहीं? देखता इस लिये नहीं, कि वह आंख रूपी झरोखेसे परतन्त्र हो रहा है। दर्शनावरण कर्मने

उसके दर्शन गुणको ढक दिया है केवल थोड़ासा क्षयोपशम होनेसे वह आंख रूपी झरोखेसे देख सक्ता है । जिन जीवोंके इतना भी क्षयोपशम नहीं होता वे विचारे इतना भी नहीं देख सक्ते अर्थात् उनके आंख भी नहीं होती, जैसा कि पहले कहा गया है । इसका दृष्टान्त स्पष्ट ही है जैसे एक आदमी बंद मकानमें बंद कर दिया जाय तो वह बाहरकी वस्तुओंको नहीं देख सक्ता है । परन्तु उस मकानकी यदि एक खिड़की खोल दी जाय तो वह खिड़कीके सामने आये हुए पदार्थोंको देख सक्ता है यदि दूसरी खिड़की भी खोल दी जाय तो उसके सामने आए हुए पदार्थोंको भी वह देख सक्ता है । इसी प्रकार पूर्व पश्चिमकी तरह उत्तर दक्षिणकी तरफकी खिड़की भी यदि खोल दी जाय तो उधरके पदार्थोंको भी वह देख सक्ता है । यदि सब मकानकी भित्तियोंको गिरा दिया जाय और चौपट कर दिया जाय तो वह आदमी चारों ओरके पदार्थोंको देख सक्ता है । दूसरा दृष्टान्त दर्पणका ले लीजिये । एक विशाल दर्पण पर यदि काजल पोत दिया जाय तो उसमें सर्वथा मुंह दिखाई नहीं देता है । परन्तु उसी दर्पण पर एक अंगुली फेर कर उसका अंगुलीके बराबरका भाग स्वच्छ कर दिया जाय तो उतने ही भागमें दीखने लगेगा । यदि दो अंगुली फेरी जायँ तो कुछ अधिक दीखने लगेगा इसी प्रकार तीन चार पांच अंगुलियोंके फेरनेसे बहुत अच्छा दीखने लगेगा । कपड़ेसे अच्छी-तरह पूरे दर्पणको साफ कर दिया जाय तो सर्वथा स्पष्ट और पूर्णतासे दीखने लगेगा । इसी प्रकार आत्मामें सम्पूर्ण पदार्थोंके देखनेकी शक्ति है परन्तु दर्शनावरण कर्मने उस शक्तिको ढक रक्खा है । उसीके निमित्तसे आत्मा इन्द्रियरूपी झरोखोंके बन्धनमें पड़कर पदार्थको स्पष्टतासे नहीं देख सक्ता है । और न सूक्ष्म और दूरवर्ती पदार्थको ही देख सक्ता है । आत्मा जब दर्शनावरण कर्मके बन्धनसे मुक्त होता है तब वह इन्द्रियोंकी सहायतासे नहीं देखता है, किन्तु आत्मासे साक्षात् देखने लगता है उसी समय अखिल पदार्थोंका वह प्रत्यक्ष भी कर लेता है जैसे कि खिड़कीसे देखनेवाला मकानको फोड़ देनेसे खिड़कियोंकी सहायताके विना आसपासके समस्त पदार्थोंको देख लेता है । वेदनीय कर्म अनेक प्रकारसे सांसारिक सुख दुःख देता रहता है । यद्यपि वेदनीय कर्म अघातिया है तथापि रति कर्म और अरति कर्मका सम्बन्ध होनेके कारण वह आत्माको आघात पहुंचाता है* इसीलिये वेदनीय कर्मका पाठ घातिया कर्मोंके बीचमें दिया है। जबतक वेदनीय कर्मका सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा सांसारिक सुख दुःखकी बाधासे बाधित रहता है । वेदनीय कर्मके दो भेद हैं (१) साता (२) असाता । असाताके उदयसे तो इस जीवको असाता होती ही रहती है परन्तु साताके उदयसे जो साता होती है वास्तवमें वह भी असाता ही है। संसारी जीव सदा दुःखोंसे सन्तप्त रहता है इसलिये

* ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानोंमें रति अरतिका उदय न होनेसे वेदनीय कर्म कुछ नहीं कर सक्ता ।

साताके उदयसे जो सुखसा प्रतीत होने लगता है उसे ही वह सच्चा सुख समझता है। वास्तवमें वह सुख नहीं है किन्तु दुःखकी कमी है। सांसारिक सुखका उदाहरण ऐसा है जैसे किसी आदमीमें कोई मुद्गरकी मार लगावे और लगाते २ थक जाय तो उस समय पिटनेवाला समझता है कि अब कुछ साता मिली है। ठीक इसी प्रकार दुःखकी थोड़ी कमीको ही यह जीव सुख समझने लगता है। सांसारिक सुखके विषयमें स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा है 'कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता। अर्थात् (१) सांसारिक सुख कर्मोंके अधीन हैं। जब तक शुभ कर्मोंका उदय है तभी तक है। (२) इसी लिये उसका अन्त भी शीघ्र हो जाता है (३) बीच बीचमें उसके दुःख भी आते रहते हैं (४) और पापका बीज है अर्थात् जिन बातोंमें संसारी सुख समझता है वे ही बातें पापबन्धकी कारणभूत हैं इसलिये सांसारिक सुख दुःखका कारण अथवा दुःख रूप ही है। वेदनीय कर्मका अभाव हो जानेसे आत्मा अव्याबाध गुणका भोक्ता हो जाता है। आत्माके उस निराकुल स्वरूप अव्याबाध (बाधा रहितपना) गुणको वेदनीय कर्मने ढक रक्खा है मोहनीय कर्मके विषयमें पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। आठों कर्मोंमें एक यही कर्म अनर्थोंका मूल है। यह कर्म सब कर्मोंका राजा है। यही आठों कर्मोंके बन्धका कारण है। मोहनीय कर्ममें दूसरे कर्मोंसे एक बड़ी विशेषता यही है कि दूसरे गुण तो अपने प्रतिपक्षी गुणोंको ढकते ही हैं परन्तु मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षी गुणको विपरीत स्वादु बना देता है। यह कर्म आत्माके प्रधान गुण सम्यक्त्व और चारित्रका घात करता है। इसी कर्मने जीवोंको कुपथगामी—भ्रष्ट—अनाचारी तथा रागी द्वेषी बना रक्खा है। इस कर्मके दूर हो जानेसे आत्मा परम वीतराग—शुद्धात्मानुभवी हो जाता है। आयु कर्म बेड़ीका काम करता है। जिस प्रकार किसी दोषीको बेड़ीसे जकड़ देने पर फिर वह कहीं जा नहीं सक्ता, इसी प्रकार यह संसारी जीव भी गतिरूपी जेलखानोंमें आयुरूपी बेड़ीसे जकड़ा रहता है जब तक आयु कर्म रहता है तब तक इसे मृत्यु भी नहीं उठा सक्ती है। नरकगतिमें वर्णनातीत दुःखोंको सहन करता है परन्तु आयु कर्म वहांसे टलने नहीं देता है। आयु कर्मके चार भेद हैं, उनमें तिर्यगायु, मनुष्यायु, देवायु ये तीन आयु शुभ हैं। नरकायु अशुभ है। आयु कर्मके उदयसे यह जीव कभी किसी शरीरके आकारमें बंधा रहता है कभी किसी शरीरके आकारमें बंधा रहता है परंतु अपने वास्तविक स्वरूपका अवगाहन नहीं करता है, अर्थात् अपने स्वरूपमें नहीं ठहर पाता है। इसलिये आयुकर्मने जीवके अवगाहन गुणको छिपा रक्खा है।

नाम कर्मने आत्माके सूक्ष्मत्व गुणको रोक रक्खा है। इस कर्मके उदयसे आत्मा गति, जाति, शरीर, अंग, उपांग, आदि अनेक प्रकारके अनेक रूपोंको धारण करता हुआ स्थूल पर्यायी बन गया है। वास्तवमें गत्यादिक विकारोंसे रहित—अमूर्तिक आत्माका सूक्ष्म स्वरूप

है। परन्तु नाम कर्मने उस सूक्ष्मताको छिपा दिया है। जिस प्रकार किसी कारखानेका एक इञ्जन अनेक कार्योंको करता है, उसी प्रकार नामकर्म भी आत्माको अनेक रूपोंमें घुमाता है। नाम कर्मकी उपमा एक बहु रूपधारी–बहुरूपियासे ठीक घटती है। जिस प्रकार बहु रूपोंको धारण करनेवाला बहुरूपिया अपने असली सूक्ष्म स्वरूपको छिपा रखता है, उसी प्रकार नाम कर्मने आत्माके असली–सूक्ष्म स्वरूपको छिपा रक्खा है और स्थूल पर्यायोंसे उसे बहु रूप-धारी–बहुरूपिया बना रक्खा है।

आत्मा अनन्त गुणधारी, निर्विकार शुद्ध है उसमें न नीचता है और न उच्चता है वह सदा एकसा है, परन्तु गोत्र कर्मने उसे ऊंच नीच बना रक्खा है। नीच गोत्रके उदयसे यही अनन्त गुण धारी आत्मा कभी नीच कहलाने लगता है और उच्च गोत्रके उदयसे कभी उच्च कहलाने लगता है। गोत्र कर्मका कार्य गोमट्टसारमें इसप्रकार है 'संताणकमेणा-गय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा, उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं, अर्थात् कुल परम्परासे चला आया जो जीवका आचरण है उसकी गोत्र संज्ञा है। उस कुल परम्परामें यदि उच्च आचरण है तो वह उच्च गोत्र कहलाता है। यदि निंद्य हीन आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहलाता है। यद्यपि उच्च नीच गोत्रमें आचरणकी अवश्य प्रधानता है, परन्तु साथ ही कुल परम्पराकी भी प्रधानता अवश्य है। अन्यथा किसी क्षत्रिय राजाके जो पुत्र होता है वह जन्म दिनसे ही उच्च कहलाने लगता है। इसी प्रकार एक चाण्डालके जो पुत्र होता है वह जन्म दिनसे ही नीच कहलाने लगता है। यदि उच्च नीचका आचरणसे ही सम्बन्ध हो तो जन्म दिनसे लोक उन्हें उत्तम और नीच क्यों समझने लगते हैं। उन्होंने अभी कोई आचरण नहीं प्रारंभ किया है। यदि कहा जाय कि उन्होंने आचारण भले ही न किया हो परन्तु उनके माता पिता तो अपने आचरणोंसे उच्च नीच बने हुए हैं, उन्हींके यहां जो बालक जन्म लेता है वह भी उसी श्रेणीमें शामिल किया जाता है तो सिद्ध हुआ कि साक्षात् आचरण उच्च नीचका कारण नहीं है, किन्तु कुल परस्परा ही प्रधान कारण है। गोत्र कर्मका लक्षण बनाते हुए स्वामी पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें भी यही कहा है–यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रं, यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्, जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोंमें जन्म हो उसे उच्चगोत्र कहते हैं। और जिसके उदयसे निंद्य कुलोंमें जन्म हो उसे नीचगोत्र कहते हैं। इस उच्चगोत्र नीचगोत्रके लक्षणसे यह बात स्पष्ट है कि कुल परम्परासे ही उच्चता नीचताका व्यवहार होता है। साक्षात् आचरणोंसे नहीं होता। इसका कारण भी यही है कि गोत्र कर्मका उदय वहींसे प्रारंभ होजाता है जहांसे कि यह जीव एक पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायमें जाने लगता

है। अर्थात् विग्रहगतिमें ही उच्च अथवा नीच कर्मका उदय प्रारंभ होजाता है, और जैसा कर्मका उदय होता है वैसी ही इस जीवको पर्याय मिलती है इसीलिये— उस कर्मोदयके कारण ही उस जीवको जन्म समयसे ही संसार उच्च नीचका व्यवहार करने लगता है। लोकमें यह व्यवहार भी प्रसिद्ध है कि कोई आदमी यदि ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर शिल्पीका कार्य करने लगे तो लोग उसे यही कह कर पुकारते हैं कि यह जातिका तो ब्राह्मण है परन्तु हीन कर्म करता है, उसे हीन कर्म करते हुए भी उस पर्यायमें शूद्र कोई नहीं कहता है। यदि साक्षात् आचारणोंसे ही वर्ण व्यवस्था मान ली जाय तो उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्मका उदय ही निरर्थक है। कर्मोदयको निरर्थक मान लेनेसे संसारका सब रहस्य ही उठ जाता है। आयु कर्मका बन्ध नित्य होता है वह छूटता नहीं है और जीवको उस पर्यायमें नियमसे ले जाता है। यदि इसको भी अकिंचित्कर समझ लिया जाय तो फिर जीवका घूमना ही बन्द हो जाय परन्तु जब तक कर्म हैं तब तक ऐसा होना असंभव है। वे अपना शुभाशुभ फल देते ही हैं। दूसरी बात यह भी है कि एक मनुष्यने जीवनभरमें कोई काम न किया हो, वैसे ही पड़े २ आनंदसे जीवन विताया हो तो उस जीवनमें संसार उसे किस वर्णका कहकर पुकारेगा? उससे उच्चताका व्यवहार किया जायगा या नीचताका? क्योंकि उसने साक्षात् आचरण तो कोई किया नहीं है। विना साक्षात् आचरणके वर्ण व्यवस्था नहीं मानने वालोंके मतसे उसे वर्ण रहित कहें अथवा चारों वर्णोंसे अतिरिक्त कुल हीन--पञ्चमवर्णवाला कहें? क्योंकि उसके साथ उच्चता अथवा नीचताका कुछ न कुछ व्यवहार करना ही होगा। उस व्यवहारका आधार वहां आचरण तो है नहीं, इसलिये विना कुल परम्परासे आई हुई उच्चता नीचताको स्वीकार किये किसी प्रकार काम नहीं चल सक्ता। जो लोग कुलागत वर्ण व्यवस्थाका लोप करते हैं वे अविचारितरम्य-कर्म विजयी साहसी हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे लोग भी माता पिताको उपदेश देते हुए कहा करते हैं यदि तुम योग्य पुत्र चाहते हो तो अपने भाव उन्नत रक्खो, तुम्हारे जैसे भाव होंगे पुत्रमें भी वे भाव होंगे, इस उपदेशसे स्वभावकृत संस्कारोंका ही प्राधान्य सिद्ध होता है।* इसलिये गुण कर्मसे नहीं,

* यदि स्वभावकृत उच्चता नीचता न हो, और संस्कारोंको कारणता न मानी जाय तो भारतवासी क्यों लार्ड घरानों—राज घरानोंके शासकोंको चाहते हैं? इसीलिये न, कि वे स्वभावसे उदारचेता होते हैं? स्वभावसे जैसे कुलमें यह जीव उत्पन्न होता है वैसे मार्गपर स्वयं चलने लगता है, इस विषयमें एक दृष्टान्त है कि किसी जंगलमें एक गीदड़का बच्चा सिंहिनीके हाथ लग गया। सिंहिनीने उसे छोटा—प्यारा होनेके कारण पाल लिया। जब सिंहिनीके बच्चे पैदा हुए तब वह गीदड़ उन्हींके साथ खेलने लगा। एकवार सब बच्चे किसी दूसरे

किन्तु स्वभावसे ही गोत्र व्यवस्था न्यायसङ्गत है । परम्परा गुण कर्म भी कारण हैं । इस प्रकारकी उच्चता और नीचता इस गोत्र कर्मके कारण ही आत्मा प्राप्त करता है, गोत्र कर्मके अभावमें वह अगुरुलघु है । न तो बड़ा है और न छोटा है, यह छोटा बड़ा उच्च नीच व्यवहार कर्मसे होता है । गोत्र कर्मने आत्माके उस अलौकिक अगुरुलघु गुणको छिपा दिया है । अन्तराय कर्मने आत्माकी वीर्य शक्तिको नष्ट कर रक्खा है । वीर्य शक्ति आत्माका निज गुण है, उसीको आत्मिक बलके नामसे पुकारा जाता है । शारीरिक बल और आत्मिक बलमें बहुत अन्तर है । शारीरिक बलवालोंसे जो कार्य नहीं हो सक्ते हैं वे आत्मिक बल वालोंसे अच्छी तरह हो जाते हैं । योगियोंमें यद्यपि शारीरिक बल नहीं है वे तपस्वी हैं साथ ही क्षीण शरीरी भी हैं परन्तु आत्मिक बल उनमें बहुत बढ़ा हुआ है उसीका प्रभाव है कि वे इतने साहसी हो जाते हैं कि सिंहोंसे भरे हुए अति भयानक जंगलमें निर्भय होकर ध्यान लगाते हैं । यह उनके आत्मिक बलका ही परिणाम है । बहुतसे विद्वान् मानसिक बलको ही आत्मीक बल समझते हैं उन्हें यह पूछना चाहिये कि वह मानसिक बल ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तब तो सिद्ध हो चुका कि ज्ञानसे बल दूसरा गुण है, परन्तु ज्ञानमें वह सहायक अवश्य है, उसीके निमित्तसे मानसिक ज्ञानमें उसकी उपचरित कल्पना कर ली जाती है । जितनी जिसकी आत्मिक बल शक्ति प्रबल है । उतना ही उसका ज्ञान भी पुष्ट होता है यदि ज्ञानसे वह अभिन्न है तो उसमें बल शब्दका प्रयोग किस आशयसे किया जाता है ? इसलिये यह बात निर्धारित है कि ज्ञानसे अतिरिक्त एक वीर्य नामा भी आत्माकी शक्ति है। उस शक्तिका शारीरिक बलसे सम्बन्ध अवश्य है । बाह्य शक्ति अन्तरंग शक्तिमें सहायक है । आत्मा जितना किसी पदार्थका ज्ञान करता है उतनी अन्तरंग बल शक्ति भी साथ ही उसमें सहायता पहुंचाती है । इसीलिये आचार्योंने

जंगलमें निकल गये, वहां हाथियोंका झुण्ड देखकर उनपर वे सिंहिनीके बच्चे, सिंह टूट पड़े, परन्तु इस भयास्पद कौतुकसे गीदड़ डरकर पीछे भागा । सिंहिनीके बच्चे भी अपने बड़े भाईको लौटता हुआ देख लौट तो पड़े परन्तु उनसे न रहा गया, वे मातासे बोले मा ! आज हमें बड़े भाईने हाथियोंकी शिकारसे रोक दिया है यह ठीक नहीं किया है । सिंहिनीने मनमें सोचा कि इसका कुल तो गीदड़ोंका है इसलिये इसमें डरपोक स्वभाव मेरे पास रहनेपर भी आ ही जाता है । उसने एकान्तमें उस गीदड़को बुलाकर उसे हितकर यह उपदेश दिया "शूरोसि कृतविद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रक ! यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते" हे पुत्र ! तू शूरवीर है, विद्यावान् है, देखनेमें योग्य है, परन्तु जिस कुलमें तू पैदा हुआ है उस कुलमें हाथी नहीं मारे जाते इसलिये तू शीघ्र ही अब यहांसे भाग जा, अन्यथा ये मेरे बच्चे तुझे कहां तक बचाये रक्खेंगे । तात्पर्य यही है कि कुलका संस्कार कितना ही विद्यावान् क्यों न हो, आ ही जाता है । वह उस पर्यायमें नहीं मिटता ।

केवलज्ञानके अन्तर्गत अनन्त वीर्यका सद्भाव बतलाया है। जहां पर आत्मामें वह अनन्त वीर्य शक्ति प्रकट हो जाती है वहां फिर शारीरिक बलकी उसे आवश्यक्ता नहीं पड़ती है। उस अनन्त वीर्य शक्तिको अन्तराय कर्मने रोक रक्खा है। जितना २ अन्तराय कर्मका क्षयोपशम होता जाता है उतना २ ही आत्मिक बल क्षयोपशम रूपसे संसारी जीवोंमें पाया जाता है। उसी अन्तराय कर्मके दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ऐसे पांच भेद हैं। किसी सेठके यहां बहुतसा धन भी है परन्तु उसके देनेके परिणाम नहीं होते, समझना चाहिये उसके दानान्तराय कर्मका उदय है। दो आदमी एक दिन और एक ही साथ व्यापार करने निकलते हैं, एक उसमें हानि उठाता, एक लाभ उठाता है, समझना चाहिये कि एकका अन्तराय कर्म तीव्र है, एकका मन्द है। भोग्य-योग्य सामग्री रक्खी हुई है परन्तु उसे किसी कारणसे भोग नहीं सक्ता है, समझना चाहिये उसके भोगान्तराय कर्मका उदय है। अन्तराय कर्मने आत्माकी वीर्यादि शक्तियोंको रोक रक्खा है। इस प्रकार आठों ही कर्मोंने आत्माकी अनन्त अचिन्त्य शक्तियोंको छिपा दिया है इसलिये आत्माकी असली अवस्था प्रकट नहीं हो पाती। आत्मा अल्पज्ञानी नहीं है, अल्पदृष्टा भी नहीं है, मिथ्या दृष्टिभी नहीं है, दुःखी भी नहीं हैं, शरीरावगाही भी नहीं है, स्थूल भी नहीं है, छोटा बड़ा भी नहीं है, और अशक्त भी नहीं है, किन्तु वह अनन्त ज्ञानी—सर्वज्ञ है, सम्यग्दृष्टि है, सर्व दृष्टा है, अनन्त शक्तिशाली है, सूक्ष्म है, अगुरुलघु है, आत्मावगाही है, अव्याबाध—बाधा रहित है। इन्हीं अचिन्त्य शक्तियोंसे जब आत्मा विकसित होने लगता है अर्थात् जब ये आठ गुण उसके प्रकट होजाते हैं तभी वह सिद्ध कहलाने लगता है। आत्माकी शुद्ध अवस्थाका नाम ही सिद्ध है। अथवा ज्ञानादि—शक्तियोंके पूर्ण विकाशका नाम ही सिद्ध है। इसी अवस्थाका नाम मोक्ष है। आत्माकी शुद्धावस्था—सिद्धावस्थाको छोड़ कर मोक्ष और कोई पदार्थ नहीं है। कर्म मल कलङ्कसे रहित आत्माकी स्वाभाविक अवस्थाको ही मोक्ष कहते हैं * जब तक कर्मोंका सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा मुक्त नहीं कहा जा सक्ता। अर्हन्त देवके यद्यपि घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे स्वाभाविक गुण प्रकट हो गये हैं तथापि अघातिया कर्मोंके सद्भावसे प्रतिजीवी गुण प्रकट नहीं हुए हैं आयुकर्मने अभी तक उन्हें शरीरावगाही ही बना रक्खा है। वेदनीय कर्म यद्यपि अर्हन्त देवके

---

* निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति। अर्थात् समस्त कर्म मल कलङ्कसे रहित अशरीर आत्माकी अचिन्त्य—स्वाभाविक ज्ञानदर्शन सुखवीर्य अव्याबाधा स्वरूप अवस्थाका नाम ही मोक्ष है।

सर्वार्थसिद्धि।

कुछ सुख दुःख नहीं पहुंचा सक्ता है क्योंकि उसके परम सहायक मोहनीय कर्मको वे नष्ट कर चुके हैं, अपने सखाके वियोगमें वेदनीय भी सर्वथा क्षीण हो चुका है ÷ तथापि योगके निमित्तसे अभी तक कर्मोंका आना जाना लगा हुआ है, यद्यपि अब उन कर्मोंको आत्मामें स्थान नहीं मिल सक्ता है, स्थान देनेवाली आकर्षण शक्तिको तो वे पहले ही नष्ट कर चुके हैं तथापि योगद्वारके खुले रहनेसे अभी तक वेदनीयके आने जानेकी बाधा सी (वास्तवमें कुछ बाधा नहीं है) लगी हुई है। इस प्रकार अघातिया कर्मोंने आत्माकी प्रतिजीवी शक्ति-योंको × छिपा रक्खा है। और घातिया कर्मोंने इसकी अनुजीवी शक्तियोंको छिपा रक्खा है। उपर्युक्त कथनसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि आठों ही कर्मोंके उदयसे असि-द्धत्व भाव होता है और उनके अभावमें आत्मा सिद्ध हो जाता है। *

+ णट्ठाय राय दोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो।
तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं ॥

गोमट्टसार।

अर्थात् केवली भगवानके (अर्हन्तके) रागद्वेष सर्वथा नष्ट हो चुका है, इन्द्रियजन्य ज्ञान भी नष्ट हो चुका है, इसलिये उनके साता असाता वेदनीयसे होनेवाला इन्द्रियजन्य सुखदुःख नहीं होता है।

× सत्तात्मक गुणत्व रहित—कर्मोंके अभावसे होनेवाली अवस्थाको ही प्रतिजीव शक्ति कहते हैं।

* अट्ठवियकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।

गोमट्टसार।

अर्थ—सिद्धोंका स्वरूप इस प्रकार है—(१) अष्टकर्मसे रहित (२) वीतरागी-परमशान्त (३) रागद्वेष-मलसे सदाके लिये मुक्त (४) नित्य-फिर संसारमें कभी नहीं लौटनेवाले (५) अष्टगुण सहित (६) कृतकृत्य—निष्क्रिय—सृष्टिके निर्माता नहीं (७) (७) लोकाग्रभागमें निवास करनेवाले। इन विशेषणोंसे परमतोंका खण्डन भी होजाता है। पर मतवाले ईश्वरका स्वरूप—मुक्त जीवका स्वरूप इस प्रकार मानते हैं—'सदाशिवः सदाकर्मा सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितं, मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिं। क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो यौगश्च मन्यतेऽकृतकृत्यं तमीशानो मण्डली चोर्ध्वगामिनम्, अर्थात् शिव मतवाले मुक्त जीव ईश्वरको सदा कर्म रहित मानते हैं, उसे अनादिसे ही कर्म रहित मानते हैं, परन्तु वास्तवमें ईश्वर ऐसा नहीं है। सभी जीवोंके पहले कर्ममल होते हैं पीछे उनका नाश करनेवाले ईश्वरीय अवस्थाको प्राप्त करते हैं। संसार पूर्वक ही मुक्ति होती है। जो कर्मबन्धनसे छूटता है वही मुक्त कहलाता है इसी बातको प्रकट करनेके लिये सिद्धोंका विशेषण—अष्ट कर्म रहित, दिया है अर्थात् पहले वे कर्मोंसे सहित थे पीछे कर्मोंसे छूटे हैं। सांख्य सिद्धान्त मुक्त जीवको सुख रहित मानता है, परन्तु वास्तवमें मुक्त जीवके संसारी जीवोंकी अपेक्षा परम—अलौकिक—अनन्त

जब तक संसार है सिद्धावस्था नहीं होती—

नेदं सिद्धत्वमेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम् ॥ ११४४ ॥

सुख प्रकट होजाता है–इसीलिये सिद्धोंका परम शान्त–परम सुखी ऐसा विशेषण दिया है। मस्करी–मस्कफूर मतवाले मुक्त जीवका फिर संसारमें आना स्वीकार करते हैं इसको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये सिद्धोंका विशेषण–निरञ्जन दिया है, अब उनके रागद्वेष अञ्जन नहीं है इसलिये अब वे कभी कर्मोंके जालमें नहीं आ सकते हैं। कर्मोंका कारण राग द्वेष है। जब कारण ही नहीं तो कार्य भी किसी प्रकार नहीं हो सक्ता है। इसलिये एकवार मुक्त हुए जीव फिर कभी नहीं संसारमें लौटते। आर्य समाज भी मुक्त जीवका लौटना स्वीकार करते हैं, उनका सिद्धान्त भी मिथ्या है। बौद्ध दर्शन मुक्त जीव (पदार्थ मात्र) को क्षणिक मानता है परन्तु सर्वथा क्षणिकता सर्वथा बाधित है, सर्वथा क्षणिक मानने पर मुक्ति संसार आदि किसी पदार्थकी व्यवस्था नहीं बन सकती है इसीलिये सिद्धोंका नित्य विशेषण दिया है। सिद्ध सदा नित्य है वे सदा सिद्ध पर्यायमें ही रहेंगे। उनमें अनित्यता कभी नहीं आसक्ती है। योगदर्शन मुक्त जीवको निर्गुण मानता है, नैयायिक और वैशेषिक भी मुक्त जीवके बुद्धि सुखादि गुणोंका नाश मानते हैं। ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि जीव गुण स्वरूप ही है। गुणोंका नाश माननेसे जीवका ही नाश हो जाता है। दूसरे–गुण नित्य होते हैं उनका नाश होना ही असंभव है। तीसरे–उक्त दर्शनवाले ही जीवका और गुणोंका समवाय सम्बन्ध बतलाते हैं और समवाय सम्बन्ध उन्हींके मतमें नित्य स्वीकार किया है, नित्य भी कहना और नाश भी कहना स्वयं उनके मतसे ही उनका मत बाधित करना है। इसलिये गुणोंका सिद्धोंमें नाश नहीं होता किन्तु उनमें गुण पूर्ण रूपसे प्रकट हो जाते हैं इसीसे सिद्धोंका 'अष्ट गुणसहित' विशेषण दिया है। ईशान मतवाले मुक्त जीवको कृतकृत्य नहीं मानते हैं अर्थात् मुक्त जीवको भी अभी काम करना बाकी है ऐसा उनका सिद्धान्त है इसी सिद्धान्तके अन्तर्गत ईश्वरको सृष्टि कर्ता माननेवाले आते हैं। परन्तु शरीर रहित, इच्छा रहित, क्रिया रहित मुक्त जीवके सृष्टिका करना हरना कुछ नहीं हो सक्ता है। सृष्टि सदासे है। उसका करना, हरना भी असिद्ध ही है। और उपर्युक्त तीन बातोंसे रहित मुक्त जीवके भी उसका करता, हरता असिद्ध है। इसीलिये सिद्धोंका 'कृतकृत्य' विशेषण दिया है। सिद्ध सदा वीतराग–अलौकिक–आत्मोत्थ–परमानन्दका आस्वादन करते हैं उन्हें कोई कार्य करना नहीं है। मण्डली नामक सिद्धान्त मुक्त जीवको सदा ऊर्ध्वगमन करता हुआ ही मानता है अर्थात् मुक्त जीव जबसे ऊपर गमन करता है तबसे बराबर करता ही रहता है कहीं ठहरता ही नहीं। इस सिद्धान्तका निराकरण–'लोकाग्रनिवासी, इस विशेषणसे हो जाता है। जहां तक धर्म द्रव्य है वहीं तक अनंत शक्ति होनेके कारण एक समयमें ही मुक्त जीव चला जाता है, धर्म द्रव्यके अभावसे आगे नहीं जा सक्ता। धर्म द्रव्य लोक तक है इसलिये सिद्ध जीव लोकाग्रमें ठहर जाते हैं।

अर्थ—जब तक महा अनर्थोंका घर संसार ही इस जीवका सब कुछ है। तब तक इसके सिद्धत्वभाव नहीं होता है किन्तु असिद्धत्व रहता है **भावार्थ**-जब तक इस जीवके अष्ट कर्मोंका सम्बन्ध है तब तक इसके सिद्ध पर्याय नहीं होती है। जीवकी अशुद्ध पर्याय संसारावस्था है। इसके छूटने पर उसकी शुद्ध पर्याय प्रकट हो जाती है। उसीका नाम सिद्ध पर्याय है।

लेश्या—भाव—

लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः ।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः ॥ ११४९ ॥

अर्थ—लेश्याओंके छह भेद हैं-१ कृष्ण २ नील ३ कापोत ४ पीत ५ पद्म ६ शुक्ल। इन्हीं छह भेदोंसे लेश्यायें प्रसिद्ध हैं। लेश्यायें भी जीवके औदयिक भाव हैं। क्योंकि लेश्यायें योग और कषायोंके उदयसे होती हैं। कर्मोंके उदयसे होनेवाले आत्माके भावोंका नाम ही औदयिक भाव है। **भावार्थ**—कषायोंके उदयसे रंजित योग प्रवृत्तिका नाम लेश्या है। गोमट्टसारमें भी लेश्याका लक्षण इसी प्रकार है—जोग पउत्ती लेस्सा कसाय उदयाणु-रंजिया होई। तत्तोदोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुदिट्ठं। अर्थात् कषायोंके उदयसे अनुरंजित (सहित) योगोंकी प्रवृत्तिका नाम ही लेश्या है। कर्मके ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम योग है अर्थात् अंगोपांग और शरीर नाम कर्मके उदयसे मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा इन तीन वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणाका अवलम्बन करनेवाली—कर्म ग्रहण करनेकी जो जीवकी शक्ति है उसीका नाम योग है। उस योगके उक्त तीन वर्गणाओंके अवलम्बन करनेसे तीन भेद हो जाते हैं (१) मनोयोग (२) वचनयोग (३) काययोग। जिस वर्गणाका अवलम्बन होता है, योगका नाम भी वही होता है, परन्तु किसी भी एक योगसे कर्म नोकर्म सभीका ग्रहण होता है। इतना विशेष है कि एक समयमें एक ही योग होता है। योगोंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होते है। जिस जातिकी योगप्रवृत्ति होती है उसी जातिका कर्मग्रहण होता है। इस जीवके प्रति समयमें अनन्तानन्त वर्गणाओंका समूहरूप—एक समय प्रबद्ध ÷ आता है। उसके आनेमें योग ही कारण है। योगके निमित्तसे ज्ञानावरणादि अष्टकर्म और आहारादि नोकर्म अनन्तानन्त परमाणुओंके परिणामको लिये हुए खिंच आते हैं। जो कर्म आते हैं उनमें तीन प्रकारकी वर्गणायें होती हैं (१) गृहीत—जिनको इस जीवने पहले भी कभी ग्रहण किया था (२)

÷ परमाणूहिं अणंतहिं वग्गणसण्णा हु होदि एका हु।
तहि अणंतहिं णियमा समयपबद्धो हवे एको।

गोमट्टसार।

अर्थात् अनन्त परमाणुओंकी मिलकर वर्गणा संज्ञा है। ऐसी २ अनंत वर्गणाओंका समूह समय प्रबद्ध कहलाता है।

अगृहीत—जिनको पहले कभी ग्रहण नहीं किया था (३) गृहीतागृहीत जिनमेंसे कुछको पहले ग्रहण किया था, कुछको नवीन ग्रहण किया है। योगके साथ ही कषायोंका उदय रहता है। वह आए हुए कर्मोंमें स्थिति अनुभाग बन्ध डालता है। आये हुए कर्म—आत्माके साथ बँधे हुए कर्म कितने काल ठहरेंगे, और उनमें कितना रस पड़ा है यह कार्य कषायोंका है। अर्थात् कर्मोंमें नियमित काल तक स्थिति डालना और उनकी इस शक्तिमें हीनाधिकता करना कषायोंका कार्य है। जिस प्रकार योगोंकी तीव्रतासे अधिक कर्मोंका ग्रहण होता है उसी प्रकार कषायोंकी तीव्रतासे कर्मोंमें स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध अधिक पड़ता है। मन्द कषायोंसे मन्द पड़ता है। इस प्रकार प्रकृतिबंध * प्रदेशबंध योगसे होते हैं। स्थिति बंध अनुभाग बन्ध कषायसे होते है। योग कषायके समुदायका नाम ही लेश्या है। इसलिये लेश्या ही चारों बंधोंका कारण है। लेश्याके दो भेद हैं (१) भावलेश्या (२) द्रव्यलेश्या। वर्णनाम कर्मके उदयसे जो शरीरका रंग होता है उसे ही द्रव्य लेश्या कहते हैं। द्रव्य लेश्या जन्म पर्यन्त एक जीवके एक ही होती है। जिसका जैसा शरीरका रंग होता है वही उसकी द्रव्य लेश्या समझनी चाहिये। द्रव्य लेश्याके रंगोंके भेदसे अनेक भेद होजाते हैं। स्थूलतासे द्रव्य लेश्याके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ऐसे छह भेद हैं। तथा प्रत्येकके उत्तर भेद अनेक हैं। वर्णकी अपेक्षासे भ्रमरके समान कृष्णलेश्या, नीलमणि (नीलम) के समान नीललेश्या, कबूतरके समान कापोती लेश्या, सुवर्णके समान पीत लेश्या, कमलके समान पद्मलेश्या, शंखके समान शुक्ललेश्या होती है। इनमें प्रत्येकके तरतम वर्णकी अपेक्षासे अथवा मिश्रकी अपेक्षासे अनेक भेद हैं। तथा इन्द्रियोंसे ग्राह्यताकी अपेक्षासे संख्यात भेद हैं। स्कन्धोंकी अपेक्षासे असंख्यात भेद हैं। परमाणुओंकी अपेक्षासे अनन्त भेद हैं। गतिओंकी अपेक्षासे सामान्य रीतिसे द्रव्यलेश्याका विधान इस प्रकार है—सम्पूर्ण नारकियोंके कृष्णलेश्या ही होती है। कल्पवासी देवोंके जैसी भाव लेश्या

---

* प्रकृति स्वभावको कहते हैं। जैसे अमुक पुरुषका कठोर स्वभाव है, अमुकका सरल है, स्वभावके निमित्तसे उस स्वभावी पुरुषका भी वही नाम पड़ जाता है जैसे—कठोर स्वभाववाले पुरुषको कठोर कह देते हैं। सरल स्वभाववाले पुरुषको सरल कह देते हैं। इसी प्रकार किन्हीं कर्मोंमें ज्ञानके घात करनेकी प्रकृति—स्वभाव है। उस प्रकृतिके निमित्तसे उस कर्मको भी उसी प्रकृतिके नामसे कह देते हैं जैसे—ज्ञानावरण कर्म। यद्यपि ज्ञानावरण—ज्ञानका आवरण करना उसका स्वभाव है तथापि स्वभाव स्वभावीमें अभेद होनेसे स्वभावीको भी ज्ञानावरण कह देते हैं। सभी कर्मोंको इसी प्रकार समझना चाहिये। इस प्रकार आठों प्रकृतियों वाले आठों कर्मोंका बन्ध होना प्रकृति बंध कहलाता है। इतना विशेष है कि आयुकर्मका बंध उदयागत आयुके त्रिभागमें होता है। शेष सातों कर्मोंका प्रति समय होता है।

होती है वैसी ही द्रव्यलेश्या भी होती है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, मनुष्य, तिर्यञ्च, इनके छहों द्रव्यलेश्यायें होती हैं। उत्तम भोगभूमिवालोंकी सूर्यके वर्णके समान, मध्यम भोग भूमिवालोंकी चन्द्रके वर्णके समान, जघन्य भोगभूमिवालोंकी हरित द्रव्यलेश्या होती है। विग्रहगतिवाले जीवोंकी शुक्लेश्या होती है। इस प्रकार शरीर नाम कर्म और वर्ण नाम कर्मके उदयसे यह जीव जैसा शरीर ग्रहण करता है वैसी ही द्रव्यलेश्या इसके होती है। परन्तु द्रव्यलेश्या कर्मबन्धका कारण नहीं है। कर्मबन्धका कारण केवल भाव लेश्या है। कषायोदय जनित—परिस्पन्दात्मक आत्माके भावोंका नाम ही भाव लेश्या है। द्रव्य लेश्याके समान भावलेश्याके भी कृष्णादिक छह भेद हैं, परन्तु द्रव्यलेश्याके समान भावलेश्या सदा एकसी नहीं रहती है किन्तु वह बदलती रहती है। यहांपर भावलेश्याका थोड़ासा विवेचन कर देना आवश्यक है, क्योंकि भावलेश्याके अनुसार ही यह जीव शुभाशुभ कर्मोंका * बन्ध करता है। कषायोंके उदयस्थान असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। उनमें बहु भाग तो अशुभ लेश्याओंके संक्लेशरूप स्थान होते हैं और एक भाग प्रमाण शुभ लेश्याओंके विशुद्ध स्थान होते हैं। परन्तु सामान्यतासे ये दोनों भी असंख्यात लोक प्रमाण ही होते हैं। कृष्णादि छहों लेश्याओंके शुभ स्थानोंमें यह आत्मा जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त मंद मंदतर मन्दतम रूपसे परिणमन करता है और उन्हींके अशुभ स्थानोंमें उत्कृष्टसे जघन्य पर्यन्त तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र रूपसे परिणमन करता है। इसप्रकार प्रत्येकमें इन छह रूपोंसे हानि वृद्धि होती रहती है। इस आत्माके संक्लेश परिणामोंकी जैसी २ कमी होती है, वैसे २ ही यह आत्मा कृष्णको छोड़कर नील लेश्यामें आता है, और नीलको छोड़कर कापोती लेश्यामें आता है। तथा संक्लेशकी क्रमसे वृद्धि होनेपर कपोतसे नील और नीलसे कृष्ण लेश्यामें आता है। इस प्रकार संक्लेश भावोंकी हानि वृद्धिसे यह आत्मा तीन अशुभ लेश्याओंमें परिणमन करता है। तथा विशुद्धिकी वृद्धि होनेसे क्रमसे पीतसे पद्म तथा पद्मसे शुक्लमें आता है। और विशुद्धिकी हानि होनेसे क्रमसे शुक्लसे पद्म और पद्मसे पीत लेश्यामें आता है, इसप्रकार विशुद्ध भावोंकी हानि वृद्धिसे यह आत्मा शुभ लेश्याओंमें परिणमन करता है। सामान्य रीतिसे चौथे गुणस्थान तक छहों लेश्यायें होती हैं। पांचवे, छठे, सातवें, इन तीन गुणस्थानोंमें पीतपद्मशुक्ल ही होती हैं। ऊपरके गुणस्थानोंमें केवल शुक्ल लेश्या ही होती है। लेश्याओंकी सत्ता तेरहवें गुण स्थानतक बतलाई गई है वह उपचारकी अपेक्षासे बतलाई

* लिम्पइ अप्पी कीरइ एदाये णियमपुण्ण पुण्णं च, जीवोत्ति होदि लेस्सा, लेस्सा गुण जाणयक्खादा। गोमट्टसार।

अर्थात् जिन भावोंसे यह आत्मा पुण्य पापका बन्ध करता है उन्हीं भावोंको आचार्योंने लेश्या कहा है।

गई है। वास्तवमें लेश्याओंका सद्भाव दशवें गुणस्थानतक ही है क्योंकि वहीं तक कषायोंके उदय सहित योगोंकी प्रवृत्ति है। ऊपरके गुणस्थानोंमें कषायोदय न होनेसे लेश्याओंका लक्षण ही नहीं जाता है। इसलिये ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानोंमें उपचारसे लेश्या कही गई है * उपचारका भी यह कारण है कि इन गुणस्थानोंमें अभी योग प्रवृत्तिका सद्भाव है। यद्यपि कषायोदय नहीं है तथापि दशवें गुणस्थान तक कषायोदयके साथ २ होनेवाली योग प्रवृत्ति अब भी है। इसलिये योग प्रवृत्तिके सद्भावसे तथा भूत पूर्व नयकी अपेक्षासे उपर्युक्त तीन गुणस्थानोंमें उपचारसे लेश्याका सद्भाव कहा गया है + चौदहवें गुणस्थानमें योग प्रवृति भी नहीं है इसलिये वहां उपचारसे भी लेश्याका सद्भाव नहीं है। विशेष—नारकियोंके कृष्ण नील कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें ही (भावलेश्या) होती हैं! मनुष्य तिर्यञ्चोंके छहों लेश्यायें हो सक्ती हैं। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क देवोंके आदिसे पीत पर्यन्त लेश्यायें होती हैं परन्तु इनकी अपर्याप्त अवस्थामें अशुभ होती हैं। तथा आदिके चार स्वर्गों तक पीत लेश्या होती है तथा पद्मका जघन्य अंश होता है। बारहवें स्वर्ग तक पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्याका जघन्य अंश होता है। इनसे ऊपर शुक्ल लेश्या होती है। परन्तु नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानोंमें शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है। सम्पूर्ण लेश्याओंका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। कृष्णलेश्याका उत्कृष्ट काल तेतीस सागर है। नील लेश्याका सत्रह सागर है। कापोत लेश्याका सात सागर है। पीत लेश्याका दो सागर है। पद्मलेश्याका अठारह सागर है (शुक्ल लेश्याका कुछ अधिक तेतीस सागर है। छहों लेश्याओं वाले जीवोंकी पहचानके लिये उन लेश्याओंवाले जीवोंके कार्य इस प्रकार हैं—कृष्ण लेश्यावाला जीव—तीव्र क्रोध करता है, वैरको नहीं छोड़ता है। युद्धके लिये सदा प्रस्तुत रहता है, धर्म, दयासे रहित होता है, दुष्ट होता है, और किसीके वशमें नहीं आता है।* नील लेश्या वाला जीव—मंद, विवेकहीन, अज्ञानी, इन्द्रियलम्पट, मानी मायावी, आलसी, अभिप्रायको छिपाने वाला, अति निद्रालु, ठग, और धन धान्य लोलुप होता है।×

* "मुख्याभावे, सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते" अर्थात् जहां पर मुख्यका अभाव हो परन्तु कोई प्रयोजन अथवा निमित्त अवश्य हो वहीं पर उपचार कथन होता है।

+ णट्ठकसाये लेस्सा उच्चदि सा भूदपुव्व गदिणाया, अहवा जोगपउत्ती मुक्खोत्ति तहिं हवे लेस्सा। गोमट्टसार।

* चंडो ण मुचइ वेरं, भंडण सीलो य धम्मदय रहिओ।
दुट्ठो णय एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स
× मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलोय।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य।
णिद्दा वंचण बहुलो धण धण्णे होदि तिव्वसण्णाय।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स।

कपोत लेश्यावाला जीव-क्रोधी, अन्यकी निंदा करनेवाला, दूसरोंको दोषी कहनेवाला, शोक और भय करनेवाला दूसरेकी सम्पत्ति पर डाह करनेवाला, दूसरेका तिरस्कार करनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवाला, दूसरे पर विश्वास नहीं करनेवाला, अपने समान दूसरोंको (दुष्ट) समझनेवाला स्तुति करनेवाले पर प्रसन्न होनेवाला, अपने हानि लाभको नहीं समझनेवाला, रणमें मरनेकी इच्छा रखनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवालेको धन देनेवाला, और कार्य अकार्यको नहीं समझने वाला होता है ।+ पीत लेश्यावाला जीव कार्य अकार्य तथा सेव्य असेव्यको समझनेवाला, सबोंपर समान भाव रखनेवाला, दया रखनेवाला, और दान देनेवाला होता है । * पद्म लेश्यावाला जीव-दानी, भद्र परिणामी, सुकार्यकारी, उद्यमी, सहनशील, और साधु-गुरु पूजक होता है ÷ शुक्ल लेश्यावाला जीव-पक्षपात रहित, निदान बन्ध नहीं करनेवाला समदर्शी इष्ट अनिष्ट पदार्थोंसे राग द्वेष रहित, और कुटुम्बसे ममत्व रहित होता है × छहों लेश्याओंवाले जीवोंके विचारोंके विषयमें एक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है-छह पथिक जंगलके मार्गसे जा रहे थे, मार्ग भूलकर वे घूमते हुए एक आमके वृक्षके पास पहुंच गये। उस वृक्षको फलोंसे भरा हुआ देखकर कृष्णलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं इस वृक्षको जड़से उखाड़कर इसके आम खाऊंगा, नीललेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं जड़से तो इसे उखाड़ना नहीं चाहता किन्तु स्कन्ध (जड़से ऊपरका भाग) से काटकर इसके आम खाऊंगा । कपोतलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं तो बड़ी २ शाखाओंको ही गिरा कर आम खाऊंगा । पीतलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं बड़ी २ शाखाओंको तोड़कर समग्र वृक्षकी हरियालीको क्यों नष्ट करूँ, केवल इसकी छोटी २

\+ रूसइ णिंदइ अण्णे, दूसइ बहुसो य सोय भय बहुलो ।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो ॥
णय पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परंपि मण्णंतो ।
थूसइ अभित्थुवंतो णय जाणइ हाणि वड्ढि वा ॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणोदु ।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥
\+ जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्व समपासी ।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥
* चागी भद्दो चोक्खो उज्जव कम्मो य खमदि बहुगंपि ।
साहु गुरु पूजण रदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥
× णय कुणइ पक्खवायं णविय णिदाणं समोय सव्वेसिं ।
णत्थि य रायद्दोसा णेहोवि य सुक्कलेस्सस्स ॥

गोमट्टसार ।

डालियों (टहनियों) को तोड़कर ही आम खाऊँगा। पद्मलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं तो इसके फलोंको ही तोड़कर खाऊंगा। शुक्लेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि तुम तो फलोंके खानेकी इच्छासे इतना २ बड़ा आरंभ करनेके लिये उद्यत हो, मैं तो केवल वृक्षसे स्वयं टूटकर गिरे हुए फलोंको ही बीनकर खाऊंगा। इन्हीं लेश्यागत भावोंके अनुसार यह आत्मा आयु और गतियोंका बन्ध करता है। जैसी इसकी लेश्या (भाव) होती है उसीके अनुसार आयु और गतिका बन्ध इसके होता है। परन्तु सम्पूर्ण लेश्यागत भावोंसे आयुका बन्ध नहीं होता है किन्तु मध्यके आठ अंशो द्वारा ही होता है। अर्थात् लेश्याओंके सब छब्बीस अंश हैं। उनमें मध्यके आठ अंश ऐसे होते हैं जो कि आयु बन्धकी योग्यता रखते हैं। उन्हींमें आयुका बंध होसक्ता है। बाकीके अंशोंमें नहीं हो सक्ता। ये मध्यके आठ अंश आठ अपकर्ष कालोंमें होते हैं। अपकर्ष नाम घटनेका है अर्थात् भुज्यमान आयुके दो भाग घट जानेपर अवशिष्ट एक भागके प्रमाण अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण कालका नाम अपकर्षकाल है। इन्हीं कालोंमें आयुबन्धके योग्य लेश्याओंके मध्यके आठ अंश होते हैं। परन्तु जिस अपकर्षमें आयुबन्धके योग्य आठ मध्यम अंशोंमेंसे कोई अंश होगा उसी अपकर्षमें आयुका बन्ध होगा औरोंमें नहीं। इसीलिये किसीके आठों अपकर्षोंमें आयुका बन्ध होसक्ता है, किसीके सब अपकर्षोंमें नहीं होता किन्तु किसी २ में होता है। किसीके आठों ही अपकर्षोंमें नहीं होता है। जिसको आठों ही अपकर्षोंमें बन्धकी योग्यता नहीं मिलती हैं उसके आयुके अन्त समयमें एक आवलिका असंख्यातवां भाग शेष रह जाने पर उससे पहले अन्तर्मुहूर्त्तमें अवश्य आयु बन्ध होता है। दृष्टान्तके लिये—कल्पना करिये एक मनुष्यकी ६५६१ वर्ष की भुज्यमान (वर्तमान—उदय प्राप्त) आयु है। उसके पहला अपकर्ष काल २१८७ वर्ष शेष रह जाने पर पड़ेगा। इस कालके प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें यदि आयुबंधके योग्य आठ मध्यम अंशोंमेंसे कोई अंश हो तो परभवकी आयुका बंध हो सकता है। यदि यहां पर कोई अंश न पड़े तो ७२९ वर्ष शेष रहने पर दूसरा अपकर्ष काल पड़ेगा वहां आयुका बन्ध हो सकता है। यदि वहां भी आयुबंधकी योग्यता नहीं मिली तो तीसरा अपकर्षकाल २४३ वर्ष शेष रह जाने पर पड़ेगा। इसी प्रकार ८१ वर्ष शेष रहने पर चौथा, २७ वर्ष शेष रहने पर पांचवा, ९ वर्ष शेष रहने पर छठा, ३ वर्ष शेष रह जानेपर सातवां और भुज्यमान आयुमें कुल १ वर्ष शेष रह जानेपर आठवां अपकर्षकाल पड़ेगा। उन आठोंमेंसे जहां बंधकी योग्यता हो वहीं पर आयुका बंध हो सकता है। सबोंमें योग्यता हो तो सबोंमें हो सकता है। यदि कहीं भी योग्यता न हो तो मरण समयमें अवश्य ही परभवकी आयुका बंध होता है। इतना विशेष कि जिस अपकर्षमें जैसा लेश्याका अंश पड़ता है उसीके अनुसार शुभ या अशुभ आयुका

बंध होता है। इसीलिये आचार्योंका उपदेश है कि परिणामोंको सदा उज्वल बनाओ, नहीं मालूम किस समय आयुका त्रिभाग पड़ जाय। मरण कालमेंसे तो अवश्य ही क्रोधादिका त्याग कर शान्त हो जाओ क्योंकि मरणकालमें तो आयुबंधकी पूर्ण संभावना है। इसीलिये समाधि मरण करना परम आवश्यक तथा परम उत्तम कहा गया है। *

उपर्युक्त आयुबन्धके योग्य आठ अंशोंको छोड़कर बाकीके अठारह अंश योग्यतानुसार चारों गतियोंके कारण होते हैं। अठारह अंशोंमेंसे जैसा अंश होगा उसीके योग्य गति बन्ध होगा। शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए जीव नियमसे सर्वार्थसिद्धि जाते हैं। उसीके जघन्य अंशसे मरे हुए जीव बारहवे स्वर्ग तक जाते हैं तथा मध्यम अंशसे मरे हुए आनतसे ऊपर सर्वार्थसिद्धिसे नीचे तक जाते हैं। पद्मलेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए जीव सहस्रार स्वर्ग जाते हैं उसके जघन्य अंशसे मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग जाते हैं और मध्यम अंशसे मरे हुए इनके मध्यमें जाते हैं। पीतलेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए सनत्कुमार माहेन्द्र तक जाते हैं। उसके जघन्य अंशसे मरे हुए सौधर्म ईशान स्वर्गतक जाते हैं और मध्यम अंशसे इनके मध्यमें जाते हैं। इसप्रकार इन शुभलेश्याओंके अंशों सहित मरकर जीव स्वर्ग जाते हैं। और कृष्णलेश्या, नीललेश्या कापोतीलेश्याओंके उत्कृष्ट जघन्य मध्यम अंशोंसे मरे हुए जीव सातवें नरकसे लेकर पहले नरक तक यथायोग्य जाते हैं। तथा भवनत्रिकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तकके देव और सातों पृथिवियोंके नारकी अपनी२ लेश्याओंके अनुसार मनुष्यगति अथवा तिर्यञ्च गतिको प्राप्त होते हैं। इतना विशेष है कि जिस गति सम्बन्धी आयुका बन्ध होता है उसी गतिमें जाते हैं, बाकीमें नहीं। क्योंकि आयुबन्ध छूटता नहीं है। गतिबन्ध छूट भी जाता है। आयुका अविनाभावी ही गतिबन्ध उदयमें आता है। बाकीकी उदीरणा हो जाती है। तथा गतिबन्धके होनेपर भी मरण समयमें जैसी लेश्या होती है उसीके अनुसार उसी गतिमें नीचा अथवा ऊंचा स्थान इस जीवको मिलता है। उपर्युक्त लेश्याओंके विवेचनसे यह बात भलीभांति सिद्ध है कि अनर्थोका मूल कारण लेश्यायें ही हैं। इस पञ्चपरावर्तनरूप अनादि अनन्त–मर्यादारहित संसार समुद्रमें यह आत्मा इन्हीं लेश्याओंके निमित्तसे गोते खा रहा है। कभी अशुभलेश्याओंके उदयसे नरक तिर्यञ्च गतिरूप गहरे भ्रमरमें पड़कर घूमता हुआ नीचे चला जाता है, और कभी शुभ लेश्याओंके उदयसे मनुष्य, देव गतिरूप तरंगोंमें पड़कर ऊपर उछलने लगता है, जिस समय यह आत्मा नीचे जाता है उस समय अति व्याकुल तथा चेतना हीनसा होजाता है, जिस समय ऊपर आता,

* देव नारकियोंके भुज्यमान आयुके छह महीना, और भोग भूमियोंके नौ महीना शेष रह जानेपर परभवकी आयुका बन्ध होता है। उनके उतने ही कालमें आठ अपकर्षकालकी योग्यता होती है। इनकी किसी कारण वश अकालमृत्यु नहीं होती है इसलिये इनमें विशेषता है।

है उस समय भी यद्यपि तीव्र तरंगोके झकोरोंसे शान्ति लाभ नहीं करने पाता है तथापि पीछेकी अपेक्षा कुछ शान्ति समझने लगता है। इसी लिये कतिपय विचारशील उस भ्रमरजालसे बचनेके लिये अनेक शुभ उद्योग करते हैं। बुद्धिमान पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे उन्हो लेश्याओंके स्वरूपको उनके कार्योंको उनसे होनेवाले आयु वन्ध और गति बन्ध आदिको समझकर अशुभ लेश्याओंको छोड़ दें, और शुभ लेश्याओंको ग्रहण करें। अर्थात् तीव्र क्रोध, धर्महीनता, निर्दयता, स्वात्म प्रशंसा, परनिंदा, मायाचार आदि अशुभ भावोंका त्यागकर समता, दया भाव, दानशीलता, विवेक धर्मपरायणता आदि शुभ भावोंको अपनावें इसी लिये गोमट्टसारके आधारपर लेश्याओंका इतना विवेचन किया गया है। परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे वास्तविक विचार करनेपर शुभ तथा अशुभ दोनों लेश्यायें इस संसारसमुद्रमें ही डुबानेवाली हैं। अशुभ लेश्या तो संसार समुद्रमें डुबाती ही हैं परन्तु शुभ लेश्या भी उससे उद्धार नहीं कर सक्ती। क्योंकि वह भी तो पुण्य बंधका ही कारण है, और जब तक इस आत्माके साथ बन्ध लगा हुआ है तब तक यह आत्मा परम सुखी नहीं होसक्ता है। इसलिये जो अशुभ तथा शुभ दोनों प्रकारकी लेश्याओंसे रहित हैं वे ही परमसुखी—सदाके लिये कर्मबन्धनसे मुक्त—अनन्त गुण तेजोधाम, वीतराग—निर्विकार—कृतकृत्य—स्वात्मानुभूतिपरमान्दनिमग्न—सिद्ध परमेष्ठी हैं। उन्ही परम मङ्गलस्वरूप सिद्ध भगवानके ज्ञानमय चरणारविन्दोंको हृदय मंदिरमें स्थापित कर तथा उन्हींकी बार बार भावना कर इस ग्रन्थराजकी यह सुबोधिनी टीका यहीं समाप्त की जाती है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैन-धर्मोस्तु मंगलं ॥१॥

(मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी वीर सं० २४४४.)

समाप्त

